

ॐ श्रीकृष्णनेनमः ॐ

श्री योगवशिष्ठ-भाषा

जसमें—

वेराग्य प्रकरण, प्रसुप्ति-प्रकरण, उत्पत्ति-प्रकरण, स्थिति-
प्रकरण, और उपशम-प्रकरण की सम्पूर्ण
कथायें ही और सुन्दर भाषा में
सादित की गई हैं।



सम्पादक—

महाभारत, चामीकीय रामायण, नारी धर्म-विधान,
और नैक पौराणिक उपाख्यानो के
सिद्धहस्त लेखक—

मं- गलग्र पाण्डेय 'विशारद'



प्रकाशक—

लाला श्यामलाल, हीरालाल

प्रोप्राइटर, श्यामकाशी प्रेस, मथुरा।

सन् १९३८

प्रकाशक—

लाला श्यामलाल, द्वीरालाल
श्रीमहादेव श्यामकाशी प्रेस, मथुरा ।



मुद्रक—

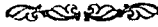
गिरिजाशंकर,

गोपाल प्रेस, भोजाहीनानाप, बनारस सिटी ।

श्रीपरमात्मने नमः ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा की विषयानुक्रमणिका ।

वैराग्य-प्रकरण ।



विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
कथारम्भ वर्णन	१	द्वैत सत्ता प्रतिपादन	८६	विज्ञानाभ्यास वर्णन	७०
घासना विवेचन रामतीर्थाटन	३	महा वशिष्ठ उच्यते	६२	लीलाविज्ञान देहाकाश गमनवर्णन	७४
विश्वामित्रागमन वर्णन	६३	नीति-स्थापना	६५	आकाश-वर्णन	७५
विश्वामित्रेच्छा वर्णन	१०	सत्व महिमा वर्णन	६६	भूलोक-वर्णन	७६
दशरथोक्ति वर्णन	१६	ज्ञानोपदेश वर्णन	१००	सिद्ध-दर्शन हेतु वर्णन	७७
रामकी विरागावस्था वर्णन	२२	शम निरूपण	१०३	जन्मान्तर वर्णन	७६
राम वैराग्य वर्णन	२६	विचार निरूपण	१०४	गिरिधाम और परमाकाशवर्णन	८२
ससार-सुख निषेध वर्णन	३३	सन्तोष वर्णन	११०	परमाकाश वर्णन	८३
अहंकार दुराशा वर्णन	३५	सत्संग महिमा	१११	परमाकाश में भीषण सप्ताम	८६
चित्त दौरात्म्य वर्णन	३७	पद-प्रकरण वर्णन	११२	युद्धका प्रथम दृश्य	८८
तृष्णा विवेचन	३९	परम दृष्टान्त वर्णन	११४	पुन घोर युद्ध-वर्णन	८९
शरीर नेराश्यता	४२	आत्मप्राप्ति वर्णन	११६	सहायकागमन वर्णन	९०
बाल्यावस्था वर्णन	४७	उत्पत्ति प्रकरण ।		जनपद युद्ध वर्णन	९०
युवावस्थावर्णन	४६	बोध हेतु वर्णन	५	युद्ध निरुति वर्णन	९१
स्त्री दुराशा वर्णन	५२	बोध हेतु वर्णन	६	निशाचर-नाति वर्णन	९६
युद्धावस्था वर्णन	५५	बोध हेतु-वर्णन	८	विद्रथ चिन्ता	९२
काल महिमा वर्णन	५७	मन-माहात्म्य	११	रमृति-अनुभव-वर्णन	९२
सर्व पदार्थाभाव-वर्णन	५६	देव-स्वरूप-वर्णन	१७	राजा विद्रथका भ्रान्ति निवारण	९७
जगद्विपर्यय भाव-वर्णन	६२	मत्स्योपदेश-वर्णन	२०	स्वप्न पुरुष सयता वर्णन	१०३
समग्र विवेचन	६४	दृश्य सत्ता प्रतिपादन	२१	सरस्वती द्वारा विद्रथको घर	
वैराग्य प्रयोजन	६६	सच्छास्त्र निरूपण	२४	प्राप्ति और अग्निका भीषण	१०४
सव त्याग दिग्दर्शन	६८	परम कारण वर्णन	२६	अग्निदाह	१०५
आकाशावाणी	६६	परमात्म-स्वरूप वर्णन	३१	अग्निदाह-वर्णन	१०६
मुनि-समाज-वर्णन	७१	परमार्थरूप वर्णन	३६	विद्रथ निवाण वर्णन	१०६
सृष्टि प्रकरण ।		जगत् उत्पत्ति वर्णन	३६	सरस्वती वास्य	१०६
शुक्र निर्वाण-वर्णन	७३	स्वप्न-उत्पत्ति वर्णन	४१	भीषण दृश्य	११०
जिज्ञासु की पात्रता	७७	सर्व महा प्रतिपादन	४३	विद्रथमरण	११२
भ्यास परिचय	७८	महाद्विपापोख्यान-राज्य वर्णन	५०	सि चुराष्ट्र वर्णन	११४
पुरुषार्थ-वर्णन	७६	सदेह राष्ट्र-वर्णन	५७	मरण मूर्च्छाकी प्रतिभा वर्णन	११४
पुरुषार्थ-वर्णन	८१	सकल जगत् भ्रान्ति प्रतिपादन	५८	नवीनजीलाकी मन्पाकाशयात्रा	११६
पुन पुरुषार्थ-वर्णन	८३	आह्वण मरण-वर्णन	६०	द्रव्य सप्त-नीति विवेचन	११६
पुरपार्थ उपमा वर्णन	८५	परमार्थ प्रतिपादनम्	६४	मर्यान्तरावस्थावर्णन	१२२
पुरपार्थ महिमा वर्णन	८७	विभ्रान्ति वर्णन	६६	स्वप्न विवेचन	१२५

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
राजापक्षका निर्वाण प्राप्ति	१२६	चित्ता माहात्म्य	११५	" " " वा अद्भुत परामर्श	२७०
लीला सम्बन्ध वर्णन	१३०	नृप मोह वर्णन	११६	" " परामर्श	२७५
जगत किञ्चनता वर्णन	१३५	नृप प्रबोध-वर्णन	११८	दाम-भ्याल का जन्मांतर	२७६
द्वैत क्या है	१३८	पुन नृप प्रबोध वर्णन	१२१	निर्वाणोपदेश वर्णन	२७७
चित्ता विकास	१४०	चाण्डाली विवाह	२०१	दाम भ्याल उपाख्यान देशान्तर	
वीजावतार, ब्रह्मसत्ता में जीव		इन्द्रनालिक उपाख्यान	२०२	वर्णन	२८०
कैसे स्थित है	१४१	चित्र भ्याख्या	२०४	दाम भ्याल कटोपाख्यान	
ब्रह्म विवेचन	१४२	चित्ता कैसे उपशम हो	२०७	समाप्ति वर्णन	२८३
मन क्या है	१४३	मन निरूपण	२१०	मीमंसा दर्शोपाख्यान वर्णन	२८७
कण्टी राजसीका आख्यान	१४६	श्रविद्या के नाश का उपाय	२१२	उपशम रूप वर्णन	२८६
कण्टी का पुन तप और ब्रह्मा		श्रविद्या क्या है	२१६	ध्यान स्वरूप वर्णन	२८४
जी का दरवान	१४७	सुख-दुःख लोभोक्त्योपदेश वर्णन	२१६	शान्ति कैसे प्राप्त हो	२१६
राजसी का विचार	१४६	तत्त्व विवेचन	२२१	भोक्त उपदेश	२१७
राजसी और किरातराज समागम		सत्त्वभूमिकोपदेश वर्णन	२२२	सर्व एकता प्रतिपादन	२१६
	१५०	उदाहरणा उपदेश वर्णन	२२४	ब्रह्म विवेचन	२०६
किरातराज राजसीके अद्भुत प्रश्न	१५०	भूमिकोपदेश वर्णन	२२७	श्रवणा वर्णन	२०४
राजसी के प्रश्न का उत्तर	१५३			वीज सत्ता विवेचन	२०७
		स्थिति-प्रकरण ।			
किरातराजा परमार्थनिरूपण	१५६	जगन्निरा करण वर्णन	२३१	जीव धीन-सत्ता प्रतिपादन	३०६
राजसी की सुहृदवृत्ता	१६०	स्मृति वीज वर्णन	२३३	जीव को शरीर कैसे मिला	३१६
मनाहुर की उत्पत्ति	१६२	जगत की क्रम-तता	२३४	यथार्थ उपदेश	३१४
आ दय सनागम	१६५	वीर्णाहुर वर्णन	२३६	यथार्थ भूतार्थ बोध वर्णन	३१६
पेण्य समाधि वर्णन	१६६	भागवत सविद गमन	२३७		
जगत रचना निवर्ण	१६८	भार्गावसगमविविध-म वर्णन	२३६	जगत निगम	३१८
देव निदचय	१६६	काल वाक्य	२४१	दासरोपाख्यान वर्णन	३२३
श्रिमि इन्द्रवाक्य वर्णन	१७०	ससारा घल वर्णन	२४४	दासर पुत्र परिचय	३२४
श्रहल्यापुराणकोसमाप्तिवर्णन	१७२	उत्पत्ति विस्तार वर्णन	२४६	दासरमुत बोध वर्णन	३२७
जीव भूमोपदेश वर्णन	१७३	काल वाक्य	२४७	श्लोथ वैभव	३२८
मद्याजी द्वारा मन माहात्म्य		गुणजन्मांतर वर्णन	२४८	जगत चिकित्सा	३३१
वर्णन	१७५	शृगुहाज समागम	२४६	दासुरोपाख्यान समाप्ति	३३३
वासना का त्याग	१७७	शृगुदेह परिवर्तन	२४१	कलभ्य विचार वर्णन	३३४
सर्व ब्रह्म प्रतिपादन	१७८	ससारावर्त वर्णन	२४२	पूर्ण स्वरूप वर्णन	३३८
मन और कर्म	१७८	जाम, रवण, सुमुप्ति और गुरीया		कमलन भयवहार वर्णन	३४१
मन-सत्ता विचार वर्णन	१८०	वस्था वर्णन	२४४	विचार पुण्य निर्वाण	३४५
चिदाकाश माहात्म्य वर्णन	१८३	पुन जाग्रत स्वप्न सुमुप्ति वर्णन	२४७	भोक्त विचार	३४६
		भार्गावोपाख्यान नसमाप्ति वर्णन	२४६	भोषोपाय वर्णन	३४७
चित्ता की व्यग्रता	१८५	विद्वान विवेचन	२६०		
चित्ता निवृत्ति	१८८	परम विश्राम वर्णन	२६३	उपशम-प्रकरण ।	
जीव चिकित्सा	१८८	शरीर नगर वर्णन	२६५	श्रीरामचन्द्र का पूर्व उपदेश पर	
वाक्य की कथा	१९०	मन की सत्यता	२६६	विचार	३५१
मन की निर्वाणता	१९२	दाम भ्याज बटक परिचय	२७०	समाख्यान रामचन्द्रका वचन	३५३
				५थम उपदेश वर्णन	३५६

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
प्रमोपदेश वर्णन	३५८	विष्णु आदेश	४१८	संग असंग विवेचन	४७८
सिद्धगीता वर्णन	३६०	प्रह्लादका राज्याभिषेक	४२०	शान्त योगोपदेश	४८१
जगत निश्चय	३६१	प्रह्लाद व्यवस्था	४२२	सराक चिकित्सोपदेश	४८२
बुद्धि की मदिमा	३६५	प्रह्लाद विभक्ति	४२४	संसार योगोपदेश वर्णन	४८४
मन निर्वाण वर्णन	३६७	गालव उपाख्यान	४२६	मोक्ष विवेचन	४८६
चित्त चैश्यरूप वर्णन	३७३	गालव राज्यध्वंस वर्णन	४२८	आत्म विचार	४६२
तृष्णा विवेचन	३७६	गाधि माहण को चान		चैराग्यपद मौनविचार वर्णन	४६५
तृष्णा चिकित्सोपदेश	३७८	प्राप्ति वर्णन	४३०	मुक्त विचार वर्णन	५०२
पुन तृष्णा चिकित्सोपदेश	३७९	मोक्षोपदेश वर्णन	४३७	सत्ता सत्ता योगोपदेश वर्णन	५०६
जीवमुक्ताग्रस्था	३८१	उद्दालक विचार वर्णन	४४१	आत्म विचार	५०७
एक पवित्र ज्ञान	३८४	उद्दालक विभान्ति वर्णन	४४६	धीतव उपाख्यान	५०८
हृद्वा चिकित्सा	३८६	ध्यान विचार	४५१	अनुशासन योग	५१२
बलि प्राग्यान	३८६	भेद नैराश्य वर्णन	४५६	चित्तोपदेश	५१६
बलि विराचन कथा	३६२	राजा सुरध को माण्डव्य मुनि		मनोयज्ञ	५१८
चित्त चिकित्सा	३६४	का उपदेश	४५७	इन्द्रिययोग वर्णन	५२०
बलि ममाधि	३६६	सुरध वृत्ताव	४५६	धीतव विभान्ति	५२२
बलिउपाख्यान समाप्तिवर्णन	३६७	सुरध वृत्ताव समाप्ति	४६१	सिद्धि लाभ विचार वर्णन	५२४
हिरण्य कशिपु वध	४०१	सुरध परध सवाद वर्णन	४६२	चित्त नाशके दो प्रकार	५२८
प्रह्लाद विज्ञान वर्णन	४०२	" " "	४६५	स्मृति धीज वर्णन	५३०
विष्णु दर्शन	४०६	परध को सुरध का उपदेश	४६७	परमपावन सत्ता विवेचन	५३२
प्रह्लादोपदेश वर्णन	४०८	कारणोपदेश	४६६	कर्मोपदेश	५३४
प्रह्लाद का आत्मलाभ		अन्तर प्रसंग वर्णन	४७२	परमज्ञानोपदेश	५३७
चित्तन	४१४	हृदय संग विचार वर्णन	४७५		

❀ इति समाप्त ❀



हर प्रकार की पुस्तक मिलने का पता—
लाला श्यामलाल, हीरालाल
प्रोप्राइटर—श्याम काशी प्रेस, मथुरा

श्रीगणेशायनमः

योगवाशिष्ठ-भाषा

* वैशग्य-प्रकरण *

पहला सर्ग

कथारम्भ वर्णन



सर्व प्रथम उस आनन्दरूप आत्मा को नमस्कार है कि जिसके कारण यह सारा जगत भासमान होता हुआ फिर उसीमें लीन हो जाता है। वह आत्मा ज्ञान का रूप है। उसीसे ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय और कर्ता, करण, क्रिया मिद्ध होते हैं। इस कारण उस सत्यरूप आत्म को नमस्कार है। उस आत्मानन्दरूपी समुद्र के कारण ही यह सारा ससार आनन्दित है और उसीसे यह समस्त जीव जीवित हैं। अतः उस आत्माको बारंबार नमस्कार है।

महर्षि अगस्त्यके शिष्य का नाम सुतीक्ष्ण था। एक समय सुतीक्ष्ण के मनमें मोक्ष सम्बन्धी कोई शंका उत्पन्न हुई। तब वह उसकी निवृत्तिके लिये अपने गुरु अगस्त्यजीके आश्रम पर गये। देखा तो गुरु महाराज ध्यानावस्थित विराजमान है। सुतीक्ष्णने निकट पहुँच कर उन्हें विधिपूर्वक प्रणाम किया। तब अगस्त्यजीने आशीर्वाद देकर सुतीक्ष्णको अपने निकट बैठते हुये पूछा—कहो सुतीक्ष्ण ! कैसे आये हो ?

सुतीक्ष्णने नम्र भाव से कहा—भगवन् ! मुझे एक शंका उत्पन्न हो गई है। आप सर्व-शास्त्र-विशारद और तत्त्वज्ञाता हैं। अतः कृपाकर मेरी शंका निवृत्त करें। मुझे शंका यह है कि मोक्ष का कारण केवल

कर्म है या ज्ञान भी है अथवा दोनों हैं ? जो मोक्षका वास्तविक कारण हो, वह कहिये ।

अगस्त्यजी बोले—हे ब्रह्मन् । न तो केवल कर्म ही मोक्षका कारण है और न केवल ज्ञान से ही मोक्षकी प्राप्ति होती है मोक्ष प्राप्ति के लिये तो दोनों ही आवश्यक है । कर्म से अतःकरण शुद्ध होता है और अतःकरण शुद्ध होने से ज्ञान की उत्पत्ति होती है और जब ज्ञान स्थित हो जाता है तब मोक्ष आप ही आप सिद्ध हो जाता है । इस प्रकार विना ज्ञान के उत्पन्न और स्थित हुये, मोक्षकी सिद्धि नहीं होती । और उसी प्रकार कर्मरहित ज्ञान से भी उसकी सिद्धता नहीं होती । अतः मोक्ष के लिये कर्म और ज्ञान दोनोंका ही आश्रय लेना चाहिए । इसपर एक प्राचीन इतिहास है, ध्यान देकर सुनो ।

हेसुतीक्ष्ण । अग्निवेश ऋषिके 'कारण' नामका एक शिष्य था, जो उनके निकट रहकर चारों वेदों और छ.हो शास्त्रोंका अध्ययन करता था । जब अध्ययन समाप्त कर चुका, तब वह अपने घर गया । घर जाने पर उसे यह शंका हो गई कि कर्म करना व्यर्थ है । इससे वह कर्म से रहित हो सशय युक्त मौन धारणकर घरमें रहने लगा ।

एक दिन अग्निवेश जी वहाँ जा पहुँचे । देखा तो शिष्य की विचित्र अवस्था है । उन्होंने पूछा—हे पुत्र । यह क्या है, तू कर्म का पालन क्यों नहीं करता है । विना कर्म के तुझे सिद्धियाँ कैसे प्राप्त होंगी ? वतला, तू किम कारण कर्म से विस्मृत हो रहा है ?

अग्निवेश जी के ऐसा पूछने पर कारण ने कहा—हे पिताजी । मेरे मौनावलम्बका कारण यह है कि वेदके एक स्थान में यह लिखा हुआ है कि जब तक जीवित रहे तब तक (जीवन पर्यन्त) अग्निहोत्रादिक यज्ञादिके समस्त कर्मों को करता ही रहे और दूसरे स्थान में यह लिखा है कि न तो कर्म करने से ही मोक्ष होता है और न धनसे, न पुत्र आदिक और न केवल त्याग से ही मोक्षकी प्राप्ति होती है । तब इन दोनोंमें मुझे क्या कर्तव्य है, कृपाकर मेरी इस शंकाको दूर कीजिये ।

अगस्त्य जी बोले—हे सुतीक्ष्ण । जब कारण ने पिता से ऐसे कहा तब उसका वचन सुनकर अग्निवेश ऋषिने कहा,—हे पुत्र । इस सम्वादमें एक प्राचीन कथा है, जो मुझसे सुनकर अपने हृदय में धारण कर लो । फिर तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसी करना ।

प्राचीनकाल में सब अप्सराओं में श्रेष्ठ एक सुरुचि नाम की अप्सरा थी । एक समय वह हिमालय पर्वत पर बैठी हुई क्या देख रही थी कि आकाश मार्ग से इन्द्र का दूत चला आ रहा है । जब वह निकट आ गया, तब अप्सरा ने कहा,—हे देवदूत, तुम कहाँ से आ रहे हो और अब कहाँ जाओगे, कृपाकर मुझसे बतलाओ ?

देवदूत ने कहा—हे सुभद्रे । अरिष्टनेमि नाम के एकराजर्षि थे जो अपने पुत्र को राज्य देकर समस्त विषयों को त्याग, वैराग्य धारण कर गन्धमादन पर्वत पर तपस्या करने चले गये हैं । उनसे मेरा एक कार्य था । उसीके लिये, उनके पास गया था । सो, कार्य हो गया, अब इन्द्रके पास लौट जाता हूँ ।

अप्सरा ने कहा—हे दूत । वह कौनसा कार्य था, क्या मैं उसे सुन सकती हूँ ? मुझे तुम बहुत प्रिय लगते हो, इसी कारण पूछती हूँ । फिर जो सज्जन पुरुष है, वे प्रश्नकर्ता का उत्तर उद्वेग रहित होकर अवश्य देते हैं । इससे तुम मुझे सारा वृत्तान्त बतलाओ ?

देवदूत ने कहा—हे सुभद्रे । राजा अरिष्टनेमि ने गन्धमादन पर्वत पर ऐसा घोर तप किया है कि जिसे देखकर देवराज इन्द्र बहुत प्रसन्न हुये हैं और उन्होंने उनको स्वर्ग में बुलानेके लिये मुझे भेजा था । परंतु वे ऐसे कठिन तपस्वी हैं कि जब मैंने उनके निकट पहुँच कर देवराज की आज्ञा सुनाई तब उन्होंने स्थारूढ हो स्वर्ग आने के स्थान में मुझसे यह प्रश्न किया कि—पहले यह बतलाओ कि तुम्हारे स्वर्ग में क्या गुण हैं और क्या दोष हैं, फिर मेरी इच्छा होगी तो मैं चलूँगा और नहीं तो नहीं जाऊँगा । तब मैंने उनसे कहा—हे राजन् । स्वर्ग में बड़े-बड़े दिव्य

गुणों से ही जीव को उनकी प्राप्ति होती

हे। बड़े पुण्य वालों को स्वर्ग का उत्तम सुख, और मध्यम पुण्य वालों को मध्यम तथा कनिष्ठ पुण्य वालों को स्वर्ग के कनिष्ठ सुख प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार जो एक दूसरे से उच्च-स्थान पर विराजमान रहते हैं, उन्हें देख कर दूसरे ईर्ष्या की आँव में तपते हैं अर्थात् उनको ताप उत्पन्न होता है और जो अपने समान सुख भोगते हैं, उनको देखकर यह क्रोध उत्पन्न होता है कि ये मेरे समान कैसे बैठे हैं? और जो अपने से नीचे बैठे रहते हैं, उनको देखकर अपने को यह अभिमान होता है कि मैं इतना श्रेष्ठ हूँ। हे राजन! यह सब दाँप तो है ही, साथ ही वहाँ एक दोष यह भी है कि जब जिस जीवका पुण्य क्षीण हो जाता है तब वह उसी समय मृत्युलोक में गिरा दिया जाता है और वहाँ एक क्षण भी नहीं रहने पाता।

हे सुभद्रे! जब राजर्षि से मैंने ऐसा कहा, तब उन परमनिष्ठ ने मुझसे कहा— हे दूत! मैं तुम्हारे उम्र स्वर्ग के योग्य नहीं हूँ, और न वहाँ चलने की मेरी इच्छा ही है। क्योंकि अब तो मैंने उग्रतप करके इस शरीर को त्याग देने का ही निश्चय किया है सो, जैसे सर्प अपनी मणि को पुरानी समझ कर त्याग देता है, वैसे ही मैं भी त्याग दूँगा। इस कारण हे दूत, तुम जहाँ से विमान लेकर आये हो, वहीं को लौट जाओ। मैं तुम्हारे इस विमान को नमस्कार करता हूँ।

हे सुभद्रे! जब राजाने मुझसे ऐसा कहा, तब मैंने जाकर देवराज इन्द्र से उनका समाचार सुनाया। उसे सुनकर इन्द्र ने मुझे फिर आज्ञा दिया कि अब विमान लेकर तुम फिर उनके पास जाओ और कहो कि आत्मज्ञान की शिक्षा लेनेके लिये वाल्मीकि मुझसे पास चलो, क्योंकि वाल्मीकि जी बड़े ज्ञानी और आत्मदर्शी हैं। हे सुभद्रे! तब इन्द्रकी आज्ञा से मैं फिर राजा अरिष्टनेमि के पास गया और उन्हें विमान पर बिठाकर वाल्मीकि जी के पास पहुँचा और उनसे इन्द्र का सन्देश सुनाया। तब अरिष्टनेमि ऋषि को अपने पास बिठाकर वाल्मीकिजी ने उनकी कुशल पूछी। अरिष्टनेमि ने कहा— भगवन्!

आपकी कृपा से सब कुशल है। ह मुनिश्रष्ठ। आप का दर्शन होते ही मेरा सब प्रकार मे कल्याण हुआ—ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है। हे प्रभो। मैं आप की सेवा मे कुछ निवेदन करने आया हूँ। सो कृपा कर बतलाइये कि ससार-बन्धन से मुक्ति कैसे प्राप्त होता है ?

वाल्मीकि जी ने कहा—हे राजन्। इसके, उत्तर मे मैं तुम्हे उस रामायण की कथा सुनाता हूँ कि जिसका श्रवण करने और यत्न पूर्वक उसका तात्पर्य हृदय मे धारण करने से तुम्हारा यह जीव, मुक्त होकर विचरण करेगा। वह कथा 'महाराामायण-शास्त्र' की है। महा-रामायण, में, श्रोत्रशिष्ठजी और श्रीरामचन्द्रजी का पारस्परिक सम्वाद है। उस सम्वाद में जहाँ देखो, मोक्षका ही उपाय भरा हुआ है। उस पारस्परिक सम्वाद से ही श्रीरामचन्द्र जी अपने स्वभाव में स्थित हो जीवमुक्त होकर विचरण किये हैं। अब, उसी प्रकार तुम भी उससे लाभ उठाओगे।

राजर्षि अरिष्टनेमिने कहा—हे भगवन् ! रामचन्द्रजी कौन थे और कैसे थे तथा किस प्रकार, उन्होंने विचरण किया—हे, सो कृपाकर कहिये ?

वाल्मीकि जी बोले—हे राजन्। जो विष्णु भगवान् ने शापके वशीभूत होकर मानव शरीर धारण किया था, वही रामचन्द्र थे।

राजा ने कहा—हे प्रभो। जो चिदानन्द भगवान् हैं, उनको शाप किस कारण हुआ और किसने शाप दिया था ?

वाल्मीकि जी बोले—हे राजन् ! एक ममय जब कि सनत्कुमार जी ब्रह्मसभा मे बैठे थे कि अपने स्थान से उतर कर वहाँ विष्णु भगवान् आये। तब उनको देखकर समस्त ब्रह्मसभा के लोगो ने उनका पूजन किया। परन्तु सनत्कुमार जी ने उनकी पूजा नहीं की। तब उनको ऐसे देखकर विष्णु जी ने कहा—हे सनत्कुमार ! मुझे ज्ञात होता है कि तुम्हे अपनी निष्कामता पर बड़ा अभिमान है। अतः मैं तुम्हे शाप देता हूँ कि समय आने पर तुम काम के वशीभूत हो जाओगे और स्वामिकार्तिक तुम्हारा नाम होवेगा। तब विष्णुजी के ऐसा कहने

पर सनत्कुमार ने कहा—हे विष्णु ! इधर भी यह ज्ञात होता है कि तुम्हें अपनी सर्वज्ञता का अभिमान है, सो मैं भी कहता हूँ कि समय आने पर तुम्हारी यह सर्वज्ञता नष्ट होवेगी और तुम अज्ञानी हो जाओगे।

हे राजन् ! एक तो विष्णु जी को यह शाप हुआ, दूसरे एक समय में भृगुजी की स्त्री कहीं चली जा रही थी कि जिससे भृगु ऋषि तपायमान हो रहे थे, तब उनका देखकर विष्णु जी हँसे थे जिससे क्रोधित होकर उस भृगु ब्राह्मण ने उनको ऐसा शाप दिया था कि हे विष्णु ! जिस प्रकार मुझे स्त्री-वियोग से दुखी देख तुमने मेरी हँसी की है, उसी प्रकार समय आवेगा, कि जब तू भी मेरे ही समान स्त्री-वियोग से महान् दुखी होवगा।

इसके अतिरिक्त जब एक दिन देवशर्मा ऋषि की पत्नी गंगा के तटपर स्नान करने गई थी, तब वहाँ विचरते हुये नरसिंह भगवान ने उसे देखकर अपना भयानक रूप प्रकट करके ऐसे हँस दिया था कि उन्हें देखकर ऋषि-पत्नी ने भय के मारे अपना प्राण त्याग कर दिया। तब देवशर्मा ने विष्णुजी को ऐसा शाप दिया कि तुमने मेरी स्त्री का वियोग किया है—इससे तुम भी मेरे ही समान स्त्री का वियोग पाओगे। बस, इन्हीं शापों के कारण अब विष्णु भगवान को मनुष्य शरीर धारण कर राजा दशरथ के घर जन्म लेना पड़ा है। हे राजन् ! जो इस प्रकार उन्होंने शरीर धारण किया और आगे जो वृत्तांत हुआ है, वह भावधान होकर सुनो। हे राजन् ! यह जो देवलोक, भूलोक और पाताल लोक सहित त्रिलोकी का प्रकाश हो रहा है और जो भीतर बाहर सर्वत्र आत्मसत्ता से परिपूर्ण है, वह मेरा आत्मा ही है। मैं उम अणुमात्मक सर्वात्मा को नमस्कार करता हूँ।

हे राजन् ! मेरे इस शास्त्र-रचना का विषय क्या है, प्रयोजन क्या है और इसका क्या सम्बन्ध है और इसके श्रवण करने का अधिकारी कौन है—अब इस प्रश्न का उत्तर सुनो। देखो, इसका विषय यह है कि जो आत्मा सच्चिदानन्दरूप, अचित्य और विमात्र

रूप है उसको ब्रह्म, भिन्न क्यों प्रकट करता है ? और उम परमानन्द रूप आत्मा की प्राप्ति कैसे होती है और जीव उस आत्मा में, अनात्मा करके कैसे अभिमान जनित दुःख उत्पन्न कर लेता है और उसकी निवृत्ति कैसे होगी—यही इस शास्त्र का प्रयोजन है। इसका सम्बन्ध यह है कि यह शास्त्र ब्रह्म विद्या द्वारा मोक्षका उपाय बतलाते हुये आत्मपद का प्रतिपादक है। जो यह समझता हो कि मैं अद्वैत ब्रह्म होते हुये भी इस अनात्म शरीर के साथ बँधा हुआ हूँ, सो किस प्रकार छूटूँगा—ऐसा जो विकृति आत्मावाला जिज्ञासु है, वही इस शास्त्र का अधिकारी है।

अतः इस शास्त्र में बतलाये हुये मोक्ष-उपाय से निश्चय ही परमानन्द की प्राप्ति हो जावेगी। जो पुरुष इसपर विचार करेंगे वे निश्चय ही ज्ञानवान होकर आवागमन से मुक्त हो जावेंगे। हे राजन् ! इस पवित्र शास्त्र का नाम 'महारामायण' है। इसके श्रवण करने से मनुष्य के समस्त पापों का नाश हो जाता है। क्योंकि इसमें 'रामकथा' का वर्णन है। इसको मैंने सबसे पहले अपने भारद्वाज नामक शिष्य को सुनाई थी और भारद्वाज ने सुमेरु पर्वत पर जाकर इस पवित्र कथा को ब्रह्मा जी से कहा था। उसे सुनकर ब्रह्माजी बहुत प्रसन्न हुये और कहा—हे भारद्वाज ! मे तुझपर प्रसन्न हूँ, कुछ वर माँग। भारद्वाज ने कहा—भगवान् ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो कृपा कर यह वर दीजिये कि जो सम्पूर्ण जीव ससार से दुखी हैं, मुक्त हो परमपद को पावें।

इस पर ब्रह्मा जी ने कहा—हे पुत्र ! इसके लिये तू वाल्मीकि जी के पास जा। क्योंकि आज कल वे 'महारामायण' नामक आत्म-बोधरूपी ऐसे अनिन्दित शास्त्र का प्रणयन कर रहे हैं कि जिसे श्रवण कर जीव महामोहजनितरूपी संसार-समुद्र से तर जावेंगे।

वाल्मीकिजी ने कहा—हे राजन् ! भारद्वाज को ऐसा कह कर उसे साथ लिये हुये ब्रह्मा जी मेरे आश्रम में चले आये। मैंने उनका

सविधि पूजन किया और, पादारघ्य देकर एक उत्तम आम्र पर बिठाया। तब ब्रह्मा जी ने मुझ से कहा- हे मुनियों मे श्रेष्ठ महर्षि वाल्मीकि। आप जो इम महाशास्त्र मे राम के स्वभाव का कथन कर रहे है उस उद्यम का कभी त्याग न कीजियेगा और जहाँ तक हो, इमे आदि से अंत पर्यन्त समाप्त करके ही लेखनी को विश्राम दीजियेगा। क्योंकि यह मोक्षोपायक शास्त्र ससाररूपी समुद्र को पार करने के लिये जहाजरूप है और इसके द्वारा संसार के सभी जीव कृतार्थ होंगे। यह कह कर ब्रह्मा जी चले गये। भारद्वाज वहाँ बैठे रहे।

तब दो-एक प्रश्नो के अनन्तर वाल्मीकिजी ने भारद्वाज के आगमन का कारण पूछा। भारद्वाज ने कहा-हे भगवन्। मे आप की सेवा में इम लिये उपस्थित हुआ हूँ कि आप मुझे यह बतलाइये कि मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी किस प्रकार जीवनमुक्त होकर विचरण किये हैं। मैं उस कथा को आदि मे अन्त पर्यन्त सुना चाहता हूँ। आप त्रिकालदर्शी हैं, सो क्रम पूर्वक मुझे यह समस्त कथा सुना दीजिये।

वाल्मीकि जी बोले-हे भारद्वाज। एक राम ही क्यों? राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सीता, कौशल्या, सुमित्रा और दशरथ ये आठों ही जीवनमुक्त हुये हैं। इनके अतिरिक्त कुन्तभासी, शतवर्धन सुसधाम, विभीषण, इन्द्रजीत, हनुमान, वशिष्ठ और वामदेव आदिक ये आठ मत्री भी जीवनमुक्त होकर निशंक चेष्टा कर गये है। उनको स्वप्न मे भी स्वरूप मे किसी द्वैतभाव की फरना नहीं हुई है। वे सर्वदा ही चिन्मात्र और अनामय पदमें स्थित रहतेहुये परम पावनता को प्राप्त हुये है।

श्री योगेशिष्ठ वैराग्य प्रकरण का पहला सर्ग समाप्त ॥ १ ॥

कारण है और वासना ही के कारण तो यह जीव भटकता फिरता है ? यदि वासना का क्षय हो जाये तो परमपद का प्राप्ति हो जाये । वासना भी क्या है ? वासना एक पुतला है और उसका नाम मन है । जैसे जल ठढक की दृढ़ जड़ता को पाकर बरफ हो जाता है और सूर्य के ताप से पिघल कर फिर शुद्ध जल हो जाता है, वैसे ही इस आत्मरूपी जलमें ससार की सत्यतारूपी दृढ़ जड़ता लगी हुई है कि जिसके कारण उसमें (आत्मा में) मन रूपी बरफ का पुतला उत्पन्न हो गया है—इस कारण अब उसे [आत्मा को] ससार की सत्यता रूपी जड़ता और शीतलता ने आच्छादित कर लिया है । सो जब तक ज्ञानरूपी सूर्य का उदय न होवेगा—आत्मा कभी निर्मल नहीं हो सकता । जब ज्ञानरूपी सूर्य उदय होवेगा तब यह आपही आपा निर्मल हो जावेगा । इस प्रकार मनके नष्ट होते ही प्रार्णिका कल्याण हाकर वह समस्त बन्धनों में छूट जाता है । क्योंकि वासना ही तो बन्धन में जकड़े हुये है ।

हे भारद्वाज । वामना दो प्रकार की होती है । एक शुद्ध और दूसरी अशुद्ध । शुद्ध वासना योगियों की होना है । क्योंकि उनमें जगत का अत्यन्ताभाव रहता है और वह सब कुछ करते हुये भी सबसे पृथक रहते हैं । परन्तु अज्ञानी ऐसा नहीं करते । उनका निश्चय अथवा उनकी वासना जन्म-मरण का कारण होती है । क्योंकि वे सर्वदा ही उसे अपने हृदय में धारण किये रहते हैं । परन्तु ज्ञानी ऐसा नहीं करते । यद्यपि पञ्चभौतिक शरीर दोनोंका ही समान है, तथापि उनमें भेद यह है कि जैसे बीज एक ही होता है परन्तु कच्चा बीज फिर उगता है और भुना बीज नहीं उगता । इसी प्रकार अज्ञानीकी वासना है । उसकी वासना रमसहित होनेसे जन्म-मरण का कारण होती है और ज्ञानी की वासना रसरहित होनेसे जन्म का कारण नहीं होती और उसकी सारी चेष्टायें स्वाभाविक गुणों से युक्त होती हैं और वह किसी अन्य गुणों में मिलकर अपनी चेष्टा नहीं

ही करनी योग्य है। फिर इसके पूर्व मैंने आपसे कभी ऐसी प्रार्थना भी नहीं की है। इससे आप मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं अपना यह अभीष्ट मनोरथ पूर्ण करनेके लिये जाऊँ। मुझे आशा है कि आपमेरी इस प्रार्थना को अस्वीकार न करेंगे क्योंकि इस त्रिलोकी में ऐसा कोई भी नहीं है कि जिसका मनोरथ इस घरसे सिद्ध न हुआ हो, अर्थात् मेरे इस कुलसे सभीका मनोरथ सिद्ध हुआ है। इससे आप कृपा करके मुझे अपनी स्वीकृति प्रदान कीजिये।

उम समय राजा दशरथ के पाम ही महर्षि वशिष्ठ भी बैठे हुये थे। वह रामचन्द्र की ऐसी प्रार्थना सुनकर राजा दशरथ से बोले—राजन। राजकुमार रामजी के विचार उत्तम हैं। अतः आप इन्हे अवश्य ही तीर्थयात्रा की आज्ञा दे देवे और देखिए, इन्हें यात्रा में जिस प्रकार सुख पहुँचे, उस प्रकार इनके माथ सेना, धन, ब्राह्मण और मंत्री आदि जो कुछ भी आवश्यक हो सब कुछ प्रबन्ध कर दीजिये जिसमें कि इनका उत्साह भग्न न होने पावे।

महर्षि वशिष्ठ राजा दशरथके कुल-गुरु थे, इस कारण उनकी बात किसी प्रकार भी टाली न जाती थी। अतः एक योग्य मुहूर्त देखकर राजा दशरथने रामजी को तीर्थयात्रा के लिये सब प्रकार से सन्तुष्ट कर दिया। रामचन्द्र, पिता-माता से मिलकर लक्ष्मण आदिक भाइयों और वशिष्ठ आदिक ब्राह्मण एव मंत्रियों सहित उस शुभ मुहूर्त में नगर के बाहर निकले। तब नगरके बाहर और भीतर भी जहाँ तक मिल सके—उन्होंने दीन-दुखियों को दान-मान में सन्तुष्ट कर दिया। नगरवासियोंने उनपर फूलोंको अपार वर्षा की। चारों ओर अपूर्व समारोह छा गया।

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी गंगा, यमुना और सरस्वती आदिक नदियों और समुद्रों में स्नान और पृथ्वी के चारों कोनों और दिशाओं में दान-मान-सम्मान युक्त पर्यटन करते हुये हिमालय और सुमेरुगिरि पर्वतों का भ्रमण करके शालिग्राम, बद्रीकाश्रम और केदार आदिक तीर्थोंमें

स्नान दान और जप तप करते हुये एक वर्षमें यात्रा समाप्त कर फिर अपने नगर को लौट आये। नगर वामियों ने बड़ा उत्सव किया। राजा दशरथ सहित समस्त राजमहल में आनन्द छा गया।

श्री योगवाशिष्ठ वंशग्य प्रकरण का दूसरा सर्ग समाप्त ॥ २ ॥

तीसरा सर्ग ।

विश्वामित्रागमन वर्णन



स समय राजकुमार रामजी की अवस्था सोलह वर्ष में कुछ ही कम थी। इमसे वे नित्य प्रति महाराज दशरथ की यात्रा प्राप्त करके भाइयों सहित आखेट [शिकार] खेलने जाया करते थे और वनमें सुन्दर २ पवित्र मृगों को मारकर राजाको लाकर दिखाते थे। कहीं गेद खेलते तो कहीं भाइयों और मित्रों के साथ स्नान और सन्ध्या वन्दनादिक क्रियाओं को करते हुये नगरवामियों को सर्वदा ही प्रसन्न रखते थे। परन्तु ज्योंही सोलह वर्ष पूरे हुये कि एक दिन सहसा उनका चित्त ससार की समस्त लीलाओंसे उपराम हो गया और उन्होने खाना-पीना, खेलना-कूदना, देना-लेना और यहाँ तक कि सोना-उठना और किसीसे बोलना भी त्याग कर एक अन्धेरी कोठरी में अपना आवास बना लिया। कोई कितना ही कहता, वे उधर बिल्कुल ही ध्यान न देते थे और देखने से ऐसा मालूम होता था कि मानो किसी गहरी चिन्ता में पड़े हुये हैं। चिन्ता मनुष्य की शरीर को भक्षण कर जाती है—इस नियम से राम जी दिन-दिन दुबले होते गये। शरीर सूख कर लकड़ी हो गया, मुख पीला पड़ गया। परन्तु जहाँ उनके शरीर में इतनी निर्बलता आ गई थी वहाँ यह अवश्य इच्छा रहित होने से उनका मन

निर्मल हो गया। जब देखो त्रिवुक्त पर हाथ रखे हुये दिनके दिन बैठेही बैठे समाप्त करदेने थे। उनकी इस अवस्था से अन्तःपुरमें हर समय एक हलचल भी मची रहती थी। कोई कुछ कहता, तो कुछ बतलाता। परन्तु लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न उनके बड़े सच्चे अनुयायी थे। जब उन्होंने देख लिया कि भाई राम किसी प्रकार भी अपना मन्तव्य नहीं प्रकट करते और न तो अपने इस नियमसे हटना ही चाहते हैं तो उन्होंने भी वही मार्ग स्थिर किया और जाकर रामजी के अनुरूप ही निश्चेष्ट भाव से उनके पास बैठे रहे।

अभी तो यह चार्ता अन्तःपुर तक थी; किन्तु भरत आदिके ऐसा करते ही कोई अपने को संभाल न सका और टहलुओं ने जाकर रामजी की वह सारी व्यवस्था राजा दशरथसे कह सुनायी। वह सुन कर राजा दशरथ हाय-हाय करने लगे और दौड़े हुये रामजी को देखने आये। देखा तो बात मन्थ थी। इमसे दुखी होकर उन्होंने भट रामजीको गोद में बिठा लिया और मुख-कमल पर हाथ फेरते हुये पूछने लगे—हे पुत्र ! यह तुमको क्या हो गया है। भला कहो तो सही कि किस दुःखके कारण तुम्हारे शरीरकी ऐसी दुर्बलवस्था हो रही है ? रामजी ने कहा—हे पिता जो ! हमको कोई दुःख नहीं हुआ है। दुःख किसका नाम है—इसको तो मैं जानता भी नहीं। आप इसकी कोई चिन्ता न करें। राजा दशरथ ने बहुत पूछा। परन्तु, सिवा इसके रामजी ने और कुछ भी न कहा। तब राजा दशरथ निराश होकर अपनी राज-सभा में चले आये और मंत्रियों सहित रामजी की अवस्था पर विचार करने लगे। परन्तु कोई कारण हो तब तो ? भला, मंत्रियोंको उसका पता ही क्या था ? तब क्या किया जाये और किस प्रकार राम जी में इम बात का सुधार होवे—ऐसी चिन्ता से उनका सारा राजसदन शोक मग्न हो गया। किसी को कुछ सूझ न पड़ता था। कोई कहता, राजकुमारका विवाह कर देना चाहिये। कोई कहता नहीं, और ही कोई बात है। किन्तु वशिष्ठजी त्रिकालदर्शी थे। उन्होंने

कहा—नहीं, यह सब वाते व्यर्थ है। महापुरुषों के क्रोध और शोक का कोई नकोई महान कारण होता है और वे किसी अल्प कारणसे ऐसा शोक और मोह नहीं करते। जैसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश जो पञ्च-भूत हैं, वे अल्प-कार्य में विकारवान नहीं होते—वैसे ही महान पुरुष भी अल्प-कार्यमें विकारवान नहीं होते। इस कारण हे राजन् ! आप चिन्ता न कीजिये, राम जी का इस प्रकार शोकान्वित होना किसी महान कारणमें युक्त है और समय आते ही वह आपही आप प्रकट हो जायगा और इसके पश्चात् तुम्हें महान आनन्द प्राप्त होगा। अतः तुम शोक मत करो।

वाल्मीकि जी कहते हैं—हे भारद्वाज ! वशिष्ठ जी राजा दशरथ से ऐसा कह ही रहे थे कि उसी समय गाधि-पुत्र तपस्वी विश्वामित्र अपने यज्ञ की अर्थ सिद्धिके हेतु राजा दशरथ के गृह पर आ पहुँचे। तब राजाओंके वहाँ जैसी प्रथा होती है—उस नियमसे विश्वामित्र जी ने द्वारपाल से अपने आगमन की सूचना दी। द्वारपालने जाकर राजासे विनय किया कि हे महाराज ! गाधि-पुत्र विश्वामित्र द्वारपर आकर खड़े हैं और आप से मिलना चाहते हैं।

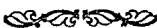
उस समय विश्वामित्र की तपस्या बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। उनका आगमन सुनतेही राजा दशरथ सिंहासन पर स्थिर न रह सके और भ्रष्ट अपने मंत्रियों, ब्राह्मणों और समस्त मण्डलेश्वरों सहित परम तपस्वी विश्वामित्र मुनिका स्वागत करने चल पड़े। देखा तो जटाजूट धारी अग्निके समान तेजस्वी शरीरवाले मुनि ज्यों के त्यों खड़े हैं। तब इस प्रकार उन्हें दूर से देखते ही राजा दशरथ बारंबार शिर झुकाते और हे मुने, आइये, पधारिये, आपका स्वागत है—ऐसा कहते हुये उनके चरणों पर जाकर गिर पड़े। मुनिने अनेक आशीर्वाद दिया। अन्य लोगोंने भी मुनिजी को दण्डवत् किया। विश्वामित्रजी वशिष्ठ जी को और वशिष्ठजी विश्वामित्रजी से बारम्बार मिलने लगे। तदनन्दर राजा दशरथने विश्वामित्र को सविधि पूजा कर उन्हें अपने

सिंहासन पर लाकर बिठा दिया और हाथ जोड़ कर बोले—हे भगवन् । आज आपके इम अमूल्य दर्शन से मेरा गृह पवित्र हुआ । हे मुनीश्वर । इस समय मेरे आनन्द का कोई अन्त नहीं है । आज मुझसे बढ़कर इस ससार में दूसरा कोई भाग्यशाली नहीं है । अविनाशी और अकृमित्राम पद भी क्या है, यह मैं आज केवल आपके दर्शनो में ही पा रहा हूँ । हे महामुने ! आज ही यह मेरा गृह पवित्र हुआ है और आज ही मैं अपने को धर्मात्मा गिना जाऊँगा । यह आपकी बड़ी कृपा है कि जो भाग्यवश मेरी कुशलके लिये आप यहाँ तक कष्ट करके आये हैं । मुझे तो इसकी स्वप्न में भी आशा नहीं थी कि आप जैसे श्रेष्ठ मुनिका दर्शन घर बैठे ही प्राप्त होगा । हे मुनिदेव । आप तो मुझे सब प्रकारसे उन्कूट ही जान पड़ते हैं । क्योंकि आप में दो गुण हैं । एक तो क्षत्रिय का और दूसरे ब्राह्मण का । इसके अतिरिक्त भी आप अन्य समस्त गुणों में सर्वोत्तम श्रेष्ठ हैं । हे मुनीश्वर । यह गुण तो आप ही में हैं कि आप क्षत्रिय से ब्राह्मण हुये । अन्यथा आज तक किमी में भी ऐसी सामर्थ्य न हो सकी । आपका शरीर प्रकाशमय है । इससे निश्चय है कि आप जिस मार्ग से आये होंगे वह मार्ग भी प्रकाशमान हो गया होगा । और आप जिस मार्ग में आये हैं निस्सन्देह अमृतकी वर्षा करते आये होंगे । हे मुनीश्वर । आप के आगमन से मेरा बड़ा लाभ हुआ है ।

ऐसा कह कर राजा दशरथ ज्यों हा चुप हुये थे कि राजसदन के निवासियों सहित अन्त पुरसे लेकर बाहरके उपस्थित लोगों ने विश्वामित्र जी की पूजा और उनके स्वागत मन्कार की झड़ी लगा दी । तब उम प्रकार सबको आशीर्वाद दे विश्वामित्रजी ज्यों ही कुछ निवृत्त हुए थे कि महाराज दशरथ फिर हाथ जोड़ कर बोले—हे भगवन् । हमारे बड़े भाग्य हैं कि जो आपका दर्शन हुआ । सो हे प्रभो । कृपा कर कहिये कि आपका आगमन किम अर्थके लिये हुआ है । आप के उम पूर्ण विचार को सुनने की मुझे प्रबल उत्कठा हो रही है । हे

भगवन् । मेरे पास ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है कि जिसे आपको देनेमें मुझे रचमात्र भी कठिनता होवे । मेरे पास समस्त सम्पदाये भरी हुई है, आप जो चाहे ले सकते हैं । उसे देने में मुझे तनिक भी सकोच न होगा ।

श्री योगवाशिष्ठ वरारण्य-प्रकरण का तीसरा सर्ग समाप्त ॥ ३ ॥



चौथा सर्ग



विश्वामित्रोच्छ्वा वर्णन



ल्मीकि जी बोले—हे भारद्वाज । राजा दशरथ के ऐसा कहने पर मुनिशार्दूल विश्वामित्र परम प्रसन्न होकर बोले—धन्य हो । राजन । तुम धन्य हो । भला तुम ऐसा क्यों न कहो ? तुममें भी तो दो गुण श्रेष्ठ हैं । एक तो तुम रघुवंशी हो और दूसरे वशिष्ठजी तुम्हारे गुरु हैं । हे राजन् । सुनो, मेरे आगमन का कारण यह है कि मैंने दश रात्रयज्ञ का एक अनुष्ठान किया है । सो जब वह यज्ञ करने लगता हूँ तब पर और दूपण नाम के राक्षस आकर उसे विध्वंस कर देते हैं । तब यज्ञ के नष्ट हो जाने से मैं उसे कहीं अन्यत्र करने जाता हूँ तो वहाँ भी वही आपत्ति आ जाती है और वे दुष्ट, हाड, रक्त मांस और रुधिर बरसाकर यज्ञशालाको अपवित्र कर देते हैं । अतः उनको नाश करने के लिये ही मैं तुम्हारे पास आया हूँ । यद्यपि तुम ऐसा कह सकत हो कि इसे तो आप भी कर सकते थे, सो इस सम्बन्ध में मेरा यह कथन है कि जिस यज्ञ का मैंने अनुष्ठान किया है, उसका क्षमा ही अंग है और क्रोध के बिना शाप हो नहीं सकता और यदि क्रोध करता हूँ तो यज्ञ निष्फल हो जाता है । और चुप रहता हूँ तो वे राक्षस यज्ञ में अपवित्र वस्तु डाल जाते हैं, इससे मैं तुम्हारी शरण आया हूँ, तुम मेरा कार्य कर दो ।

देखो, जो काकपक्षधारी तुम्हारे पुत्र रामचन्द्र है उनको और हमरी शिखावाले लक्ष्मण को तुम मुझे दे दो। मैं उन्हें ले जाकर अस्त्र-शस्त्रकी सब विद्याये मिलाकर राक्षसों का वध करा दूँगा। राम बड़े वीर हैं। इस लोक में तो क्या, आज तोनी लोक में राम के ममान कोई वीर नहीं है। राम-लक्ष्मण के सामने वे राक्षस कदापि न ठहर सकेगे। हे राजन ! तुम भले ही न जानत हो किन्तु राम-लक्ष्मण के प्रभाव को तुम्हारे ये कुल-गुरु-वशिष्ठ जी भलीभाँति जानते हैं। इससे तुम राम को मेरे साथ कर दो। मेरे साथ रहने से तुम्हारे पुत्रों का किसी प्रकार भी अनिष्ट नहीं हो सकता। अस्तु, किसी प्रकार की शका न करते हुये तुम मेरे इस मनोरथ को पूर्ण करो। हे राजन ! इसमें तुम्हें बड़ा धर्म होगा। क्योंकि जो कार्य समय से होता है चाहे वह थोड़ा भी क्यों न होवे, बड़ा फलदायक होता है। परन्तु असमय का किया हुआ महान कार्य भी फलदायक नहीं होता। हे राजन ! तुम यह न जानो कि राम-लक्ष्मण की अवस्था बहुत थोड़ी है और ये राक्षसों का वध कैसे करेगे। अवस्था से क्या होता है ? मुझे पूर्ण निश्चय है कि रामजी के आगे वे दुष्ट राक्षस कदापि न ठहरेगे। जैसे सूर्य के तेज के आगे तारागणों का तेज लुप्त हो जाता है, वैसे ही रामजी का सामना होते ही राक्षसों का तेज हत हो जायगा और इस प्रकार वे भाग जायेंगे। इससे तुम राम-लक्ष्मण को मेरे साथ कर दो। मेरा काय भी होगा और तुम्हारा धर्म भी रह जायेगा। मैं सब प्रकार से रामजी की रक्षा करता रहूँगा।

श्री योगवाशिष्ठ-वैराग्य प्रकरण का चौथा सर्ग समाप्त ॥ ११ ॥



पाँचवाँ सर्ग

दशरथोक्ति वर्णन



वा ल्मीकिजी बोले—हे भारद्वाज ! मुनि शार्दूल विश्वामित्र के ऐमा कहत ही मानो राजा दशरथ पर वज्रपात हो गया । वे मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े । एक मुहूर्त पश्चात् जब उनकी मूर्च्छा भङ्ग हुई तब वे महान अधीर होकर विश्वामित्र से बोले—हे मुनीश्वर ! आपने यह क्या कहा है ? रामजी तो अभी क्वारें हैं । फूलों की शय्या पर सोते हैं । भला वे अस्त्र-शस्त्र को क्या जानें । अभी तो वे इस विद्या को सीखे भी नहीं हैं । तब भला वे किसी युद्ध में कैसे जा सकते हैं ? हा, मेरा वह राजकुमार जो अभी अंतःपुर में स्त्रियों के ही पास बैठने योग्य है और जिसने अभी तब संग्रामभूमि को अपनी आँखों से देखा भी नहीं है और न कभी भृकुटी चढ़ाकर युद्ध ही किया है और जिसके कमल जैसे हाथ हैं और जो शरीरसे अत्यन्त ही कोमल है, वह राजसों के साथ युद्ध कैसे करेगा ? भला कही पत्थर और कमलसे भी युद्ध हुआ है ? हे मुनीश्वर ! आपकी यह याचना उत्तम नहीं है । क्योंकि रामचन्द्र की अवस्था अभी केवल १६ वर्ष की हुई है । तब वे संग्रामभूमि को कैसे जावेंगे । एक तो दश हजार वर्ष की आयु के पश्चात् मुझे ये चार पुत्र प्राप्त हुये हैं, उनमें रामजी मुझे प्राण से भी अधिक प्रिय हैं । सो मैं उसे कैसे दूँ । हे मुनीश्वर ! रामजी को तो मैं अपने नेत्रों से एक पल भी पृथक नहीं करता । क्योंकि मेरा जीवन उसी के आधीन है । उसके बिना तो मैं क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकता । यदि तुम राम को ले जाओगे तो निश्चय ही मेरी मृत्यु हो जावेगी ।

हे मुने । रामजी के प्रति केवल मेरा ही ऐसा स्नेह नहीं है किन्तु उसके भाई लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न और उनकी माता का भी ऐसा ही स्नेह है और इस प्रकार सभी को रामजी प्राणप्रिय हैं । यदि आप रामजी को ले जावेंगे तो निश्चय ही सबके मव अपना प्राण त्याग देवेंगे। और यदि आप निश्चय ही हमको मारने ही आये हो तो ले जाइये । किन्तु मेरे चित्त में तो रामही बस रहे हैं । तब मैं उसको तुम्हारे साथ कैसे दूँ ? क्योंकि वही तो मेरी प्रसन्नता है । तब उसका वियोग होने में मैं कैसे जीवित रहूँगा ? मुझे तो रामजी के समान अपनी स्त्री भी प्रिय नहीं है, पुत्र भी प्रिय नहीं है । और राज्य भी वैसा प्रिय नहीं है। कहाँ तक कहूँ, रामजीके समान तो संसार का कोई भी पदार्थ मेरे लिये प्रिय नहीं है । पर क्या कहूँ, आपका वचन सुनकर मुझे बड़ा शोक उत्पन्न हो गया है । मेरे बड़े अभिमान्य हैं कि आप इसलिये आये हैं । आपके वचनों से तो मैं ऐसा ही नष्ट हो गया हूँ कि जैसे बरफकी वर्षा में कमल नष्ट हो जाते हैं। अन्यथा आपके आगमन से मैं बड़ा प्रमन्न हुआ था । परन्तु जैसे विशाल मेघ प्रचंड वायु को नष्ट कर देता है, वैसेही आपके वचनों ने मेरी प्रसन्नता को नष्ट कर दिया है । जैसे वसन्तऋतु की मजरी ज्येष्ठ आपाढ़ में सूख जाता है, वैसेही आपके इन वचनों को सुन कर मेरे हृदय की प्रसन्नता नष्ट हो गई है। अतएव मैं रामजी को नहीं दे सकता । हाँ, यदि आप कहे तो मेरे पास महान शक्तिशाली जो एक अक्षौहिणी सेना पृथक् रहा करती है कि जिसको शस्त्र विद्या, मंत्र विद्या आदिका पूर्णज्ञान है और जो सर्व-प्रकार से युद्ध-कुशल है, उसको लेकर मैं स्वयं आपके साथ चलूँ और राक्षसों को मारूँ ? अथवा आप स्वयं मेरी चतुरगिणी सेना को ले जाकर राक्षसों का वध करावें—यह भी मुझे स्वीकार है, परन्तु रामको देने में मैं कदापि भी साहस नहीं करता हूँ । फिर यह तो बतलाइये कि उस युद्ध में राक्षसों की ओर से विश्रवा का पुत्र रावण तो नहीं आवेगा ? यदि

वह आवेगा तो मैं उसक साथ युद्ध न कर सकूँगा । क्योंकि अब मुझमें वह पहलेका सा बल नहीं रहा । पहले तो मुझमें बड़ा पराक्रम था । तब यदि कोई मुझे मारने को आता था तो मैं ही उसे मार देता था । परन्तु अब मेरा अवस्था वृद्ध हो चली और शरीर जर्जरीभाव को प्राप्त हुआ है, इस कारण अब मैं रावण के साथ युद्ध करने को समर्थ नहीं हूँ । अब तो मैं रावणसे काँपता रहता हूँ और केवल मैं ही नहीं, इन्द्रादिक देवता भी रावण से काँपते रहते हैं । क्योंकि राक्षसोंका समस्त समुदाय उसका वशवर्ती है । इस कारण भला किसकी शक्ति है जो रावण से युद्ध करे ।

हे मुने ! जब मुझमें ही यह सामर्थ्य नहीं है तो भला राजकुमार राम जी में उससे युद्ध करने का सामर्थ्य कैसे होवेगा ? फिर जिस रामजी को साथ ले जानेके लिये आप आये है, वह तो इस समय एक महान रोग से ग्रसित है । उसको तो न जाने किस चिन्ता ने आकर ऐसे घेर लिया है कि जिस कारण शरीरसे महान दुर्बल हो गया है और अतःपुरमें एकान्त में बैठा रहता है । न कुछ खाता है, न कोई चेष्टा करता है । फिर मैं यह भी नहीं जानता कि उसे क्या दुःख हुआ है । परन्तु देखता हूँ तो शरीरसे बड़ा दुर्बल हो गया है । इससे क्या आशा करूँ कि वह किसी प्रकार भी युद्ध में जाने योग्य है । हाँ, यदि उस युद्ध में रावण न आवे तो आपके कहने से मैं स्वयं युद्ध में चलने को तयार हूँ किन्तु राम जी युद्ध करने तो योग्य कदापि नहीं है ।

श्री योगवाशिष्ठ-त्रैगुण्य-प्रकरण का पाँचवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय



छठवाँ सर्ग ।

रामकी विरागावस्था वर्णन



लम्कीजी बोले—हे भारद्वाज । राजा दशरथ के ऐसा कहने पर महातेजस्वी विश्वामित्र के क्रोध का अन्तन रहा । वे तडप कर राजा दशरथ से बोले—अच्छा तो मैं जाता हूँ । परन्तु स्मरण रखना कि रघुवशियोमें आज तक ऐसा कोई नहीं हुआ है कि जो वचन देकर भी अपने धर्म से पलट जाये । शोक, जो तू ऐसा कर रहा है । हे, क्या तुझे अपनी बात का तनिक भी ख्याल नहीं आया कि अभी २ मने क्या कहा है ? परन्तु वह तेरा नहीं, मेरा दोष है जो मैं तेरे पास आया । ठीक ही है, सूने घरसे मनुष्य सूना ही लौट जाता है । किन्तु मुझे यह आशा नहीं थी कि तू सिंह होकर स्यार हो जावेगा । मैं तो यह जानता था कि तू रघुकुलका दीपक है । मुझे क्या पता था कि तू इतना अविचारी है कि अभी-अभी का कहा वचन पलट जायेगा । अच्छा तो मैं जहाँ मैं आया हूँ चला जाता हूँ और तू भी अपना राज्य कर । परन्तु समझ रखना कि जो कुछ होगा, फिर समझ लूँगा । क्योंकि तू धर्म का त्याग कर रहा है, अच्छा तो त्याग दे । देखा जायगा ।

वाल्मीकि जो बोले—हे भारद्वाज । विश्वामित्रके इस प्रकार कोधित होने पर पृथ्वी फाँप उठी, इन्द्रादिक देवता भयभीत होगये । उपस्थित लोग सोचने लगे कि यह क्या हो गया । परन्तु महर्षि वशिष्ठ के रहते वह अवस्था विलम्ब तक कैसे रहती । उन्होंने भट राजा दशरथ को अपनी ओर आकृष्ट कर कहा—राजन । आप यह क्या कर रहे हैं, इच्चाकु-कुल में तो सभी परमायी हुए हैं । फिर आप दशरथ होते हुये भी अपने धर्म को क्यों त्यागते हैं ? अभी

तो मेरे ही ममत्त्व आपने इन विश्वामित्र से यह कहा है कि आप की जो इच्छा होगी, पूर्ण की जावेगी। फिर अब उससे क्यों विचलित होते हैं ? हे राजन् ! आप सहर्ष रामजीको इनके साथकर देवे। यह सब प्रकार से आपके पुत्र की रक्षा करने में समर्थ है। आप नहीं जानते, इनके समान बल किसी दूसरेमें नहीं है। इनमें बढकर न तो कोई तपस्वी है और न इनके समान दूसरा कोई धर्मात्मा है। यह तो साक्षात् धर्म की ही मूर्ति हैं। फिर इनके समान न तो कोई शूर है और न कोई बुद्धिमान है। अस्त्र-शस्त्र विद्या में भी आज इनकी समता करने वाला कोई नहीं है। इनकी अद्वितीय वीरता और श्रद्धा तो इसी से प्रकट होती है कि दत्त-प्रजापति ने अपनी 'जया और सुभगा' नामक दोनों कन्याओं को इन्हे सौंप दी हैं और उन्होंने दैत्यों के वधार्थ पाँच-पाँच सौ पुत्र उत्पन्न किये थे। मो आज वे दोनों स्त्रियाँ इनके विद्यमान् मूर्ति धारण करके प्रतिक्षण उपस्थित रहती हैं। इस कारण आज इन्हे जीतने का शक्ति किमीमें भी नहीं है। भला, जिसके माथी विश्वामित्र होवे—उसे तीनों लोकमें किसका भय हो सकता है ? इससे मैं आपको यह आदेश देता हूँ कि बिना किसी संशय के आप अपने पुत्र को इनके साथ कर दें। भला, जिस विश्वामित्र की भृकुटि सकेत से समस्त दुःखों का नाश हो जाता है—उसके साथ रहने हुये भी आप के पुत्रको कोई कुछ कह सके—ऐसी सामर्थ्य किसकी है ?

हे राजन् ! विश्वामित्रके साथ रहते हुये, आपके पुत्र को किसी प्रकार का भी खेद नहीं हो सकता—इससे आप निश्चय ही रामजीको इनके साथ कर दें। फिर इक्ष्वाकु जैसे श्रेष्ठ कुल के पुरुष आप दशरथ नाम रखते हुये भी यदि अपने धर्म में स्थित न रह सके तो अन्य जीवों से धर्म की पालना कैसे होगी ? क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, उनके अनुसार ही तो अन्य जीव करते हैं। यदि आप जैसे लोग अपने

न करेंगे तो और कैसे करेंगे।

फिर आपके कुल में ऐसा कभी हुआ भी नहीं है कि कोई याँचना करता यावे और निराश होकर लोटे। नहीं, इस घर से सबकी याँचना पूरा हुई है। इससे आपके लिये अपने धर्म का त्यागना योग्य नहीं है। बेचारे राजसूत तो क्या, यदि साक्षात् मूर्तिधारी काल ही आकर विद्यमान क्यों न हो जावें तो भी विश्वामित्र के रहने आपके पुत्र का एक बाल भी बाँका नहीं हो सकता। इससे आप निश्चिंत होकर अपने पुत्र को इनके साथ कर दें। यदि न करेंगे तो मनुष्य मात्रका जो दो प्रकार का—रूप, वाचली और ताल बनवाये हुये और उनसे जो पुण्य है—वह तथा तप, व्रत, यज्ञ, दान और स्नान, आदिक जो पुण्य और क्रिया है, उन सबका फल नष्ट हो जावेगा। फिर आप अपने इस निरर्थक भवन को लेकर क्या करोगे। क्योंकि जब पुण्य ही नहीं, तब यह राज्य आदिक किस काम का ? अतः मैं जो कहता हूँ शोक को त्याग कर अपने धर्म को स्मरण कर रामजी को इनके साथ कर दें। इसीमें आपकी समस्त कामनायें पूर्ण होंगी।

वाल्मीकि जी बोले—हे भारद्वाज ! वशिष्ठ जी के ऐसा कहने पर राजा दशरथ ने बहुत क्रोध मत्तुष्ट होकर अपने एक भृत्य को बुलाया और कहा—जाओ अतः पुर में जितनी शीघ्र हो सके, राम जी को यहाँ बुला लाओ। भृत्य रामजी के पाम गया। राम जी अपनी घोर चिन्ता में निमग्न थे। भृत्य से कुछ कहने न बना। वह लौट कर राजा दशरथ के पाम चला आया और जैसा कुछ समाचार था—रामजी की चिन्तावस्था और कृशता को कह सुनाया। उसे सुन राजा दशरथ आवाक हो गये। परन्तु कार्य तो आवश्यक ही था और उधर रामजी की अवस्था भी कुछ कम शोचनीय न थी—तब इस मध्य में क्या किया जाये—दशरथ जी ने रामजी के समस्त भृत्यों को अपने पाम बुलाकर पूछा—हे राम जी के प्यारे ! रामजी की क्या दशा है और ऐसी दशा क्यों हुई—क्या इस सम्बन्धमें तुम कुछ बतला सकते हो ?

राजा दशरथ के ऐसा पूछने पर रामजी के मंडियों ने कहा—

हैं महाराज ! क्या कहे, कुछ कहते नहीं बनता है। रामजी की अवस्था को देखते हुये तो हम सभी मृतक के समान हो रहे हैं । क्योंकि जिस दिन से राम जी तीर्थयात्रा करके आये हैं, उसी दिन से ऐसी घोर चिन्ता को प्राप्त हुये है कि खाने-पीने और पहनने के किसी भी सुखदायी पदार्थ से प्रमन्न नहीं होते और ऐसी चिन्तामें निमग्न रहते हैं कि किसी की ओर नेत्र उठाकर देखते भी नहीं और यदि किसीके बुलाने पर देखते भी है तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानों उस पर महान क्रोधित हो रहे हैं । और तो क्या, अंत:पुर में जो इनकी माता नाना प्रकारके हीरे और मणियोंके भूषण देती हैं तो उन्हें मानों फेंक देते हैं या किसीको दे डालते हैं। इस प्रकार वे किसी भी पदार्थसे प्रमन्न नहीं होते । यदि सुन्दर स्त्रियाँ अपनी सज-धजसे नाना प्रकार की चेष्टाओं युक्त उन्हें प्रमन्न करना चाहती हैं और अपनी हावभावों तथा अनेक लीलाओं से उनके मन को दूमरी ओर आकृष्ट करना चाहती है तो भी उन्हें विपत्त जानकर वे उनकी ओर उलट कर भी नहीं देखते और क्रोधित होते हैं । हे राजन् ! इस प्रकार देखता हूँ तो न तो उन्हें चुधा प्रतीत होती है और न वे राज्य की ही इच्छा रखते हैं । उनका मन सर्वदा ही महा उन्मत्त की नाई बन रहा है । जब देखो, तब मानों किसी घोर चिन्ता में डूबते ही रहते हैं । परन्तु हमें यह कुछ पता नहीं लगता कि वास्तव में उनका क्या विचार है । हाँ, इतना अवश्य सुना है कि जब हमसे कोई बड़ा मन्त्री उनसे कुछ पूछता है, तब वे कहते हैं कि-तुम जिसको सम्पदा मानते हो, वही आपदा है और जिसको आपदा अथवा रमणीय जानते हो-वह सब मिथ्या है । सब इसीमें डूबते हैं और यह सब कुछ मृगतृष्णा के जलवत है । इसको सत्य जान कर मूर्ख मृग के समान दौड़ते और दु:ख पाते हैं ।

इसी प्रकार यदि वे कभी बोलते हैं तो ऐसे बोलते हैं कि मानों उन्हें कोई भी वस्तु सुखदायी नहीं भासती है । हँसाते हैं तो हँसते

नहीं। जिस वस्तु को हाथ में लेते हैं, फिर उसे पृथ्वी पर फेंक देते हैं और दिन-दिन शरीर से दुर्बल होते जाते हैं। कभी बोलते हैं तो कहते हैं न राज्य सत्य है, न भोग सत्य है, न यह जगत सत्य है और न मित्र सत्य है अपितु मिथ्या पदार्थ के लिये मूर्ख यत्न करते रहते हैं। परन्तु वे जिनको सत्य और सुखदायक जानकर यत्न करते हैं, वह सब बधन का कारण है। हे महाराज। अधिक तो क्या कहें? जब उनके पास कोई राज पड़ित जाता है तो उसे देख कर कहते हैं—यह पशु है, आशा रूपी फाँसीमें बँधा हुआ है इत्यादि। इसी प्रकार भोगों को देख कर वे नितान्त ही क्रोधित होते हैं। इससे हम लोगों को ज्ञात होता है कि रामजी को परमपद पाने की इच्छा है। क्योंकि कभी तो वे मस्त होकर गाने लगते हैं और कभी बोलते हैं तो ऐसा कहते हैं कि—हाय-हाय, मैं अनाथके समान माग गया हूँ। हे मूर्ख! तू संसार-संसुद्र में क्यों डूबता है? यह संसार तो परम अनर्थ का कारण है। इसमें तो कदापि सुख नहीं है। अतः इससे छूटने का यत्न करो। यह सब वे स्वयं ही कहते और स्वयं ही सुनते और समझते हैं और किसी के साथ कभी बोलते हैंसते नहीं। यहाँ तक कि अपनी माता से भी कभी कुछ नहीं बोलते और तब अत पुर की स्त्रियों की तो बात ही कौन पूत्रता है। फिर किसी पदार्थ से वे आश्चर्यवान भी नहीं होते। यदि कोई कहे कि आकाश में वाग लगा है और उसमें जो फूल खिले हैं, उनको मे ले आया हूँ तो उसे भी सुनकर वे आश्चर्य नहीं करते। और समस्त पदार्थों को केवल भ्रममात्र देखते हैं। न उनको किसी पदार्थ से हर्ष होता है और न किसी से शोक। पता नहीं कि उन्हें किस प्रकार की चिन्ता घेरे है। हममें तो ऐसा कोई नहीं है कि जो उनकी चिन्ता का निवारण कर सके। इससे हम लोगों को बड़ा शोक है कि हमारे रामजी किस प्रकार से प्रसन्न होंगे। यदि उनसे कोई कहता है कि आप चक्रवर्ती राजा हैं, आप दीर्घजीवी हो और बड़े सुख को पावें तो उसके वचन को सुनकर महान क्रोधित हो कठोर वचन बोलते हैं।

हे महाराज । यह अवस्था केवल रामजी की ही हो-सो नहीं, उनके साथ ही लक्ष्मण और शत्रुघ्न को भी ऐसी ही चिन्ता लंग रही है । सो हे राजन् । यदि कोई ऐसा होवे तो उसे बुलाकर रामजी की चिन्ता दूर कराइये, नहीं तो परिणाम भयंकर होगा और हम सभी लोग उस बड़ी चिन्तामे डूब जावेगे । क्या कहें, रामजी तो शरीरपर एक उपरना ओढ़े अतीथ के समान दिन रात पदमासन लगाये बैठे ही रहते हैं । इससे उनकी चिन्ता-निवृत्ति का कोई उपाय शीघ्र कीजिये ।

मत्रियों की ऐसी वार्ता सुनकर विश्वामित्र ने राजा दशरथ से कहा-हे राजन् । जब ऐसी बात है, तब आप रामजी को मेरे निकट शीघ्र बुलाइये । मैं निश्चय ही उसका दुःख निवृत्त करूँगा । हे दशरथ । तुम धन्य हो कि तुम्हारा पुत्र वैराग्य को प्राप्त हुआ है । हे राजन् । हम वशिष्ठादि सहित जो यहाँ बैठे हैं-सो एक युक्ति द्वारा तुम्हारे पुत्र को उपदेश देकर उसके दुःख को ऐसे मिटायेगे कि वह अपने आत्मपद को प्राप्तकर तुम्हारे जत्रिय की प्रकृतिका जो आचरण है, करने लगेगा । अतः तुम रामजी को यहाँ शीघ्र बुलाओ ।

वाल्मीकि जी कहते हैं-हे भारद्वाज । मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र के ऐसा कहते ही राजा दशरथ ने एक भृत्य को आज्ञा दिया कि अतः पुरमे जाकर राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न को यहाँ शीघ्र बुला लाओ । भृत्य बुला लाया । रामजी सभा मे पहुँचतेही पिता दशरथ के चरणों पर गिर पडे । पिता ने आशीर्वाद देकर उठा लिया । फिर गुरुवर वशिष्ठ और मुनिवर विश्वामित्र जी से भी श्रीरामजी ने क्रमपूर्वक दण्डवत किया और इसी प्रकार समस्त मण्डलेश्वरो और मण्डलेश्वरो ने रामजी को तथा लक्ष्मण, भरत, और शत्रुघ्न ने भी पिता और मुनियो एवं समस्त मण्डलेश्वरो को क्रमपूर्वक दण्ड-प्रणाम किया । तब राजा दशरथ ने प्रेमपूर्वक रामजी को अपनी गोद मे विठाकर उनके माथे पर हाथ फेरते हुये बोले-हे पुत्र । केवल विरक्तता से ही परमपदकी प्राप्ति नहीं होती । इसके लिये गुरु की आव-

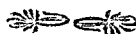
शकता है। सो यहाँ वशिष्ठ जी जैसे तुम्हारे कुल-गुरु बैठे हैं, इनके उपदेशों की युक्ति से तुम्हें मोक्ष की प्राप्ति होवेगी।

महाराज दशम्य ऐसा कहही रहे थे कि वशिष्ठजी बोले—हे राम जी ! तुम धन्यहां। क्योंकि तुमने सर्वथा ही विपथों को त्याग दिया है। अच्छा है, ये दुष्ट-विषय ही तो हमारे शत्रु हैं। सो, तुमने उन पर विजय लाभ किया है। इससे तुम सर्वथा ही धन्यवाद के पात्र हो।

वशिष्ठजी के ऐसा कहने पर विश्वामित्र जी ने रामजी से कहा—हे कमलनेत्र रामजी ! यह तुमको मोह कहाँ से और कैसे प्राप्त हो गया—अपने हृदय की चपलता को त्याग कर, उसे प्रकट करो। हे राघव ! बतलाओ, तुम्हारी क्या इच्छा है और तुममें जो यह चिन्ता उत्पन्न हो गई है, वह कितनी बड़ी है ? बोलो, तुम्हारी जो इच्छा होगी हम तुम्हें उसी पद में स्थित करेंगे, जिससे कि तुम्हें फिर कभी कोई दुःख न होवे। हे रामजी ! हम तुम्हें ऐसी युक्ति बतलावेगे कि उससे तुम्हारा दुःख सर्वथा ही नष्ट हो जावेगा। इससे तुम अपने वृत्तान्त को हमसे अवश्य और शीघ्र प्रकट करा।

विश्वामित्र के इस कथन में रामजी परम प्रसन्न हो गये। उनका सारा शोक नष्ट हो गया। और उन्होंने अपने हृदय में यह निश्चय किया कि अब मुझको अवश्य ही उस पदकी प्राप्ति होवेगी।

श्री योगवाशिष्ठ वैराग्य प्रकरण का छठाँ सर्ग समाप्त ॥ ६ ॥



सातवाँ सर्ग

गम-वैराग्य-वर्णन



ल्मीकिजी बोले—हे भारद्वाज ! महामुनि विश्वामित्र के ऐसा कहने पर रामजी बहुत प्रसन्न होकर उनसे बोले हे भगवान ! सुनिए, एक दिन जब मैं विद्यालय से विद्याध्ययन कर घर आया तो मेरे हृदय में यह बात आई कि मैं देश-देशान्तरो की तीर्थयात्रा करने चला जाऊँ । सो पिताजी की आज्ञा लेकर वदिकाश्रम और केदार आदिक समस्त तीर्थों को करने चला गया । जब लौट कर घर आया तब एक दिन मेरे हृदय में ऐसी उथल-पुथल मची कि उसके घोर प्रवाह में मेरा चित्त कहाँ का कहाँ चला गया और उमी दिनसे मुझे इस जगत के समस्त पदार्थों एवं राज्य-विलास आदिक भोगों से सर्वथा ही घृणा हो गई । और तबसे आज तक यह स्थावर जगम रूपी जगत मिथ्या ही प्रतीत होता है । ऐसा क्यों हुआ, यह मैं कुछ नहीं जानता । परन्तु अब तो यह निश्चय हो गया है कि इस जगत के जितने भी पदार्थ हैं, सब मिथ्या और मनके कारण ही सिद्ध हो रहे हैं । सो मन भी भ्रममात्र है । क्योंकि इसकी भी कोई वास्तविक उत्पत्ति नहीं है और यह अन-होता ही अनायास दुःख देने के लिये उत्पन्न हो गया है । यदि यह ऐसा न होता तो जगत के असत्य पदार्थों को सत्य जानकर उसकी ओर नहीं दौड़ता । परन्तु मूर्खों को क्या कहा जाय, वे तो जगत के पदार्थों को ही सुखदाई जानकर दिन रात उसकी ओर दौड़ते रहते हैं और नाममात्र को भी शान्ति नहीं पाते । शान्ति पावे भी तो कैसे ? इन्द्रियों के भोग एक ऐसे विपैले सर्प के समान हैं कि जिनका कांटा हुआ वारवार आवागमन के चक्कर में पड़ा रहता है । इससे

जहाँ तक मैंने विचार किया, मुझे यही ज्ञात हुआ है कि यह जितना कुछ जगत दिखलाई पड़ता है—सब भ्रममात्र है और इसकी आस्था करनी मूर्खता है। क्योंकि इस जगत की जितनी भी वस्तुये हैं, सब आगमापायी हैं और कोई भी स्थायी नहीं रहती। तब जो पदार्थ स्थायी नहीं है उसको क्या ग्रहण करें। वस, इसी कारण से मैंने भोगों को त्याग दिया है।

हे मुने। मेरे विचार में तो यही आता है कि ये जितने कुछ सम्पदा रूप पदार्थ भासते हैं, सब आपदा हैं। इनमें रच मात्र भी सुख नहीं है। क्योंकि जब इनका वियोग होता है तब ये कंटक की नाईं मनमें चुभते हैं और जब प्राप्त होता है तब रागद्वेषमें पड़कर जलना पड़ता है। और जब नहीं प्राप्त होता तब तृष्णा जलाती है। इससे ये भोग दुःखरूप हैं। जैसे पत्थर की शिला में छिद्र नहीं होता, वैसे ही इस भोगरूपी शिला में रचमात्र भी सुखरूपी छिद्र नहीं होता। तब इनकी अस्था करनी मूर्खता नहीं तो क्या है? हा, मैं भी तो बहुत काल से इस तृष्णा में जलता रहा हूँ। परन्तु सुख कभी नहीं मिला। जिधर ही दृष्टि डालो दुःख ही दुःख दिखलाई पड़ता है। सो क्यों न हो, जब आत्मरूपी धन पासमें नहीं रहता, तब भोगरूपी वीर अज्ञानरूपी रात्रि में प्राणी को लूट ले जाते हैं। फिर तो उसके वियोग में वह महादीन हो जाता है और इस प्रकार बारबार यत्न करता हुआ कभी शान्ति को नहीं प्राप्त होता। यद्यपि यह शरीर क्षणभंगुर और असार है तथापि इसे सर्वदा ही भोगों की इच्छा बनी रहती है। विचार पूर्वक देखा जाय तो इसका बोलना-चालना भी ऐसा ही है कि जैसे सूखे वाँसमें वायु जाता है तो उसके वेगमें शब्द उत्पन्न होता है ऐसे ही मनुष्य की वासना है। परन्तु जैसे यका हुआ मनुष्य मरु-भूमि के मार्ग की इच्छा नहीं करता ऐसे ही विषयो को दुःखरूपी जान कर मैं उनके भोग की इच्छा नहीं करता।

फिर यह जो भोग रूपी लक्ष्मी है सो भी परम अनर्थ उत्पन्न

करने वाली है । क्योंकि जब तक यह प्राप्त नहीं होती, तब तक तो इसको पाने का यत्न होता है और बहुत अनर्थ करके जब यह प्राप्त होती है तब सब गुणों को नाश कर देती है । इसके आते ही मनुष्य के शीलता, संतोष, धर्म, उदारता, कोमलता, वैराग्य, विचार और दया आदिक समस्त गुणों का नाश हो जाता है । और जब गुणों का ही नाश हो गया तब सुख कहाँ से होगा ? तब तो परमआपदा ही प्राप्त होती है । अतः परम दुःख का कारण जान कर ही मैंने इसका त्याग किया है । हे मुने ! इसमें गुण तभी तक है, जब तक लक्ष्मी प्राप्त नहीं हुई । जब लक्ष्मी की प्राप्ति हुई तब सब गुण नाश हो जाते हैं । जैसे वसंत ऋतु की मजरी तभी तरु हरी रहती है, जब तक ज्येष्ठ, आपाढ़ नहीं आता । ज्येष्ठ, आपाढ़ के आते ही भस्म हो जाती है । मनुष्य मीठे वचन तो तभी तक बोलता है, जब तक लक्ष्मी की प्राप्ति नहीं होती । जब लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाती है तब कोमलता का अभाव होकर वह मनुष्य कठोर हो जाता है । जैसे जल पतला तभी तक रहता है, जब तक उसमें शीतलता का संयोग नहीं होता । शीतलता का संयोग होते ही वह बरफ होकर कठोर दुःख देनेवाला हो जाता है । वस, लक्ष्मी के प्राप्त होने से यह जीव जड़ हो जाता है । क्योंकि सम्पदा ही तो समस्त आपदाओं का मूल मंत्र है । जब लक्ष्मी की प्राप्ति होती है, तब बड़े सुख को भोगता है और जब उसका अभाव होता है, तब तृष्णा करके जलता हुआ जन्म जन्मान्तर को प्राप्न होता है । इससे लक्ष्मीको इच्छा करना ही मूर्खता है । क्योंकि यह सर्वथा ही क्षणभंगुर है । जहाँ इससे भोगों की उत्पत्ति होती है वहाँ इसीसे मनुष्य का नाश भी हो जाता है । जैसे जल से ही तरंग उत्पन्न होते हैं तो जल से ही नाश भी हो जाते हैं और विजली भी स्थिर नहीं होती, वैसे ही भोग भी स्थिर नहीं रहते । अतः मनुष्य में शुभ गुण तभी तक है, जब तक उसे तृष्णाने स्पर्श नहीं किया । तृष्णा हुई नहीं कि शुद्धगुणों का अभाव हो जाता है । जैसे दूध में मधुरता

तभी तक रहती है, जब तक सप उसे स्पर्श नहीं करता। सर्प ने स्पर्श किया नहीं कि दूध विपरूप हो जाता है।

इस प्रकार हे मुने। यह लक्ष्मी देखने ही मात्र सुन्दर है। प्राप्त हुई नहीं कि सदगुणों का नाश कर देती है। प्राणी आत्मपद से मृतक हो जाता है। उसे आत्मानन्द का सुख कभी नहीं मिलता। वह अज्ञानवश महादीन और अंधा हो जाता है। क्या कहे—जब लक्ष्मी की प्राप्ति होती है तब वह जलरूप अनेक वासनाओं को उत्पन्न कर मनुष्य से बड़े-बड़े भोग भोगवाती है। फिर तो वासनाओं के फेर में पड़ा हुआ यह जीव 'जन्म-मरण' को पाता हुआ कभी स्वप्न में भी शान्ति नहीं पाता। शान्ति पावे भी तो कैसे? क्योंकि लक्ष्मी तो स्वतः ही आशान्तरूप है। उसके आते ही गुणों का अभाव हो जाता है और मनुष्य का प्रबल अहंकार उत्पन्न हो जाता है। तब वह अपने आप ही बड़ाई करने लग जाता है। लक्ष्मी को पाकर भला ऐसा कौन शूरमा होगा जो अपने से अपनी बड़ाई न करे। ऐसा प्राणी तो दुर्लभ है। भला जो ममर्थवान होकर अवज्ञान करे, सबसे समबुद्धि रखे, ऐसा दुर्लभ कौन है? इसी प्रकार लक्ष्मीवान होकर जो अपने शुभगुणों को रख सके—वह दुर्लभ है। क्योंकि जब इस लक्ष्मीरूपी दूध को तृणारूपी सर्पिणी पान करती है तब वह बड़े जोर से फुफकार मारती है। फिर तो प्राणी रचमात्र भी स्थिर नहीं रहता और अनेक आपदाओं में पड़कर अपना पतन कर देता है। इसमें यह केवल देखने ही में सुन्दर है अन्यथा समस्त दुःखों का कारण है। जैसे तलवार की धार देखने में तो सुन्दर होती है किन्तु स्पर्श करते ही नाश कर देती है—इसी प्रकार यह लक्ष्मी भी विचाररूपी मेघों को वायु के समान नाश कर देती है। हे मुनीश्वर! मैंने खूब विचार कर देखा है कि इसमें सुख कुछ भी नहीं है। यह सतोपरूपी मेघ का नाश करने के लिये शरत्काल है। फिर जैसे विजली चमक कर छिप जाती है, वैसे ही यह लक्ष्मी भी प्रकट होकर छिप जाती है।

श्री योगवाशिष्ठ-वैराग्य प्रकरण का सातवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७ ॥

आठवाँ सर्ग

संसार-सुख-निषेध वर्णन

—*⊙*—



मुनीश्वर । जो इस लक्ष्मीको देखकर प्रसन्न होते हैं, वे महान् मूर्ख हैं। क्योंकि जैसे कमल-पत्र के ऊपर जलकी बूँदें नहीं ठहरती, वैसे ही लक्ष्मी भी क्षणभंग है और जैसे जल मे लहरे उठकर फिर जलमे ही लीन हो जाती है, वैसे

ही लक्ष्मी भी उत्पन्न होकर नष्ट हो जाती है। हे मुने । वायुको रोकना कठिन है, और वह भी कोई रोकता है, आकाश का चूर्ण करना भी कठिन है सो चाहे उसे भी कोई कर डाले और जो विजली को ठहरालेना असम्भव है, उसे भी कोई ठहरा लेवे, परन्तु लक्ष्मी को पाकर कोई स्थिर नहीं रह सकता। जैसे खरगोश की सींग को कोई मार नहीं सकता और जैसे दर्पण पर मोती नहीं ठहर सकता, और जैसे तरंग की गाँठ नहीं पडती, वैसे ही लक्ष्मी भी स्थिर नहीं रहती। इस प्रकार लक्ष्मीकी चमक तो विजलीके ही समान है कि जो होनी भी है और मिट भी जाती है। इससे लक्ष्मी को पाकर जो अमर होना चाहे वह बड़ा मूर्ख है। उसके जीनेसे तो मरना ही अच्छा है। मूर्ख अपने नाशके लिए ही इस रूपमे जीना चाहते हैं। परन्तु जो ज्ञानी पुरुष हैं, जिनकी परमपदमे स्थिति है, उनका जीना तो सुखके निमित्त ही होना है। क्योंकि उनके जीनेसे औरोंका भी कार्य सिद्ध होता है। इस कारण उनका जीना तो चिन्तामणि के ही समान है। परन्तु जिनको सर्वदा भोगकी ही इच्छा बनी रहती है और जो आत्मपद-विमुख रहते हैं—उनका जीना तो सुखके हेतु नहीं है। वह तो मनुष्य नहीं, गर्दभ हैं। मला जो पुरुष शास्त्र पढकर भी प्राप्त करने योग्य पदको न पावे तो वह शास्त्र भार-स्वरूप नहीं तो क्या है ? उसके लिये तो जैसे किसीको कोई वस्तु भार होती है—तो किसीको कोई, वैसे ही उस

शास्त्रीके लिये वह शास्त्र भी भारस्वरूप हे कि जिसके सम्बन्धकी चर्चा करता हुआ भी वह उसके अर्थोंसे शून्य हे । क्योंकि वह उसके सारको नहीं पा रहा है ।

हे मुनीश्वर । यह मन आकाशरूप है । यदि इसपर भी इसे शान्तिन आई तो मानो यह मन भी इसके लिये भारस्वरूप है । क्योंकि मानव शरीर पाकर भी जिमने अभिमान का त्याग न किया तो यह शरीर भी उसके लिये भारस्वरूप हे । इसका जीना तो तभी श्रेष्ठ हे कि जब इसे आत्मपद की प्राप्ति होवे, अन्यथा इसका जीना व्यर्थ है । सो आत्मपदकी प्राप्ति अभ्यास से होती है । जैसे पृथ्वी खोदने से ही जल निकलता है, वैसेही अभ्यास करने से ही आत्मपद प्राप्त होता हे । परन्तु जो आत्मपद से विमुख होकर आशा की फाँसी में फँसे हैं, वे ससार में भटकते ही रहते हैं । इस प्रकार लक्ष्मी मूर्खता ही ज्ञानभगुर हे । इसको पाकर जो अभिमान करता है, वह मूर्ख हे । जैसे विल्ली चूहेको पकडने के लिये पात लगाये रहती है, वैसे ही लक्ष्मी भी धनवानों को नरक में डालने के लिये उनके घरमें पडी रहती हे । जैसे अजुलि में जल नहीं ठहरता, वैसे ही लक्ष्मी भी चली जाती हे । तब भला ऐसी ज्ञानभग लक्ष्मी और शरीर को पाकर जो भोगों की तृष्णा करते हे, वे मूर्ख निश्चय ही मृत्युके मुखमें पडे रहकर भी जीने की आशा करते हैं ।

हे मुनीश्वर । यह युवावस्था भी क्या है ? जैसे नदीका प्रवाह एक के पश्चात दूसरा भट आ जाता हे, वैसे ही इस शरीरकी अवस्था है । बुढ़ापा आते देर नहीं लगती । देखते २ शरीर जर्जरीभूत हो जाता है । मृत्यु मक्षण कर लेती है । तब इसप्रकार मूर्खतापूर्ण जीनेसे तो मर जाना ही अच्छा है । वृद्ध मनुष्य का जीना केवल दुःख का ही कारण होता है । अस्तु, मनुष्यको चाहिए कि चाहे जिम प्रकार और जितनी शीघ्र हो सके अपने आत्मपदको पानेका यत्न करे । मनुष्य शरीर पाकर जिसने आत्मपद पानेका बल न किया, वह हत्यारा है ।

क्योंकि यह माया देखने में तो बड़ी सुन्दर जान पड़ती है परन्तु इसका परिणाम बहुत ही भयकर और नाशवान है। जैसे वृक्ष को भीतर-ही-भीतर घुन खा जाता है और बाहर से वह बहुत सुन्दर दीखता है, वैसे ही यह पुरुष बाहर से तो बहुत सुन्दर और श्रेष्ठ दृष्टि आता है किन्तु भीतर-ही-भीतर इसको तृष्णा चर्वण कर जाती है। अस्तु, जो पदार्थों को मत्स्य और सुख रूप जानकर उनसे सुख लाभ करने की इच्छा करते हैं, वे सुखी नहीं होते, वरन् जैसे कोई सर्प को पकड़ कर नदी पार होना चाहे, सो नहीं हो पाता और अपनी मूर्खतावश डूब ही जाता है, वैसे ही जो मांसारिक पदार्थों को सुखरूप जानकर उनका आश्रय करता है, वह सुख नहीं पाता और निश्चय ही संसार सागर में डूब जाता है। क्योंकि यह संसार तो इन्द्र-धनुष के ही समान है। जैसे इन्द्र धनुष देखने में तो बहुत रंग का दिखलाई पड़ता है और उससे कुछ भी अर्थ लाभ नहीं होता, वैसे ही यह संसार भी भ्रममात्र है पर इममें सुख की इच्छा करनी व्यर्थ है। वस, इसी प्रकार जगत को असद्वृष जानकर मैं इससे निर्वाप्तिक होने की इच्छा करता हूँ।

श्री योगवाशिष्ठ वैराग्य-प्रकरण का आठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८ ॥

नवाँ सर्ग

अहंकार-दुराशा वर्णन



हे मुनीश्वर । मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु अहंकार है । संसार में जितने भी दुःख प्राप्त होते हैं, सब अहंकार से ही उत्पन्न होते हैं । जब तक यह रहता है, तब तक दुःखों की उत्पत्ति का अभाव कदापि नहीं होता । दान, मान, सम्मान और पुण्य आदि जितने भी शुभ कर्म होते हैं, तब तक

सभी व्यर्थ है, जब तक कि मनुष्य में अहंकार विद्यमान है। ऐसी अवस्था में चाहे कोई लाख चेष्टा क्यों न करे स्वप्न में भी परमार्थ की सिद्धि नहीं होती। हाँ, इसका नाश होने पर तो निश्चय ही कल्याण हो जाता है। इस कारण आप मुझे यह अवश्य बतलाइये कि किस प्रकार से इसकी निवृत्ति होवेगी ? क्योंकि इस अहंकाररूपी शत्रु ने मेरे शान्तिरूप चन्द्रमा को आच्छादित कर लिया है, इससे मेरी शीतलता और मुझमें जो कुछ प्रकाश है, सब ढँक गया है। हा, जब यह अहंकाररूपी मेघ गर्जन कर वर्षा करने लगता है, तब तृष्णारूपी मंजरी को बढ़ते देर नहीं लगती और वह पलमात्र में ही अपना भयकर प्रभाव डाल देती है। फिर चाहे लाख चेष्टा करो—अहंकाररूपी बादलोके रहते, वह कदापि नाश नहीं होती। वह नाश तो तब होवे, जब अहंकार का पहले ही नाश हो जाये। सो बिना विवेकरूपी पवन के चले वह कैसे नाश हो ? क्योंकि जब तक दीपक में तेल और बत्ती विद्यमान है, तब तक तो वह अवश्य ही प्रकाश करेगा। हाँ, तेल बत्ती का अभाव हो जावे तो प्रकाश आपही आप नष्ट हो जायगा। इसी प्रकार जब तक यह महाशत्रु अहंकार विद्यमान है, तब तक तृष्णा का नाश नहीं हो सकता।

इस प्रकार चाहे जिस रूप में देखा जाये, समस्त दुःखों का कारण अहंकार ही है। जब अहंकार नष्ट होवे, तब दुःखों का भी नाश हो। अहंकार यही कि मैं राम हूँ। जब तक मुझमें यह भाव विद्यमान है, तब तक कुछ नहीं हो सकता। इसलिये अहंकार को ही समस्त अपदाओं का मूलमंत्र समझकर मैंने उसको त्याग किया है। क्योंकि मनुष्य मात्र के लिये परमपद लाभ करना नितान्त आवश्यक है। हे मुनीश्वर ! यह अहंकार तो ज्ञान को वैसेही नष्ट कर देता है कि जैसे कमल को वरफ नाश कर देता है। भला देखिए तो सही, इस अहंकाररूपी शिकारीने जीवरूपी पक्षीको कैसे बंधनमे कर लिया है कि जिससे यह विचारा महादीन हो गया है। हा, विषय भोगोंकी तृष्णारूपी

पिशाचिनी ने इसे कैसा मोहित कर पिंजड़े से लिया है। तब भला सुख कैसे मिल सकता है ? अब तो यह उसके वन्दन में पड़ा हुआ नाना प्रकार के संकल्प विकल्पो से आच्छादित हो अनेक प्रकार का शब्द करता है। इससे हे मुनीश्वर ! आप मुझे वही युक्ति बतलाइये कि जिससे इस अहंकाररूपी दृष्ट से मुक्ति मिले।

श्री योगवाशिष्ठ वंशग्य प्रकरण्य का नवौं सर्ग समाप्त ॥ ६ ॥

दशवाँ सर्ग

चित्त-दोरात्म्य-वर्णन



महामुने—जिस प्रकार अहंकार से मनुष्य का पतन हो जाता है, उसी प्रकार यह चित्त भी महान दुःख का कारण है। क्योंकि यह सर्वदा ही विषयों की ओर दौड़ लगाता रहता है। जब देखो, विषयों को ही चिन्ता किया करता है और जो वैराग्य, विचार, धैर्य और सन्तोष आदिक महापुरुषों के गुण हैं उनकी ओर कदापिनही जाता। यद्यपि विषयों से इसे रंचमात्र भी लाभ नहीं पहुँचता, तथापि जैसे श्वान द्वार पे भटकता फिरता है, वैसे ही यह चित्त पदार्थों की प्राप्ति में भटकता रहता है। पर वास्तव में उसे कुछ भी नहीं प्राप्त होता और जो कुछ नाममात्र को प्राप्त भी हो जाता है तो उससे यह तृप्त नहीं होता और तृष्णा बनी ही रहती है। जैसे पिटारे में चाहे जितना भी जल क्यों न भरिये परन्तु वह बाहर ही निकल जाता है और कभी पूर्ण नहीं होता, वैसे ही इस चित्त को चाहे जितने भी भोग पदार्थ क्यों न मिलते जायें, पर यह उससे संतुष्ट नहीं होता और सर्वदा ही तृष्णावान बना रहता है। इससे यह चित्त एक महान मोह का सागर है कि जिममें प्रतिक्षण तृष्णारूपी अनेक तरंगे उठा करती हैं और नाम मात्र को भी स्थिर नहीं होतीं। जैसे नदी का प्रचद

वेग अथवा समुद्र को प्रचंड लहरे अपने तटवर्ती वृक्षों को उखाड़कर फेंक देती हैं, वैसेही इस चित्तरूपी समुद्र में वासनारूपी प्रचंड लहरों ने उठकर मेरे अचल स्वभाव को विचलित कर न जाने कहाँ का कहाँ उखाड़ कर प्रवाहित कर दिया है हा, इस चित्तरूपी धीवर ने अपने वासनारूपी जाल को बिछाकर मेरे आत्मानन्द को कैसा नष्ट कर दिया है कि आज मैं तनिक भी प्रमन्न नहीं हो पाता हूँ और जब देखो तब चित्त में खेदवान ही बना रहता हूँ। हा, इस चित्त के कारण तो तनिक भी शान्ति नहीं प्राप्त होती है। इस दुष्ट के कारण तो मैं वैसा ही लोभवान हो रहा हूँ कि जैसे क्षीर समुद्र के कारण ही मन्दराचल लोभवान हुआ था।

हे मुने ! इस चित्त ने मुझे ऐसी सुदूर खाई में गिरा दिया है कि जिसका कुछ अनुसन्धान ही नहीं हो पाता है। जैसे प्रचंड वायु से सूखे तृण दूर-से-दूर जा पड़ते हैं, वैसेही इस चित्तरूपी वायु ने मुझको आत्मानन्द से दूर डाल दिया है। जैसे सूखे तृण को अग्नि भस्म कर देती है, वैसे ही इस चित्त ने मुझे भस्म कर दिया है। हे मुनीश्वर ! कहाँ तक कहें, यह चित्त तो कभी २ बड़ा गंभीर और उदार हो जाता है। पर इसकी उदारता भी विचित्र है। जब भोगों को नहीं पाता है तब तो उदार हो जाता है और जहाँ भोग मिले नहीं कि उसमें आसक्त होकर परम विषयी बन जाता है। फिर तो वासना ही इसकी सुख शैथ्या हो जाती है और यह आत्मपद की ओर कदापि नहीं जाता। हा, इसका जाल बड़ा ही विचित्र है। वासनारूपी सूत में ससार की सत्यतारूपी गाँठ पड़ी हुई है। इससे हे मुनीश्वर ! आप मुझे वही उपाय बतलाइये कि जिससे मैं इस चित्तरूपी शत्रु को विजय कर पाऊँ। मुझे किसी प्रकार के भोग की इच्छा नहीं है। मैं इस जगत की लक्ष्मी को व्यर्थ जानना हूँ। इससे आप मुझे वही युक्ति बतलाइये कि जिससे इस चित्त को जीत सकूँ।

श्री योगवाशिष्ठ-वैराग्य प्रकरण का दशवाँ सर्ग समाप्त ॥ १० ॥

द्वारहवाँ सर्ग ।

तृष्णा-विवेचन



तना कहकर रामजी फिर कहने लगे—हे मुनीश्वर ! यह चित्त बड़ा ही दुष्ट है । जगतके जितने भी दुःख हैं, सब इसी के आश्रयसे फुरते हैं । क्योंकि इस चेतनरूपी आकाश में तृष्णारूपी एक ऐसी रात्रि आ गई है कि जिसमें काम, क्रोध, लोभ और माहादिक उल्लू आकर निर्भय विचर रहे हैं । जब तक इसका अभाव नहोवेगा तब तक प्रसन्नता नहीं प्राप्त हो सकती । क्योंकि इस चित्तरूपी पर्वत के आश्रयसे तृष्णारूपी नदी का बहुप्रवाह चलता है कि जिसके संकल्परूपी तरङ्गों में पड़ा हुआ यह जीव कहाँ का कहाँ चला जाता है । हे मुनीश्वर ! यह तृष्णारूपी एक मोर है जो भोगरूपी मेवों को देखकर परम प्रमन्न होता है । इसमें समस्त दुःखों की मूल यह तृष्णा है । हा, जब में सन्तोष आदिक गुणों का आश्रय करने लगता हूँ, तब यह तृष्णारूपी पिशाचिनी आकर उसे नष्ट कर देती है । जैसे किसी सुन्दर सारंगी को चूहा काट डालता है, वैसेही सन्तोषादिक को तृष्णा नाश कर देती है । कहाँ तो मैं यह चाहता हूँ कि परमपद को लाभ करूँ और कहाँ यह तृष्णा उसमें बाधक होती है । जैसे जाल में फँसा हुआ पक्षी आकाश में उड़ने का यत्न तो करता है किन्तु उड़ नहीं पाता—वैसे ही उसके कारण अनात्मपद में पड़ा हुआ यह जीव आत्मपद में नहीं जा पाता । उसमें जाने की चेष्टा किया नहीं कि यह दुष्टा, स्त्री-पुरुष, पुत्र और कुटुम्ब आदि का ऐसा कठिन जाल सामने लाकर बिछा देती है कि उसमें फँसकर यह जीव कदापि आगे नहीं बढ़ सकता । बढ़ा नहीं कि भूट यह उसे नीचे गिरा देती है । हे मुनीश्वर ! यह देखने में तो बड़ी सुन्दर जान पड़ती है, परन्तु इसका मौन्दर्य वैसा ही निस्सार और व्यर्थ है—

जैसे इन्द्र धनुष का रग व्यर्थ और निःसार होता है। हे मुनीश्वर ! इससे कोई भी कार्य मिद्ध नहीं होना। यह तृष्णारूपी वह मेघ है कि जिससे दुःखरूपी बूँदें नित्यशः निकलती रहती हैं। फिर यह तृष्णारूपी वह भुवङ्गिनि है कि जिसका स्पर्श तो अत्यन्त ही कोमल है किन्तु विप से ऐसी पूर्ण है कि जिमका डंभा हुआ प्राणी कभी बच नहीं सकता। हे मुनीश्वर ! तृष्णारूपी वह बादल है जो आत्मरूपी सूर्य के आगे आवरण किये हैं। जब ज्ञानरूपी वायु चले, तब कहीं इसका नाश होकर आत्मपद का साक्षात्कार होवे। फिर तृष्णारूपी वह रात्रि है कि जिसने ज्ञानरूपी कमल को समुचित कर दिया है। यह वह काली रात्रि है कि जिसमें बड़े-बड़े धैर्यवान भी भयभीत हो जाते हैं। इसमें पडकर बड़े-बड़े नेत्रवाले भी अन्धे हो जाते हैं। इसके आते ही वैराग्य और अभ्यास रूपी नेत्र भङ्ग हो जाते हैं। यह सत्य का विचार नहीं करने देती। यह ऐसी डाकिनी है कि आतेही सन्तोष आदिक पुत्रों को मार डालती है। इसकी कन्दरा में बड़े-बड़े उन्मत्त हस्ती घोर गर्जन किया करते हैं।

हे मुनीश्वर ! यह तृष्णारूपी एक ऐसा एक समुद्र है कि जिसमें आपदारूपी अनेक नदियाँ आकर मिली हुई हैं। इससे आप मुझे वही युक्ति बतलाइये कि जिममे मुझे इन तृष्णारूपी दुःख से छुटकारा मिल जाये। अन्यथा इसका प्रहार बड़ा ही कठिन होता है। खड्ग और इन्द्रके वज्र से भी वैसा दुःख नहीं प्राप्त होना जैसा कि इस तृष्णा से प्राप्त होता है। हाथ, मुझे उभी तृष्णा ने घायल कर रखा है और दुःख से मुझे तनिक भी शान्ति नहीं प्राप्त हो गयी है। फिर यह तृष्णारूपी वह दीपक है कि जिसमे सन्तोष आदिक पतङ्ग आ-आकर जल रहे हैं। परन्तु, जैसे मछली जल में ककड और रेत आदिको भी मांस जानकर मुख में रख लेती है और उमसे उसका कोई लाभ नहीं होता। वैसे ही यह तृष्णा भी जो कुछ पदार्थ देखकर उसके पास उड जाती है—कभी किसी से तृप्त नहीं होती। यह ऐसी

यक्षिणी है कि कभी तृप्त होने जानती ही नहीं । यह उम वन्दर के समान है कि जो कभी इस डाल पर तो कभी उम डाल पर कूदका जाता है और स्थिर नहीं होता । दिन रात अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति में ही यत्न करता रहता है तथापि भोगों से तृप्त नहीं होता । जैसे घृताहुति से अग्नि तृप्त नहीं होता, वैसे ही जिन पदार्थों का मिलना असम्भव होता है, उसकी ओर भी यह दौड़ती ही रहती है और नाममात्र को भी शान्ति नहीं पाता । इसलिये यह तृष्णा उस उन्मत्त नदी के समान है कि जो अपने में आये हुये पुरुष को कहाँ का कहाँ ले जाकर फेंक देती है । कभी पर्वत के तट में ले जाती है और कभी दिशाविदिशाओं में ले जाकर अपने वासनारूपी तरंगों में ऐसी २ डुबकियाँ और थपड़े लगाती कि है जिम्के चपेटे को खाकर वह कभी अपने स्वभाव में स्थिर नहीं होता । फिर यह तृष्णारूपी एक नटिनि है जो अपना जगतरूपी अखाड़ा लगाकर उसमें बड़े बड़ों का शिर नीचा कर लटका देती है और स्वयं दूरसे खड़ी होकर हँसती है । पर खेद है कि अपने को इस अवस्था में देखकर भी मूर्ख प्रपन्न होते हैं । इसकी एक प्रशंसा यह भी है कि जो इमका त्याग करता है, उसके पीछे यह लगी फिरती है और उसके द्वारा बारबार त्याग करने पर भी यह उसे नहीं त्यागती । इससे प्रतीत होता है कि यह तृष्णारूपी एक ऐसी डोरी है कि जिसके साथ बँधा हुआ यह जीव भ्रमता फिरता है । इससे यह तृष्णा वह दुष्टिनी है कि जो शुभ गुणों को देखते ही मार डालती है । हे मुनीश्वर ! उसके सयोग से ही मैं इतना दीन और आत्मपद से विलग हो गया हूँ । अस्तु मुझे तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि इस तृष्णारूपी बाँस से ही यह जगतरूपी ऐसे २ मोती उत्पन्न हुये हैं कि जिसे देखते हुये लोभी का मन पूर्ण नहीं हो पाता । तृष्णारूपी वह पिटरी है कि जिसमें दुःखरूपी रत्नभरे पड़े हैं । इससे आप मुझे वही युक्ति बतलाइये कि जिम प्रकार यह तृष्णा निवृत्त होवे । अन्यथा मेरे विचार से तो यह किसी प्रकार

भी निवृत्त नहीं होती है। परन्तु मैं इतना कह सकता हूँ कि जैसे प्रकाश से ही अन्धकार निवृत्त हो जाता है, वैसे ही कोई युक्ति मिलने पर सम्भव है कि यह भी निवृत्त हो जावे। अन्यथा यह तृष्णारूपी हल तो मेरे गुणरूपी पृथ्वी को खोदे डालता है। फिर यह तृष्णारूपी वह धूलि है कि जो अन्तःकरण रूपी जल में उछल कर उसे मलिन किये दे रही है। हे मुनीश्वर! अधिक क्या कहें—इस तृष्णाने तो मुझे अत्यन्त ही दीन कर दिया है। इससे आप वही युक्ति बतलाये कि जिससे इस तृष्णा का नाश होकर आत्मपद की प्राप्ति होवे।

श्री योगवाशिष्ठ-वैराग्य प्रकरण का ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त ॥११॥

बारहवाँ सर्ग

शरीर-नैराशयता



मुनीश्वर यह शरीर भी महान अमंगल और अभाग्य रूप है। इसकी विकारता और अपवित्रता तो वर्णन ही नहीं की जाती। क्योंकि इसमें माम-मज्जाके अतिरिक्त और रखा ही क्या है? इससे रच मात्र भी किसी अर्थ की मिद्धि नहीं होती। अतः मैं ऐसे विकाररूप शरीर के रखने की इच्छा नहीं करता। क्योंकि न तो यह अज्ञ है और न तज्ञ। न जड है, न चैतन्य। इस कारण इसको मध्यभाव में कहना चाहिए। क्योंकि इसमें चैतन्य आत्मा ही विराज रहा है और उमी के सयोग से यह सारे व्यापार फेला रहा है। परन्तु यह स्वयम् तो बडाही अपवित्र-रूप, अस्थि-मांस, रुधिर-मूत्र और विषा से पूर्ण एव विकारी है। इससे यह समस्त दु खों का स्थान है। इच्छित वस्तु को पाता है तो प्रमन्न होता है और अनिष्ट के प्राप्त होने से शोकान्वित होता है। इस कारण मैं ऐसे शरीर की इच्छा नहीं करता। क्योंकि अज्ञान से ही इसकी उत्पत्ति हुई है। और इसमें जो अहभाव आ गया है वही दुःख

का कारण है। जैसे कोठरी में बैठा हुआ विलाव नाना प्रकार के शब्द करता है, वैसे ही इस शरीररूपी कोठरी में अहंकाररूपी विलाव बैठा हुआ अहं-अह शब्द करता रहता है। परन्तु इसका इस प्रकार शब्द करना निष्प्रयोजन और व्यर्थ है, उससे किमी प्रकार के अर्थ की मिट्टी नहीं होती। यदि उसका शब्द किसी अर्थ के हेतु होना तो ठीक भी था। परन्तु उममें तो कोई सौन्दर्य है ही नहीं, सब व्यर्थ है। हा, अथ यह शरीर रूपी नौका ऐसे भोगरूपी रेत में पड़ी हुई है कि इसका पार होना कठिन है। पार तो तब होवे, जब वैराग्य रूपी जल बढ़ कर अभ्यासरूपी पतवार की बल्ली लगे। क्योंकि यह शरीररूपी एक ऐमा जहाज है जो संसाररूपी समुद्र और तृष्णारूपी जल में पड़ा हुआ है और भोगरूपी घड़ियालइम शरीररूपी जहाजको किनार नहीं लगने देते। यह किनारे तो तब लगे, जब वैराग्य रूपी वायु और अभ्यासरूपी पतवार का बल लगे। और जिस महापुरुष ने ऐसा किया है, निश्चय ही वह सुखी है। परन्तु जिमने ऐमा अभ्यास नहीं किया है वह आपदा को ही प्राप्त है। इससे निश्चय है कि वह अपने जहाज सहित इम ससार-सागर में डूब जावेगा। क्योंकि उसके शरीररूपी वेडे में तृष्णारूपी ऐसा छिद्र हो गया है कि जिमको भोगरूपी घड़ियाल भक्षण किये बिना कदापि नहीं रह सकते। मूर्खों को इसका तनिक भी ज्ञान नहीं है। क्योंकि वे तो अपने आपको जहाज माने हुये हैं, पर यह नहीं जानते कि इसमें तृष्णारूपी ऐसा छिद्र भी लगा हुआ है कि जो निश्चय ही दुःख दे रहा है।

हे सुनीश्वर। यह देहरूपी एक ऐमा वृक्ष है कि जिसमें भुजा रूपी शाखा, उंगली रूपी पत्र, जंघा रूपी स्तम्भ, भोगवासना रूपी जड और सुख-दुःखरूपी फूल लगे हुये हैं। परन्तु जहाँ ये सभी वस्तुयें इसकी सहायता में विद्यमान हैं वहाँ इममें तृष्णारूपी ऐसा घुन भी लगा हुआ है कि वह इमे नाश करके ही छोड़ेगा। तब भला मैं ऐसे अमंगलरूपी शरीर-वृक्ष क्या करूँगा। यह तो

का ही कारण है। इससे मुक्त होना बड़ा कठिन है। मुक्त तो तब हावे, जब प्राण, मन, बुद्धि और इन्द्रियों सहित इस देह के समस्त अहंभावो का त्याग करे। पर यह त्याग साधारण नहीं है। जब त्याग साधारण नहीं है, तब मुक्ति भी वैसी ही कठिन है।

हे मुने ! पवित्र तो वह है जो पवित्र स्थान में रहे। जो अपवित्र में रहता है, वह पवित्र कैसे कहा जायगा ? शरीर तो सर्वथाही अपवित्र है, तब इसमें वास करनेवाले आत्मा को पवित्र कैसे कहे ? भला जिम शरीररूपी गृह में अस्विरूपी ईंटे और रक्त, तथा मल-मूत्र रूपी गारा लगा हुआ है और जिसमें अहंकाररूपी श्वपच और तृष्णा रूपी श्वपचिनी जो उमकी स्त्री है, वास करती है और जिसने काम, क्रोध, लोभ और मोहरूपी पुत्रों को जन्म दिया है—ऐसे अपवित्र और अमङ्गलरूपी शरीर को लेकर मे क्या करूँगा। यह मुझे नहीं चाहिए। यह चाहे रहे या न रहे, इसकी मुझे कोई आवश्यकता नहीं है। हे मुनीश्वर ! यह शरीररूपी एक गृह है, जिसमें इन्द्रियरूप पशु बंधे हुये हैं। यदि कोई उस गृह में जाता है तो ये पशु उसको अपने विषय रूपी सींगों से मारते हैं। तब भला ऐसे शरीर को लेकर मे क्या करूँगा। इसमें तो सर्वदा ही कलह पड़ी रहती है और ज्ञानरूपी सम्पदा का कभी प्रवेश नहीं हो पाता। जब देखो, तृष्णा रूपी चण्डी इन्द्रियरूपी द्वार पर खड़ी रहती है और यह कल्पना करती रहती है कि शमदमादिक सम्पदारूपी किमी का प्रवेश न होने पावे। हे मुनीश्वर ! उस गृह में सुषुप्तिरूप एक ऐसी शय्या भी बिछी हुई है कि जिसपर जाकर प्राणी सुखको पा सकता है। परन्तु काम क्रोधादिक तृष्णा के परिवार वहाँ तक पहुँचने ही नहीं देते। इस कारण यह शरीर पद्म दुःखों का मूल है। अतः मैं ऐसे शरीर की वाञ्छा नहीं करता। फिर इसकी क्षणभंगुरता भी क्या ही खेल है कि जैसे हस्ती के कान सर्वदा हिलते ही रहते हैं, वैसे ही मृत्यु इसको सर्वदा ही हिलाया करती है और कुछ ही कालका विलम्ब होता है कि मृत्यु इसे

भट्ट ग्रास लेती है। अतः मैं ऐसे शरीर का स्वीकार नहीं करता। क्योंकि यह महा कृत्घ्न है। चाहे यह कितने ही भोगों को क्यों न भोग लेवे और कितना भी ऐश्वर्य क्यों न प्राप्त कर लेवे किन्तु मृत्यु के आगे इसका कोई भी साथ नहीं देता और यह जीव इसको थकेलाही छोड़कर परलोक को गमन कर लेता है। कहाँ तो इसको सुख देने के लिये वह अनेक यत्न करता है और कहाँ वे सभी इसका साथ त्याग देते हैं। तब भला मैं ऐसे कृत्घ्न शरीर को क्यों न त्याग दूँ। कितना आश्चर्य है कि यह तो उसी का साथ करता है कि जो इसका साथ नहीं चलता। तब उसी प्रकार के आचार से जब यह परलोकमें जाता है, तब अनेक कष्ट पाता है। पर इसे क्या, इस मूर्खको कभी इसका ध्यान होता है? नहीं, यह अपनी मूर्खता में सब कुछ करता ही रहता है। तब ऐसे शरीर के साथ क्या उपकार करे। इस पर उपकार करना तो दुःख को आवाहन करना है। धनी हो या दरिद्र, न्युनाधिक्य भोग तो सभी भोगते हैं। इस लिए जरावस्था और मृत्यु दोनों को ही प्राप्त होते हैं। तब इस पर उपकार कैसा? इस पर उपकार करना तो मानो नागिन को दूध पिलाना है। तृष्णा नागिन है। शरीर को नाश कर देती है। अस्तु वह बड़ा मूर्ख है जो इसको भोगने के लिये भोगों के पीछे पड़ा रहता है। फिर इसका आना जाना तो वैसाही है, जैसे वायु का वेग आते ही चला जाता है। अस्तु, ऐसे शरीर से प्रेम करना दुःख का कारण है। परन्तु ऐसा कोई विरलाही पुरुष है जो इसकी आस्था में नहीं पड़ा। अधिक तो क्या कहे विजली की चमक भी आते-जाते दीख पड़ती है किन्तु इसको आते-जाते कोई देख नहीं पाता। अस्तु इसकी आस्था करने से कोई लाभ नहीं है। यह ऐसा नाशरूप है कि जैसे विजली स्थिर नहीं रहती, वैसे ही यह कदापि स्थिर नहीं रहता। वस, इसी कारण मैंने इसकी अहंमता का त्याग कर दिया है। भला, इसको पुष्ट करके क्या होगा कि जब यह किसी भी कार्यमें नहीं आता। तब तो यह भस्म कर देने ही योग्य है।

इसी कारण तो महान पुरुषोने इसे ज्ञानाग्नि से जलाया है। हाँ, उस प्रकार जला देने पर ही इससे परम अर्थ की मिट्टी हुई है। परन्तु जिसने नहीं जलाया है, निश्चय ही उसे परम दुःख प्राप्त हुआ है। हे मुनीश्वर! जब मैंने इस पर विचार किया तो मुझे ऐसाही बोध हुआ है कि न तो यह मेरा है और न मैं इसका। अस्तु मुझे इसकी कोई कामना नहीं है। मैं निराशी हूँ। इस शरीर से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। हे भगवन! मुझे तो ऐसा ही ज्ञात होता है कि वे पुरुष धन्य है, जो इसका अभिमान त्याग कर परमपद आनन्द को लाभ कर रहे हैं। पर जिसको इसका अहंकार है, वह निश्चय ही महान दुखी है। क्योंकि जितने भी दुःख आते हैं, सब शरीर के ही संयोग से आते हैं। यह अपने मानापमान और जरा, मृत्यु, शोक, मोह और अहंकार आदिक विकारों के वशीभूत हो सर्वदाही एक-एक आपदा को प्राप्त रहता है। अस्तु, उन्हें धिक्कार है कि जो ऐसे विकारी शरीर की आस्था करते हैं और इसी कारण उनको समस्त आपदायें घेरे भी रहती हैं। परन्तु उन महात्मा पुरुषों को नमस्कार है जो इस शरीर का अभिमान नहीं करते और इसी कारण उनके आगे विश्व की सारी सम्पदायें हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं। हे मुनीश्वर! अब यह भी एक विचारने की बात है कि इस शरीर में अहंकार की आस्था आई तो कैसे? मेरे विचार से तो जैसे पहले अंकुर आया, फिर वृक्ष हुआ—ऐसे ही पहले अहंकार की आस्था हुई, फिर शरीर हुआ। सो, आज वही मुझे वैसा ही दीन बनाये दे रहा है कि जैसे बैताल के भय से बालक भयभीत होकर दीन हो जाता है। पर यह क्या है, बालक का अविचार है। यदि उसको विचार होता तो दीन क्यों होता? इसी प्रकार अहंकार के सम्बन्ध में भी मेरी अवस्था है। अन्यथा जो शरीर जल के प्रवाह के समान ही अस्थिर है, उसकी व्यर्थ आस्था क्यों करता? इसकी आस्था करनेवाले तो महान मूर्ख हैं। शरीर की आस्था करना ही तो अहंकार है। अहंकार हुआ नहीं कि यह शरीर जगत के पदार्थों

के हेतु यत्न करने लगा । वस, वह यत्न करना ही मूर्खता है । क्योंकि यह शरीर तो वैसे ही मिथ्या है जैसा कि ससार अकार और मिथ्या है । वस, इन्हीं सब कारणों से मैं इस शरीर को अङ्गीकार नहीं करता । अस्तु, हे मुनीश्वर ! आप वही उपाय बतलाइये कि जिसके द्वारा मुझे परमपद की प्राप्ति होवे ।

श्री योगवाशिष्ठ वैराग्य प्रकरण का चारहवाँ सर्ग समप्त ॥ १२ ॥

तेरहवाँ सर्ग



वाल्यावस्था-वर्णन



तना कह कर रामजी फिर बोले—हे मुनीश्वर ! इस शरीर की जो वाल्या, युवा और वृद्धा ये तीनों अवस्थाएँ महान दुःखदायक हैं । पहले वाल्यावस्था को लीजिए । वाल्यावस्था समस्त दुःखों का मूल है । देखिए, इसके आते ही जीव में अशक्तता, मूर्खता, इच्छा, चपलता और दीनता आदिक विकारों का साम्राज्य हो जाता है । इस कारण यह वाल्यावस्था महान विकारी है । जिधर ही देखिए, उधर ही चचलता और अपूर्णता विद्यमान है । यह जब कोई वस्तु ग्रहण करना चाहता है, और नहीं पाता तो दूमरी और दौड़ लगा देता है । क्रोध करता है तो मूक होने से बोल तो पाता नहीं, भीतर ही भीतर जलता है । इच्छाएँ बड़ी-बड़ी करता है, पाता एक भी नहीं । इस प्रकार यह प्रतिक्षण तृष्णा के ही फेर में पड़ा रहता है । तनिक से प्रसंग में भयभीत हो जाता है और शान्ति तो जानो कभी प्राप्त ही नहीं होती । इस प्रकार यह वाल्यावस्था महादीन और मूढ तथा मूक अवस्था है । भला जिस अवस्थाके विचार में कोई शक्ति नहीं होती और क्षण-क्षण में प्रमन्नता और अप्रमन्नता ही आती रहती है, उसको क्या कहा जाये ? उसको तो अपने स्वरूप का कुछ भी ज्ञान नहीं होता । देखिए न, जो वाल्या-

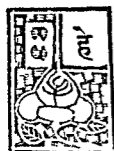
वस्था का साथ करता है, वह किन्ना मूर्ख है। भला जो अवस्था ज्ञान रहित और सर्वदा हाश्वपवित्र है और सर्वदा पदार्थों की ही और दौडती रहती है, उसे भी कोई अच्छा रहेगा ? वस, इसी कारण इस अवस्था को मैं नमस्कार करता हूँ। यह मुझे नहीं चाहिए। इसकी तो मुझे इच्छा भी नहीं है। क्योंकि यह तो उस स्थान के समान है कि जो क्षण-क्षण में द्वार की ओर जाता और अपमानित होकर फिर वहीं लौट पडता है। ऐसे ही इस बालक अथवा बाल्यावस्था को जानना चाहिये। भला वह भी कोई अवस्था है कि जिसमें अपने माता-पिता और भाई तर्क का भय रहता है। यही नहीं, पशु पक्षी तर्कसे बालक को भय लगा रहता है। तब भला ऐसे दुःखरूपी बाल्यावस्था को लेकर क्या होगा ? हा, यह अवस्था तो बड़ी ही चञ्चला है। इसकी चञ्चलता क्या कहे—यह तो वैसा ही चञ्चल है, जैसे स्त्री के नेत्र और नदी का प्रवाह चञ्चल होता है। नहीं, नहीं, बालक तो मनके समान चञ्चल होते हैं। पर यह भी नहीं, बालक की चञ्चलताके आगे सारी चञ्चलतायें कनिष्ठ हैं। फिर उपमा तो देनी ही होगी। इस कारण मेरे विचारसे बालक की चञ्चलता तो उम वेश्याके समान है कि जिस का मन एक पुरुषमें कभी नहीं ठहरता। ठीक उन्ही प्रकार बालक का चित्त किसी एक पदार्थमें नहीं ठहरता। वह न तो अपना कल्याण जानता और न अकल्याण। उमकी आरी चेश्याये व्यर्थ और अकारण है। वह सर्वदा ही दीन बना रहता है। कभी सुख तो कभी दुःखकी ऐसी चिन्तायें उमें प्रतिक्षण कष्ट देती रहती हैं और नाम मात्रके लिये भी कभी शान्ति नहीं पाता। वह शरीर के कष्टसे दुःखी रहकर भी अपना दुःख निवारण करनेकी सामर्थ्य नहीं रखता। सहन भी नहीं कर सकता और भीतर ही भीतर जलता हुआ एक शब्द भी बोल नहीं सकता। तब भला ऐसी मूक और मूढ़ अवस्था की स्तुति करना मूर्खता नहीं तो क्या है ? हे मुनीश्वर ! इसमें ज्ञान और विचार का तो लेश भी नहीं रहता। यह भोजन भी करता जाता है और चिह्ना-चिह्नाकर

रोता भी रहता है। जैसे जल के बुलबुले स्थिर नहीं रहते, वैसे ही बालक भी कभी स्थिर नहीं रहना। इससे यह महान् मूर्ख अवस्था है। यह (बालक) कभी कहता है हे पिता ! मुझे वरफ का टुकड़ा भून दो और कभी कहता है कि मुझको चन्द्रमा लादो। भला उसके ये वचन कितनी मूर्खता पूर्ण हैं ? अस्तु, मैं ऐसी मूर्खावस्था को कदापि स्वीकार नहीं करता। इसमें तो एक भी गुण नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ वंशाय प्रणम्य का तेरहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १३ ॥

चौदहवाँ सर्ग

युवावस्था-वर्णन



मुनीश्वर। अब युवावस्था को देखिए। यह भी उत्तम नहीं है। क्योंकि यह नीचे से ऊपर को जाती है। इससे यह भी महान् दुःखदायक है। इसके आते ही तो मनुष्य पर कामरूपी वह पिशाच आ लगता है कि जिसके धक्के में गिरा हुआ प्राणी ऐसी दुर्गम खाई में जा पड़ता है कि जहाँ से निरलना कठिन हो जाता है। चित्त विभ्रम हो जाता है, इच्छायें फैल जाती हैं और मनुष्य काम के वशीभूत होकर अनेक दुःख पाने लगता है। क्या कहे—जैसे किसी धनी पुरुष को देखकर निर्धनी धन की आशा करते हैं, वैसेही युवावस्था को देख कर सभी दोष एकत्र हो जाते हैं। इसी कारण मैं कहता हूँ कि जो भोगों को उत्तम और सुखरूप जानकर उसकी इच्छा करते हैं वे भोग तो परम दुःख के कारण हैं। इनको भोगा नहीं कि मनुष्य तृष्णा से उन्मत्त और पराधीन हो गया। फिर युवावस्था में काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार आदिक चोर तो प्राणी को अपने मनमाना ऐसे लूटते हैं कि वह कहीं का नहीं रहता। उसका आत्मज्ञान लुप्त हो जाता है। और वह महादीन हो इधर-उधर भटकता रहना है। इस कारण हे मुनीश्वर। ऐसी नाशरूप युवावस्था की मुझे तनिक भी इच्छा नहीं है।

मुझे तो शान्ति चाहिए । पर युवावस्था में वित्त विपयोंकी ही थोर दौड़ता रहता है । जब देखो, तब तृष्णा घेरे रहती है । फिर तो उसके हाथ लगा हुआ जीव जन्म जन्मान्तरके फेरमें पड़ा हुआ कभी शान्ति नहीं पाता । जैसे प्रलयकालमें सर्व दुःख था उपस्थित होते हैं, वैसे ही युवावस्था के आते ही जीवमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार और चपलता आदिक समस्त दुःख आपही आप था स्थित होते हैं। फिर यह क्षणभंग तो इतनी है कि जिमकी कुछ उपमा ही नहीं दी जा सकती । विजली की चमक और समुद्र की लहरें भी उतनी क्षणभंग नहीं है कि जितनी यह युवावस्था क्षणभंगुर है । हा, यह मनुष्य को ऐसे ही छल लेती है, जैसे स्वप्नमें कोई स्त्री प्रकार से छल जाये । अतः यह जीवकी परम शत्रु है । जो पुरुष इस शत्रुके हाथमें पड़े, वह धन्य है । क्योंकि इसके काम और काधरूपी शस्त्र ऐसे भयकर और कठोर है कि जिसका आघात पाकर प्राणी कदापि नहीं बचता । देखने में तो यह बड़ी सुन्दर है, पर भीतरसे तृष्णाने इसको भस्म कर रखा है । जैसे कोई वृक्ष देखने में तो बड़ा सुन्दर हो और भीतर ही भीतर उसे घुन ने चालकर जर्जर कर दिया हो, वैसे ही यह युवावस्था भोगोंके लिये यत्न करती हुई भीतरसे जर्जरी भूत हुई रहती है ।

हे मुनीश्वर ! यह युवावस्था रूपी एक ऐरी नदी है कि जिसमें प्रतिक्षण इच्छारूपी लहरें उठती ही रहती हैं और कदापि स्थिर नहीं होती । इस कारण यह बड़ी दुष्ट है । देखिए न, इसके फेर में पडकर बड़े-बड़े बुद्धिमान, निर्मल और प्रसन्न पुरुष भी अपनी बुद्धिको मलिन कर चुके हैं । इसके आते ही वैराग्य और सन्तोष आदिक गुणोंका सर्वथा ही नाश हो जाता है । युवारूपी सूर्यका आगमन हुआ नहीं कि दुःखरूपी कमलोको प्रफुल्लित होते देर नहीं लगती । जैसे सूर्यके उदय होते ही सूर्यमुखी कमल खिल जाते हैं, वैसे ही युवाके आते ही समस्त दुःख प्रसन्न हो जाते हैं । फिर तो इस चित्तरूपा कमल और ससार रूपी पखड़ा से जो सत्यतारूपी सुगन्ध निकलती है उसपर तृष्णारूपी

भौरा आकर बैठे जाता है और विषयरूपी सुगन्ध को लेने लगता है। देखिए, धानके छोटे २ वृक्ष तभी तक हरे रहते हैं, जब तक कि उनमें फल नहीं आते। फल आया नहीं कि वृक्ष सूखने लग जाते हैं और जहाँ वे पके नहीं कि सब प्रकार से उन वृक्षोंकी हरियाली नष्ट हो जाती है, वैसे ही जब तक युवावस्था नहीं आती तब तक तो यह शरीर सुन्दर और कोमल रहता है, और युवा आई नहीं कि शरीर कड़ा हो जाता है और फिर ऐमा परिपक्व हो जाता है कि देखते २ वृद्ध होकर क्षीण हो जाता है। इस कारण हे मुनिवर ! मुझे ऐसी दुःखकी मूलरूप युवावस्था की तनिक भी इच्छा नहीं है। क्योंकि यह सर्वथा ही अमर्यादित रहती है। जहाँ ही देखो, उबलतीही रहती है। जैसे अन्धकार में पदार्थों का ज्ञान नहीं रहता, वैसे ही इस युवावस्था में शुभाशुभ का विचार और त्याग नहीं होता तब भला जिसको विचार नहीं, उसको शान्ति कहाँ ? वह सर्वदा व्याधि और तापमें जला करता है। जैसे जलसे पृथक् मत्स्य को शान्ति नहीं मिलती वैसेही अविचारी पुरुषको शान्ति नहीं मिलती। हे मुनीश्वर ! यह युवारूपी एक ऐसी रात्रि है कि जिसमें कामरूपी पिशाच आकर गर्जन करता है और तब यही संकल्प उठते रहते हैं कि कोई कामी पुरुष आवे तो उसके साथ मैं यही चर्चा करूँ कि हे मित्र ! वह स्त्री बड़ी सुन्दर है, उसके नेत्र कैसे चञ्चल हैं और वह मुझे कैसे प्राप्त होगी। वस, युवा पुरुष इसी प्रकार की इच्छामें सर्वदा ही जलते रहते हैं और जैसे मरुस्थल में भी जलका आभास देखकर मूर्ख मृग उधर ही दौड़ता है, किन्तु वहाँ जल न पाकर हृदय में जलता है, वैसेही कामी पुरुष अपनी विषय वासनाओं से हृदय में जलता हुआ शान्ति नहीं पाता। अन्यथा मनुष्य योनिमें जन्म लेना तो उत्तम ही है। परन्तु जिनके मस्तक पर अभाग्य नाचती रहती है, वे अपने-अपने के वशीभूत हो आत्मपद को नहीं प्राप्त करते। हे मुनीश्वर ! मैं कहूँ कि यह युवावस्था बड़े-बड़े विकारों को पैदा करती है। इस अवस्था में

चित्त विलेप की ही ओर दौड़ता रहता है। अस्तु मेरे विचार से तो ममूद्र का लॉघना भी सरल है पर युवावस्था से पार पाना अत्यत कठिन है। ऐसा कोई नहीं है जो इस अवस्था में निर्दोष रहे। परन्तु ऐसी सङ्कटापन्न युवावस्था में जो चलायमान नहीं होने वे पुरुष धन्य और वन्दनीय हैं। यह चित्त को सर्वथाही मलिन कर देती है। इस कारण हे मुनीश्वर। मे प्रतिक्षण यही प्रार्थना करता रहता हूँ कि, "हे युवावरथे। मुझ पर कृपा कर, मे तेरा दर्शन नहीं चाहता। क्योंकि तेरा आगमन दुःख का कारण है। जैसे पुत्र शोक को पिता महन नहीं कर पाता और उममे उसे कोई सुख का कारण नहीं दिखलाई पडता वैसे ही तेरे आगमन में मुझे सुख का हेतु नहीं दिखलाई पडता। इस कारण तू मुझ पर यही दया कर कि, अपना दर्शन न दे।" क्योंकि हे मुनीश्वर। युवावस्था में नम्रता नहीं रहती। विचार, वैराग्य, सन्तोष और शान्ति भी नहीं आती। जैसे आकाश में वन का होना आश्चर्य है, वैसे ही युवावस्था में इन गुणों का रहना महान आश्चर्य है। अतः आप मुझे वही उपदेश कीजिए कि जिसमें इस युवावस्था से मुक्त होकर आत्मपद की प्राप्ति होवे।

श्री योगगिष्ठ वैराग्य प्रकरण का चौदहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १४ ॥

पन्द्रहवाँ सर्ग

स्त्री-दुराशा वर्णन



मुनीश्वर। युवावस्था में मनुष्य बड़ा कामी हो जाता है। जब देखो उसे स्त्री की चाट लगी रहती है। उमी की चर्चा करता है और उमी की प्राप्ति में मग्न रहता है। स्त्री के आगे—उसे हमारे उत्तम विचार आने ही नहीं। परन्तु जिस काम विलास के लिये पुरुष स्त्री की इच्छा करते हैं, वह तो महा निद्रुष्ट मलमूत्र से भरी हुई अस्थि-मास की एक पुतली के सिवा और किसी अर्थ की वस्तु नहीं है। मूर्खों को विचार नहीं

होता । इसी कारण वह उसे इतना रमणीय भासती है । विचार करके देखे तो सिवा अस्थि मांस के उसमें और क्या है ? जैसे पर्वत के शिखर दूर से ही देखने में गंग-माला सहित बड़े सुन्दर दिखलाई पड़ते हैं और निकट से असार है, वैसे ही देखने में तो स्त्री वस्त्राभूषणों सहित बहुत सुन्दर जान पड़ती है किन्तु निकट से यदि उसके अङ्गों को भिन्न-भिन्न करके देखा जाय तो उसमें सार कुछ नहीं है । जैसे नागिन के अङ्ग बहुत कोमल होते हैं परन्तु उसका स्पर्श करे तो काट कर मार डालती है, वैसे ही जो स्त्री को स्पर्श करते हैं वह उनको नाश कर डालती है । हा, इम पर भी कामी पुरुष नहीं चेतते और जैसे हाथी को जंजीर लगाकर जहाँ बाँध दिया जाता है, तो वह उसी द्वार पर पड़ा रहता है, वैसे ही अज्ञानी पुरुष का चित्त रूपी हस्ती कामरूपी जंजीर में बँधा हुआ स्त्रीरूपी एक स्थान में स्थित रहता है और वहाँ से कहीं अन्यत्र को नहीं जाता । अस्तु, स्त्री की इच्छा करना मानो अपने को नाश कर देना है । स्त्री का साथ किया नहीं कि मनुष्य नष्ट हो जाता है । जैसे वन की दावाग्नि वन को भस्म कर देती है वैसे ही स्त्री रूपी अग्नि पुरुष रूपी वन को भस्म कर देती है । स्त्री का सुख तो देखने में ही रमणीय भासता है, पर वास्तव में वह आपात रमणीय है । स्त्री का वियोग पुरुष को सर्वथा ही मार डालता है । जैसे अग्नि की ज्वाला के ऊपर श्यामता हाती है, वैसे ही स्त्री के शिर पर जो काले-काले केश हैं और जैसे अग्नि के स्पर्श करने से हाथ जलता है, वैसे ही स्त्री के स्पर्श करने से पुरुष जलता है । इससे जो पुरुष स्त्री की इच्छा करते हैं वे बड़े मूर्ख और अज्ञानी हैं । हे मुनीश्वर ! यह स्त्री रूपी वह सर्पिणी है कि जिमके फूत्कार से वैराग्यरूपी कमल जल जाते हैं । इसका चिन्तन करते ही पुरुष भीतर ही भीतर भस्म हो जाता है । परन्तु यह एक ऐसी लिप्सा है कि जिसके लिए कामी पुरुष स्वयं चेष्टा करके उसके जाल में फँस कर अपना प्राण गवाँ देते हैं और तृष्णारूपी छुरी उनका गला काट देती है । किन्तु इस पर

भी कामी पुरुषों को भोग ही प्रिय होता है । वे आत्मानन्द को कुछ जानते ही नहीं । जाने तो कैसे, कामरूपी पिशाच उन्हें क्षणमात्र भी प्रसन्न नहीं रहने देता । जब देसो, कामरूपी व्याध रागरूपी इन्द्रियों का जाल विछाये ही रहता है । घात लगा नहीं कि वह भट जाल को समेट कर पुरुष को मार डालती है । फिर जैसे सूखे तृष्ण और घृत को अग्नि भस्म कर डालती है, वैसे ही कामी पुरुष को स्त्री रूपी नागिन भस्म कर डालती है । हे मुनीश्वर ! स्त्री रूपी एक ऐसी रात्रि है कि जिसके स्नेह रूपी अन्धकार में काम क्रोधादिक उलूक और पिशाच निर्द्रुद नृत्य करते हैं । उनके प्रहारों से वचना बड़ा कठिन है । जो स्त्री रूपी सद्ग के प्रहार से युवारूपी संग्राम में वच जाये, वह पुरुष धन्य है और उसको मेरा बारबार नमस्कार है । क्योंकि स्त्री का सयोग परम दुःख का कारण है । इससे मैं इसका इच्छा नहीं करता । हे मुनीश्वर ! पत्य सहित रोग की औपधि की जाये तो अवश्य ही लाभ होता है, अपथ्य मृत्यु हो जाती है, अतः आप मेरे रोग के अनुमार पत्य सहित मेरी औपधि करें । मुझको जरा और मृत्यु का बड़ा रोग है । सो कृपा कर आप मुझे उसके नाश की औपधि दीजिए । स्त्री आदिक भोग तो इस रोगको और भी बढ़ाने वाले हैं । अतः आप इसकी निवृत्ति की औपधि शीघ्र करें । अन्यथा मैं सबका त्याग कर वन में चला जाऊँगा । क्योंकि जिसको स्त्री होती है उसी को भोग का इच्छा होती है और जिसको स्त्री ही नहीं होगी, वह उसकी इच्छा कैसे करेगा । वही सुखी है जिसने स्त्री का त्याग किया है । अतः आप मुझको वही औपधि दीजिए, जिससे मुझे मेरे यह जरा और मृत्यु आदिक रोग नष्ट हो जावें ।

श्री योगवाशिष्ठ वैराग्य-प्रकरण का पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १५ ॥



सोलहवाँ सर्ग

वृद्धावस्था-वर्णन



मुनीश्वर । बाल्यावस्था तो उस प्रकार जड़ और महामूर्ख हुई और युवावस्था को दशा भी आपसे वर्णन ही कर चुका हूँ । तब इसके पश्चात् वृद्धावस्था आती है । सो इस अवस्था में शरीरजर्जर हो जाता है और बुद्धि भी क्षीण हो जाती है । पश्चात् वह प्राणी मृत्यु को प्राप्त

होता है । इस प्रकार इस शरीर से कोई अर्थ सिद्ध नहीं होना । उसमें वृद्धावस्था तो ऐसी दारुण अवस्था है कि जिसका वर्णन करते रोमाञ्च होता है । क्योंकि इस शरीर के जितने भी रोग हैं, सब वृद्धावस्था में आकर प्राप्त होते हैं और शरीर कृशित हो जाता है । न पुत्र काम आते हैं, न स्त्री । सभी वृद्ध को त्याग देते हैं । जैसे पके हुये फल को वृक्ष त्याग देता है, वैसे ही वृद्ध पुरुष को उसके कुटुम्बी त्याग देने हैं । अधिक तो क्या, वृद्ध को लोग बावला समझते हैं और कहने हैं कि इसकी बुद्धि मारी गई है । उसे देखकर बालक ताली पीटते और अन्य लोग भी उसकी हँसी उड़ाते हैं । शरीर कुबड़ा हो जाता है । केश श्वेत हो जाते हैं । शक्ति क्षीण हो जाती है । फिर तो उसका किया कुछ भी नहीं होता और केवल असक्ति ही रह जाती है । क्रोध बढ़ जाता है और सारी शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं ।

इस प्रकार हे मुनीश्वर । चाहे जिस रूप में देखिए, वृद्धावस्था समस्त दुःखों का मूल है । इसके आते ही सारे दुःख एकत्र हो जाते हैं और पुरुष अत्यन्त दीन हो जाता है । यही नहीं, जो इन्द्रियाँ उसे युवावस्था में उन्मत्त किये रहती थीं, वही अब जरावस्था में उसका रञ्चमात्र भी साथ नहीं देतीं । किन्तु तृष्णा तो महा उन्मत्त होकर बढ़ जाती है । फिर तो कफ और खाँसी रूपी स्यार आकर उसे ऐसा उद्विग्न कर देते हैं कि वह उसके आधिभ्याधिरूपी उलूकों से व्याकुल

हो जाता है। इस कारण हे मुनीश्वर । मुझे ऐसी नीच वृद्धावस्था की तनिक भी इच्छा नहीं है। क्योंकि इस अवस्था में शरीर झुक कर कुबड़ा हो जाता है और जो स्त्री पुत्रादिक युवावस्था में उसकी सेवा टहल किया करते थे वही बुढ़ापे में उसका साथ वैसे ही त्याग देते हैं जैसे कोई किमान अपने वृद्ध बेल को त्याग देता है। जहाँ-देखिए लोग पग-पग पर उसका अपमान करते और हँसी उड़ाते हैं कोई कहता है—देखो, ऊँट जा रहा है। अस्तु, मैं ऐसी नीच अवस्था को नहीं चाहता। तब बाल्यावस्था तो उस प्रकार मृदु हुई और युवावस्था भी महा विकारवान हुई तथा वृद्धावस्था भी महान दुखदाई है। सो अब मेरा क्या कर्तव्य है—आप कोई ऐसी योग्य युक्ति बतलाइये कि मैं इस मत्सर सागर से पार हो जाऊँ। अन्यथा वह समय दूर नहीं है कि जब बाल्यावस्था के पश्चात् युवा और युवा के पश्चात् वृद्धा तथा वृद्धा के पश्चात् मृत्यु आही जायगा। क्योंकि मृत्यु तो विल्ली के समान प्रतिक्षण अपनी घात में बैठी ही रहती है और देखती रहती है कि यह जीवरूपी चूहा कब घात में मिले, कब में चट कर जाऊँ। सो वृद्धावस्था उसका मुख्य घात है। इस घात में प्राणी कभी भी उस मृत्युरूपी विलाव से नहीं बच पाता। जब यह जरावस्था आती है तब इसको देखकर मृत्यु वैसे ही प्रसन्न होती है जैसे चन्द्रमा को देखकर चन्द्रविकाशी कमल प्रसन्न हो जाते हैं। इससे यह जरावस्था बड़ी दुष्टा है। हा, इस दुष्टनी ने बड़े-बड़े योद्धाओं को भी दीन कर दिया है। मैंने यह देखा है कि जिन बड़े बड़े शूर वीरों ने सग्राम-स्थल में लाखों वीरों का यमके हवाले किया है, समय आया है कि मृत्यु ने उनका भी भक्षण कर लिया है। हा, इस राक्षसी ने तो सबको दीन कर दिया है, सबको विजय कर लिया है। जैसे लोहे की जंजार में बँधा हुआ हस्ती दीन हो जाता है, वैसे ही इस वृद्धावस्थारूपी जंजीर से बँधा पुरुष दीन हो जाता है। उसके अंग-प्रत्यंग ढीले हो जाते हैं, शक्ति जाती रहनी है, इन्द्रियाँ निर्बल हो जाती हैं,

शरीर जर्जर हो जाता है और तृष्णा बढ़ जाती है। इस प्रकार जरा-वस्था में पुरुष के आगे सारी आपत्तियाँ आकर नृत्य करने लगती हैं और प्राणी काल के गाल में विलीन हो जाता है।

श्रीयोगवाशिष्ठ वैराग्य-प्रकरण का सोलहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १६ ॥

सत्रहवाँ सर्ग

काल-महिमा-वर्णन



मुनीश्वर ! यह काल बड़ा बली है। इसके आगे किसी का बश नहीं चलता। यह ऐसा कठोर है कि किसी को स्थिर नहीं रहने देता। चाहे कोई कितना भी बड़ा बलवान क्यों न हो, पर काल उन्हे भी ग्रहण कर लेता है। जैसे समुद्र बहुत बड़ा है फिर भी बडवानल की आग्नि उसे भी भस्म कर देती है और वायु पत्तों का उड़ा ले जाती है, वैसे ही काल भी इतना अधिक बलवान है कि उसके आगे कोई स्थिर नहीं रह सकता। यहाँ तक कि जो शान्ति गुणवाले देवता और राजोगुणवाले राजा तथा तमोगुणवाले बड़े-बड़े दैत्य हैं, वे भी उसके आगे स्थित नहीं रह सकते। जगत के जितने भी प्रपञ्च हैं, सब काल-ग्रसित हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश और कुबेर आदि को भी यह काल नहीं छोड़ता। घात लगा नहीं कि यह उन्हें भी अन्तर्धान कर देता है। उसको भक्षण से कभी तृप्ति नहीं होती। संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय जो कुछ होता है, सब काल के ही द्वारा होता है। यह क्या नहीं कर सकता ? संसार में या परलोक में भी—यह जो चाहता है, कर डालता है। यह चाहे तो इन्द्र को दरिद्री और दरिद्री को इन्द्र बना दे। पर्वत से राई और राई से पर्वत कर डालता है। नीच को ऊँच और ऊँच को नीच तथा बूँद को समुद्र और समुद्र को बूँद कर देना इसके लिये कोई परिश्रम का कार्य नहीं है। इसका यह प्रधान कार्य है कि जीवरूपी मच्छरों को शुभाशुभ कर्मरूपी छुरे से

छेदता रहे। हे मुनीश्वर। जगत के समस्त विलासों को काल भक्षण कर जाता है। इस कारण जो ज्ञानी है वे जगत के किसी भी पदार्थ से प्रेम नहीं करते और उत्पत्ति प्रलय में समभाव से रहते हैं। क्योंकि वे इस प्रसङ्ग को भलीभाँति जानते हैं कि यह संसाररूपी वह खाई है कि जिसमें गिरा हुआ प्राणी पुनः जीवन नहीं धारण कर पाता। परन्तु जो मूर्ख हैं, उन्हें इसका तनिक भी विचार नहीं है और वे संसार को सत्य जानकर उसके आस्थारूपी जाल में भोगों की वाञ्छा करते हुये फँसे पड़े रहते हैं। फिर चाहे वे प्राप्त हों या न हों। उन्हें तो मिथ्यावस्तु ही सत्य सी प्रतीत होती है। किन्तु निश्चयही ये सभी सुख नाशात्मक और क्षणस्थायी हैं। समय आया नहीं कि काल ग्रम लेता है। उस पर भी प्रशंसा यह कि कोई-इसे देख नहीं पाता। क्योंकि इसका कोई स्थूल आकार नहीं है। क्षण, घड़ी, प्रहर, दिन, मास, और जो, वर्षादिक हैं, वही काल है। सो, यह इतना बली है कि किसी को स्थिर नहीं रहने देता। फिर यह इतना दृष्ट है कि दया करना तो जानता ही नहीं। अतः आप मुझे वही युक्ति बतलाइये कि जिससे मैं इस काल से निर्भय हो जाऊँ। क्योंकि इसकी महाशक्ति देखकर मेरा चित्त व्याकुल हो उठता है। यह संसाररूपी वन का ऐसा निर्दयी शिकारी है कि जीवरूपी पक्षियों को गिन-गिन कर मार डालता है। महाप्रलय भी यही करता है और इसका बहुत बड़ा उदर है। जैसे वन के मृग को सिंह और मिहनी भक्षण करके फिर आनन्द मनाते हैं वैसेही यह कालरूपी कालिका संसार के जीवों का भक्षण कर आनन्द पूर्वक नृत्य करती है। यही नहीं, इसकी अपार शक्ति तो यह है कि यही जगत् का प्रादुर्भाव भी करता है। पृथ्वी, वायु और बावली जो कुछ कहिए, नाना प्रकार के पदार्थों सहित सबकी रचना करनेवाला भी यही है। कितना आश्चर्य है कि यही तो नाश करता है और फिर यही रचना भी कर लेता है। अस्तु, यह बड़ा भयकर है। समुद्र की रचना कर फिर उसमें आग लगा

देना भी इसी का कार्य है। सरोवरो मे सुन्दर कमल उत्पन्न कर फिर, उन पर तुषार की वर्षा कर उन्हे नष्ट करदेना भी इसीकी सामर्थ्य है। बड़े से बड़ा नगर और बड़ी-से-बड़ी वस्ती को बना कर फिर उसे स्मशान बना देना तो इसके हाथ की एक साधारण रचना है। यह ऐसा दुष्ट वन्दर है कि ससारके किसी भी पदार्थ को स्थिर नही रहने देता। तब, जब सभी पदार्थ काल से जर्जरीभूत हैं, तब भला मैं किस नियम से-उनका आश्रय करूँ। मुझे तो सभी नाशरूप भासित होते हैं। अतः हे मुनीश्वर। मुझे जगत के किसी भी पदार्थ की इच्छा नही है।

श्री योगवाशिष्ठ-नेराग्य प्रकरण का सत्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १७ ॥

अठारहवाँ सर्ग

सर्व पदार्थाभाव वर्णन



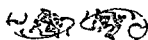
मुनीश्वर। इस प्रकार चाहे जिस रूप मे देखिये, ससार के जितने भी पदार्थ हैं, सब नाशवान और क्षण स्थायी हैं। न तो कोई अवस्था स्थित रहती है और न कोई मार्ग स्थायी दिखलाई पडता। तब भला ऐसे नाशवान जगत की आस्था मेरे किस प्रयोजन की है? तृष्णा-

रूपी समुद्र मे चित्तरूपी ऐसा वेडा पडा हुआ है कि जो कभी ऊपर जाता है तो कभी नीचे और क्षण मात्रकेलिये भी स्थायी नही होता। रथायी रहे भी तो कैसे? इस तृष्णारूपी नदी में रागद्वेषादिक ऐसे बड़े-बड़े मच्छ पडे हुये हैं कि जो स्थायी नहीं रहने देते। तब भला ऐसे नाशरूप को लेकर क्या होगा? हे मुनीश्वर। तरङ्गों के समूह और बड़े-से-बड़े रण-समुद्र को पार कर लेनेवाले का मैं वीर नही मानता, परन्तु जो इन्द्रिय रूपी समुद्र मे मनोवृत्ति रूपी तरङ्ग उठती हैं, उनको पार करनेवाले का मैं वीर जानता हूँ। क्योंकि जिसके परिणाममें सुख है उसका आरम्भ वे नहीं करते और काम के अर्थ की वे धारणा करते हैं।

और वे कामना करके सर्वदा जलते ही रहते हैं। क्योंकि उनका तृष्णा तो अनात्मपद के लिये होती है, फिर शान्ति कैसे प्राप्त हो ? शान्ति प्राप्त कराने वाले तो सन्तोष और वैराग्य हैं, सो तृष्णा उनको नष्ट-भ्रष्ट कर देती है। भला ऐसा कौन है जो इसके प्रचंड वेग के आगे स्थिर रह सके। मोह रूपी वृत्त के चारों ओर स्त्री रूपी बल्ली लगी हुई है, जो सर्वथाही विष से पूर्ण है। जब चित्तरूपी भौंरा उड़कर उसपर बैठता है तब स्पर्श मात्र से नाश हो जाता है। जैसे कुत्ता व्यर्थ के लिये पूँछ हिलाया करता है, वैसेही मूर्ख व्यर्थ के लिये विषयो के पीछे चञ्चल बना रहता है। अतः वह भी पशु के ही समान है। जैसे पशु दिन भर तो वन में चरते-फिरते हैं और सध्या समय घर पर आकर खूँटे में बँध जाते हैं, वैसेही मूर्ख मनुष्य भी दिन भर तो घर छोड़ कर व्यवहार में फिरते हैं और रात्रि को घर में आ जाते हैं, परन्तु इससे परमार्थ का कोई सिद्धि नहीं होती और वे अपना जीवन व्यर्थ ही में गवाँ देते हैं। बाल्यावस्था में तो शून्य ही रहते हैं और युवा में कामोन्मत्त हो जाते हैं और वृद्धावस्था में शरीर कृशित हो जाता है। तृष्णा बढ जाती है। तब यह नाना प्रकार से जगत् के पदार्थों की इच्छा करता हुआ राग-द्वेषरूपी ऐसे कण्टक वृक्ष में जा गिरता है कि जहाँ उसका सर्वथा ही नाश हो जाता है। अतः जगत् के जितने भी पदार्थ हैं, सब नाशरूप और शब्दमात्र हैं, इस कारण इनमें आस्था करनी मूर्खता है। इनसे कुछ भी अर्थसिद्ध नहीं होता। इसी कारण जो ज्ञानी पुरुष है, वे विषय भोगो की इच्छा नहीं करते और आत्मा के प्रकाश से सबको मिथ्या ही जानते हैं। परन्तु ऐसे दूरदर्शी पुरुष स्वप्न में भी नहीं दिखलाई पड़ते। ऐसे पुरुषों को ससार की कुछ भी इच्छा नहीं रहती। क्योंकि वे भलीभाँति जानते हैं कि यह सभी पदार्थ नाशरूप हैं। इनका कोई भी सत्ता नहीं है। देखते देखते नाश हो जाते हैं। तब भला मैं किसका आश्रय करूँ, जो सुखी होऊँ। जब युगो की महत्त चौकड़ी व्यतीत होती है तब कहीं

ब्रह्माजी का एक दिन होता है और जब उस दिन का भी क्षय हो जाता है तब इस जगत् का भी प्रलय हो जाता है और तब ब्रह्मा भी काल कवलित हो जाते हैं। तब इस प्रकार अब तक न जाने कितने ब्रह्मा हुये और सबके सब नाश हो गये, तब भला हमारे जैसी की तो बात ही क्या है ? इसी कारण मुझे किसी भोग की इच्छा नहीं है। क्योंकि भोग तो सभी चलायमान और अस्थिर तथा नाशरूप है। अतः जो इनकी आस्था करते हैं, वे बड़े मूर्ख हैं। जैसे मरुस्थल को देखकर मूर्ख मृग व्यर्थ ही उधर की ओर दौड़ लगाता है और शान्ति नहीं पाता, वैसे ही मूर्ख जीव व्यर्थ ही जगत् के पदार्थों को सत्य जान कर उनकी ओर दौड़ लगाते हैं और शान्ति नहीं पाते। क्योंकि सब कुछ तो सार रहित है। स्त्री, पुत्र और कलत्र तो तभी तक भासते हैं, जब तक शरीर नष्ट नहीं होता। शरीर नष्ट हुआ नहीं कि इसका पता भी नहीं लगता। अतः जगत् के इन कुटुम्ब बान्धवों का मिलाप ऐसा ही है जैसे कोई तीर्थयात्रा के लिये साथ-साथ चलता हो और जैसे क्षण मात्र के लिये दो-चार साथी किसी वृक्ष की छाया में बैठकर विश्राम करते हों तो विश्राम के पश्चात् फिर पृथक-पृथक हो जाते हैं, वैसे ही काल पाकर अपने बान्धव भी पृथक हो जाते हैं। केवल अहंकार और मोह ममता की रस्सी ने उन्हें बाँध रखा है। फिर शान्ति कैसे मिले ? उनका स्नेह तो एक मात्र शरीर और उन इन्द्रियों के साथ बँधा हुआ है कि जो आगमापाया है। फिर उन्हें आत्मपद की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? आत्मपद से विमुख होकर ही तो यह जीव जगत् के मिथ्या भ्रम को देखता है। आत्मपद को देखे तो ससार अवश्यही विरस लगे। वस, मेरा इसी ओर ध्यान है।

श्री योगवाशिष्ठ-वैराग्य प्रकरण का अठारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १८॥



उन्नीसवाँ सर्ग

जगद्विपर्यय-भाव-वर्णन



मुनीश्वर । जगत की नश्वरता को क्या कहे । यह जितना भी स्थावर-जंगम जगत दिखलाई पड़ता-हे, सभी नाशरूप है, कुछ भी स्थिर नहीं रहता । जिधर ही देखिए, और का, और हो गया है । जहाँ बड़ी से बड़ी सुन्दर बस्ती थी, उजाड हो गई है । सुन्दर बगीचे नष्ट-भ्रष्ट हो गये हैं । वह समुद्र जो कभी सर्वदाही जलसे भरा रहता था आज सूखी खाई हो रहा है । शून्य और निर्जन स्थानों में भयानक वन उत्पन्न हो गया है । गढे, पर्वत हो गये हैं और ऊँचे-से ऊँचे पर्वत समान पृथ्वी हो गई है । इस प्रकार सर्वत्र ही विपर्यय भाव दिखलाई पड़ता है । कभी कुछ स्थिर नहीं रहता । तव-भला इन-परिवर्तनों के देखते हुए भी मैं किसका आश्रय करूँ, किसको पाने का यत्न करूँ । सब कुछ तो नाशवान है । बड़े से बड़े वीर्यवान और कर्तव्य परायण पुरुष मरणासन्न हैं, तव भला हमारे जैसे की तो बात ही क्या है ? घड़ी-पलका विलम्ब है कि सभी को चले जाना है । इस प्रकार हे मुनीश्वर । ये सभी पदार्थ बड़े ही चञ्चल और नाशरूप हैं । एकरस कभी नहीं रहते । क्षण में कुछ और क्षण में कुछ हो जाते हैं । क्षण में ही दरिद्र और क्षण में ही सम्पत्तिशाली हो जाते हैं । एक क्षण में जीवित दृष्टि आते तो दूसरे ही क्षण में मर जाते हैं और वेही फिर जी उठते हैं । तव भला इस ससारकी स्थिरता कहाँ हुई । इसका आभास तो कभी स्थिर नहीं रहता । जैसे बालक का चित्त सर्वदा ही चञ्चल रहता है, वैसे ही जगत के पदार्थ सर्वदाही चञ्चल रहते हैं । क्षणभर में समुद्र का प्रवाह लुप्त होकर मरु-स्थल के समान हो जाता है और क्षण में ही मरुस्थल में जलकी हिलोरे चलने लगती है । नष्ट के ममान ही जगत के पदार्थ और लक्ष्मी

नाना प्रकार के रूप धारण करते हैं । कभी एक रस और स्थिर नहीं रहते । कभी स्त्री पुरुष और कभी पुरुष स्त्री हो जाता है । कभी मनुष्य पशु और कभी पशु मनुष्य हो जाता है । उसी प्रकार स्थावर जङ्गम और जङ्गम स्थावर तथा मनुष्य से देवता और देवता से मनुष्य हो जाता है । हे मुनीश्वर ! यह जितने भी पदार्थ दृष्टि आते हैं, सब नष्ट हो जावेगे और किसी प्रकार भी स्थिर न रह सकेगे । ये जो बड़ी-बड़ी नदियाँ दिग्बलाई पडती हैं, बड़वाग्नि में लय हो जावेगी और इस प्रकार ये सभी पदार्थ अभावता को प्राप्त होवेगे । मैंने स्वयं देखा है कि जो बड़े-बड़े सुन्दर स्थान थे, वे शून्य हो गये हैं । मरुस्थल की भूमि सुन्दर हो गई और घटके पट तथा पटके घट हो गये हैं । कहीं, वर के शाप और शापके वर हो गये हैं । बड़े-बड़े सम्पत्तिशाली आपत्तिमान हो गये हैं और परम से परम दरिद्री भी महा धनवान हो गये हैं । इस प्रकार यह जगत् महा बञ्चल और क्षणस्थायी है । तब भला मैं इसके किस पदार्थ का आश्रय करूँ । सब कुछ तो नाशवान है ? एक वह भी समय आवेगा जब ये महा प्रकाशमान सूर्य और चन्द्रमा भी अन्धकार को प्राप्त होंगे और बड़े से बड़े पर्वत, समस्त लोक, देवता, मनुष्य और पक्षी, राजस सबके सब नाश को प्राप्त होंगे । यही क्या, ब्रह्मा, विष्णु, महेश और इस जगत के ईश्वर भी शून्य हो जावेगे । तब ऐसी अवस्था में जब कि स्त्री, पुत्र, बन्धु, बान्धव, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज से युक्त जो नाना-प्रकार के जीव भासते हैं सभी नाशवान हैं—मैं किस पदार्थ का आश्रय करूँ, किसकी इच्छा करूँ, सभी तो नाशरूप हैं । इसी कारण जो ज्ञानी पुरुष हैं, किसी पदार्थ की इच्छा नहीं करते । उनके लिये संसार नीरस सा प्रतीत होता है । यहाँ तक कि वे अपनी आयु को भी विजली के समान क्षणस्थायी जानते हैं । तब भला मैं किसका आश्रय करूँ ? ये सब पदार्थ तो स्वयं ही नाशवान हैं । इनका आश्रय करना तो ऐसे ही है, जैसे कोई पुरुष मच्छ का आश्रय लेकर समुद्रका

पार करना चाहे। फिर यह जगत तो उमको रमणीय भासता है कि जो इसको रमणीय जानकर इसका चिन्तन करता हुआ नाना प्रकार के कर्मों को करता रहता है। पर जो इसका चिन्तन ही नहीं करता, उसको यह क्या रमणीय भासेगा और क्या भटकावेगा। इसमें तो वही भटकता है जो इसके संकल्प-विकल्पों में पड़ा रहता है। परन्तु जिनको तनिक भी आत्मविचार की प्राप्ति है, उनको यह जगत केवल भ्रमरूप भासता है। किन्तु अज्ञानी के लिये यह अवश्य ही रमणीय है। पर वास्तविकता तो यह है कि यह देखते-देखते नाश हो जाता है। तब भला इस दुःखके मूल-कारण जगत की मैं क्या इच्छा करूँ। यह तो सर्वथा ही मुझे मार डालेगा। जैसे विष-मिश्रित मिठाई के ग्राम करने वाले निश्चय ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं, वैसेही इस जगत के विषय को भोगनेवाले भी नाश हो जाते हैं।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, वैराग्य-प्रकरण का उन्नोसर्गो मर्ग समाप्त ॥ १६ ॥

बीसवाँ सर्ग

समग्र-विवेचन



इतना कह कर रामजी फिर बोले, हे भगवन् । संसार की भोग रूपी अग्नि ने समस्त जीवों को जला दिया है। इसमें कोई भी प्राणी सुखी नहीं है। जैसे किमी सरोवर के कमल-वन को हस्ती विध्वंस कर देवे, वैसे ही भोगरूपी हस्ती ने मसारूपी सरोवर के जीवरूपी कमलों का विध्वंस कर दिया है। जैसे प्रवल वायु मेघों को नष्ट कर देता है, वैसेही काम, क्रोध के प्रवल प्रहारों द्वारा समस्त शुभ गुण नष्ट हो जाते हैं। हे मुनीश्वर ! वासनारूपी जल और इन्द्रियरूपी गॉठ में फँस कर पुरुष काल के गाल में विलीन हो जाता है। क्या कहे, इस मनने वासनारूपी सूत में जीवरूपी मोती को पिरोकर, चैत्यरूपी आत्मा को पहना दिया है। तब भला निवृत्ति कैसे मिल सकती है ? जब तक भोगों की इच्छा

वनी है, तभी तक बन्धन है। और जब तक बन्धन है, तब तक शान्ति दुर्लभ है। इस कारण हे मुनीश्वर ! मुझे भोगों की इच्छा नहीं है। न मैं राज्य चाहता हूँ, न वर। मुझे वन जाने की भी इच्छा नहीं है। साथ ही, मैं प्राणदेना भी उत्तम नहीं समझता और जीना भी सुखकर नहीं है। सुख तो आत्मज्ञानसे होता है और आत्मज्ञानके उदय होने पर दुःख का लेश भी नहीं रहता। तब वास्तविक सुख क्या है, मोह का नाश कैसे होगा और मैं कैसे सुखी रहूँगा—इत्यादि विषयो को ही मुझे भलीभाँति समझाइये। मेरे पास भोगों को भोगानेवाला अहभाव नहीं है। उसको मैंने पहले ही से त्याग दिया है। क्योंकि इस विषयरूपी सूर्य ने जिसको स्पर्श किया है, मानो वह सर्वदा के लिये मर गया। सर्प का काटना तो एक ही बार के लिये है, परन्तु इस विषयरूपी सर्प के स्पर्श से तो प्राणी बारंबार मरकर कष्ट पाता रहता है। एक ही जन्म में नहीं, अनेक जन्मों तक उसे बराबर कष्ट मिलता ही रहता है। हे मुनीश्वर ! चाहे इस शरीर को कोई थारे से भी काट डाले, वज्र से भी चूर्ण कर देवे—मैं उसे भी सहन कर लूँगा, पर विषयरूपी प्रहार मुझसे नहीं सहे जाते। क्योंकि मेरे देखने में ये बड़े ही दुःखदायक हैं। अतः मुझे वही उपाय बतलाइयेगा, जिससे मेरे हृदय का अंधकार दूर हो जावे। यदि न बतलाइयेगा तो मेरा कोई वश भी नहीं है, मैं विवश होकर अपने हृदय पर पापाण शिला रखकर बैठा रहूँगा, किन्तु भोगों की इच्छा कदापि न करूँगा। क्योंकि यह जितने भी पदार्थ दृष्टि आते हैं, सब नाशवान् हैं। जैसे विजली की चमक लुप्त हो जाती है, वैसे ही विषय भोग और आयु नष्ट हो जाते हैं। वस, इसी कारण मैं किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं करता।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा-वैराग्य प्रकरण का बीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २० ॥

इक्कीसवाँ सर्ग

वैराग्य-प्रयोजन



मुनीश्वर । यह संसार एक ऐसा विशाल गड्ढा है कि जिसमें मोहरूपी अ-प्रमाण कीचड़ भरा हुआ है । मूर्ख प्राणियों का मन उसमें-बारंबार आकर गिरता और अनेक प्रकार का कष्ट प्राप्त करता है और कभीनाम मात्र को भी शान्ति नहीं पाता । वृद्धावस्था में शरीर जर्जरीभूत हो काँपने लगता है, तृष्णा बढ जाती है और इस प्रकार सुख के निमित्त इन्द्रियो का आश्रय लेकर मूर्ख प्राणी उस अन्धकूप में जा गिरता है कि जिससे बाहर निकलना कठिन हो जाता है । वस, इसी प्रकार जगत् के पदार्थों ने मेरी बुद्धि-पर ऐसा आवरण छा लिया है कि वह किसी प्रकार भी नहीं हटता है । सो आप ज्ञानी हैं, इसे हटाइये । क्योंकि जगत् के भोग पदार्थों ने मेरी बुद्धि को महान् चञ्चल कर दिया है । अतः आप मुझे उस परमानन्द की-प्राप्ति कराइये, जो निर्भय और निराकार है और जिसके पा जाने से- फिर संसार में किसी पदार्थ के पाने की इच्छा नहीं रहती । हे मुनीश्वर । मैं उस पद को ग्रहण करना चाहता हूँ कि जिसके पा जाने से फिर कुछ प्राप्त करना नहीं रहता और उसके आगे संसार की समस्त रचना व्यर्थ और नीरस जान पड़ती है । अतः आप मुझे उसी पद के प्राप्त करने का उपाय बतलाइये, क्योंकि उस पद से मेरी बुद्धि सर्वदा हा दरिद्र हो गई है और नाममात्र को भी शान्ति नहीं प्राप्त होती है । सासारिक कर्म मोह के रूप हैं- । तत्र भला इस मोहरूप-जाल में पडने से शान्ति कैसे प्राप्त होगी ? महाराजा जनक आदि तो संसार में रहते हुये भी निर्लेप हैं । सो कैसे ? उन्हें तो संसार का कीचड़ नहीं लगा । क्या कारण है कि वे शान्ति और निर्लेप हैं । भला उनकी बुद्धि कैसी है ? फिर कृपाकर यह तो बतलाइये कि आप

जैसे संत पुरुष जो देखने में तो विषयों को भी भोग रहे हैं और जगत् को समस्त चेष्टाये भी कर रहे हैं, वे निर्लेप कैसे रहते हैं ? हे मुनीश्वर ! जिस प्रकार कमल के समान आप निर्लिप्त हैं, उसी प्रकार होने के लिये आप मुझे बतलाइये कि वह कौनसी युक्ति है ? क्योंकि मेरी बुद्धि मोह से सर्वथा ही मलिन हो गई है ? इससे आप मुझे वही युक्ति बतलाइये, जिससे मेरी बुद्धि निमल हो जावे । क्योंकि अब तक मुझमें जितना भी संतोष विद्यमान है, उससे किसी स्थिर लाभ की आशा नहीं है । हा, मैं इस संसाररूपी विपूचिका के हाथ पड़ गया हूँ । इसने मुझको बहुत-बहुत कष्ट दिया है । अतः आप वही युक्ति बतलाइये, जिससे इन दृश्यों का नाश होकर आत्मज्ञान का सुन्दर प्रकाश हो जावे । फिर तो यह निश्चय है कि मेरा मोहरूपी अन्धकार नष्ट हो जावेगा । परन्तु अभी तो मेरी बुद्धि सर्वथा ही मलिन है, अस्तु, आप वही युक्ति बतलाइये जिससे मेरी बुद्धि का आवरण दूर होवे । क्योंकि आत्मानन्द नित्य है । उसके पाने पर फिर कुछ पाना नहीं रहता । फिर तो समस्त दुःखों का नाश हो जाता है और हृदय सर्वदा के लिये शीतल हो जाता है । इस कारण मुझे उसी आत्मज्ञानरूपी चन्द्रमा की आवश्यकता है कि जिसके प्रकाश से मेरी बुद्धि रूपी कमलिनी खिल जायेगी और जिसके अमृतरूपी किरणों के पड़ने से मुझे शान्ति प्राप्त होवेगी । हे मुनीश्वर ! मुझे न तो घर अच्छा लगता है, न वन । इससे अब मुझे केवल वही शान्ति पद चाहिये कि जिसको पाकर मैं सर्वदा के लिये आनन्दित हो जाऊँ ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा वैराग्य प्रकरण का इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २१ ॥



वाइसवाँ सर्ग

सर्व-त्याग-दिग्दर्शन



मजी बोले—हे मुनीश्वर । यह आयुष्य महा क्षणभंगुर है ।

जैसे कमलपत्र पर जल की बूँदें नहीं ठहरती, वैसेही आयु स्थिर नहीं रहती । जैसे दादुर की बोली अत्यन्त

कटु और महान चञ्चल है, जब देखो बोलता ही रहता

है और नाभमात्र को भी विश्राम नहीं लेता, वैसेही यह आयुर्वल भी महा क्षणभंग और चञ्चल है । अतः इसके जीने की आस्था करना

बड़ी मूर्खता है । क्योंकि यह तो सर्वथा काल का ही आस है । जैसे विल्ली बूँद को झट पकड़ लेती है, वैसेही काल सबको पकड़ लेना

है और कोई कितना भी सँभलना चाहे, नहीं सँभल सकता । जब अज्ञानरूपी बादलों की घोर गर्जन में लोभरूपी मोर प्रसन्न होकर नृत्य

करता है तब उससे जो अज्ञानरूपी जल की धारा पड़ती है—वह दुःखरूपी मञ्जरी को झट बढ़ा देती है । इसी प्रकार लोभरूपी विजली क्षण में प्रकट होती और क्षण में ही नष्ट हो जाती है । फिर तो तृष्णा

रूपी जाल में फँसे हुये इस जीवरूपी पक्षी को ऐसा घोर कष्ट मिलता है कि वह तनिक भी शान्ति नहीं पाता । उस पर भी यह जगत मूर्खों

को रमणीय भासता है । परन्तु ज्ञानीजन तो ऐसे हैं कि इम पृथ्वी को कौन कहे, उन्हें आकाश, पाताल और देवलोक भी रमणीय नहीं दीखते

और सबको भ्रममात्र ही जानते हैं । हे मुनीश्वर । जैसे चन्द्रमा की कलक कालिमा ने उसकी शोभा को नष्ट कर दिया है, उसी प्रकार मेरे चित्तरूपी चन्द्रमा में कामरूपी ऐसी कालिमा लगी हुई है कि इसकी प्रभुता और सुन्दरता नष्ट हो गई है । सो, आप ऐसा उपाय बतलाइये

कि जिससे यह कलक दूर होवे । हे मुने । यह मेरा चित्त बड़ा चञ्चल हो गया है, क्षणमात्र को भी स्थिर नहीं रहता । जब देखो, विषयो

की ओर दौड़ता रहता है । अतः आप वही उपाय बतलिए, जिससे

.....

इसको शान्ति प्राप्त होवे । अन्यथा इस संसाररूपी वन में भोगरूपी ऐसे भयानक सर्पों का बाम है कि जिनके काटने से जीव नहीं बचते । संसार की सारी क्रियाएँ राग-द्वेष से मिली हुई हैं । अतः आप वही उपाय बतलाइये जिससे मुझमें राग-द्वेष का प्रवेश न होवे । अन्यथा इस मन की मननशक्ति तो ऐसी प्रबल है कि वह किसी प्रकार भी दूर नहीं होती । जब देखो, वृत्तियाँ दौड़ती ही रहती हैं । सो, इसकी निवृत्ति कैसे होगी, आप मुझे वही उपाय बतलाइये । यदि आप न बतला सके तो मैं तो कुछ नहीं जानता । मैं तो यहाँ जानता हूँ कि सब कुछ त्यागकर अहंकार रहित होना ही श्रेष्ठ है । परन्तु जब आप भी इसे स्वीकार करें तब कहीं मेरा यह विचार दृढ होवे । अन्यथा अपनी ही कोई युक्ति बतलाइये कि जिससे मैं उस कल्याणपद को पाऊँ । जब तक आप न बलायेगे, तब तक निश्चय ही मैं भोजन, जलपान और स्नानादिक क्रियाओं सहित इस प्रकार की किसी भी सम्पदा और आपदा का कार्य न करूँगा और केवल निरहंकारता को ही प्रधान मान बैठूँगा । फिर तो यह श्वास आते-जाते आपही आप चीण हो जावेगा और मैं सर्वदा के लिये शान्ति को प्राप्त हो जाऊँगा ।

श्री योग वाशिष्ठ-भाषा-चैरग्य-प्रकरण का द्वादशवाँ सर्ग समाप्त ॥ २२ ॥

तेईसवाँ सर्ग

आकाशवाणी

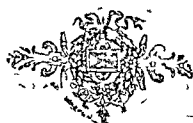


स्वीकृति जी कहते हैं कि हे भारद्वाज ! रघुकुल शिरोमणि रामचन्द्र के ऐसा कहते ही सभामें सन्नाटा छा गयी । लोग एक दूसरे का मुँह देखने लगे । किसी से कुछ कहते न बना । केवल नेत्रों से ही नेत्र मिलाकर रह गये । ऐसा

प्रतीत हुआ, मानों सभी निर्वासनिक हो गये हैं । तब महर्षि वशिष्ठ, वामदेव, विश्वामित्र आदिक मुनीश्वर और अपने मन्त्रियों सहित

राजा दशरथ तथा जितने भी मण्डलेश्वर और टहलुथो सहित माता कौशल्यादिक जितनी स्त्रियाँ और इम प्रकार वहाँ जितने भी स्त्री पुरुष दर्शक के रूपमें विद्यमान थे—सबके सब मौन हो गये । यहाँ तक कि पिजड़े के पालतू पक्षी भी जो क्षणमात्र के लिये भी अपना बोलना बन्द न करते थे, वे भी मौन होगये । चाटिका के पशु भी मौन हो गये । निकटवर्ती और आकाशचारी पक्षियों ने भी मौन धारण कर लिया । आकाशवासी देवता, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर और किन्नर धन्य-धन्य की जै-जैकार का शब्द कहते हुये ऐसे रग-विरगो फूलोंकी वर्षा करने लगे कि मानों मोतीकी मालाये और मक्खनकी गोलियाँ ही बरस रही थीं । कहाँ तक कहे-पुष्पो की वह सुन्दर वर्षा कहीं नहीं जाती । फूलो पर भीरे मेडराने लगे । चारो ओर अद्भुत सुगन्धि फैल गई । सब नमोनम शब्द करने लगे । उसी समय देवतायों ने यह आकाशवाणी किया कि, हे कमलनेत्र राम । हे रघुकुल शिरोमणि राम । आप धन्य है । आपने अपना यह बड़ा श्रेष्ठ स्थान नियत किया है । हे कमलनयन रघुवशी । आपने यह जैसा श्रेष्ठ वचन कहा है, वैसा अब तक हमने कभी नहीं सुने है । आपके इन अमृतमय वचनो ने हमारे देवतापन का अभिमान नष्ट कर दिया है और अब हमारी बुद्धि पूर्ण हो गई है । हे रघुकुल के सूर्य । आपने जैसे वचन कहे हैं, वैसे वचन तो हमारे गुरु वृहस्पति महाराज भी अब तक नहीं कहे थे । आपके वचन परमानन्ददायक हैं । अस्तु, आपको कोटिश धन्यवाद है ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा वैराग्य प्रकरण का तेईसवों सर्ग समाप्त ॥ २३ ॥



चौबीसवाँ सर्ग

मुनि-समाज-वर्णन



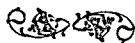
लमीकिजी बोले-हे भारद्वाज । देवताओं की इस वाणी ने राजा दशरथ सहित उस समस्त-मुनि मण्डली को चकित कर दिया । राम के प्रभुत्व और उनकी जिज्ञासा ने मानो सबके अन्तस्थल में अपना स्थान कर लिया ।

लोग सावधान होकर मुनीश्वर विश्वामित्र और वशिष्ठादिके आगमन की प्रतीक्षा करने लगे । देखते २ ऋषि, मुनि और तपस्वियों का एक बहुत बड़ा समूह उपस्थित हो गया । समय और योग की महिमा । समय आते क्या नहीं हो जाता ? एक घड़ी में ही वहाँ व्यास, नारद, वामदेव, दुर्वासा, पुलह, पुलस्त्य, बृहस्पति के पिता अंगिरा और भृगु आदिके समस्त ऋषिजन आ पहुँचे । अद्भुत समारोह हो गया । पारस्परिक दण्ड-प्रणाम और पग-प्राक्षालन की धूम मच गयी । राजा दशरथ आनन्दित हो गये । सबको यथा योग्य आसन दिया गया । ऋषियोंके बड़े ही विचित्र वेश थे । किसीको लम्बी जटा थी तो कोई मुकुट पहने था । किसी के गले में रुद्राक्ष की माला थी तो कोई मोतियों की माला पहने था । किसी के हाथ में कमण्डलु था तो किसी के हाथ में केवल मृगञ्जाला ही शोभायमान थी । कोई सुन्दर वस्त्र पहने था तो कोई कटि कोपीन ही धारण किये था । उनमें कोई ऐसे भी थे जो कटि में सुवर्ण की जंजीर पहने थे । कोई राजसी था तो कोई सात्वकी । परन्तु सब के सब विद्वान और महान वेदपाठी थे । वेदव्यासजी का वेश तो कहना ही क्या है । उस श्याममूर्ति पर तो नाना रंग से रञ्जित वस्त्र ऐसा शोभायमान लग रहा था, मानों तारंगणों में महा श्यामघटा आ गई है । इस प्रकार सभी मुनीश्वर एक से एक बड़े पुरुषार्थी और तेजस्वी थे । जब इस प्रकार सब लोग यथा योग्य आसनों पर विराजमान

हो गये तब विश्वमोहन राम अत्यन्त दीन भाव से हाथ जोड़े हुये सबकी पूजा करने लगे। तब सबसे पहले नारद जी बोले—“हे रामजी। धन्य है। तुम्हारा ज्ञान असीम है। तुमने जो ये वैराग्य के वचन कहे हैं—उससे सभी लोग प्रसन्न हैं। क्योंकि तुम्हारे-ये वचन सर्वथाही कल्याणकारक और परमज्ञानके कारण हैं। सो हे रामजी। तुम हम को बड़े उदारात्मा और बुद्धिमान दृष्टि आते हो। तुम्हारे जैसा उज्वल पात्र तो हमारे जैसे साधु और तपस्वियों में भी कोई विरला ही होता है। ठीक है, जितने मनुष्य हैं, सब पशु हैं। क्योंकि किसी को ससारसे, पार होने की इच्छा नहीं है। पर वास्तव में वही मनुष्य है जो पुरुषार्थ पर यत्न करता हुआ, इससे मुक्त होने की चेष्टा करता है। जैसे वृक्ष तो अनेक हैं, पर चन्दन का वृक्ष कोई विरला ही होता है। इसी प्रकार शरीरधारी तो बहुत हैं पर ऐसे कोई विरलेही-निकलते हैं कि जो पुरुषार्थी और यत्नवान होते हैं। ऐसे अज्ञानियों को क्या कहा जाय। वे तो व्यर्थ ही अस्थि, मांस और रुधिरके पुनले बने हुये इधर-इधर भटकते फिरते हैं। जैसे वृक्ष तो अनेक हैं, परन्तु लवङ्ग का वृक्ष कोई विरला ही होता है। इसी प्रकार मनुष्य तो अनेक हैं पर ऐसा कोई ही होता है कि जो थोड़े कहे को बहुत समझ जाये। सो निश्चय ही तुम्हारी ऐसी तैल बुद्धि है कि तुम्हें थोड़ा उप-देश भी यथेष्ट हो गया। यदि हमारे सामने कथन मात्र से ही तुम्हें ज्ञान न होगया तो जानो हम सब मूर्ख हो बैठे हैं।” यह कह कर नारद जी चुप हो गये।

श्री योगनाशिष्ठ-भाषा वैराग्य प्रकरण का चौबीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २४ ॥

* वैराग्य प्रकरण समाप्त *



श्री योगवाशिष्ठ-भाषा



मुमुक्षु-प्रकरण



पहला सर्ग



शुक-निर्वाण-वर्णन



वा

लमीकि जी बोले—हे भारद्वाज ! जब इस प्रकार कहकर नारद जी चुप हो गये, तब महामुनि विश्वामित्र जी बोले—हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ राम जी ! जो कुछ भी जानने के योग्य था, सो तुम मे विद्यमान है, इससे अब तुम्हे और कुछ जानना नहीं है । हाँ, उसमे विश्राम पाने के लिये थोड़े मार्जन की आवश्यकता अवश्य है । फिर तो जैसे मार्जन किया हुआ पात्र चमक उठता है, वैसे ही तुम्हारा ज्ञान स्पष्ट हो जायेगा । इससे कुछ ही उपदेश का आवश्यकता है । सो इसके लिये तुम चिन्ता न करो, हम सभी ऋषि तुम्हारी हितकामना के लिये यहाँ विद्यमान हैं । हे राम जी ! तुम्हारे ही समान इन भगवान वेदव्यास जी के पुत्र शुकदेव भी हो चुके हैं । वे भी बड़ी कुशाग्र बुद्धि के थे । और उन्होंने भी जानने योग्य सभी बातों का जान लिया था । पर विश्राम के निमित्त उन्हें भी थोड़े उपदेश की आवश्यकता थी । सो ज्योंही समय आया कि वे विश्राम को प्राप्त कर शान्तिमान् हो गये ।

विश्वामित्र जी के ऐसा कहने पर रामजी ने पूछा—हे मुनीश्वर ! शुकदेवजी कौन थे और उनकी बुद्धि कैसी थी और उन्हें कैसे शान्ति प्राप्त हुई ?

विश्वामित्र जी ने कहा—हे रामजी । सुनो, यही भगवान् वेद-व्यास जो आपके पिता राजा दशरथ के मंगल में स्वर्ण मिहासन पर विराजमान हैं और जिनका सूर्य के समान प्रकाश है, इन्हीं के पुत्र का नाम शुकदेव था । शुकदेव सर्व-शास्त्र-वेत्ता और मत्पासत्य को जाननेवाले थे । किन्तु उसमें यह एक बहुत बड़ा दोष आगया था कि वह प्रतिक्षण सकल्प-विकल्पों का उठाता हुआ इतना व्यग्र हो गया था कि इस परमानन्दरूप आत्मा में उसे नाम मात्र को भी शान्ति न प्राप्त होती थी और सर्वज्ञानी होते हुये भी उसे संकल्प-विकल्प आनन्द से वञ्चित कर देते थे । जहाँ जाता, शान्ति न मिलती । तब एक दिन वह अत्यन्त व्याकुल होकर सुमेरु पर्वत की कन्दरामे इन व्यास जी के पास पहुँचा । व्यास जी ने पूछा-कहो, क्या अवस्था है । तब शुकदेव इन महात्मा के चरणों पर गिर कर बोला—हे पिता जी । अवस्था को न पूछिये, हृदय महान चचल हो रहा है और नाम मात्र को भी शान्ति नहीं प्राप्त होती है । जब देखो, यह भ्रमात्मक संसार कष्ट दिया ही करता है । सो, हे भगवन । इससे किस प्रकार निवृत्ति होगी ? हे रामजी । शुकदेव के ऐसा कहने पर व्यासजी ने उसी क्षण उसे उपदेश दिया । परन्तु उमपर भी शुकदेव की शका नेष्ट न हुई और वह बोला—महाराज । आप यह क्या कह रहे हैं, यह तो मैं पहलेही से जानता था । अस्तु, इसमें मुझे शान्ति नहीं मिल सकती । शुकदेव के इस कथन से व्यासजी चिन्तित हो गये । किन्तु इन त्रिकालदर्शी से कुछ छिपान था । इन्होंने ध्यान पूर्वक देखा तो ज्ञात हुआ कि, “यहाँ पिता-पुत्र का सम्बन्ध बाधक है । सो यह मेरे उपदेश से न मानेगा । अस्तु, इसे महाराज जनक के पास भेजना चाहिए ।” ऐसा सोचकर इन्होंने शुकदेवजी को राजा-जनक के पास भेज दिया । शुकदेव गिरधिला नगर को प्रस्थानित हो राजा जनक के घर पहुँचे । द्वारपाल ने परिचय पूछा तो उन्होंने अपना नाम बतलाकर राजा जनक को सूचना दी । विदेह-

राज जनक को ज्ञात होगया कि व्याम पुत्र शुकदेव किस लिए आये है। उन्होंने द्वारपाल से कहला दिया कि वही खड़े रहे। शुकदेव सात दिन तक राजाजनक के द्वार पर जहाँ के तहाँ खड़े रह गये। आठवे दिन राजा जनक ने द्वारपाल को आज्ञा दी कि अब शुकदेव को कुछ आगे लाओ। द्वारपाल ने वैसाही किया। तब शुकदेव द्वारसे कुछ आगे आकर एक दूसरे फाटक पर खड़े हुये। राजाने कहला दिया कि वही सात दिन तक खड़े रहो। शुकदेव फिर ज्योंके त्यों वहाँ सात दिन तक खड़े रहे। आठवे दिन जनकने पूछा, तो द्वारपालों ने कहा—हाँ, खड़े हैं। तब राजाने कहा अच्छा, अब उनको अन्तपुर में लाकर नाना प्रकार के भोग पदार्थों का ग्रहण कराओ। द्वारपालोंने उन्हे अन्तपुर में पहुँचाया। अन्तपुर का तो कहना ही क्या है, नाना प्रकार के दिव्य भोगों की ढेर लग रही थी। मनको आकृष्ट करने वाली कांचन और कामिनियों की उपमा तो देना ही व्यर्थ है। किन्तु शुकदेव वहाँ भी एक भाव से चित्त को शान्त किये हुये सात दिन तक ज्योंके त्यों खड़े ही रह गये। आठवे दिन राजाजनक ने पूछा तो द्वारपालों ने कहा—हाँ महाराज। निश्चय ही शुकदेव ज्योंके त्यों अविचल भाव से आज तक खड़े है। उनको न किसी भोग पदार्थ की इच्छा है और न वे तनिक भी त्रलायमान होते हैं। राजाने कहा—अच्छा, तो अब उन्हे मेरे पास लाओ। द्वारपाल उन्हे राजाजनक के पास ले गये। शुकदेव का देख जनक ने प्रणाम किया। उत्तर में शुकदेव ने भी उनकी दण्डवत की। जब दोनों महानुभाव बैठ गये, तब जनक ने पूछा—कहो, मुनीश्वर कैसे आये ? क्या इच्छा है, जो आज्ञा हो प्रकट कीजिये। शुकदेव ने कहा—गुरुदेव। और तो कुछ नहीं चाहिये, केवल अपनी असीम कृपा से यह बतलाने का कष्ट कीजिए कि यह ससार का आडम्बर जो उत्पन्न हुया है, वह कैसे उत्पन्न हुया और कैसे शान्त होगा ? हे रामजी। शुकदेव के इस प्रश्न को सुनकर राजा जनक ने उन्हे वही उपदेश सुनाया कि जो इन वेदव्यासजी ने पहले सुनाया था। तब उसे सुनकर शुकदेव ने राजा से कहा, महाराज।

यही तो मेरे पिता जी ने भी कहा था । परन्तु मैंने इस पर ध्यान न दिया । किन्तु अब ज्ञात हुआ कि पिता जी का और आपका जो कथन है, वही शास्त्र सम्मत और निश्चित सिद्धान्त है, अब आज से मैं इसी पर अटल रहूँगा और निश्चय ही यह जानूँगा कि यह संसार अपने चित्त में ही उत्पन्न होता और चित्त से ही नाश होता है । राजा जनक ने कहा — हाँ, तो जगत के सम्बन्ध में यही निश्चित मत है । देवो, अब आज से इससे विचलित न होना । इससे पृथक न तो कोई दूसरा यत्न है और न कोई कुछ अधिक कह सकता है । क्योंकि यह संसार तो केवल चित्त के फुरने से उत्पन्न हुआ है । जब इस भ्रम से निवृत्ति मिले तो यह भी निवृत्त हो जावे । बिना इससे निवृत्त हुये आनन्द नहीं प्राप्त होता । क्योंकि वह आत्मतत्त्व सर्वथा ही नित्य-शुद्ध, केवल तथा चैतन्य-स्वरूप है । बिना उसके अभ्यास के शान्ति कहाँ ? अभ्यास करोगे तो निश्चय ही विश्राम प्राप्त होगा । हे शुकदेव ! तुम्हें कुछ अधिक करना नहीं है । तुम तो स्वयं ही मुक्ति-स्वरूप हो, निश्चय ही तुम्हारा अभ्यास आत्माकी ओर है । तुम सर्वथा ही दृश्यों से रहित और उदार आत्मा हो । अधिक तो क्या, आज तुम मुझे अपने पिता वेदव्याम से भी श्रेष्ठ प्रतीत होते हो । यही नहीं, यद्यपि मुझे श्रेष्ठ समझ कर ही तुम मेरे पास आये, तथापि मैं तुमको अपने से भी श्रेष्ठ समझता हूँ । क्योंकि हमारी तो बाहर और भीतर की सभी चेष्टाये हो रही हैं किन्तु तुम्हारी तो समस्त चेष्टाये भीतरी एव आत्माकी ओर हैं । दृश्य मे तुम्हारा तनिक भी राग नहीं है । हे रामजी ! जब राजा जनक ने ऐसा कहा तब शुकदेव प्रसन्न और निर्भय होकर हिमालय की कन्दरा में जाकर सबसे निःसङ्ग और निष्प्रयत्न होकर तप करने लगे । उन्होंने दश हजार वर्ष तक घोर तप किया । निर्विकल्प समाधि लग गई । फिर तो जैसे सूर्य का प्रकाश होते ही सारा अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही वे कल्पनारूपी समस्त कलङ्कों त्याग कर ब्रह्मपद में जा स्थित हुये ।

श्री योगशास्त्रि भाषा सुमुख-प्रकरण का पहला सर्ग समाप्त ॥ १ ॥

दूसरा सर्ग

जिज्ञासु की पात्रता



रामचन्द्रजीसे ऐसा कहकर विश्वामित्र जी राजा दशरथ से बोले—हे राजन । जैसे शुक्रदेव जी की बुद्धि शुद्ध थी, वैसे ही रामजी भी हैं । जैसे शान्ति के हेतु उन्हें कुछ मार्जन की आवश्यकता थी, वैसे ही राम जी को

भी कुछ मार्जन की आवश्यकता है । फिर तो जैसे शुक्रदेव जी को यल्प मार्जन से ही शान्ति प्राप्त होगई थी, वैसे ही इन्हे भी विश्राम प्राप्त होगा । क्योंकि अब इनकी सारी इच्छायें निवृत्त हो चुकी हैं और जो जानना चाहिये था, वह सब कुछ ये पहले ही से जान चुके ह । इससे हम इनके लिये कुछ ऐसी युक्ति बतलावेगे कि जिससे इनको अल्प विचार मे ही शान्ति का परमलाभ प्राप्त हो जावेगा । ये बड़े ज्ञानी है । इनको विषय वासनाओं की तनिक भी इच्छा नहीं है । ये सर्वथाही विदितवेद्य है । फिर आप तो चाहते ही है कि इन्हे शीघ्र से शीघ्र लाभ होवे । तब भला अब उममें कुछ और विलम्ब कैसे हो सकता है । परन्तु हम यह चाहते है कि तुम्हारे कुल के गुरु जो ये वशिष्ठ है यही रामजी के प्रति उपदेश करे तो श्रेष्ठ है । क्योंकि ये सर्वथाही सर्वज्ञ और साक्षीरूप तथा ज्ञानके सूर्य है । इससे हमे विश्वास है कि इनके उपदेश से रामजी को अत्यन्त ही आत्मपद की प्राप्ति होजावेगी । हे वशिष्ठजी ! तुम्हे स्मरण होगा कि जब मन्दराचल पर्वत पर हमारे और तुम्हारे विरोध मे ब्रह्माजी ने आकर बतलाया था कि कल्याण की प्राप्ति कैसे होती है, तब उसमे उन्होने ससार वासना के नाश हेतु जो उपदेश दिया था कितना सुन्दर और लाभप्रद था । उसी उपदेश ने तो हमारे और तुम्हारे विरोध का अन्त कर दिया था ? तब भला राम जी जैसा सत्पात्र पाकर भी आप इन्हे उस उपदेश को क्यों नहीं सुनाते । हे मुनिवर । बिना उपदेशके शुद्ध

पात्र की शोभा नहीं होती । और जैसे बिना उपदेश के पात्र शोभा यमान नहीं होता, वैसे ही ज्ञान भी सत्पात्र को अर्पण किये बिना नहीं शोभता । मूर्ख शिष्य अथवा अपात्र को उपदेश नहीं किया जाता । यदि जिज्ञासु में शिष्य भाव और विरक्तता न होवे तो उपदेश नहीं करना चाहिये । क्योंकि अपात्र को उपदेश करना सर्वथा ही व्यर्थ है । परन्तु जो विरक्तता और शिष्यभाव में पूर्ण होवे—ऐसे को निश्चय ही उपदेश करना चाहिये । ये तुम्हारे राम जी सत्र प्रकार से वैराग्य सम्पन्न और उदारात्मा हैं । साथ ही, आप भी बीतराग, भय, क्रोध से रहित और परमशान्तस्वरूप हैं, अस्तु इन्हें उपदेश देना तुम्हारा ही कर्तव्य है ।

विश्वामित्र के इस कथन से राजसभा की समस्त मुनि-मण्डली हर्षित हो गई । लोग विश्वामित्र जी को धन्य-धन्य कहने लगे । विश्वामित्र जी चुप हो गये । तब वशिष्ठ जी ने उनको सम्बोधित कर कहा—हे साधो ! निश्चय ही तुम्हारा कथन सत्य है और मुझे वह समस्त उपदेश जो कि ब्रह्मा जी ने कहा था—बिल्कुल ठीक-ठीक स्मरण है । अच्छा, तो अब मैं उसे रामजी के कल्याणार्थ कहता हूँ, लोग ध्यान देकर सुने ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, सुमुक्षु प्रकरण का दूसरा सर्ग समाप्त ॥ २ ॥

तीसरा सर्ग

व्यासपरिचय



सा कह कर वशिष्ठ जी ज्योंही श्री रामचन्द्र को अपना वह उपदेश [जो ब्रह्मा जी ने उन्हे सुनाया था-] सुनाने को सन्नद्ध हुये कि उमी समय राम जी बोल उठे कि, हे मुनीश्वर । यह तो आप सुनायेंगे, किन्तु अभी जो आपने कहा है कि शुकदेव जी विदेह-मुक्त हो गये, सो कैसे ? और ये विशालकायवाले उनके पिता जो वेदव्यास जी बैठे

है—ये क्यों नहीं विदेह मुक्त हुये, इसका क्या कारण है ? हे भगवन । पहले यह बतलाकर तब आगे बढ़िये । वशिष्ठ जी ने कहा—हे रामजी । अब यहाँ श्रृष्टि का प्रश्न आ गया । देखो, प्रत्येक प्राणियों की अपनी अलग-अलग एक और ही श्रृष्टि होती है कि जिसे पाकर वह अन्तःवाहकता आदिसे अमित लाभ उठाता है । परन्तु यह जान कर तुम क्या करोगे । व्यास जी की बात-न्यासी है । इनका तपोबल और ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है । यह शरीर तो क्या, इन्हे मैं बर्त्तित प्रकार से देख चुका हूँ । आगे चलकर यही व्यासजी महाभारत कहेंगे । इनकी बात न्यासी है । यह तो पहले ही से जीवनमुक्त हो चुके हैं । परन्तु जीवनमुक्तकी अवस्था बड़ी विचित्र है । कोई-कोई समान आकर युक्त रहते हुये समस्त क्रियाओं को करते रहते हैं और कोई-कोई संकल्प शक्तिसे उड़ते फिरते हैं । उनके लिये आना, जाना, जीना, मरना सब एक समान है । क्योंकि न कोई मरता है न कोई जन्मता है । जीवन-मरण तो भ्रमवश अज्ञान से भासित होता है । विचार पूर्वक देखा जाय तो कहीं कुत्र नहीं है । केवल एक शुद्धसत्ता ही सर्वदा विराजमान है । आत्मदर्शी पुरुष ऐसा ही जानते हैं । व्यास जी आत्मदर्शी और जीवनमुक्त हैं । इन्हे कोई चलायमान नहीं कर सकता । यह तो यहाँ तक निस्पन्द-स्वरूप है कि इन्हे सदेह मुक्ति और विदेह-मुक्ति की कुछ भी इच्छा नहीं है और यह सर्वदा ही अद्वैतरूप हैं ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा सुष्ठु-प्रकरण का तीसरा सर्ग समाप्त ॥ ३ ॥

चौथा सर्ग

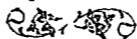
पुरुषार्थ—वर्णन



राम जी । समस्त कर्तव्य कर्मों में अपना पुरुषार्थ ही श्रेष्ठ है । पुरुषार्थ हो तो कुछ भी दुर्लभ नहीं है । बिना पुरुषार्थ के कुछ सिद्ध नहीं होता । किसी कार्य में यह कहना कि जो देव करेगा, वह होगा—बड़ी मूर्खता है । जब एक जीव अपने पुरुषार्थ और प्रयत्न से इन्द्र की पदवी पा

गया और चन्द्रमा में उल्लास करने तथा हृदय को शीतलता पहुँचाने के गुण विद्यमान हैं तो अन्य कार्यों की तो बात ही क्या है ? जीव को इन्द्र की पदवी और चन्द्रमा में शीतलता के गुण पुरुषार्थ से ही प्राप्त हुये हैं। परन्तु पुरुषार्थ किसे कहते हैं—यह साधारण कार्य-शक्ति की वार्ता नहीं है। हे रामजी ! पुरुषार्थ का मुख्य नाम पुरुष-प्रयत्न है। और पुरुष-प्रयत्न वह है, जो सत्सङ्ग और सत्शान्ति के उपदेशानुसार उस पर स्थिर चित्त से विचार किया जाये। परन्तु जो इसके प्रतिकूल है, वह उन्मत्ता चेष्टा है। यद्यपि जो किया जाता है, उसका फल अवश्य मिलता है। किन्तु एक उन्मत्त, एक निकृष्ट। जीव की जो इच्छा हो, प्राप्त कर लेवे। चाहे तो इन्द्र बन जाय और चाहे दरिद्रता प्राप्त कर लेवे। आत्मतत्त्व ही सब कुछ है। वही स्पंदरूप होकर फुरती है और वही अपने पुरुषार्थ से ब्रह्मपद को प्राप्त हुई है। बड़े-से-बड़े ऋषि मुनि और जितने भी सिद्ध हो गये हैं, सब अपने पुरुषार्थ से ही सफलता को प्राप्त हुये हैं। चैतन्य-संवेदन क्या नहीं करता, अथवा पुरुषार्थ से क्या नहीं प्राप्त होता। पुरुषार्थ से ही चैतन्य-संवेदन (जीव) गरुणासीन हो विष्णु बनकर पुरुषोत्तम कहलाना है और यही पुरुषार्थ जीव को रुद्र की पदवी दिलाकर अर्द्धाङ्ग में पार्वती, ललाट में चन्द्रमा तथा कंठ में नीलना देकर परम शान्तिरूप को प्राप्त करा देता है। हे रामजी ! यद्यपि सुमेरु पर्वत का चूर्ण करना कठिन अवश्य है, किन्तु पुरुषार्थ से वह भी चूर्ण किया जा सकता है। यही तो क्या, पुरुषार्थ के द्वारा चाहे तो पृथ्वी को भी खण्डन कर डाले। ऐसा कोई भी कार्य नहीं, जो पुरुषार्थ में न होवे। यस्तु, चारों ओर में चित्त को एकाग्र करके पुरुषार्थ करना ही जीवन का ध्येय है।

श्री योगनाशिष्ठ-भाषा, मुमुक्षु प्रकरण का चौथा सर्ग समाप्त ॥ ४ ॥



पाँचवाँ सर्ग

पुरुपार्थ वर्णन



राम जी ! मनुष्य जीवन पाकर जिसने पुरुपार्थ नहीं किया उसका जीना व्यर्थ है। उसने व्यर्थ ही मनुष्य का चोला धारण किया। उसे कभी सुख न मिलेगा। परन्तु वह पुरुपार्थ भी दो प्रकार का होता है। एक शास्त्र सम्मत और दूसरा शास्त्र विरुद्ध। शास्त्र विरुद्ध पुरुपार्थ से सर्वथा दुःख ही दुःख प्राप्त होता है। किन्तु जो बुद्धिमान शास्त्रानुकूल पुरुपार्थ करते हैं वे सुख के भागी होते हैं। उनके आगे सारी सिद्धियाँ हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं। फिर दैव कैसा ? दैव तो कुछ हुआ ही नहीं। जीव का कर्म ही उसे वैसी सिद्धता प्राप्त कराता है। बलवान से बली और निर्बल से निबल सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। जिसके पूर्व संस्कार बली होते हैं, विजय भी उसी के हाथ लंगती है। जैसे एक पिता के दो पुत्र हों और पिता दोनों को लडा दे तो जो बली होगा, विजय उसीकी होगी। परन्तु दोनों उसी के हैं—इसी प्रकार दोनों कर्म इसी जीव के हैं। जिसका पूर्व संस्कार बली होवे और इस जन्म में भी वह श्रेष्ठ आचरण करे तब तो वह महान सिद्धियों को प्राप्त करेगा किन्तु पूर्व संस्कार मलिन होवे और इम योनिमे शुभाचरण करे तो पूर्वके दुष्कर्म का अभाव होकर वह सुकृत-सिद्धियों का भागी बन जावेगा। अस्तु दोनों प्रकार से पुरुष को अपने प्रयत्न एव पुरुपार्थ से कदापि विचलित न होना चाहिए। इसी सिद्धांत को विचार कर संतज्जन नित्यही प्रयत्न और पुरुपार्थ करके संसार-सागर से पार होते हैं। हे रामजी ! जितनी कुछ सिद्धियाँ हैं, सब अपने पुरुपार्थ से ही प्राप्त होती हैं। कोई दैव नहीं करता। जो शास्त्रानुकूल आचरण एवं पुरुपार्थ को त्यागकर यह कहना है कि जो करता है, दैव करता है—

वह मनुष्य नहीं, गर्दभ है, उसका साथ करना दुःखका कारण है। सबसे पहले तो मनुष्य को चाहिए कि वह अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुसार शुभाचरण को करता हुआ अशुभों को सर्वथा ही परित्याग करे। फिर सन्तों का साथ करके सत्शास्त्र को विचारते हुए अपने गुण दोषों पर विचार करे और आज क्या शुभ किया है और क्या अशुभ किया है; इसपर प्रतिदिन रात्रिके समय एक बार नित्य ही विचार लिया करे। फिर जैसा हो उसके अनुसार अगले दिनसे अशुभ को त्याग शुभाचरण में लग जावे। इस प्रकार गुण दोषों का साक्षीभूत होकर अभ्यास, वैराग्य और सन्तोष आदिक गुणों को बढ़ता हुआ विपरीत ज्ञान वाले दोषों को सर्वथा ही नष्ट कर देवे। ऐसे पुरुषार्थ को अङ्गीकार करना ही परमानन्दरूप आत्मा को पाना है। हे रामजी! जिसको जो कुछ सिद्धियाँ प्राप्त हुई हैं, सब पुरुषार्थ से ही प्राप्त हुई हैं। बिना पुरुषार्थ के रचमात्र भी सुख नहीं प्राप्त होता। जो पुरुषार्थ को त्यागकर देवाश्रित हो यह कहता है कि जो कुछ होगा, देव करेगा अथवा देव हमारा कल्याण करेगा, वह अपने जीवन में कभी सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। जैसे पत्थर से तेल नहीं निकलता, वैसे ही उसका कल्याण देव नहीं कर सकता। अस्तु हे राघव! तुम देव का भरोमा त्यागकर अपने पुरुषार्थ का भरोमा करो। जो ऐसा नहीं करता उसे सुन्दर कान्ति और लक्ष्मी त्याग देती है। फिर तो वह प्राणी वैसे ही कान्तिहीन और जर्जर हो जाता है जैसे वसन्त ऋतु के जाने से मञ्जरी विरस हो जाती है। परन्तु जो शास्त्रानुसार विधि निषेध का विचार करके विधिको ग्रहण करते और निषेध को त्यागते हुये तदनुसार पुरुषप्रयत्न करते हैं वे निश्चय ही इस लोक और परलोक में भी सुख और सिद्धता को प्राप्न होते हैं। हे रामजी! इस सिद्धांत को जानकर तुम कदापि इस ससार सागर में न डूबो। सत्सग और सत्शास्त्र निरूपण ही तुम्हें परमानन्द आत्मा का सुख अनुभव करावेगा। बिना पुरुषार्थ के परमानन्द की प्राप्ति नहीं

होती । हे रामजी । एक सिद्धांत और जान लो, देखो, जो सत्संग और सत्शास्त्र विचारता-हुआ भी उसके अनुसार, आचरण नहीं करता और कहता है कि मुझे सभी सिद्धांत ज्ञात हैं, वही भी सुखको नहीं प्राप्त होता । जैसे कोई अमृत के निकट तो बैठा होवे और उसका पान न करे तो वह अमृत नहीं होता, वैसे ही बिना अभ्यासके अमरता और सिद्धता नहीं प्राप्त होती । व्यवहार और परमार्थ में आलसी होना बड़ी मूर्खता है । परमार्थको त्यागकर कोई सुखी नहीं रह सकता, उसे सर्वथा ही पशुओं के समान दीनता और दुःख प्राप्त होते ही रहते हैं । अस्तु तुम पुरुपार्थ का आश्रय करो । जब सत्संग और सत्शास्त्रों के उच्च आदर्श को देखते हुये अपने दोषों का परित्याग कर दृढ़ अभ्यास द्वारा आगे बढ़ोगे तब शीघ्र ही आनन्दित हो जावोगे ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, सुष्ठु-प्रकरण का पाँचवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५ ॥

छठाँ सर्ग

पुनः पुरुपार्थ वर्णन



वाल्मीकि जी कहते हैं कि जब इस प्रकार वशिष्ठ जी ने कहा तब सायंकाल का समय होगया और सभाके समस्त लोग स्नान ध्यान के लिये उठ खड़े हुये । पश्चात् रात्रि व्यतीत कर सूर्य के उदय होते ही फिर आगये । तब वशिष्ठ जी बोले—हे रामजी । पूर्व के किये हुये कर्म का ही नाम देव है । अन्य कोई देव नहीं होता जो शास्त्र द्वारा प्रयत्न किया जाता है और उसका जो फल मिलता है वही देव है । तब यदि शुभ कर्म होता है तो उसका फल सुख, आनन्द और देव, चाहे जो कुछ भी कहलो सब ठीक है । परन्तु यदि पाप कर्म होता है तो निश्चय ही उसका फल दुःख होता है और तब मूर्ख कहते हैं—हा देव, यह तूने क्या किया । किन्तु उन मूर्खों को ज्ञान नहीं और नहीं जानते कि इसमें देव कौनसा है, यह तो अपना ही कर्म है । इस प्रकार देव की कल्पना सर्वथा ही मूर्खता मात्र है, देव कोई नहीं होता । पूर्व कर्म का ही नाम देव है ।

उसे नष्ट होते देर नहीं लगती । परन्तु यह फिर कहे देता हूँ कि जिससे किसी अर्थ की सिद्धि हो, वही पुरुषार्थ है और जिससे अनर्थ उत्पन्न होवे, वह पुरुषार्थ नहीं—अपुरुषार्थ है । हे राम जी ! मनुष्य को चाहिए कि वह दया, धैर्य, सन्तोष और वैराग्य आदिक गुणोंका अभ्यास करता हुआ सर्वदाही सत्सङ्ग और—सत्शास्त्र चिन्तन में लगा रहे । ऐसा करने से निश्चय ही बुद्धि शुभ गुणों से पुष्ट हो जाती है । इस अभ्यास में आलस्य नहीं करना चाहिए । यदि बालक विद्यार्थी अपना पाठ स्मरण करने में आलस्य करेगा तो उसका पाठ स्पष्ट कैसे होगा । बिना जिहा शुद्ध हुये पाठ स्पष्ट नहीं होता । भला कहीं गूँगे से भी पाठ होता है ? जैसे बिना भोजन किये लुधा की निवृत्ति नहीं होती, वैसेही बिना पुरुषार्थ किये आनन्द नहीं प्राप्त होता । भला कहीं चुप रहने से भी कोई कार्य होता है ? नहीं; बिना पुरुषार्थ के, बिना उद्योगके, कोई भी सफलता हाथ नहीं लगती । न विश्वास हो तो यहाँ इतने गुरु बैठे हैं, इनसे पूछ लो । फिर तुम्हारी जो इच्छा हो, वह करना । किन्तु यदि मुझसे पूछते हो तो मैं सर्व शास्त्रों का यही सिद्धान्त बतलाऊँगा कि जो कुछ होता है, सब में पुरुषार्थ ही प्रधान है । सत्संगति और ज्ञानी जनो के उपदेश और सत्शास्त्र चिन्तन से जब मन और इन्द्रियों के सवेदेन पर बारम्बार विचार करोगे और साथ ही जब विरुद्ध आचरणों को त्यागने जाओगे तभी सफला और सिद्धता मिलेगी । ऐसा करने से तुम्हें राग-द्वेष स्पर्श न कर सकेंगे और तुम वैसा ही निलेंप बन जाओगे कि जैसे कमलपत्र निलेंप होता है । देखो, तुम्हें जो कोई ऐसा निलेंप पुरुष मिल जाये उसकी सर्वदा सेवा करना । यदि तुम भली प्रकार उसकी सेवा कर सकोगे तो निश्चय ही तुम्हारा बड़ा उपकार होगा और तुम सर्वदाके लिये ससार सागरसे पार हो जाओगे । हे राम जी ! सत्संगति और सत्शास्त्र वही है कि जिनके विचार और संगति से चित्त उपराम हो जावे । फिर जो मारी कल्पनाओं को नष्ट कर सके और

जिससे आवागमन का भय नष्ट हो जावे—वही सच्चा पुरुषार्थ है। हे-राम जी ! जहाँ कहीं भी तुम्हें ऊँची २ सपदायें दिखलाई पड़ती हैं, वह पुरुषार्थ से ही प्राप्त हुई हैं । अस्तु, तुम पुरुषार्थ का ही आश्रय करो। नहीं तो यह निश्चय है कि सर्प और कीट फतिङ्गादि योनियो में जान पड़ेगा। हे-राम जी ! वह प्राणी बड़ा मूर्ख है, जो दैव का आश्रय करता है। जब साधारण व्यवहारों में भी देखा जाता है कि बिना उद्योग किये कुछ भी सफलता नहीं मिलती-तब भला बिना पुरुषार्थ के परमपद की प्राप्ति कैसे हो सकती है। अस्तु, दैव को त्यागकर सन्तजनों और सत्शास्त्रों के अनुसार पूर्ण यत्न करो। बिना इसके दुःखों से छुटकारा न होवेगा।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, मुमुक्षु-प्रकरण का सातवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७ ॥

आठवाँ सर्ग

पुरुषार्थ-महिमा-वर्णन



रामजी ! यह जो विष्णु भगवान हो गये हैं, वह भी अपने पुरुषार्थ से ही ऐसे उत्तम पदको प्राप्त हुये हैं। देखो, आज वे कैसे शक्तिशाली और निर्लेप हो गये हैं कि दैत्यों को मारते हैं और सारी चेष्टायें भी करते हैं,

किन्तु, उन्हें कुछ भी पापस्पर्श नहीं करता। क्योंकि पहले उन्होंने ऐसा पुरुषार्थ कर लिया है। अतः तुम भी उसी पुरुषार्थ का आश्रय करो कि जिसके करने से बिना प्रयास ही ससार-सागर से पार हो जाओगे। अन्यथा, “दैव हमारी रक्षा करेगा”—यह बड़ी मूर्ख कल्पना है। हमारी दृष्टिमें तो कोई भी दैव नहीं दिखलाई पड़ता। पूर्व कर्म ही दैव है। इसके विपरीत यदि कोई कहता है कि हम-कर्म न करें और दैव हमारी रक्षा करेगा तो वह बड़ा मूर्ख है। यह वार्ता तो तब सत्य जानें जब हम-जान वृक्षकर अग्नि-में कूद पड़े और कोई दैव आकर निकाले। पर-यह तो होता ही नहीं कि हम चुपचाप हाथ पर हाथ रखे बैठे रहें

और देव आपही आप आकर हमारे मुखमें ग्रास रख जावे । अतः कोई देव नहीं है, अपना पुरुषार्थ ही देव है और वही सब कुछ करता है । यदि जीव को कुछ करनेका अधिकार न होता अथवा जीव कुछ न करता और देव ही सब कुछ करनेवाला होता तो गुरु और शास्त्रों के उपदेश भी न होते । इस प्रकार सिद्ध हुआ कि देव शब्द व्यर्थ है और इसको कहनेवाला मूर्ख है । इसलिये तुम इस भ्रमको त्याग कर सन्तों और शास्त्रोंके अनुसार अपने इच्छित फलको प्राप्त करो । क्योंकि देव कोई नहीं है । अपना पुरुषार्थ ही देव है । यदि कोई देव हमारा कुछ करने वाला होता तो जब जीव शरीरको त्याग देता है तब शरीर नष्ट हो जाता है और इसका किया कुछ नहीं होता । इससे स्पष्ट है कि देव शब्द व्यर्थ है । परन्तु पुरुषार्थ की महिमा तो अज्ञानी भी जानते हैं कि बिना अपने किये, कुछ नहीं होता । ग्वाला भी जानता है कि यदि मैं गौवों को न चराऊंगा तो ये भूखी रह जायेंगी । फिर देवकी कल्पना व्यर्थ नहीं तो क्या है ? हमको तो कोई भी देव कहीं दिखलाई नहीं पड़ता । उस देवका कहीं भी कोई हाथ, पाँव और शरीर दृष्टिगोचर नहीं होता है । हम तो यही जानते हैं कि यह जो कुछ भी आकार दिखलाई पड़ता है, सबमे पुरुषार्थ की ही प्रधानता है । यदि यह कहो कि वह देव निराकार है तो यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं है । भला कहीं निराकार और साकार का भी संयोग होता है, कभी नहीं । देव कोई नहीं है, केवल अपना पुरुषार्थ ही देव है । ये जितने भी राजा और सिद्ध महात्मा हुये हैं, सब अपने पुरुषार्थ से ही ऐसा सुशोभित हो रहे हैं । इन्होंने स्वप्न में भी देवका आश्रय न लिया है । ये जो विश्वामित्र हैं, इन्होंने तो कभी भी देवको नहीं जाना । यदि बिना पढ़े ही देव पंडित कर दे, तो जानिये कि देवने किया, पर क्या बिना पढ़े कोई पंडित होता है ? नहीं, ऐसा कभी नहीं होता । अज्ञानी से ज्ञानवान होना अपने पुरुषार्थ पर ही निर्भर है । इससे तुम भी देवके मिथ्या भ्रमको त्यागकर सन्तजनों और

सत्शास्त्रों के अनुसार संसार से मुक्त होनेका यत्न करो। पुरुषार्थ के बिना दैव कोई नहीं है। दैव होता तो कोई कुछ भी न करता और सब कुछ वह दैव ही आकर-कर जाता। अस्तु; बिना पुरुषार्थ किये कुछ सिद्ध नहीं होता। यदि पुरुषार्थ का मूल्य कुछ न होता अथवा कर्म कोई वस्तु न होता तो न तो पाप करनेवाले नरक जाते और न पुण्य करनेवाले स्वर्ग को प्राप्त होते। किन्तु निश्चय ही पापियों को नरक और पुण्यात्माओं को स्वर्ग जाना पड़ता है। अतः जो कुछ प्राप्न होना है, सबमें अपना पुरुषार्थ ही प्रधान है।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, सुसुच-प्रकरण का आठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८ ॥

नवाँ सर्ग



शिष्ठ जी के ऐसा कहने पर राम जी बोले—हे भगवन् ! निश्चय ही आप सर्व धर्मों के पथ-प्रदर्शक हैं। किन्तु आप यह कैसे कहते हैं कि अन्य कोई दैव नहीं है। लोक में तो ब्राह्मण को दैव कहते हैं और यह भी कहते हैं कि वह जो कुछ चाहे कर सकते हैं। तब भला मैं क्या समझूँ। जो यथार्थ है—उस एक सिद्धान्त पर मुझे स्थिर कीजिए। वशिष्ठ जी बोले—हे रामजी ! देखो, तुम्हारे भ्रम को नष्ट करने के लिए मैं फिर कहता हूँ कि अपना पुरुषार्थ ही दैव है, अन्य कोई दैव नहीं होता। शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। कर्ता, कर्म और क्रिया में कोई दैव नहीं होता। इसमें दैव का कोई स्थान नहीं है। न उसका कोई रूप है और न कोई स्थान है। केवल मूर्खों को पर-चाने के लिये ही ऐसा कहा गया है, पर वास्तव में उसकी कोई यथार्थता नहीं है—और वह दैव निश्चय ही शून्यरूप है। रामजी ने कहा—हे भगवन् ! इससे तो यह प्रकट हुआ कि दैव का रूप शून्य है। तब शून्य होने पर भी तो उसका कुछ न कुछ अस्तित्व मानना ही पड़ेगा और दैव शब्दकी प्रसिद्धता व्यर्थ नहीं हुई। फिर मैं दैव शब्दको

अपने हृदयसे कैसे हटाऊँ ? वशिष्ठ जी ने कहा—हे राम जी ! दैव को शून्य तो मैंने इसीलिये कहा है कि उसका अस्तित्व तुम्हारे हृदय से उठ जावे । परन्तु उसे तुम वारम्बार ग्रहण करते ही जाते हो । किन्तु यह शिद्धान्त ठीक नहीं है । अपने पुरुषार्थ का ही नाम दैव है । और पुरुषार्थ कर्म को कहते हैं । कर्म वासना का है । वासना मन से होती है और मनरूपी जो इच्छा (वासना) करता है, वही उसको प्राप्त होती है । जैसे ग्रामों में बसने की इच्छा करनेवालों को ग्रामों का वास मिलता है और विशाल नगर में वास करने की इच्छावालों को नगर-वास की प्राप्ति होती है । अतः कोई दैव नहीं है । जिसने जैसा शुभ अशुभ कर्म किया है और तदनुकूल जा परिणाम प्राप्त हुआ है, उसीका नाम दैव है । आज दिन जो पुरुष पाप कम में प्रवृत्त हैं, वह क्यों ? वास्तविकता यह है कि उन्होंने पूर्व काल में वैसा ही दृढ़ पुरुषार्थ किया है । यदि उस जन्म में शुभ की दृढ़ता होती तो जीवन शुभ कर्म की ओर लगता । पर नहीं, पाप की दृढ़ता के कारण ही आज उन्हें वैसा करना पड़ रहा है । इसी प्रकार जो पुण्यात्मा हैं, उन्होंने पूर्व में वैसा ही दृढ़ पुरुषार्थ किया है । वशिष्ठ जी के ऐसा कहते ही राम जी बोल उठे—हे भगवन ! तब तो यह निश्चय हो गया कि मैं अपनी पूर्व दृढ़ता के कारण ही आज ऐसा दीन हो रहा हूँ । सो हे महाज्ञानिन ! बतलाइये, मैं क्या करूँ ? पूव की वासना ने तो मुझे महा मलिन बना दिया है । वशिष्ठ जी ने कहा—ठीक है । पूर्व वासना का प्रभाव ही ऐसा होता है । पर इससे क्या, तुम इतने दीन नहीं हो गये हो कि जैसा समझते हो । हे राम जी ! तुम्हारा मार्ग स्पष्ट और निर्विघ्न है । बस, थोड़े ही अभ्यास की आवश्यकता है । जहाँ कुछ ही समय के लिये तुम शास्त्र-चिन्तन और ज्ञानियों के उपदेशनुसार चले नहीं कि, बस तुम्हारी समस्त वासनाओं का अन्त हो जायगा और इस प्रकार जो कुछ भी पूर्वका दुष्ट सस्कार होगा, वह नष्ट हो जावेगा । फिर तो

बहुत शीघ्र ही तुम आत्मपद को प्राप्त कर शान्तिमान हो जावोगे । हे राम जी । तुम चैतन्य हो, जड़ नहीं । अपने पुरुषार्थ का आश्रय करो । फिर मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारा चित्त शीघ्र ही शुभाचरण को ग्रहण कर आत्मपद में स्थित हो जावेगा । फिर श्रेष्ठता तो उसी की है कि जो कुवासनाओं में पड़कर भी सत्शास्त्र और ज्ञानोपदेश से सुधर जाये । किन्तु वह प्राणी बड़ा मूर्ख है कि जो अपना पुरुषार्थ त्यागकर मुक्त नहीं होना चाहता । हे राम जी ! जिसको श्रेष्ठ बनना हो वह पहले अपनी पाँचों इन्द्रियों को वश करे । फिर शास्त्रानुसार उनका संचालन करते हुये शुभाचार को ग्रहण कर अशुभ का परित्याग करता जावे । यद्यपि शुभ और अशुभ दोनों ही वासना हैं और वासना होने के कारण दोनों ही त्यागनीय हैं—तथापि प्रथमावस्था में अशुभ का त्याग और शुभ का संग्रह आवश्यक है । क्योंकि शुद्धाचार कटु आचरण का शमन करने वाला है और इस प्रकार जब वह अशुद्ध आचरण को शान्त कर अन्तःकरण में शुद्धता की दृढता कर देता है, तब सत्शास्त्रों और ज्ञानियों के उपदेशानुसार अभ्यास करते हुये प्राणी आत्म-ज्ञान को प्राप्त हो जाता है । और जहाँ इतना हुआ नहीं कि आत्मसाक्षात्कार होते देर नहीं लगती । फिर तो अल्प समय में ही क्रिया और ज्ञान का भी लेय हो जाता है और केवल शुद्ध, अद्वैतरूप, अपने आप को भान होने लगता है । अस्तु, हे राम जी । तुम सारी कल्पनाओं को त्यागकर आत्म-कल्याण में लग जाओ ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, छठवें प्रकरण का नवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९ ॥



दसवाँ सर्ग

ब्रह्मा-वशिष्ठ-उत्पत्ति



रामजी । तुम मेरी आज्ञा मानो । तुम्हारे हित के लिये ही मैंने यह परम मोक्षोपायक ज्ञान को प्रकट किया, हे । इससे मेरे ये वचन, तुम्हारे परम मित्र और बान्धव के समान हित करने वाले हैं । यदि तुम इसके अनुसार पुरुषार्थ कर सके तो इसमें सन्देह नहीं कि बहुत अल्प समय में ही तुम्हारा परम अर्थ सिद्ध हो जायेगा । देखो, यह चित्त बड़ा चञ्चल है । प्रतिक्षण भोगों की ही ओर दौड़ना चाहता है । सो तुम कभी भूल कर भी इसे उस खाँडरूपी खाई में न गिरने देना । परन्तु यह बड़ा उत्पाती है । इसको समालना महान कठिन है । इस कारण मैं तुम्हें एक और युक्ति बतलाता हूँ । मोक्षोपायक सहिता से यह दोषों की ओर नहीं जा सकता । सो वह सहिता क्या है, सुनो । पहले शम और दम को धारण करो । शम का अर्थ है, संसार की समस्त वासनाओं को त्याग कर उदारतात्मक बन जाना और दम उसे कहते हैं कि जो बाह्य इन्द्रियों को अपने वश में कर लेवे । हे रामजी । यदि ऐसा विचार पहले ही से बना रहता है तो उस परम तत्त्वरूपी विचार के आगे इसकी चञ्चलता नहीं लगती और यह शांत रहता है । साथ ही एक विचार यह भी है कि जब किसी प्रकार एक वार उदारता एवं इन्द्रिय दमनता का भाव ग्रहण कर लेवे, तब उसे किसी प्रकार भी न छोड़े । ऐसा करने पर सर्वदा ही शुभाचरण की ओर प्रवृत्त रहेगा और तब ऐसी भावनाओं एवं विवेक द्वारा परमपद की प्राप्ति होते देर न लगेगी । और जहाँ उस पद का दर्शन हुआ नहीं कि यह चित्त सर्वदा ही निर्दुःख होकर अविनाशी सुख को प्राप्त हो जावेगा । इस कारण हे रामजी । तुम इस सहिता के अनुसार पुरुषार्थ करके आत्मपद को प्राप्त होवो । ब्रह्माजी ने मुझे यही बतलाया

था। वशिष्ठजी के ऐसा कहते ही रामजी बोल उठे कि-हे भगवन् ! ब्रह्माजी ने किस कारण आपको ऐसा कहा था और उसे आपने किस प्रकार से धारण किया, सो भी प्रकट कीजिए। वशिष्ठजी बोले-हे रामजी ! तुम्हारा यह प्रश्न बड़ा सुन्दर है। देखो, यह जो चीर-शायी विष्णु-भगवान हैं, पहले पहल इनकी नाभि कमल से ब्रह्मा जी उत्पन्न हुये। फिर उन्होंने ही अपने योगबलद्वारा ऋषि, मुनियों सहित इस समस्त सृष्टि की रचना की। तब जम्बूदीप-भरतखंड में उन्होंने एक प्राणी को बहुत दुःखी देखा। इससे उनके हृदय में ऐसी करुणा उत्पन्न हो गई कि जैसे अपने पुत्र के लिये पिता का करुणा उत्पन्न होती है। तब उन्होंने सृष्टि के प्राणियों का दुःख दूर करने के लिये तप को उत्पन्न कर यह आज्ञा दिया कि, तप करो। लोग तप करने लगे। फिर तो तप के प्रभाव से स्वर्ग प्राप्त होने लगा और लोग स्वर्ग के सुखों को भोग कर फिर गिरने और दुःखी होने लगे। तब उस त्रुटि को देखकर ब्रह्माजी ने फिर विचार किया और सत्यवाक् धर्म का प्रतिपादन कर लोगों को सुख के लिये आज्ञा प्रदान की। परन्तु उससे भी वह त्रुटि दूर न हुई और सुख भोग भोग कर लोग फिर गिरने लगे। इस प्रकार वह अभाव जैसा का तैसा ही बना रह गया और लोग दुःखी-के-दुःखी ही रह गये। तब ब्रह्माजी ने आज्ञा दिया कि लोग दान पुण्य और तीर्थादि करके सुखी रहे। परन्तु इस प्रकार भी मन की सेवा करने से, वह त्रुटि दूर न हुई और लोग स्वर्ग के विशाल सुखों को प्राप्त होकर भी पुनः गिरने लगे। तब ब्रह्मा जी ने देख कि ये किसी प्रकार भी सुखी नहीं होते हैं और बारबार आवागमन में पड़े रहते हैं—तब किस प्रकार इनका दुःख निवृत्त होवेगा—वे एक गूढ़ विचार में पड़ गये। तब उनके विचार करते-करते ही मैं उत्पन्न हो गया। मुझे देखकर ब्रह्मा जी बहुत प्रसन्न हुये। क्योंकि मैं उनके ही अनुरूप था और जैसे उनके हाथ में कमण्डल है, वैसा ही मेरे हाथ में भी कमण्डल था और जैसे उनके

कण्ठ मे रुद्राक्ष की माला पडी हुई है, वैसेही मेरे कण्ठ मेंभी रुद्राक्ष की माला पडी हुई थी। जैसे उनके पास मृगछाला थी, वैसे ही मेने भी-मृगछाला धारण को थी। अतः हे रामजी ! मेरा ज्ञान उन्हीं ब्रह्माजी के समान ही शुद्ध है। मुझको यह जगत कुछ नहीं भासता। जब इस प्रकार मैं उत्पन्न हुआ तब ब्रह्माजी ने विचार किया कि इसको तो मैंने ससार के मनुष्यों का कल्याण करने के लिये उत्पन्न किया, परन्तु-यह तो साक्षात् शुद्ध-ज्ञान स्वरूप है। फिर सासारिक जीवों तक यह क्यों जायेगा ? क्योंकि शुद्धसत्ता की गति बड़ी उर्ध्व होती है। तब मुझे ऐसा देखकर ब्रह्माजी फिर चिन्तित हो गये और एक क्षण मे ही उन्होंने मुझमें परिवर्तन कर दिया। मैं उस शुद्ध स्वरूप से कुछ नीचे आया। ब्रह्माजी ने मुझसे कुछ अज्ञान की वार्ता की। तब सांसारिक जीवों के कल्याणार्थ ब्रह्माजी ने मुझे अपनी गोद मे बिठाकर मेरे शिर पर हाथ फेरते हुये कहा-हे पुत्र ! मैंने तुमको इस लिये उत्पन्न किया है कि तुम्हारे द्वारा सासारिक जीवों का कल्याण होवे। सो तुम इतने शुद्ध हो कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं है। सो कैसे बनेगा ? इस कारण तुम मेरो बात मानो और एक क्षण के लिये अज्ञान को धारण करलो। लोकोपकार की दृष्टि से यह अनुचित नहीं है। देखो, चन्द्रमा बहुत निर्मल है, परन्तु ससार को सुखी करने के लिये स्वयम् कालिमा धारण करली है। सो, मैं तुम्हें कुछ नीचे उतरने का शाप देता हूँ। तुम कुछ अज्ञानी होकर ससार के निकट जाओ और लोगों को ज्ञानोपदेश करो। हे रामजी, मैंने पितामह ब्रह्मा जी की आज्ञा शिरोधार्य की और वैसे बन गया। तबसे मैं वशिष्ठ अपने को ब्रह्मा जी का पुत्र समझने लगा और जगत को नाना प्रकार के पदार्थों से भरा हुआ देखकर मेरा मन चञ्चलता को प्राप्त हो गया। तब संसार को दुःखमय जानकर मैंने ब्रह्माजी से पूछा-हे भगवन् ! यह ससार कैसे उत्पन्न हुआ और कैसे लीन होता है, कृपा कर मुझे बतलाइये। तब ब्रह्माजी ने मुझे जैसा कुछ उपदेश

किया उसके प्रभाव से मेरा अज्ञान नष्ट हो गया और मैं सर्वदा के लिये शुद्ध बन गया। फिर तो उम ज्ञानोपदेश ने मेरा यथेष्ट कल्याण किया और ब्रह्मा जी ने मुझे यह आज्ञा दी कि मैं संसार में आकर उपदेश करूँ। तब इस प्रकार जम्बूदीप-भरतखंड के लिये अष्ट-प्रजापति का अधिकार लेकर मैं यहाँ आया और जिसको उत्तम देखा आत्मपद का उपदेश करने लगा।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, सुश्रुत-प्रकरण का दसवाँ सर्ग समाप्त ॥१०॥

ग्यारहवाँ सर्ग



राम जी । मुझे आये बहुत दिन हुआ। तब से लेकर आज तक मैंने कितनों को उपदेश किया है और निश्चय ही वे मेरे उपदेश से मुक्त हो गये हैं। परन्तु जब कुछ काल पश्चात् कलियुग आया तो उसने समस्त जीवों की बुद्धि महामलिन कर दिया। प्राणी पाप-ताप से जलने लगे। वेद शास्त्र की मर्यादा नष्ट हो गई और जीव दिन रात पाप कर्मों में लगे रह कर नाना प्रकार का कष्ट पाने लगे। तब उनको इस प्रकार दुखी देखकर ब्रह्मा जी को फिर करुणा उत्पन्न हुई और उन्होंने मुझे तथा सन्त्कुमार और नारद को बुलाकर कहा कि हे पुत्रो । इस समय भूलोक के प्राणी बहुत दुखी हैं, अतः उन्हें जिस प्रकार भी सुख प्राप्त होवे तुम लोग जाकर वैसे उपदेश करके धर्म की स्थापना करो। जिन जीवों को भोगकी इच्छा हो, उन्हें कर्म काण्ड एवं जप, तप और सन्ध्यादिकका उपदेश करा और जो संसार से विरक्त हो और परमपद पाने की इच्छा रखते हो, उनको ब्रह्म विद्या का उपदेश करना। हे राम जी । तब पितामह ब्रह्मा की आज्ञा से हम तीनों व्यक्ति यहाँ आये और आपस में विचार करने लगे कि अब जगत की मर्यादा किस प्रकार स्थापित की जाये। तब निश्चय हुआ कि पहले राज-धर्म की स्थापना होवे। क्योंकि राज-धर्म के स्थिर रहने से लोग उसके अनुसार चलेंगे। यह विधान

निश्चित कर हम लोगोंने दण्ड-विधान की रचना की। वस, इसके स्थापित होते ही सृष्टि का कार्य क्रम-ठीक रूप से चलने लगा और कितने ही प्राणी हम लोगोंके उपदेश से मुक्त हो गये। इस प्रकार ब्रह्म विद्या और राजविद्या मे कोई अन्तर नहीं है। जो ब्रह्मविद्या है वही राजविद्या हुई है। तब इतना ही चुकने पर हमने वेद, शास्त्र, श्रुति और पुराणों से धर्म की मर्यादा स्थापित कर जप, तप, यज्ञ, दान और स्नान आदिक क्रियाओं को प्रकट कर आज्ञा दिया कि लोग इसे करके सुखी हों। लोग इसपर आचरण करने लगे। इससे उनका हृदय शुद्ध हुआ और वे मोक्ष के भागी हुये। परन्तु जो मूर्ख कामना करके अहंकार पूर्वक कर्म करते थे वे घटीयन्त्र की नाई कभी नीचे और कभी ऊपर आते जाने दुःखी होने लगे। किन्तु जो निष्काम भाव से कर्म करते रहे, उनका हृदय शुद्ध हुआ और वे ब्रह्म विद्या के अधिकारी हो गये। इस प्रकार हमारे उपदेश द्वारा कितने ही बड़े-बड़े राजा और कितने ही अभ्यासी जीवन्मुक्त हुये और कितने ही वेद विदित सिद्ध हो गये। अस्तु यह समस्त राज्य-परम्परा हमारी ही चलाई हुई है और उस उपदेश के द्वारा ही कितने अज्ञानी ज्ञानवान हो गये हैं। इसी प्रकार के उपदेश से राजा दशरथ भी ज्ञानी हुये और तुम भी इसी दशा को प्राप्त हुये हो। सा जैसे तुम विरक्त हुये हो वैसे ही तुमसे पूर्व मे भी कई लोग स्वाभाविक विरक्त हो चुके हैं। अस्तु स्वाभाविक विरक्त होने के नाते तुम्हारा शरीर परम शुद्ध हो गया है और इस प्रकार तुम सर्व श्रेष्ठ हो। क्योंकि वैराग्य कई प्रकार का होता है। किसी को अनिष्ट दुःख प्राप्त होनेसे वैराग्य उत्पन्न होता है और किसी को मसान आदि के कष्ट को देखकर वैराग्य होता है। इस प्रकार किसी को कारण और किसी को अकारण वैराग्य उत्पन्न होता है। सो, अकारण वैराग्य वाला ही श्रेष्ठ है। ऐसा पुरुष थोड़े ही अभ्यास से संतार सागर को पार कर जाता है। हे राम जी ! यह ससार बड़े अनर्थ का घर है। जो पुरुषार्थ

करके इसको नहीं तोड़ता, वह सर्वदा ही दुखी रहता है। परन्तु जो पुरुष सत्शास्त्र और अपने गुरु के उपदेशानुसार आचरण करके अभ्यास एव पुरुषार्थ करता है, वह निश्चय ही, इससे पार पा जाता है। हे राम जी। वही पुरुष श्रेष्ठ है कि जिसने संसार को विरस जानकर त्याग दिया है। वही इस ब्रह्मविद्या का अधिकारी है और उसीको उत्तम पुरुष कहना चाहिए। हे राम जी। तुम वैसे ही उज्वल पात्र हो। इसी कारण मैं तुम्हें उपदेश करता हूँ। अन्यथा जो मूर्ख है, सदेव भोगों की ओर दौड़ते रहते हैं और जो दिन रात ममत्ता की ही ओर यत्नवान रहते हैं, वे निश्चय ही पशुवत हैं और वे मेरे उद्देश के अधिकारी नहीं हैं। हे रामजी। प्रश्न उसी से किया जाता है, जो उसका उत्तर दे सके। और जो उत्तर न दे सके, उससे प्रश्न क्या करना? इसी प्रकार हे रामजी। जब गुरु और शिष्य दोनों ही सत्पात्रवाले होते हैं तभी शिष्यार्थ लाभ की प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं। सो हे रामजी। शिष्य में जैसा भाव होना चाहिए वह पूर्णरूप से तुममें विद्यमान है। और मैं भी तुम्हें पूर्णरूप से उपदेश करने को तैयार हूँ—इससे निश्चय है कि कार्य की सिद्धि शीघ्र होगी। इस कारण हे रामजी। मैं तुम्हारे आगे हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ कि जो कुछ मैं तुम्हें उपदेश करता हूँ, उसमें आस्तिक भावना कीजिए कि इन सब बातों से मेरा कल्याण होगा। यदि तुमको ऐसी धारणा न होवे तो प्रश्न मत करना। क्योंकि जब शिष्य को गुरु की वचनों में आस्तिक भाव होता है, तभी उसका कल्याण होता है अन्यथा नहीं। सो इसका विचार पहले ही से हो जाना चाहिए। परन्तु हे रामजी। मैं जानता हूँ कि तुममें वह सभी भाव पूर्णरूप से विद्यमान हैं कि जो एक शिष्य में होना चाहिए। अच्छा, तो अब जिस प्रकार तुम्हें आत्मपद की प्राप्ति होगी, वह मैं कहता हूँ, ध्यान देकर सुनो। पहले तो इस अज्ञानी जीवमें जो असत्य बुद्धि हो, उसका ध्यान छोड़ो—फिर मोक्ष-द्वार के जो चारों द्वारपाल

हैं, उनसे मित्रता करो। जब उनसे मित्रता कर लोगे तब निश्चय ही वे तुम्हें मोक्षद्वार में पहुँचा देंगे और वहाँ तुम्हें आत्मा का दर्शन हो जावेगा। उनके नाम ये हैं। शम, सन्तोष, विचार और सत्सङ्ग। जो इनका साथ कर लेता है, उसको ये शीघ्र ही मोक्षद्वार में पहुँचा देते हैं। परन्तु यह चारों ही एक साथ न बशीभूत हों तो दो अथवा एक की मित्रतासे भी काम बन जाता है। क्योंकि वे चारों ही आपस में मित्र हैं। जब उसमें से किसी एक से भी मित्रता हो गई, तब वह दूसरे, तीसरे और चौथे को भी मिला लेगा और इस प्रकार क्रमशः चारों ही मिल जायेंगे। फिर तो निश्चय ही वे तुम्हें मोक्षद्वारके उस स्थान में पहुँचा देंगे कि जहाँ आत्मा का दर्शन हो जावेगा। जिन पुरुषोंने इनसे स्नेह किया है, वे निश्चय ही सुखी हैं। परन्तु जिन्होंने इनका त्याग किया है, वे दुखी हैं। इनमें किसी एक को बश करने में यदि प्राण का भी भय उपस्थित हो जावे तब भी उसकी चिन्तन करते हुये कठिन साधनों द्वारा उन्हें बस कर लेगे। एक के बश कर लेने से चारों ही बशमें हो जायेंगे। फिर तो तुम्हारा कहना ही क्या है? तुम्हारे जैसे सत्पात्र के लिये यह कुछ भी कठिन नहीं है। संतों के साथ और शास्त्रों के चिन्तन द्वारा तुम उसे प्राप्त करो।

हे रामजी! मैं तुमसे हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ कि जो कुछ भी मैं तुमको उपदेश कर रहा हूँ। इसमें ऐसा आस्तिक भाव रखो कि इन बचनों से मेरा कल्याण होवेगा। सो, अब जिस प्रकार आत्मपद का प्राप्ति होगी मैं तुम्हें वह युक्ति बतलाता हूँ, जिज्ञासु को सबसे पहले असत् बुद्धिका त्याग करना चाहिए। जब यह भली भाँति त्याग हो जाय तब मोक्ष द्वारके चारों द्वारपालोंसे मित्रता करे। शम, सन्तोष, विचार और सत्सङ्ग यही चारों द्वारपाल हैं। यदि इनसे मित्रता हो जावे तो समझो कि निश्चय ही आत्म-दर्शन हो गया।

श्यायोगवाशिष्ठ-भाष्य, सुसुक्ष्म प्रकरण का ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ ११ ॥

वारहवाँ सर्ग

तत्त्व-महिमा-वर्णन



रामजी । तुम्हारे जैसे श्रेष्ठ जिज्ञासु के लिये यह कुछ भी कठिन नहीं है । तुममें क्या नहीं है । जप, तप, वैराग्य और सन्तोष आदिक सभी गुण तो विद्यमान हैं । जैसे तुम सब प्रकार से श्रेष्ठ शिष्य हो, उसी प्रकार गुरु के सब श्रेष्ठ लक्ष्मण मुझमें विद्यमान है । अतः तुम मेरे उपदेश को अपने शुद्ध भाव से सुनो । हे रामजी । मेरे ये परमार्थरूपी वचन अज्ञानी को हृदयंगम नहीं हो सकते, किन्तु शुद्ध पात्र के लिये ये नितान्त प्रयोजनीय हैं । यदि तुम इनपर दृढता से विचार करोगे तो निश्चय ही तुममें रही सही अज्ञान वृत्तियाँ वैसे ही जल कर भस्म हो जावेंगी कि जैसे महा प्रलय के सूर्य से मन्दराचल पर्वत जल जाता है । अतः हे रामजी वैराग्य और अभ्यास के द्वारा तुम इन्हे प्राप्त करो । हे रामजी । जिन्होंने ऐसा करके सत्सग और सतशास्त्र चिन्तन किया है, निश्चय ही वे सुखी हैं । स्वप्न में भी उनको दुःख नहीं होता । क्योंकि दुःख तो देहाभिमान से होता है । सो तुमने वाल्यावस्था से ही अभ्यास द्वारा मनको ऐसा उपशम कर रखा है कि देहाभिमान नष्ट होकर तुम सर्वथा ही सुख के भागी हो गये हो । अब केवल सत्सङ्ग और सच्चास्त्रों द्वारा तुम्हें आत्मपद को ही पाना शेष है । हे रामजी दुःख तो अज्ञानियों को होता है । क्योंकि वे सत्सङ्ग नहीं करते और शास्त्र-चिन्तन से सर्वदा ही विलग रहते हैं । उनको ससार के सिवा और कुछ नहीं दिखलाई पड़ता । फिर तो वे इस जगत के भोग-विलासों में पडकर नाना प्रकार का कष्ट भोगते हैं । नरक २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १०० १०१ १०२ १०३ १०४ १०५ १०६ १०७ १०८ १०९ ११० १११ ११२ ११३ ११४ ११५ ११६ ११७ ११८ ११९ १२० १२१ १२२ १२३ १२४ १२५ १२६ १२७ १२८ १२९ १३० १३१ १३२ १३३ १३४ १३५ १३६ १३७ १३८ १३९ १४० १४१ १४२ १४३ १४४ १४५ १४६ १४७ १४८ १४९ १५० १५१ १५२ १५३ १५४ १५५ १५६ १५७ १५८ १५९ १६० १६१ १६२ १६३ १६४ १६५ १६६ १६७ १६८ १६९ १७० १७१ १७२ १७३ १७४ १७५ १७६ १७७ १७८ १७९ १८० १८१ १८२ १८३ १८४ १८५ १८६ १८७ १८८ १८९ १९० १९१ १९२ १९३ १९४ १९५ १९६ १९७ १९८ १९९ २०० २०१ २०२ २०३ २०४ २०५ २०६ २०७ २०८ २०९ २१० २११ २१२ २१३ २१४ २१५ २१६ २१७ २१८ २१९ २२० २२१ २२२ २२३ २२४ २२५ २२६ २२७ २२८ २२९ २३० २३१ २३२ २३३ २३४ २३५ २३६ २३७ २३८ २३९ २४० २४१ २४२ २४३ २४४ २४५ २४६ २४७ २४८ २४९ २५० २५१ २५२ २५३ २५४ २५५ २५६ २५७ २५८ २५९ २६० २६१ २६२ २६३ २६४ २६५ २६६ २६७ २६८ २६९ २७० २७१ २७२ २७३ २७४ २७५ २७६ २७७ २७८ २७९ २८० २८१ २८२ २८३ २८४ २८५ २८६ २८७ २८८ २८९ २९० २९१ २९२ २९३ २९४ २९५ २९६ २९७ २९८ २९९ ३०० ३०१ ३०२ ३०३ ३०४ ३०५ ३०६ ३०७ ३०८ ३०९ ३१० ३११ ३१२ ३१३ ३१४ ३१५ ३१६ ३१७ ३१८ ३१९ ३२० ३२१ ३२२ ३२३ ३२४ ३२५ ३२६ ३२७ ३२८ ३२९ ३३० ३३१ ३३२ ३३३ ३३४ ३३५ ३३६ ३३७ ३३८ ३३९ ३४० ३४१ ३४२ ३४३ ३४४ ३४५ ३४६ ३४७ ३४८ ३४९ ३५० ३५१ ३५२ ३५३ ३५४ ३५५ ३५६ ३५७ ३५८ ३५९ ३६० ३६१ ३६२ ३६३ ३६४ ३६५ ३६६ ३६७ ३६८ ३६९ ३७० ३७१ ३७२ ३७३ ३७४ ३७५ ३७६ ३७७ ३७८ ३७९ ३८० ३८१ ३८२ ३८३ ३८४ ३८५ ३८६ ३८७ ३८८ ३८९ ३९० ३९१ ३९२ ३९३ ३९४ ३९५ ३९६ ३९७ ३९८ ३९९ ४०० ४०१ ४०२ ४०३ ४०४ ४०५ ४०६ ४०७ ४०८ ४०९ ४१० ४११ ४१२ ४१३ ४१४ ४१५ ४१६ ४१७ ४१८ ४१९ ४२० ४२१ ४२२ ४२३ ४२४ ४२५ ४२६ ४२७ ४२८ ४२९ ४३० ४३१ ४३२ ४३३ ४३४ ४३५ ४३६ ४३७ ४३८ ४३९ ४४० ४४१ ४४२ ४४३ ४४४ ४४५ ४४६ ४४७ ४४८ ४४९ ४५० ४५१ ४५२ ४५३ ४५४ ४५५ ४५६ ४५७ ४५८ ४५९ ४६० ४६१ ४६२ ४६३ ४६४ ४६५ ४६६ ४६७ ४६८ ४६९ ४७० ४७१ ४७२ ४७३ ४७४ ४७५ ४७६ ४७७ ४७८ ४७९ ४८० ४८१ ४८२ ४८३ ४८४ ४८५ ४८६ ४८७ ४८८ ४८९ ४९० ४९१ ४९२ ४९३ ४९४ ४९५ ४९६ ४९७ ४९८ ४९९ ५०० ५०१ ५०२ ५०३ ५०४ ५०५ ५०६ ५०७ ५०८ ५०९ ५१० ५११ ५१२ ५१३ ५१४ ५१५ ५१६ ५१७ ५१८ ५१९ ५२० ५२१ ५२२ ५२३ ५२४ ५२५ ५२६ ५२७ ५२८ ५२९ ५३० ५३१ ५३२ ५३३ ५३४ ५३५ ५३६ ५३७ ५३८ ५३९ ५४० ५४१ ५४२ ५४३ ५४४ ५४५ ५४६ ५४७ ५४८ ५४९ ५५० ५५१ ५५२ ५५३ ५५४ ५५५ ५५६ ५५७ ५५८ ५५९ ५६० ५६१ ५६२ ५६३ ५६४ ५६५ ५६६ ५६७ ५६८ ५६९ ५७० ५७१ ५७२ ५७३ ५७४ ५७५ ५७६ ५७७ ५७८ ५७९ ५८० ५८१ ५८२ ५८३ ५८४ ५८५ ५८६ ५८७ ५८८ ५८९ ५९० ५९१ ५९२ ५९३ ५९४ ५९५ ५९६ ५९७ ५९८ ५९९ ६०० ६०१ ६०२ ६०३ ६०४ ६०५ ६०६ ६०७ ६०८ ६०९ ६१० ६११ ६१२ ६१३ ६१४ ६१५ ६१६ ६१७ ६१८ ६१९ ६२० ६२१ ६२२ ६२३ ६२४ ६२५ ६२६ ६२७ ६२८ ६२९ ६३० ६३१ ६३२ ६३३ ६३४ ६३५ ६३६ ६३७ ६३८ ६३९ ६४० ६४१ ६४२ ६४३ ६४४ ६४५ ६४६ ६४७ ६४८ ६४९ ६५० ६५१ ६५२ ६५३ ६५४ ६५५ ६५६ ६५७ ६५८ ६५९ ६६० ६६१ ६६२ ६६३ ६६४ ६६५ ६६६ ६६७ ६६८ ६६९ ६७० ६७१ ६७२ ६७३ ६७४ ६७५ ६७६ ६७७ ६७८ ६७९ ६८० ६८१ ६८२ ६८३ ६८४ ६८५ ६८६ ६८७ ६८८ ६८९ ६९० ६९१ ६९२ ६९३ ६९४ ६९५ ६९६ ६९७ ६९८ ६९९ ७०० ७०१ ७०२ ७०३ ७०४ ७०५ ७०६ ७०७ ७०८ ७०९ ७१० ७११ ७१२ ७१३ ७१४ ७१५ ७१६ ७१७ ७१८ ७१९ ७२० ७२१ ७२२ ७२३ ७२४ ७२५ ७२६ ७२७ ७२८ ७२९ ७३० ७३१ ७३२ ७३३ ७३४ ७३५ ७३६ ७३७ ७३८ ७३९ ७४० ७४१ ७४२ ७४३ ७४४ ७४५ ७४६ ७४७ ७४८ ७४९ ७५० ७५१ ७५२ ७५३ ७५४ ७५५ ७५६ ७५७ ७५८ ७५९ ७६० ७६१ ७६२ ७६३ ७६४ ७६५ ७६६ ७६७ ७६८ ७६९ ७७० ७७१ ७७२ ७७३ ७७४ ७७५ ७७६ ७७७ ७७८ ७७९ ७८० ७८१ ७८२ ७८३ ७८४ ७८५ ७८६ ७८७ ७८८ ७८९ ७९० ७९१ ७९२ ७९३ ७९४ ७९५ ७९६ ७९७ ७९८ ७९९ ८०० ८०१ ८०२ ८०३ ८०४ ८०५ ८०६ ८०७ ८०८ ८०९ ८१० ८११ ८१२ ८१३ ८१४ ८१५ ८१६ ८१७ ८१८ ८१९ ८२० ८२१ ८२२ ८२३ ८२४ ८२५ ८२६ ८२७ ८२८ ८२९ ८३० ८३१ ८३२ ८३३ ८३४ ८३५ ८३६ ८३७ ८३८ ८३९ ८४० ८४१ ८४२ ८४३ ८४४ ८४५ ८४६ ८४७ ८४८ ८४९ ८५० ८५१ ८५२ ८५३ ८५४ ८५५ ८५६ ८५७ ८५८ ८५९ ८६० ८६१ ८६२ ८६३ ८६४ ८६५ ८६६ ८६७ ८६८ ८६९ ८७० ८७१ ८७२ ८७३ ८७४ ८७५ ८७६ ८७७ ८७८ ८७९ ८८० ८८१ ८८२ ८८३ ८८४ ८८५ ८८६ ८८७ ८८८ ८८९ ८९० ८९१ ८९२ ८९३ ८९४ ८९५ ८९६ ८९७ ८९८ ८९९ ९०० ९०१ ९०२ ९०३ ९०४ ९०५ ९०६ ९०७ ९०८ ९०९ ९१० ९११ ९१२ ९१३ ९१४ ९१५ ९१६ ९१७ ९१८ ९१९ ९२० ९२१ ९२२ ९२३ ९२४ ९२५ ९२६ ९२७ ९२८ ९२९ ९३० ९३१ ९३२ ९३३ ९३४ ९३५ ९३६ ९३७ ९३८ ९३९ ९४० ९४१ ९४२ ९४३ ९४४ ९४५ ९४६ ९४७ ९४८ ९४९ ९५० ९५१ ९५२ ९५३ ९५४ ९५५ ९५६ ९५७ ९५८ ९५९ ९६० ९६१ ९६२ ९६३ ९६४ ९६५ ९६६ ९६७ ९६८ ९६९ ९७० ९७१ ९७२ ९७३ ९७४ ९७५ ९७६ ९७७ ९७८ ९७९ ९८० ९८१ ९८२ ९८३ ९८४ ९८५ ९८६ ९८७ ९८८ ९८९ ९९० ९९१ ९९२ ९९३ ९९४ ९९५ ९९६ ९९७ ९९८ ९९९ १०००

उन्हे भस्म कर देती है । आत्म-
दुःख कभी नष्ट नहीं
करते । किन्तु जो

निरस जानकर पुरुषार्थ की ओर दृढ़ हुये हैं, उनको आत्मपद की प्राप्ति होती है और वे सर्वदा ही सुखी रहते हैं। हे रामजी ! जिन पुरुष को आत्मानन्द प्राप्त हो गया है, उनको फिर दुःख नहीं होता पर अज्ञानी के लिये सर्वत्र दुःख ही दुःख रहता है। हे रामजी ! देखने में तो ज्ञानीजन ममस्त चेष्टायें करते रहते हैं, फिर भी उनको मंमार का दुःख स्पर्श नहीं करता। क्योंकि उन्होंने ज्ञानरूपी कवच पहना है। हे रामजी ! दुःख तो ज्ञानियों को भी मिलता है अर्थात् उन्हें भी कर्मभोग भोगना पड़ता है परन्तु वे उस दुःख से आतुर नहीं होते और सर्वदा आनन्दरूप बने रहते हैं। देखो न, ब्रह्मा, विष्णु महेश नाना प्रकार की चेष्टा करते हुये जीवों की दृष्टि आते हैं, परन्तु भीतर से वे सर्वदा ही आनन्दरूप हैं और उनको कर्तापन का कोई भी अभिमान नहीं है। हे रामजी ! ज्ञान ऐसी वस्तु है कि अन्धकार को सर्वथा ही नाश कर देता है। पर हाँ, स्व-सत्ता को प्राप्त होना चाहिए। फिर तो आनन्द ही आनन्द है।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, मुमुक्षु प्रकरण का चारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १२ ॥

तेरहवाँ सर्ग ।

ज्ञानोपदेश वर्णन



रामजी ! तुम इसी दृष्टि का आश्रय करो। इसके अवलम्ब से तुम्हारा इष्टानिष्ट कुछ नहीं कर सकेंगे। जिसको इस पद की प्राप्ति हो गई है। जानो वह बड़ा आनन्दित हो गया है। परन्तु जिसने अपनी मूर्खता वश ज्ञान का आश्रय नहीं लिया है, वह, घोर दुःखों को प्राप्त होता है। ऐसा कोई भी दुःख नहीं है जो उसे मूर्खता वश न मिले। इस कारण हे रामजी ! यदि ज्ञान के लिये हाथ में टोकना लेकर घर भी खमौंगनी पड़े तो वह भी उत्तम है किन्तु मूर्खता वश यदि कोई ऐश्वर्य ही क्यों न प्राप्त होवे, पर वह उत्तम नहीं है। मूर्खता-पूर्ण जीवन से तो मर जाना ही श्रेष्ठ है। अस्तु, चाहे जिस प्रकार से हो

सके ज्ञान के लिये ही, यत्न करना चाहिए। सो कैसे? सुनो, पहले बुद्धि को ठीक करे। फिर सत्सङ्ग करके सत्शास्त्रों का भली भाँति चिन्तन करे। इससे मूर्खता, नष्ट हो, जायेगी और निश्चय ही आत्म-पद की प्राप्ति होगी। सो, इसके लिये समस्त शास्त्रों में यह योगवाशिष्ठ-शास्त्र सबसे श्रेष्ठ है। इसके समान त्रिलोकी में कोई भी शास्त्र नहीं है। इसमें नाना प्रकार के दृष्टान्तों का ऐसा समावेश है कि उन्हें पढ़ते और विचारते ही अज्ञानान्धकार ऐसे ही नष्ट हो जाता है कि जैसे सूर्यदेव के उदय होते ही कुहिरें का नाश हो जाता है। परन्तु इसके साथ ही जिज्ञासुओं को ऐसे ज्ञानी-गुरु की भी आवश्यकता है कि जो उसे अपने अनुभवों द्वारा बराबर उपदेश करता रहे। यदि इस प्रकार के गुरु और शास्त्र दोनों ही मिल जायें तो फिर कहना ही क्या है? फिर तो जीवों का कल्याण होते-देर नहीं लगती और अकृत्रिम आनन्द प्राप्त हो जाता है। परन्तु जब तक वैसा आनन्द नहीं प्राप्त होता तब तक अपने दृढ़ अभ्यास में ही लगे रहना चाहिए। हे रामजी! मैं तुमका वैसा ही गुरु मिल गया हूँ। हमारी संगति से कितने ही जीवों का कल्याण हो गया है। अतः तुमसे जो कहता हूँ ध्यान देकर सुनो। हे रामजी! यह जो संसार के भोग हैं, सो क्षण-स्थायी हैं। इनको तुम सर्वथा ही त्याग दो। क्योंकि इनका परिणाम महान दुःखदायक है। हे रामजी! हमने कितने ही जीवों को आनन्दित कर दिया है। और तो क्या, ब्रह्मा जी भी हमारे को पाकर ही आनन्दवान् हुये हैं। हे रामजी! वही पुरुष श्रेष्ठ है कि जिसने हमारा साथ किया है। परन्तु जो सत्संग न करके खान-पानादिक भोगों में मग्न है, वह मेढक है। वह सर्वदा ही संसार के कीचड़ में फँसा रहता है। इस कारण जो श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे सत्संग और सत्शास्त्र के विचार से संसारसागर को लॉंघ कर परमानन्द को प्राप्त करते हैं। परन्तु जो संसार के सम्मुख हुआ है, वह दुःखसे दुःखरूप पदों को प्राप्त करता है। जैसे विषको विष जान कर जो उसका पान करता है तो

वह विपही उसको मार डालता है, वैसे ही ज। पुरुष इस संसार को असत्य जानते हुये भी इसकी ओर लगते हैं, वे मृत्यु को प्राप्त होते हैं। हे रामजी ! जो पुरुष आत्म-पदसे विमुख है और आत्मपदको अकल्याण रूप जानते हैं और आत्मपदके अभ्यास का त्याग कर संसार की ओर ध्यावते हैं सो वैसे ही है जैसे किसी के घरमे अग्नि लगी हो और वह तृणकी शय्या पर सोया हो तब जैसे वह नाशको प्राप्त होगा, वैसे ही विपही भी जन्म मरणको प्राप्त होंगे। हे रामजी ! यह संसार अविचार से ही प्रसता है। विचार करने पर तो निश्चय ही लीन हो जाता है। यदि लीन न होता तो तुमको उपदेश करने की हमें आवश्यकता ही क्या थी। सो निश्चय ही यह विचार करने से लीन हो जाता है। इस कारण पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिए। क्योंकि हाथ में दीपक लेकर भी कुँयें में गिरना मूर्खता है। जब गुरु और शास्त्र दोनों ही विद्यमान हों तब उनकी शरण न जाकर इधर-उधर भटकना क्या है ? किन्तु जिस पुरुष ने सत्शास्त्र और विचार द्वारा आत्मपद को प्राप्त कर लिया है, वह अवश्य ही चैतन्यता को प्राप्त हुआ है और निश्चय ही उसका ससार-भ्रम नष्ट हो गया है। हे रामजी ! यह ससार मनके ससरण से उत्पन्न हुआ है। इसका कल्याण बान्धवोंसे नहीं होता और प्रजा भी नहीं कर सकती तथा इस प्रकार के जितने भी ऐश्वर्य और देवद्वारादिक हैं, एक भी मन को बश करने एव जीव का कल्याण करने में महायक नहीं हो सकते। जब होगा, तब ज्ञानही जीवको परमपदका भागी बनायेगा। परन्तु वह बिना समता और सन्तोषके नहीं मिलता। शान्तिमान पुरुष सर्वथा ही निर्लिप्त रहता है। उसको संसार का भावाभाव स्पर्श नहीं करते। उसके ज्ञान की प्राप्ति का यह मेरा श्रेष्ठ शास्त्र है। हे रामजी ! जो पुरुष इस मोक्षोपायक शास्त्र को श्रद्धा सहित पढ़ते और सुनते हैं, वे निश्चय ही मोक्ष-द्वार के भागी हो जाते हैं।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, मुमुक्षु-प्रकरण का तेरहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १३ ॥

चौदहवाँ सर्ग ।

शम-निरूपण

हे रामजी । उस मोक्ष-द्वार के चार द्वार पाल हैं । यदि इनमें से एक भी अपमे वश में हो जावें तो जानों पल मात्र में ही जीव का कल्याण हो जावेगा । उन चारों में पहले 'शम' नामक द्वारपालका गुण सुनो । यह जीव के परम विश्राम का कारण है । यही परम आनन्द है और यही शिवपद है । जिस पुरुष ने इस 'शम'को प्राप्त किया है, जानो वह संसार-समुद्र से पार हो चुका है । उसको शत्रु भी मित्र हो जाते हैं । हे रामजी । जैसे चन्द्रमा के उदय से संसार शीतल हो जाता है, वैसे ही इस 'शम' रूप चन्द्रमा के उदय होने से मनुष्य के सब ताप मिट जाते हैं और यह परम शान्ति को प्राप्त होता है । हे रामजी । शम देवता अमृत के समान है । इसको प्राप्त कर प्राणी उज्जल हो जाता है । उमकी दरिद्रता नष्ट हो जाती है और वह सब प्रकार से सुखी हो जाता है । अधिक क्या कहे, शम के प्राप्त करने से जो आनन्द मिलता है, वह अमृत के पान करने से भी नहीं मिलता और लक्ष्मी की प्राप्ति में भी वह आनन्द नहीं है, जो शम के प्राप्त होने में मिलता है । हे रामजी । राजा को भी वैसा सुख नहीं मिलता, जैसा कि शमवान को प्राप्त होता है । जिस पुरुषको शम की प्राप्ति हुई है, निश्चय ही वह वन्दना करने के योग्य है । ऐसा पुरुष कभी उद्वेगित नहीं होता । उसकी सारी क्रियायें अमृत के समान होती हैं और उसका बचन भी अमृत के ही समान मीठा होता है । वह सच्चा साधु है । उसके सत्सग से परम आनन्द मिलता है । हे रामजी । जैसे बालक माता को पाकर सुखी होता है, वैसेही शम को पाकर जीव सुखी हो जाता है । जो सुख चक्रवर्ती राज्य के पाने से नहीं होता, वह सुख 'शम' के पाने से होता है । शमवान भय नहीं रहता । वह सर्वदा

निर्भय और शान्तरूप रहता है। संसार में जितने भी शुभ गुण कहे गये हैं, वह सब शमवान के हृदय में भरा रहता है। शम के प्राप्त होने से हृदय के समस्त ताप मिट जाते हैं। उसको कोई दुःख नहीं स्पर्श करता। उमका हृदय शीतल हो जाता है। वह समस्त क्रियाओं में आनन्द रूप बना रहता है। हे रामजी। यों तो तपस्वी, पंडित, मालिक और धनाढ्य सभी पूजा करने के योग्य हैं, परन्तु जिसको शम की प्राप्ति हो गई है, वह सबसे उत्तम और मनी के लिये पूजनीय है। क्योंकि, उसके मनकी वृत्ति सर्वदा ही आत्मतत्व को ग्रहण किये रहती है। हे रामजी। जिसको शम भाव प्राप्त है, उसको शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्ध जो इन्द्रिय के इष्टानिष्ट विकार हैं, न चंचमात्र भी स्पर्श नहीं करते। उसको सत्कार की रमणीयता नहीं भासती और वह किसी पदार्थ में ह्वन्ध्यायमान नहीं होता। जैसे आकाश सर्वदा निर्मल है, वैसे ही शमवान सदा निर्मल और अनिलेप है। हे रामजी। शमवान पुरुष ने तो इष्ट की प्राप्ति में हर्ष करता है और न च अनिष्ट से दुःखी होता, बेरब्ब भीतर बाहर सर्वदा ही शान्तरूप बना रहता है। जैसे सूर्य के उदय होने में अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही शान्ति के पाने से सब दुःख नष्ट हो जाते हैं। इसके विपरीत जिसको शान्ति नहीं प्राप्त है, उमका चित्त क्षण-क्षण में रागद्वेष से जला करता है। परन्तु जिसको शान्ति की प्राप्ति हुई है, वह भीतर बाहर सबदा ही शान्त और शीतल है। उसके मुख की कान्ति बहुत सुन्दर हो जाती है। हे रामजी। यह ही परमपद है और इसी को प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए।

पन्द्रहवाँ सर्ग = शान्ति विचार-निरूपण

हे रामजी। अब विचार की महिमा सुनो। जब हृदय शुद्ध होता है, तब विचार होता है और शान्त-विचार द्वारा बुद्धि तीक्ष्ण होती है।

हे राम जी । अज्ञानरूपी जीवन में आकाशरूपी वेलि उत्पन्न होती है, जब उमको विचाररूपी खड्ग से काटोगे तब शान्ति प्राप्त होगी । हे रामजी । मोह रूपी हस्ती जीव रूपी कमल को खंड-खंड कर देता है । जब विचाररूपी सिंह प्रकट होता है, तब मोहरूपी हस्ती का नाश होजाता है । इस प्रकार जिसको जो कुछ सिद्धता प्राप्त हुई है, वह विचार और पुरुषार्थ से ही प्राप्त हुई है । जैसे राज्य उसी को प्राप्त होता है कि जो बल, बुद्धि और तेज से युक्त होकर विचार करता है । वैसेही आत्मानन्द उसी को प्राप्त होता है कि जो विचार से युक्त होता है । इन्द्रियों का दमन करना साधारण कार्य नहीं है । आत्मव्यापिनी बुद्धि को ही इस कार्य में सफलता मिलती है । इस प्रकार विचार ही मनुष्य का मित्र है और उसी से पुरुष सुखी होता है । जो पुरुष विचारवान होता है, उसके निकट आपदा का कोई भी लेश नहीं होता । जैसे जल में तुम्ही नहीं डूबती, वैसेही विचारवान पुरुष आपदा में नहीं डूबते । क्योंकि उनका देना, लेना आदिक जितनी भी क्रियायें होती हैं, सब विचारयुक्त होती हैं, इससे वे सिद्धता का कारण रूप होती हैं और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये विचार की दृढता से सिद्ध होते हैं । हे रामजी । विचाररूपी कल्पवृक्ष है । उससे जो माँगें आप मिलता है । संसार में जितनी भी सिद्धियाँ कही गई हैं, सब विचार से ही प्राप्त होती हैं । जो विचार किया जायगा, वह प्राप्त होगा । सत्य विचारसे सत्य और असत्यसे असत् वस्तु की प्राप्ति होती है । जो इच्छा हो विचार से माँग लेवे । परन्तु जैसे सत और असत् होता है, वैसेही विचार और अविचार भी होता है । विचारयुक्त वस्तु सत् कहलानी है और अविचार का ही दूसरा नाम असत्य कहा जाता है । इस प्रकार विचार का परिणाम सुख, और अविचार का परिणाम दुःख होता है । हे रामजी । अविचाररूपी कटकवृक्ष है । उसमें दुःखरूपी कटक पड़े उत्पन्न किए बिना अविचाररूपी रात्रि है कि जिसमें तृष्णारूपी पिशाचिनी है । जब,

सूर्य उदय होता है। तब अविचार-रूपी रात्रि और तृणारूपी पिशा-
चिनी नष्ट हो जाती है। हे रामजी । हम तुम्हें यह आशीर्वाद देते हैं
कि तुम्हारे हृदयसे अविचार-रूपी रात्रि नष्ट हो जवे । हे रामजी ।
जहाँ विचार है, वहाँ दुःख नहीं है । जैसे जहाँ प्रकाश है, वहाँ
अंधकार नहीं रहता और जहाँ प्रकाश नहीं होता वहाँ अंधकार
ही अंधकार रहता है, वैसेही जहाँ विचार है, वहाँ संसार का
भय नहीं है और जहाँ विचार नहीं है, वहाँ संसार का भय लगा
रहता है । किन्तु जहाँ आत्मविचार उत्पन्न होता है, वहाँ सुख को
देने वाले सभी गुण आकर स्थित हो जाते हैं । जैसे मानसरोवर में
कमल की उत्पत्ति होती है, वैसेही विचार में शुभगुण की उत्पत्ति
होती है । परं जहाँ विचार नहीं होता, वहाँ दुःख का आगमन अवश्य
होता है । हे रामजी । जो कुछ अविचार कर क्रिया करते हैं, सो दुःख
का कारण होती है । जैसे चूहा बिल को खोद कर मिट्टी निकलता
है, सो जहाँ इकट्ठी होती है, तहाँ बेली की उत्पत्ति होती है, वैसेही
अविचार से यह पुरुष मृतिका रूपी पापक्रिया का करता है, उससे
आपदा-रूपी बेली उत्पन्न होती है और अविचार-रूपी घुन का खाया
सूखा वृक्ष है, उसको सुखरूपी फल चाहते हैं, सो नहीं निकसते हैं ।
हे रामजी । विचार किसका नाम है ? जिसके करने से शास्त्रानुसार
क्रिया होवे, उसका नाम विचार है । हे रामजी । विवेकरूपी राजा है
और विचार ध्वजा है । जहाँ विवेकरूपी राजा आता है, तहाँ विचा-
ररूपी ध्वजा उसके साथ फिरती है और जहाँ विचाररूपी ध्वजा आती है,
वहाँ विवेकरूपी राजा भी आता है । जो पुरुष विचार करके संपन्न हैं,
सो पूजने योग्य है । उसको सब कोई नमस्कार करते हैं । जैसे द्वितीया के
चन्द्रमाको सब नमस्कार करते हैं, वैसेही विचारवान को सब नमस्कार
करते हैं । हे रामजी । हमारे देखते-देखते कितने ही अल्प बुद्धि वाले दृढता
में मोक्षपद को प्राप्त हुये हैं । इससे विचार सबका परम मित्र है ।
विचारवान पुरुष अंतर्वाहिर शीतल रहता है । वैसे ही वे भी शीतल

रहते हैं। देखो, विचार करके ऐसे पद की प्राप्ति होती है कि जो पद नित्य, स्वच्छ अनन्त और परमानन्द रूप है। उसको पाकर फिर उसके त्याग की इच्छा नहीं होती और ग्रहण की इच्छा भी नहीं होती। उनको इष्ट अनिष्टविषय सब समान है। जैसे तरंग के होने में अरु लीन होने में समुद्र समान रहता है, वैसे ही विवेकी पुरुष को इष्ट अनिष्टविषे समता रहती है, और उसका ससार भ्रम-मिट जाता है। तब उसको आधाराधेय से रहित केवल अद्वैतत्व प्राप्त होता है। हे रामजी ! यह जगत अपने मन के मोह से उत्पन्न हुआ है। और अपने विचार से ही दुःखदायी दीखता है। जैसे अविचार करके बालक को बैताल भासता है, वैसे ही इसको जगत भासता है। जब ब्रह्मविचार की प्राप्ति होवे, तब जगतभ्रम नष्ट हो जावे। हे रामजी ! जिसके हृदय में विचार होता है, वहाँ समता की उत्पत्ति होती है। जैसे बीज से अकुर निकलता आता है, वैसे ही विचार से समता हो आती है। विचारवान पुरुष जिसकी ओर देखता है, उस ओर आनन्द ही आनन्द दृष्टि आता है और दुःख कोई नहीं भासता। जैसे सूर्य को अंधकार दृश्य नहीं आता, वैसे ही विचारवान को दुःख दृश्य नहीं आता। जहाँ अविचार है, तहाँ दुःख है, जहाँ विचार है, वहाँ सुख है। जैसे अंधकार के अभाव हुये बैताल के भय का अभाव हो जाता है, वैसे ही विचार किये से दुःख का अभाव हो जाता है। हे रामजी ! यह ससाररूपी दीर्घ रोग है, उसका नाश करने को विचार बड़ा औषध है। जिसको विचार की प्राप्ति हुई है, उसके मुख की कांति उज्वल हो जाती है। जैसे पूर्णमासी के चन्द्रमा की कांति उज्वल होती है, वैसे ही विचारवान के मुख की उज्वल कांति होती है। हे रामजी ! विचार करके इसको परमपद की प्राप्ति होती है और जिससे अर्थ सिद्ध होवे, उसका नाम अविचार है और जिससे अनर्थ सिद्ध होवे, उसका नाम विचार है। हे रामजी ! जो इस अविचाररूपी मदिरा का पान करता है, वह उन्मत्त हो जाता है।

सूर्य उदय होता है तब अविचार रूपी रात्रि और तृष्णारूपी पिशाचिनी नष्ट हो जाती है। हे रामजी ! हम तुम्हे यह आशीर्वाद देते हैं कि तुम्हारे हृदयसे अविचार रूपी रात्रि नष्ट हो जवे। हे रामजी ! जहाँ विचार है, वहाँ दुःख नहीं है। जैसे जहाँ प्रकाश है, वहाँ अंधकार नहीं रहता और जहाँ प्रकाश नहीं होता वहाँ अन्धकार ही अंधकार रहता है, वैसेही जहाँ विचार है, वहाँ संसार का भय नहीं है और जहाँ विचार नहीं है, वहाँ संसार का भय लगा रहता है। किन्तु जहाँ आत्मविचार उत्पन्न होता है, वहाँ सुख को देने वाले सभी गुण आकर स्थित हो जाते हैं। जैसे मानसरोवर में कमल की उत्पत्ति होती है, वैसेही विचार में शुभगुण की उत्पत्ति होती है। परं जहाँ विचार नहीं होता, वहाँ दुःख का आगमन अवश्य होता है। हे रामजी ! जो कुछ अविचार कर क्रिया करते हैं, सो दुःख का कारण होती है। जैसे बूढ़ा बिले को खोद कर मिट्टी निकालता है, सो जहाँ इकट्ठी होती है, तहाँ बेली की उत्पत्ति होती है, वैसेही अविचार से यह पुरुष मृत्तिका रूपी पापक्रिया को करता है, उससे आपदारूपी बेली उत्पन्न होती है और अविचाररूपी धुन का खाया सूखा वृक्ष है, उसको सुखरूपी फल चाहते हैं, सो नहीं निकलते हैं। हे रामजी ! विचार किसका नाम है ? जिसके करने से शास्त्रानुसार क्रिया होवै, उसका नाम विचार है। हे रामजी ! विवेकरूपी राजा है और विचार ध्वजा है। जहाँ विवेकरूपी राजा आता है, तहाँ विचाररूपी ध्वजा उसके साथ फिरती है और जहाँ विचाररूपी ध्वजा आती है, वहाँ विवेकरूपी राजा भी आता है। जो पुरुष विचार करके संपन्न है, सो पूजने योग्य है। उसको सब कोई नमस्कार करते हैं। जैसे द्वितीया के चन्द्रमाको सब नमस्कार करते हैं, वैसेही विचारवान को सब नमस्कार करते हैं। हे रामजी ! हमारे देखते-देखते कितने ही अल्प बुद्धि वाले दृढता में मोक्षपद को प्राप्त हुये हैं। इससे विचार सबको परम मित्र है। विचारवान पुरुष अंतर्वाहिर शीतल रहता है। वैसे ही वे भी शीतल

रहते हैं। देखो, विचार करके ऐसे पद की प्राप्ति होती है कि जो पद नित्य, स्वच्छ, अनंत और परमानंद रूप हैं। उसको पाकर फिर उसके त्याग की इच्छा नहीं होती और ग्रहण की इच्छा भी नहीं होती। उनको इष्ट अनिष्टविषय सब समान है। जैसे तरंग के होने में अरु लीन होने में समुद्र समान रहता है, वैसे ही विवेकी पुरुष को इष्ट अनिष्टविषे समता रहती है, और उसका संसार भ्रम-मिट जाता है। तब उसको आधाराधेय से रहित केवल अद्वैततत्त्व प्राप्त होता है। हे रामजी ! यह जगत अपने मन के मोह से उत्पन्न हुआ है। और अपने विचार से ही दुःखदायी दीखता है। जैसे अविचार करके बालक को बैताल भासता है, वैसे ही इसको जगत भासता है। जब ब्रह्मविचार की प्राप्ति होवे, तब जगतभ्रम नष्ट हो जावे। हे रामजी ! जिसके हृदय में विचार होता है, वहाँ समता की उत्पत्ति होती है। जैसे बीज से अंकुर निकलता आता है, वैसे ही विचार से समता हो आती है। विचारवान पुरुष जिसकी ओर देखता है, उस ओर आनन्द ही आनन्द दृष्टि आता है और दुःख कोई नहीं भासता। जैसे सूर्य को अंधकार दृश्य नहीं आता, वैसे ही विचारवान को दुःख दृश्य नहीं आता। जहाँ अविचार है, तहाँ दुःख है, जहाँ विचार है वहाँ सुख है। जैसे अंधकार के अभाव हुये बैताल के भय का अभाव हो जाता है, वैसे ही विचार किये से दुःख का अभाव-हो जाता है। हे रामजी ! यह ससाररूपी दीर्घ रोग है, उसका नाश करने को विचार बड़ा औषध है। जिसको विचार की प्राप्ति हुई है, उसके मुख की कांति उज्वल हो जाती है। जैसे पूर्णमासी के चंद्रमा की कांति उज्वल होती है, वैसे ही विचारवान के मुख की उज्वल कांति होती है। हे रामजी ! विचार करके इसको परमपद की प्राप्ति होती है और जिससे अर्थ सिद्ध होवे, उसका नाम अविचार है और जिससे अनर्थ सिद्ध होवे, उसका नाम विचार है। हे रामजी ! जो इस अविचाररूपी मंदिर का पान करता है, वह उन्मत्त हो जाता है।

उसमें शुभ विचार कोई नहीं आते। शास्त्र के अनुसार जो कुछ क्रिया है, वह उसमें नहीं होती। इससे अविचार करनेसे कुछ भी अर्थ सिद्ध नहीं होता। हे रामजी ! इच्छा रूपी रोग है, सो विचाररूपी औषध में निवृत्त होता है। जिस पुरुष ने विचार द्वार परमार्थसत्ता का आश्रय लिया है, वह परम शांत हो जाता है। और उसकी बुद्धि हेयोपादेय नहीं रहती। वह सब दृश्य को साक्षीभूत होकर देखता है। ससार के भाव अभावविषे ज्यो का त्यो रहता है। वह उदय अस्त से रहित निःसगरूप है। जैसे समुद्र जल से पूर्ण है, वैसे ही विचारवान् आत्मतत्त्व से पूर्ण है। जैसे अंधकूप में परा हुआ हर तरह के बल से निकसता है, वैसे ही ससाररूपी अंधकूप में गिरा हुआ विचारके आश्रय होकर विचारवान् पुरुष निकसने को समर्थ होता है। हे रामजी ! राजा को जो कोई कष्ट आय प्राप्त होता है तब वह विचार करके यत्न करता है, तब कष्ट निवृत्त हो जाता है, इससे तू विचार कर देख कि यदि किसी को कष्ट प्राप्त होता है तो विचार से ही निवृत्त होता है। तुम विचार का आश्रय करके सिद्धता को प्राप्त हो। सो विचार इस प्रकार प्राप्त होता है, वेद और वेदांत के सिद्धांत को श्रवण करै, पाठ करै, भले प्रकार विचारैगा तब विचार की दृढ़ता से आत्मतत्त्व को प्राप्त होवेगा ॥ जैसे प्रकाश से पदार्थ का ज्ञान होता है, वैसे ही गुरु और शास्त्र के वचन से तत्त्व ज्ञान होता है। जैसे प्रकाश में अंधे को पदार्थ की प्राप्ति नहीं होती है, वैसे ही जो गुरु और शास्त्र के विचार से शून्य है, उसको आत्मपद की प्राप्ति नहीं होती ! हे रामजी ! जो विचाररूपी नेत्र से सपन्न हैं, वही देखते हैं, और जो विचाररूपी नेत्र से रहित हैं वे अंधे हैं।

हे रामजी ! ऐसा विचार करो कि मैं कौन हूँ और यह जगत् क्या है, और इसकी उत्पत्ति कैसे हुई है, अरु लीन कैसे होता है। इस प्रकार संत और शास्त्र के अनुसार विचार कर सत्य को जान, और

असत्य को सत्य जान, जिसको असत्य जाना है उसका त्यागकर, और सत्य में स्थित होय, इसी का नाम विचार है। इस विचार कर आत्मपद की प्राप्ति होती है। हे रामजी! यह विचाररूपी दिव्य-दृष्टि जिसको प्राप्त हुई है, उसको आत्मपद की प्राप्ति हो जाती है। उसको पानेसे वह परिपूर्ण होजाता है और फिर शुभ-अशुभ संसारमे चलायमान नहीं होता, ज्यो का त्योरहता है। जब तक प्रारब्धवेग होता है, तब तक शरीर की चेष्टा होती है, परन्तु शरीर को त्याग कर केवल शुद्धरूप हो जाता है। इससे हे रामजी! ब्रह्मविचारका आश्रय कर संसार समुद्र को तर जा। जो रोगी होता है, इतना रुदन नहीं करता। विचार रहित पुरुष जितना कुछ रुदन करता है, उससे उसको कष्ट ही प्राप्त होता है हे रामजी! जो पुरुष विचार से शून्य है, उसे सब आपदाये आय प्राप्त होती हैं। जैसे सब नदी स्वभाव से ही समुद्र मे आकर प्रवेश करती हैं, वैसे ही अविचार मे सब आपदाये आय प्रवेश करती हैं। हे रामजी! कीचक और कीट हाना भला है और गतं का कंटक भी होना भला है, और अंधेरे विल मे सर्प होना भी भला है, परन्तु विचारसे रहित होना तुच्छ है। जो पुरुष विचारसे रहित हो भोगो मे दौडता है, वह श्वान है।

हे रामजी! विचार से रहित पुरुष बड़े कष्ट का पाता है। इससे तुम विचार से रहित नहीं रहना और सर्वदा विचार से दृढ़ होकर निर्भय रहना कि मैं कौन हूँ और दृश्य क्या है। ऐसा विचार करके सत्यरूप आत्मा को जानकर दृश्य का त्याग करना। हे रामजी जो पुरुष विचारवान है, वह संसार के भोगों मे नहीं गिरता और सत्य में ही स्थित होता है। जब विचार स्थित होता है, तब तत्त्वज्ञान होता है और तत्त्वज्ञान से विश्राम होता है। फिर तो विश्राम से चित्त का उपशम होता है और चित्तके उपशम से दु खो नाश होजाता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, मुमुक्षु-प्रकरण का पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १५ ॥

सोलहवाँ सर्ग

सन्तोष-वर्णन



रामजी । जिस पुरुषको सतोष प्राप्त है, वह परम आनन्दित हुवा है, और उसको त्रिलोकीका ऐश्वर्य तृणकीनाई तुच्छ-भासता है। हे रामजी । जो आनन्द अमृतपान करनेसे नहीं होता है, और जो आनन्द त्रिलोकीके राज्यसे भी नहीं होता, वैसा अनन्द सतोषवानको होता है । हे

रामजी ! इच्छारूपी रात्रि हृदयरूपी कमल को संकुचित कर देती है। जब सतोषरूपी सूर्य उदय होता है, तब इच्छारूपी रात्रिका अभावहो जाता है । जैसे क्षीरसमुद्र अपनी उज्ज्वलता से ही शोभायमान होता है, वैसे ही सतोषवानकी कांति सुशोभित होती है । हे रामजी । यदि त्रिलोकीके राजाकी इच्छा निवृत्त न हुई तब वह दरिद्री और निर्धन है । और जो सतोषवान है वही सबका ईश्वर है, सतोष उसीका नाम है । श्रवण करके भी जो अप्राप्त वस्तुकी इच्छा न करे, और अष्टनिष्ठ मे रागदोष न धरे, इसीका नाम सतोष है । सतोषही परमपद है और सतोषवान पुरुष ही सदा आनन्दरूप है, और वही आत्मस्थितिमे तृप्त हुवा है । उसको और इच्छा कुछ नहीं स्फुरती, और सतुष्टता से उसका हृदय प्रफुल्लित हुवा है । जैसे सूर्यके उदय हुवे सूर्यमुखी कमल प्रफुल्लित होता है, वैसे ही सतोषवान प्रफुल्लित हो जाता है और जो अप्राप्त वस्तु हैं, उनकी इच्छा नहीं करता और जो अनिच्छित प्राप्त भई है, उसको शास्त्र क्रम करके ग्रहण करता है । उसीका नाम सतोषवान है । जैसे पूर्णमासीका चंद्रमा पूर्ण होता है, वैसे ही सतोषवान का हृदय संतुष्टता से पूर्ण रहता है । किन्तु जो सतोषसे रहित है, उसके हृदयरूपी वनमे सर्वदा ही दुःख और चिन्तारूपी फूल तथा फल उत्पन्न होते रहते हैं । असतोषी को कभी सुखका दर्शन नहीं होता । संसार भर की सम्पदा और अष्टसिद्धियों की प्राप्ति भी उसके लिये सुखप्रद नहीं होती । जब देखो, वह रोता ही

रहता है। हे रामजी। यदि असंतोषी पुरुष को अमृत भी मिल जाये, तब भी वह सुखी और तप्त नहीं होता। किन्तु जो सन्तोषवान है, वह सर्वदा ही शान्ति रूप और निर्मल रहता है। सन्तोषवान पुरुष सबको प्यारा लगता है और वही सबसे श्रेष्ठ है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, मुमुक्षु—प्रकरण का सोलहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १६ ॥

सत्रहवाँ सर्ग

सत्सङ्ग-महिमा



रामजी। सत्सङ्गति से बढ़कर संसार में और कोई भी वस्तु श्रेष्ठ नहीं है। फिर आत्मपदकी प्राप्ति के लिये तो यह महान औषध है। आत्मपद प्राप्त करने के लिये जो लाभ साधु संगति से होता है, वह दान और तीर्थादिक साधनो से नहीं होता। सत्सङ्गति से अज्ञानी ज्ञान-

वान हो जाता है और ज्ञानस पाकर उसे अमरत्व प्राप्त हो जाता है। किन्तु जो अज्ञानी है, वह तो सर्वथा ही कालके गालका चर्चण होता रहता है। हे रामजी। सत्सङ्ग ऐसा साधन है कि वह मूर्खसे भी मूर्ख प्राणी के हृदयमें ज्ञानरूपी दीपक को जगाकर अज्ञानान्धकार को नष्ट कर देता है। फिर तो उस पुरुष को सारी सम्पदायें प्राप्त हो जाती हैं और उसे किसी भी भोग पदार्थ के पानेकी इच्छा नहीं रहती। क्योंकि संतजन स्वतः ही प्रकाशरूप हैं। उनकी संगति सर्व पदार्थों का प्रदान करने वाली और उस प्रकार के पुरुषार्थ से समस्त सुखों को एकत्र करने वाली है। किन्तु जो अपने पुरुषार्थ रूपी नेत्र से हीन हैं, उनको पदार्थों की प्राप्ति नहीं होती और वे सर्वदाही नरकाग्निमें दग्ध होते रहते हैं। हे रामजी। सत्सङ्गरूपी गङ्गा में स्नान करनेवाले को और किसी भी साधन की आवश्यकता नहीं है। मुमुक्षु के लिये तप और दानादिक साधन तो तभी तक आवश्यक हैं कि जब तक उसे संत-संगति की प्राप्ति नहीं हुई है। सत्संगति प्राप्त होनेपर तो निश्चय ही वह सब प्रकार से शीतल हो जाता है। इस

लिए त्रपताप से नित्यही दग्ध होनेवाले जिज्ञासुओं को चाहिए कि वे स्नान दान, तब तक करते ही रहे कि जब तक साधु संगति न प्राप्त होवे । किन्तु जहाँ कहीं भी कोई ऐसा योग हो जावे कि इन सारे बखेड़ों को त्याग कर साधु-संगति का लाभ उठावे । हे राम जी । सतसंगति से समस्त मोहान्धकार का नाश हो जाता है और ऐसे पुरुषको निश्चयही आत्मपद का दर्शन होता है । हे रामजी । जैसे अप्सराओं से लक्ष्मी उत्तम है, वैसेही सतसंग कर्ता सबसे उत्तम है । इसलिये अपने कल्याण के हेतु तुम्हें सतसङ्ग करना ही योग्य है ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, सुमुक्षु प्रकरण का सत्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥१७॥

अठारहवाँ सर्ग

षट्-प्रकर्ण-वर्णन

हे रामजी । यह मेरे वचन तुम्हारे लिये परमपावन है । यदि तुम इनको ग्रहण कर लोगे तो निश्चय ही परम पवित्र हो जाओगे । तुमको शुद्ध पात्र समझ कर ही, मैंने इतना कहा है । अन्यथा अपात्र को कौन कहता है ? हे रामजी । यह महारामायण शास्त्र आत्मबोध का परम कारण और मोक्षदाता है । इसमें परम पवित्र वाक्योंकी सिद्धता के साथ-साथ युक्ति युक्तार्थ उदाहरण सहित नाना प्रकारके ऐसे २ वाक्य कहे गये हैं कि जिनपर विचार करने से निश्चय ही प्राणी मुक्तात्मा हो जाता है । परन्तु यह कल्पवृक्ष रूपी शास्त्र उसीको प्राप्त होता है कि जिसके अनेक जन्मोंके पुण्य उदय होने हैं अन्यथा नीचको इसका श्रवण नहीं प्राप्त होता और उसकी वृत्ति इसके श्रवण में नहीं होती । जैसे धर्मात्मा राजा ही न्याय शास्त्र को सुनता है, अधर्मी नहीं, वैसे ही पुण्यवान ही इस पवित्र-शास्त्र को सुनते हैं, पापी नहीं । क्योंकि यह परम पवित्र शास्त्र मोक्ष का देने वाला है । जो निष्काम भाव वाले सन्तों के मुख से इस महा-

रामायण का श्रवण करते हैं और आदि से अन्त पर्यन्त एकत्र भाव से इसका विचार करते हैं, वे निश्चय ही परमपद के भागी होते हैं। हे रामजी ! इस मोक्षोपायक शास्त्र में कुल ३२ हजार श्लोक हैं और यह छः प्रकरणों में समाप्त हुआ है। पहला वैराग्य प्रकरण है, जो वैराग्य का परम कारण है। हे रामजी ! अज्ञानी का हृदय मरु-स्थल के समान शून्य रहता है और उसमें स्वप्न में भी वैराग्य रूपी वृक्ष नहीं उत्पन्न होता, परन्तु इस शास्त्ररूपी वर्षा के प्रभाव से उसके हृदय में भी वैराग्य रूपी वृक्ष उत्पन्न हो जाता है। इसमें एक हजार पाँच सौ श्लोक हैं। दूसरा मुमुक्षु-प्रकरण है। इसके वचन परम निर्मल हैं। इसमें भी एक हजार श्लोक हैं। तीसरा उत्पत्ति-प्रकरण है और इसमें पाँच हजार श्लोक हैं। इस प्रकरण में बहुत सुन्दर और ऐसी दृष्टान्त युक्त अनेक कथाएँ सन्निहित हैं कि जिनके श्रवण से जगत की सत्यता नष्ट होकर ज्ञानका उदय होना है। चौथा स्थिति प्रकरण है। इसमें तीन हजार श्लोक हैं। इसके विचार करने से जगत लय हो जाता है और इस प्रकार प्राणी के समस्त संकल्प क्षय हो जाते हैं। पाँचवाँ उपशम-प्रकरण है। इसमें पाँच हजार श्लोक हैं। इसके विचार से अहंममतादिक वासनाएँ लीन हो जाती हैं और जैसे स्वप्न से जागृत होने पर उसकी वासनाएँ नहीं रहती, वैसे ही इसका विचार करने से अहं-त्वं आदिक वासनाएँ नहीं रहती। इस प्रकार जब वासना नष्ट हो जाती है, तब मन का उपशम हो जाता है और उसे किसी अर्थ की इच्छा नहीं रहती। ऊपरसे देखने में तो वह सारी चेष्टायें किया करते हैं, पर भीतर से वह सर्वथा ही निर्लेप रहता है। हे रामजी ! छठा निर्वाण-प्रकरण है। इसमें परम निर्वाण वचन कहे गये हैं। इसके विचार करने से पुरुष के अहंकारादिक पिशाच एवं मोहादिक पदार्थों की समस्त वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं और फिर उसके लिये कुछ करना शेष नहीं रहता। शरीर रहते भी वह पुरुष शरीर रहित हो जाता है। जैसे सूर्य को अन्धकार नहीं

लगता वैसे ही, उसको जगत कुछ नहीं लगता और वह बहुत बड़े पद को प्राप्त होता है। अधिक क्या कहें, उस पद की महत्ता और श्रेष्ठता को ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी नहीं कह सकते।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, मुमुक्षु-प्रकरण अठारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १८ ॥

उन्नीसवाँ सर्ग

परम दृष्टान्त-वर्णन

हे रामजी! इस प्रकार यह योगवाशिष्ठ 'महा-रामायण' शास्त्र समस्त शास्त्रों का शिरमौर तथा आत्म-ज्ञान को देने वाला है। परन्तु वह आत्म-ज्ञान वर और शाप के समान नहीं होता। बिना विचार और बिना अभ्यास किए आत्मानन्द की प्राप्ति नहीं होती। जब विचार पूर्वक दृढ़ अभ्यास किया जाता है, तभी प्राप्त होता है। किन्तु इस शास्त्र का विचार और चिन्तन होना चाहिए। इसके अनुसार विचार करके जो साधन प्राप्त होंगे, उन पर आचरण करें और जो उस प्रकार निषेध की गई हो, उन समस्त वासनाओंका अन्त कर देवे, तभी आत्मानन्द का दर्शन होता है। अन्यथा जन्म-मरण का भय तो महान दुःखदायी है। क्षण-क्षण में इस मिथ्या जगत के मांय मिल कर कष्ट पाता रहता है। परन्तु जो इस शास्त्र का विचार करते रहते हैं, वे ज्ञानी हैं और उनको ममार के राग द्रोप कुछ भी नहीं वेधते। क्यों कि यह शास्त्र सर्वथा ही प्रकाश रूप है। इसका ममग्र विवेचन यह है कि इसके अनुसार आचरण करते हुए जगत महित उसके ममस्त पदार्थों का एक एक करके घटाता जावे अर्थात् समस्त पदार्थों को निःसार ममक कर उन्हें क्रम पूर्वक त्यागता जावे। परन्तु इसकी सारी क्रियायें अथवा इसके समस्त ज्ञान बिना अनुभवी गुरु के ज्ञात नहीं होते। सो, मैं तुम्हें उत्तम गुरु मिल गया हूँ। और जैसे मेरा ज्ञान पवित्र है, वैसे ही तुम भी इसके योग्य सप्तात्र हो। अस्तु मैं जो कुछ भी बतला चुका हूँ अथवा आगे बतलाऊँगा—तुम उन्हें सब ध्यान पूर्वक सुनो और फिर मनन करके वैसे ही ठीक २ आच-

रण करो । किन्तु हे रामजी ! तुम भी देखते जावो कि मैं कहाँ, क्या बोलता हूँ । जहाँ कोई शका हो, झूठ पूछ बैठना । बिना समझे किसी सिद्धान्त पर आचरण नहीं होता । यदि देखो कि मैं व्यर्थ बोल रहा हूँ तो निश्चय ही मेरी वार्ता न मानो । मैं ही, क्या, यदि ब्रह्मा भी उतर आवे और कहे कि यह मेरो अमुक अनुचित बातको मानो, तो न मानना और उसे वैसेही त्याग देना, जैसे सूखे तृणका लोग त्याग देते हैं । किन्तु यदि बालक के बचन भी युक्ति पूर्ण होवे तो उन्हें स्वीकार करना चाहिए । श्रेष्ठता से क्या होता है, यदि उसमें वहगुण न हो । हे रामजी ! अपने को जलसे प्रयोजन है न कि कुवे से । यदि कुवाँ अपने पिता का ही हो किन्तु उसमें खारा जल होवे तो उसे त्याग कर किसी निकटवर्ती ऐसे कुयेके जलको ग्रहण करना चाहिए कि जो मीठा हो । इस प्रकार ज्ञान प्रकरण में बड़े और छोटे का विचार नहीं है और युक्ति पूर्वक त्वनो को ही देखना चाहिए । हे रामजी ! मैं जो कुछ कह रहा हूँ, सब युक्ति पूर्वक है । अतः तुम एकाग्र भावसे इस पर ध्यान दो । पहले वैराग्य प्रकरणको विचारोगे तो वैराग्य उत्पन्न होगा और तब ससार के जितने भी भोग पदार्थ हैं, सबको बिरस जानने लगोगे । फिर तो तुम्हें किसी भी पदार्थ की इच्छा न होवेगी और तुम्हारी वृत्तियाँ बिल्कुल ही शान्त हो जावेगी । हे रामजी ! तब उस प्रकार से जैसे २ विचार दृढ़ होवेगा, वैसे ही वैसे तुम शान्त होते जाओगे । अतः जितने कुछ ससार के यत्न हैं, उन सब को त्याग कर तुम इस शास्त्र का बारबार विचार करो । इस प्रकार विचार करने से तुममें क्रम पूर्वक चैतन्य सत्ता उदय होवेगी और उस प्रकार से लोभ और मोहादिक विचारों का सर्वथा ही अन्त हो जावेगा । जैसे ज्यो-ज्यो सूर्य का उदय होता है, त्यो-त्यो अन्धकार नष्ट होता है, वैसे ही तुम्हारेसमस्त विकार नष्ट हो जावेगे । फिर तो तुम्हें उस पदकी प्राप्ति हो जावेगी कि जिमके पानेसे ससारके लोभ मिट जायेगे । जैसे शरत्काल में मेघ नष्ट हो जाता है, वैसे ही संसार के लोभ नष्ट

हो जाते हैं। हे रामजी ! यह ससार भ्रम तो आत्मा के ही प्रमाद से उत्पन्न हुआ है। यदि प्रमाद न होवे तो बिना किसी यत्न के ही यह शान्त हो जाता है। हे रामजी ! आत्मा को प्राप्त करने में कुछ यत्न नहीं है। ज्ञान होते ही वह प्राप्त हो जाता है। क्योंकि यह नियम है कि बोध रूप बोध को प्राप्त करता है। ज्ञान का स्वरूप है किमी वस्तु को जान लेना और उसमें स्थित होनेका नाम है यत्न। आत्मा शुद्ध तथा अद्वैत रूप है और जगत भ्रम मात्र है, इससे यह स्वप्नवत है। जैसे स्वप्न, आदि और अन्त में कुछ नहीं है, वैसे ही जाग्रत भी आदि और अन्तमें कुछ नहीं है। इससे जाग्रत और स्वप्न दोनों ही समान हैं। हे रामजी ! यह वार्ता तो बालक भी जानते हैं कि जिसकी आदि और अन्त में कोई सत्ता नहीं होती वह, स्वप्नवत है, तब इस प्रकार जिसका कोई आदि और अन्त न हो, उसको मध्यम भी कैसे जाना जाय। अस्तु यह जो आदि, अन्त और मध्यम भी स्थित हुआ जगत जान पड़ता है, इसकी कोई सत्ता नहीं है और यह सर्वथा ही भ्रम मात्र एवं अकारण है। और कार्य कारण सम्बन्धमें भासता है। इस प्रकार आत्म सत्ता अकारण है। जगत साकार है और आत्मा निराकार है। हे राम जी ! इस जगतका दृष्टान्त जो आत्म सम्बन्धमें देता हूँ उसका तुम एक अंश ग्रहण करना। जैसे स्वप्नकी सृष्टि होती है, उसका पूर्व अपर भाव आत्मतत्त्वमें मिलता है, क्योंकि वह अकारण है और उसमें कोई मध्यभाव का दृष्टान्त नहीं मिलता। क्योंकि वह अप्रमेय अकारण है, तब उसमें दृष्टान्त कैसे होवे। इससे अपने बीचके अर्थ दृष्टान्त का एक अंश ग्रहण करना। हे रामजी ! जो विचारवान् पुरुष हैं, जब वे गुरु और शास्त्रका उपदेश श्रवण करके सुख बोधके अर्थ दृष्टान्त का अंश ग्रहण करते हैं, तब उनको आत्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है। परन्तु जो अपने बोधके अर्थ दृष्टान्त का कोई अंश ग्रहण नहीं करते, और वाद करते हैं उनको आत्मतत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। इससे तुम दृष्टान्त का एक अंश अवश्य ग्रहण करना।

हे रामजी ! तब उससे जो वाक्यार्थ सिद्धि होवे सो बचन लेना और जिससे वाक्यार्थ सिद्ध न होवे, उसका त्याग करना । जो बचन अनुभव को प्रकट करे, उसका अंगीकार करना । जो पुरुष अपने बोधके निमित्त बचनको ग्रहण करता है, वही श्रेष्ठ है और जो वादके निमित्त ग्रहण करता है, सो चोगचचु है । वह अर्थ को सिद्ध नहीं करता । जो अभिमानको लेकर करता है, सो हस्तीकी नाई शिरपर माटी डारता है । उसका अर्थ सिद्ध नहीं होता और जो अपने बोधके निमित्त बचनको ग्रहण करता है, और विचारके लिये उसका अभ्यास करता है, वह आत्मानन्दको पाता है । हे रामजी ! आत्मपद पाने के निमित्त अवश्यमेव अभ्यास होना चाहिये । जब शम, विचार, संतोष, और संत समागमसे बोधकी प्राप्ति होवै, तब प्राणी परमपदको प्राप्त होता है । हे रामजी ! उसका दृष्टांत कहता हूँ । सो एक दृष्टांत लेकर कहता हूँ । सर्वमुख कहनेसे अखंडताका अभाव हो जाता है, और जो सर्वमुख दृष्टान्त है उसको मुख्य जानिये । आत्मा सत्यरूप और कार्य कारणते रहित, शुद्ध और चैतन्य है, उसके जनावने निमित्त कार्य कारण जगतका दृष्टान्त कहता हूँ, सो एक अश लेके कहता हूँ, और बुद्धिमान भी दृष्टान्तके एक अशको ग्रहण करते हैं । जो श्रेष्ठ हैं सो अपने बोधके निमित्त सारको ग्रहण करते हैं, और जिज्ञासु को भी यही चाहता है जो अपने बोधके निमित्त सारको ग्रहण करे, और वाद न करे । जैसे लुधार्थीको चावल पाक आय प्राप्त होवे, तब भोजन करनेका प्रयोजन है, और उसकी उत्पत्ति और स्थितिका वाद करना व्यर्थ है । हे रामजी ! वही वाक्य है, जो अनुभवको प्रकट करे, और जो अनुभवको प्रकट न करे उसका त्याग करना । जो स्त्रीका वाक्य होवे और आत्म अनुभवको प्रत्यक्ष करे, उसका ग्रहण करना, और परमगुरुका वेदवाक्य होवे और अनुभवको प्रकट न करे, उसका त्याग करना । जब तक विश्राम को न पावे तब तक विचार कर्तव्य है । विश्रामका नाम तुर्यपद है । तब विश्राम की प्राप्ति भई तब अक्षय

शांति होती है। जैसे मदराचल पर्वतके चोभतें क्षीर समुद्र शांत रहा है, वैसे ही शांति होती है। हे रामजी। तुर्यपद सयुक्त पुरुष है, उसका श्रुति स्मृति उक्त कर्मोंके करनेसे प्रयोजन सिद्ध कछु नहीं होता, और न करने में कछु प्रत्यवाय नहीं होता। चाहे सदेह होवे चाहे, विदेह होवे, गृहस्थ होवे अथवा विरक्त होवे, उमको कर्तव्य कछु नहीं, वह पुरुष समार समुद्रसे पार हुवा है। हे रामजी। उपमेयको उपमाकार जानता है, सो एरु अंशको ग्रहण करनेसे जानता है। तब बोधकी प्राप्ति नहीं होती, वह व्यर्थ वाद करता है। हे रामजी। शुद्ध स्वरूप आत्मसत्ता जिसके घटविषे विराजमान है, उसको त्याग कर यदि कोई विकल्प उठाता है, तो वह चोगचचु है और मूर्ख है। हे रामजी। जो अर्थ प्रत्यक्ष हे सो प्रमाण मानने योग्य है। अधर जो अनुमान, अर्थापत्ति, आदि प्रमाण सो तिसको सत्ता प्रत्यक्ष करि होती है। जैसे सब नदीका अधिष्ठान समुद्र है, वैसे सब प्रमाणोंका अधिष्ठान प्रत्यक्ष प्रमाण है। सो प्रत्यक्ष क्या है, श्रवण करो। हे रामजी। चक्षुरूपी ज्ञान समत सवेदन है, उस चक्षुसे जो विद्यमान होता है, उसका नाम प्रत्यक्ष प्रमाण है। उन प्रमाणहुको विषय करनेहारा जीव है, अपने वास्तव स्वरूप के अज्ञानकरि अनात्मारूपी दृश्य बना है, उम विषे अदृष्टि करके अभिमान हुआ है। अभिमान सब दृश्य है। इससे हेयोपादेय बुद्धि हुई है, और राग दोष करके बढा है और आपेको कर्ता मानकर वही मूर्ख हुवा भटकता है।

हे रामजी। जब विचार करके सवेदन अर्तमुखी होवे तब आत्मपद प्रत्यक्ष होता है, और निज भावको प्राप्त होता है, परिच्छिन्न भाव नहीं रहता, शुद्ध शक्तिको प्राप्त नहीं होता, जैसे स्वप्नते जागते स्वप्नका शरीर और दृश्य-भ्रम नष्ट हो जाता है, वैसे आत्माके प्रत्यक्ष होनेसे सब भ्रम मिट जाता है, और शुद्ध आत्मसत्ता भासती है। हे रामजी। यह जो दृश्य परु द्रष्टा है, सो मिथ्या है। जो द्रष्टा है, सो दृश्य होता है, और जो दृश्य है, सो द्रष्टा होता है। सो यह भ्रम मिथ्या आकाश-

रूप है। जैसे पवनमें स्पन्दशक्ति रहती है, तैसे आत्मा में संवेदन रहती है। जब संवेदन स्पन्दरूप होती है, तब दृश्यरूप होयके स्थित होती है। स्वप्न में अनुभव सत्ता दृश्यरूप होयके स्थित होती है। तैसे यह दृश्य है। तार्ते सब आत्मसत्ता है। ऐसे विचारसे आत्मपदको प्राप्त होवहु, और जो ऐमे विचार करके आत्मपदको प्राप्त होयसके तब अहकार जो, उल्लेख फुरता है, उसका अभाव करौ, पीछे जो शेष रहेगा सो शुद्धबोध आत्ममत्ता है। जब शुद्ध बोधक तुम प्राप्त होवोगे तब ऐसे चेष्टा पडी होवैगी, जैसे यंत्रकी पुतली मवेद विना चेष्टा करती है, वैसेही देह रूप पुतलीका मालिनहारा मनरूपी संवेदन है। उसके विना वह पडी रहैगा, परन्तु अहकृतिका अभाव हो जावैगा और इमसे चल करके उम पदके पावने का अभ्यास करो, कि जो नित्य शुद्ध और शान्त रूप है। और हे रामजी। दैवशब्दको त्याग करि अपना पुरुषार्थ करो। और आत्मपद को प्राप्त होहु। कोई पुरुषार्थमें सूखमाई सौं आत्मपद को प्राप्त होता है। परन्तु जो नीच पुरुषार्थ का आश्रय करता है, वह ससार समुद्र में डूब जाता है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, मुमुक्षु मकरण का उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ १९ ॥

बीसवाँ सर्ग

आत्मप्राप्ति-वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी। जब सत्संग करके यह पुरुष शुद्ध बुद्धि करै, तब आत्मपद पानेको समर्थ होवै। पहले सत्संग यह है कि जिसकी चेष्टा शास्त्रके अनुसार होवे, उसका संग करे, उसके गुणोंको हृदयमें धरै। बहुरि महात्रुरूपके शम, संतोष आदिकगुणहुका आश्रय करै। शम संतोषादिसे ज्ञान उपजता है। जैसे मेघसे अन्न उपजता है और अन्नसे जगत होता है, और जगतसे मेघ होता है, वैसे ही शम सन्तोष भी है, शमादिकगुण और आत्मज्ञान परस्पर होता है।

शमादिक गुणमे ज्ञान उपजता हे, और आत्मज्ञान कश्मिमादिक गुण आय स्थित होते हैं। जैसे बड़े तालमे मेघ पुष्ट होता है, वैसेही शमादिक गुण से आत्मज्ञान होता है। आत्मज्ञान मे शमादि गुण पुष्ट होते हैं। एमे विचार करके शम मतोपादिक गुणों का अभ्यासकर तब शीघ्रही आत्मतत्त्वको प्राप्त होवोगे। हे रामजी। ज्ञानवान पुरुष को शमादिक गुण स्वाभाविक आय प्राप्त होते हैं, और जिज्ञासुको अभ्यास करके प्राप्त होते हैं, और जैसे धान्यकी पालना स्त्री करती है, और वैसे ही शब्द करती हुई जैसे पत्नीको उडावती है, जब इस प्रकार पालना करती है, तब फलको पाती है, उससे पुष्ट होती है वैसे ही शम मतोपादिक के पालनकरि आत्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है।

हे रामजी। इस मोक्षोपायक शास्त्रको आदिमे लेकर अंतपर्यंत विचार तब भ्रान्ति निवृत्त होवे। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, सर्व पुरुषार्थ कर सिद्ध करते हैं। परन्तु यह मोक्ष उपायक शास्त्र आत्म-प्राप्तिका परम कारण है। इससे तुम इस मोक्ष उपायक शास्त्रका भली प्रकार अभ्यास करो।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, मुमुक्षु प्रकरण का बीमबौं सर्ग समाप्त ॥ २०

योगवाशिष्ठ भाषा मुमुक्षु-प्रकरण



ॐ

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा

तृतीय—

उत्पत्ति-प्रकरण

पहला सर्ग

बोध-हेतु-वर्णन



स मस्त विद्याओंके आचार्य परम पूज्य गुरु वशिष्ठजी बोले,—
हे रामजी ! ब्रह्म कहिए परमेश्वर, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी,
परमात्मा व आदि पुरुष को और ब्रह्मवेत्ता अर्थात् ब्रह्म
को जानने वाले—ये दोनों शब्द केवल ब्रह्मज्ञान के सहारे ही जाने
जा सकते हैं । इममें ग्रहं, त्व, इदं, सह इत्यादिक जो शब्द कहे जाते
हैं, वे सब आत्मा के सहारेही प्रतीत होते हैं । जिस प्रकार स्वप्न
में अनुभवतिक शब्द दृष्टिगोचर होते हैं, उमी प्रकार इस जगत को
भी जानना चाहिये । मनुष्य के हृदय में जो यह शक्ति उत्पन्न होती
है कि, ससार क्या वस्तु है और यह कैसे उत्पन्न हुआ है और यह
किसका है—आदि आदि समस्त भावनायें चोग-चञ्चु अर्थात् पत्ती के
ठोर की नाईं पोली हैं । इस कारण हेराचव । यह समस्त संसार
केवल उस ब्रह्म की आकृति मात्र है ।

हे रामजी ! इसके प्रथम मैने तुमको मुमुक्षु प्रकरण सुनाया है,
किन्तु अब उत्पत्ति प्रकरण सुना रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो । हे रामजी !
संसारकी प्रत्येक वस्तुयें परिवर्तनशील है । जिसकी उन्नति है, उसका
पतन है और जिसकी उन्नति नहीं उसका पतन कैसा । तात्पर्य यह कि
उसीका पतन होता है जिसकी उत्पत्ति होती है और वही बन्धन का
रूप भी है । उसीको च रूप भी कहना चाहिए और वही उत्तम तथा
वही निकृष्ट भी उत्पन्न हुई हे वह वेगी ।

क्योंकि उत्पन्न होना ही नाश का कारण है। जब वस्तु उत्पन्न ही न होगी तब वह नाश कैसे होगी। अतएव यह स्पष्ट जानो कि, उत्पन्न हुई प्रत्येक वस्तुयें क्रम-पूर्वक अवश्य नष्टता को प्राप्त होंगी। हे राम जी ! संसार में चराचर जितनी कुछ वस्तुयें दृष्टिगोचर होती हैं, सब आकाशवत् है। देखी जानेवाली वस्तुओं से देखनेवाले का जो कुछ सम्बन्ध है, वही बन्धन-स्वरूप है और जो इससे मुक्त हो वही मोक्षरूप है। पर वह बिना यत् किए, मुक्त नहीं हो सकता। हे राम जी ! इससे छुटकारा पाने की मैं एक सुन्दर युक्ति तुम्हें बतला रहा हूँ। यह शरीर रूपी संसार चिन्मात्ररूप है। इसमें कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है। परन्तु जो उत्पन्न हुआ है, वह निद्रावस्था में स्वप्नवत् के समान है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था के समय निद्रित रहना आवश्यक है, उसी प्रकार संसार का प्रलय होना भी आवश्यक है। किन्तु प्रलय के पश्चात् जो वस्तु शेष रहजाती है, वही वस्तु व्यवहार में लायी जाती है। जैसे—नित्य, सत्य, ब्रह्म और सच्चिदानन्द इत्यादिक यह जितने नाम हैं, सब अपने-अपने स्वरूप महिन हैं। इन सबों में अपना २ रूपधारण करने की शक्ति है। इसी से अर्थात् चेतनाशक्ति रहने से ही वे शब्द सजीव माने जाते हैं। सजीव के नाते ही उन शब्दों का पृथक २ अर्थ भी होता है। हे राम जी ! यह शब्द जो पृथक पृथक अर्थों को ग्रहण करनेवाले हैं, वही जीव हैं। और चैतन्यता विषयक जो स्पंदता (सकल्प विकल्प) है, उसी के नाते वह मन होकर स्थित हुआ है। संसरण अर्थात् सम्बन्ध से ही देश, काल, नदियाँ, पर्वत, स्थावर व जगमरूपी संसार उत्पन्न हुआ है। जिस प्रकार निद्रावस्था में रहने पर ही स्वप्न दिखाई पड़ते हैं, उसी प्रकार सकल्प विकल्प के होने से ही जगत प्रतीत होता है। उसी को कुछ लोग अविद्या, कुछ लोग जगत और कुछ लोग माया करके सम्बोधन करते हैं और उसी का कोई-कोई दृश्य भी कहते हैं। परन्तु वह अन्य कोई वस्तु नहीं है, बल्कि वही सत्य-ब्रह्म है। जिस

प्रकार कचन (सोना) से आभूषणों की रचना होती है, पर कचन कोई अन्य वस्तु नहीं किन्तु वह उसी का ही वास्तविक रूप है, इसी भाँति जगत् और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर तो तब होवे, जब संसार कोई अन्य वस्तु होकर उत्पन्न हुआ हो। जब संसार उत्पन्न ही नहीं हुआ, तब उसमें अन्तर कैसे प्रतीत होगा ? पर जो अन्तर प्रतीत होता है, वह केवल मृगतृष्णा के जलवत् है। जिस भाँति तृपित मृगको बालुका की चट्टाने जलकी तरङ्ग मालूम पड़ती हैं और सूर्य की किरण भी जल के सदृश ज्ञात होती है, और वहाँ नाम मात्र को भी जल नहीं रहता, उसी प्रकार प्राणी को भी आत्मा विषयक यह संसार प्रतीत होता है। क्योंकि आत्मा के प्रत्येक अणु में सृष्टि उत्पन्न करने की अमोघ शक्ति वर्तमान है। वह शक्ति भी किस प्रकार की है कि, केवल प्रतिबिम्बस्वरूप है। वास्तव में वह उत्पन्न हुई वस्तु नहीं है। वह सर्वादा अपने अद्वैत (निराकार) शक्ति से स्वतः स्थित है। फिर उसका जन्म, मरण, बंध और मोक्ष कैसे हो सकता है ? अस्तु, जितनी कुछ कल्पनायें बंध और मोक्ष इत्यादिक रूप में ज्ञात होता हैं, वे निश्चय ही कुछ नहीं हैं। वह तो आत्मा के प्रति केवल अज्ञान मात्र है। हे राघव ! संसार में कोई वस्तु यथार्थ होकर नहीं उत्पन्न हुई। प्राणी को निज कल्पना ही जगत् रूप हाँकर प्रकट होती है। और उसी को प्राणी आलस्यवश सत्यमानता है। हाय ! उससे छुटकारा पाना अत्यन्त कठिन है। हे राम जी ! अनियत और नियत शब्द भी जो कहा जाता है, वह बहुत ही भावपूर्ण है। ऐसे ही शब्दों से तो संसार पृथक् नहीं होता है। हे राम जी ! अर्थ सहित वचनों के बिना दृश्य-भ्रम से छुटकार नहीं मिलता अर्थात् निवृत्ति नहीं होती। किन्तु उस पर माँ जो प्राणी तर्क करने हैं और उसके द्वारा तपश्चर्या, तीर्थाटन, दानादि, स्नान और ध्यानादि करके जगत् के भ्रम दूर करना चाहते हैं वे बड़े ही मूर्ख हैं। ऐसा करने से तो

गा। क्योंकि वह जन्म

आखिर वहाँ

भी तो उसे देश, काल, क्रिया और भाति क सृष्टि ही दृष्टिगोचर होगी । फिर वह ससारसे निवृत्त कैसे होगा ? यदि मान लिया जाय कि, प्राणी अपने तर्क द्वारा ससार से उपराम होकर समाधि द्वारा निवृत्ति चाहे तो भी वह कैसे होगी ? क्योंकि समाधि लगाने पर भी उसे बहुत काल पर्यन्त एक न एक बार समाधि से उतरना होगा, उस समय ससार के शब्द और अर्थ फिर उसको दीखने लगेंगे । और जब यह सब वस्तुयें दीखने ही लगो, तब विचार करने की बात है कि उसे समाधिका अक्षय सुख कहाँ प्राप्त हुआ ? सुख तो तभी तक रहा जब तक कि वह समाधिस्त होकर बठा रहा । इससे हम कहते हैं कि, उपायों द्वारा ससार से निवृत्ति नहीं हो सकती । जिस प्रकार कमल-दण्ड में बीज की शक्ति बतमान रहती है और जब तक उस दण्ड को तोड़ कर पृथक-पृथक न कर दिया जाय, तब तक वह फिर-फिर उत्पन्न होता ही रहता है और जो उसके पत्तों को तोड़ दिया जाय तो भी उसके बीज की शक्ति नष्ट नहीं होती, उनी प्रकार तपश्चर्या और दानादिक द्वारा संसारसे निवृत्ति तब तक नहीं होती जब तक कि अज्ञानरूपी बीज का नाश नहीं हो जाता । हाँ, अज्ञानता नष्ट हो जाती है तो निश्चयी ससार रूपी वृक्ष का अभाव हो जाता है । इस कारण जगत् की निवृत्ति के लिए उपाय करना कसा है, मानों वृक्ष के नाश के लिए पत्तों का तोड़ना । अस्तु, यह निश्चय हो चुका कि उपायों द्वारा अक्षयपद की प्राप्ति नहीं होती और अक्षय समाधि भी नहीं प्राप्त होती । हे राघव ! मैं सर्वत्र देखता हूँ तो मुझे पापाणवत शिला की नाईं कोई भी समाधिस्त हुआ दिखलाई नहीं देता । यदि कोई ऐमा हो भी तो उसको ससार-सत्ता से निवृत्ति नहीं हो सकती । क्योंकि वास्तव में उसके अज्ञान का नाश तो हुआ नहीं । फिर उसकी निवृत्ति कैसे ? समाधि तो एक ऐसी वस्तु है कि जैसे जाग्रत अवस्था पर स्वप्न का होना प्रतीत होता है । क्योंकि ज्ञानशून्य वाले विचारों के निद्रावस्था के पश्चात् जाग्रत अवस्था अवश्य आती है । उसी भाँति

अज्ञान रूपी वासना सहित रहने पर प्राणी समाधि लेने पर भी उससे उतर पड़ता है अथवा जाग जाता है और तब वासना उसको समाधि से खींच लेती है। इस कारण हे रामजी ! तपश्चर्या और समाधि द्वारा जागत-भ्रम से निवृत्ति नहीं होती, जिस प्रकार केवल कौजी के पान करनेसे चुंधा की तृप्ति नहीं होती, उसी प्रकार तपश्चर्या और समाधि द्वारा चित्त एकाग्रतो अग्रश्य होता है किन्तु ससार से निवृत्ति नहीं होती। हाँ, यह अवश्य होता है कि, जब तक चित्त समाधि संयुक्त रहता है तब तक सुख होता है, पर ज्योंही समाधि से उठा कि फिर नाना प्रकार के शब्द और अर्थों सहित संसार प्रकट होने लगता है। हे रामचन्द्र ! अज्ञानता के ही वश रहने से संसार की यथार्थता प्रकट होती है और विचार करने से निवृत्ति हो जाती है। जिस प्रकार बालकको अपनी परछाईं मे बैतालका संदेह रहता है, उसी प्रकार अविचारियों के लिये यह जगत प्रतीत होता है। अतः विचारने से ही निवृत्ति हो सकती है अन्यथा नहीं। हे रामजी ! विचार पूर्वक हो जाय तो संसार कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। यह विना रूप का है यदि इसमे रूप सहित कुछ उत्पन्न हुआ होता तो इससे निवृत्ति हो जाती। अतः यह विचार द्वारा ही निवृत्ति होता है। इससे यह कि, यह रचनापूर्ण जगत् कुछ बनावटी नहीं उत्पन्न हुआ। सत्य है, उसकी निवृत्ति नहीं होती। पर जो असत्य है वह मिथ्या है। इस कारण हे रामजी ! आत्मा सत्यरूप है। असत्यरूप नहीं होता। पर असत्यरूप जो जगत है, वह ही नहीं होता। यह जगत आत्मा विषयक केवल प्रतिबिम्ब है और यह आरम्भतः और परिणामतः उत्पन्न नहीं हुआ है। अतः अज्ञान अणु वर्तमान है वहाँ सृष्टि केना भी है। वह तो स्वतः अभ्यासरूप है। विषय मे यह अनन्त है। विम्बित भी तभी है।

नहीं तो जहाँ आत्मा है वहाँ दूसरा प्रतिबिम्ब नहीं होता। क्योंकि वह तो स्वतः भापता है। आत्म-सत्ता का इतना अत्यन्त प्रभाव है कि वह एक होने पर भी चैतन्यता धारण करके द्वैत हो कर प्रकट होता है। पर यह कुछ बनावटी नहीं उत्पन्न है। जिस प्रकार पुष्प में सुगन्धि वर्तमान है और तिलां में तेल विद्यमान है और अग्नि में उष्णता विद्यमान है और जिम प्रकार मनोराज्य की सृष्टि है, उसी प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में यह जगत् प्रतीत होता है। अस्तु जगत् का सम्बन्ध आत्मासे पृथक् नहीं है।

— श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण ३१ पटला सर्ग समाप्त ॥ १० ॥

दूसरा सर्ग ।

बोधहेतु-वर्णन ।



व शिष्ठ जी बोले, हे राम जी। अब मैं तुम्हें एक अत्यन्त सुन्दर आकाशज आख्यान सुना रहा हूँ, इसे श्रवण का भूषण और ज्ञान का कारण समझ कर ध्यान पूर्वक सुनो। यह मृत्युदेव और ब्रह्मा जी का सम्वाद है। एक आकाशज नाम के ब्राह्मण बड़े ही सत्यनिष्ठ और धर्माचरण से उत्पन्न होकर अपने ब्राह्मणोचित कर्मों को करते हुए सदैव निज आत्मामें सन्तुष्ट (स्थित) रहा करते थे। उनमें प्रजापालन आदिक गुण विशेष रूपसे विद्यमान थे। इससे वे परम चिरायु होकर रहते थे। परन्तु उनके इस दृढ़ आयुर्वल को जानकर एक समय मृत्युदेवके मनमें बड़ी ईर्ष्या उत्पन्न हुई। उन्होंने सोचा कि, मैं समस्त सत्सत्त्वके प्राणियों का तो भक्षण करता हूँ, पर यह जो ब्राह्मण उत्पन्न हुआ है उसको मारने के लिए मैं सफल नहीं होता, इसका कारण क्या है, क्योंकि जब मैं इसको मारने के लिए उठता हूँ तब मेरी शक्ति का हास ऐसे ही हो जाता है कि जैसे कठार पापाण पर लगने से खड्ग की धार कुण्ठित हो जाती है। हे राघव ! इस भाँति सोच विचार कर एक दिन मृत्युदेव ब्राह्मण को भक्षण करने

के लिए उठा। तब जिस प्रकार उत्तम जन अपने नित्य कर्मों का परित्याग नहीं करते, उसी प्रकार मृत्युदेव ने भी ब्राह्मण को मारने में आलस्य न किया और अपना दृढ़ कर्म विचार कर चला। फिर तो जिस प्रकार प्रलयकाल की अग्नि संसार को भस्म करने के लिए अपनी ज्वाजल्य लपेटों द्वारा अट्टहास करके उड़ती है, उसी प्रकार मृत्युदेव ने भी ब्राह्मणको पकड़नेके लिए दूसरे गृहमें प्रवेश किया। परन्तु गृह में पहुँचने पर वह ब्राह्मणके तेजके कारण उसे पकड़ न सका। फिर तो वह अत्यन्त लज्जित होकर दौड़ना हुआ धर्मराज के पास गया और बोला, हे भगवन् ! ममार में जितने जीव उत्पन्न होते हैं, मैं सबको भक्षण करना हूँ पर क्या कारण है कि इस ब्राह्मणको नहीं मार सकना ? यमने उत्तर दिया—हे मृत्यु ! तू किसी को नहीं मारता, बल्कि प्राणी अपने-अपने कर्मानुसारही मृत्युही को प्राप्त होते हैं ! तात्पर्य यह कि मरते तो वे हैं कि जो कर्म करते हैं। परन्तु जो कर्मही नहीं करते उनका मरना कैसा ? तब तुम उनको मारनेमें किम प्रकार समर्थ हो सकोगे ? यदि तुम उम ब्राह्मणको मारनाही चाहते हो तो जावो, पहले उमके कर्म की खोज करो। जब कर्म मिलेगा, तब तुम उसको मारनेमें समर्थवान् होवोगे, अन्यथा नहीं। इस प्रकार यमकी गूढ़वाणी सुनकर मृत्यु लज्जित होकर वहाँ से चला और ब्राह्मण के शुभाशुभ कर्मोंकी खोज करने लगा। हे रामजी ! कर्म का नाम है वासना। अतः मृत्युदेव वासना के निःकट जाकर ब्राह्मण का कर्म खोजने लगा। उसने ताल, समुद्र, वाटिका, द्वीप, द्वीपान्तर इत्यादिक दशों दिशाओं में खोज डाला। परन्तु ब्राह्मण के कर्मों की मूर्ति उसे कहीं न मिली। हे रामजी ! मृत्यु बड़ा बलवान् होने पर भी ब्राह्मण के कर्मों को न पा सका। जब खोजते-खोजते वह विवश हो गया, तब पुनः लज्जित होकर धर्मराज के पास गया। धर्मराज कैसे हैं कि, सम्पूर्ण संशयों का नाश करने वाले हैं और सर्वदा ज्ञान-स्वरूप हैं। उनसे मृत्यु ने कहा, हे संशय निवारण ! मैंने उम ब्राह्मण के कर्मों को बहुत खोजा पर कहीं न मिला।

* उत्पत्ति-प्रकरण *

जितने भी देह धारण करनेवाले हैं, सभी कर्म सहित हैं। पर इस ब्राह्मण का तो कोई कर्म ही नहीं मिलता। हे भगवन् ! इसका क्या कारण है ? यमने कहा, हे मृत्यु ! यह ब्राह्मण शुद्ध चिदाकाशसे उत्पन्न हुआ है। वहाँ कोई कारण नहीं रहता। वहाँ शुद्ध चिदानन्द परमात्मा अपने आप वर्तमान रहता है। इसलिए हे मृत्यु ! चिदाकाशसे भिन्न होनेके कारण यह वही है। इसका कुछ कर्म नहीं है। इमने कोई कर्म नहीं किया है। इमका स्वरूप शुद्ध चिदाकाश है। यह अपने आप निज स्वरूपसे उत्पन्न हुआ है। इसीसे इसका नाम स्वयंभू है। और यह सदा अद्वैत (निराकार) स्वरूप है।

मृत्यु ने पूछा,—हे भगवन् ! यदि यह निराकार है तो साकार-स्वरूपमें क्यों दृष्टिगोचर होता है ? यमने उत्तर दिया, यह सर्वदाही निराकार तो है पर चैतन्य-स्वरूप है और इमका कोई आकार नहीं है। इसमें अहभाव कुछ नहीं है। इसका नाश नहीं हो सकता। यह, 'मै-तुम' इत्यादिक वस्तु कुछ नहीं जानना। इसके निकट जगत् का निश्चय कुछ नहीं है। यह चेतना रहित और चिन्मात्र स्वरूप है। हे मृत्यु ! नाश तो उमका होता है कि जिसके मन में पदार्थों की सद्भावना विद्यमान रहती है। पर इसके हृदयमें तो ससारकी यथार्थता ही नहीं है। फिर इसका नाश कैसे होगा ? हे मृत्यु ! जजीरके मद्दरा प्राणी कैसा भी बलशाली क्यों न हो, पर कोई आकाश को नहीं बाँध सकता। इसी भाँति यह ब्राह्मण आकाश स्वरूप है। इसका नाश न होगा। तुम इसके नाशका विचार परित्याग कर दो। और जाकर दूसरे प्राणियों का नाश करो, पर इसको मारने का विचार भी न करो। क्योंकि यह तमसे न मरेगा। वशिष्ठ जी ने कहा, हे रामजी ! ऐसा सुनकर मृत्यु आश्चर्यित होकर अपने गृह को चला आया। रामचन्द्र जी ने कहा,— हे गुरुदेव ! यह व्याख्यान तो आपने हमारे प्रपितामह का कहा है। वशिष्ठ जी ने उत्तर दिया,— हे रामजी ! यह तुम्हारे प्रपितामह की वार्ता तो अवश्य है, परन्तु

यह मृत्यु और यमदेव का सम्वाद है। इस भाँति जब बहुत काल व्यतीत होगया और प्रलय का समय आया, तब मृत्यु ब्रह्मा जी को भक्षण करने गया। हे रामजी ! जिस प्रकार एकवार किसीका किया हुआ कर्म सफल न हुआ हो तो वह दूसरीवार उसे पूर्ण करने का उद्योग करे, उसी प्रकार मृत्यु भी अपना मनोरथ सफल करने को ब्रह्माजीके पास गया। तब उसे वहाँ पहुँचा देखकर धर्मराजने कहा, हे मृत्यु ! तू ब्रह्माजी को अपने आधीन करने में सफल न होगा। इस लिये व्यर्थका प्रयत्न न कर। क्योंकि ब्रह्माजी का शरीर आकाशरूप और पञ्चभूतादिक गुणों से परे है। इनके शरीरका आदि अन्त कुछ नहीं है। यह-ग्रह, तम आदिक भावनाओं से पृथक् और चिन्मात्र स्वरूपहैं। इनको मारने में तू सफलमनोरथ नहीं होसकता। जिस प्रकार शिल्पियों के हृदयमें चित्रकी मूर्ति तो विद्यमान रहती है, पर वास्तवमें कोई मूर्ति बैठी नहीं रहती, उसी प्रकार यह भी हैं। यह साक्षात् स्वरूप हैं। इन्हीं की प्रतिमा हमारे और तुम्हारे मनमें विद्यमान है, फिर तुम इनको मारने में कैसे समर्थ हो सकतेहो ? हे मृत्यु ! ब्रह्माजी आकाशरूपहैं और द्वैत कल्पनाओंसे सर्वथाही रहित हैं। अस्तु, तुम इनको मारने की कल्पना को त्यागकर अन्य देह धारियों को जाकर मारो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का दूसरा सर्ग समाप्त ॥ २ ॥

तीसरा सर्ग

बोध हेतु, वणन



वशिष्ठ जी के ऐसा कहने पर रामजी बोले,—हे भगवन् ! जब ब्रह्मा जी का शरीर पृथ्वी आदि तत्वों से रहित और संकल्पमात्र है, तब क्या इसका कारण स्मृति-संस्कार नहीं हो सकता ? हमको भी स्मृति है और अन्य जीवों को भी स्मृति है, तब वैसे ही स्मृति ब्रह्मा जी को भी होगी ?

वशिष्ठ जी ने कहा,—हे रामजी ! जिसका शरीर पहलेसे ही तो संस्कार-स्मृति भी उसी का कारण होती है, अन्यथा नहीं। जो दिख;

लाई नहीं पड़ना, उसकी स्मृति, सस्कार से भी नहीं होती। ब्रह्माजी आदि अन्त से रहित हैं, इसलिये उनकी स्मृति कारण महिन नहीं हो सकती। क्योंकि यह अपने आप से उत्पन्न हुये हैं और इसीसे इनका नाम स्वयम्भू पडा है। अतः इनका कारण कोई नहीं है और इसी कारण इनका शरीर सकलरूप और निराकार है।

रामजी ने कहा—हे मुनिवर ! संसार में जितने जीवधारी हैं, सब दो शरीर रखते हैं। एक अन्तवाहक और दूसरा आधिभौतिक। परन्तु ब्रह्मा जी को एक ही अन्तवाहक शरीर है, इसका क्या कारण है ? कृपाकर यह मुझे यथार्थरूप से समझाइये।

वशिष्ठ जी बोले,—हे राम जी ! अन्य सभी प्रकार के जीव कारणरूप हैं, इस कारण उनके दो शरीर हैं, परन्तु ब्रह्मा जी अकारण हैं, इसलिये उनके एक ही शरीर है। हे रामजी ! ब्रह्मा जी अपने आप उत्पन्न हुये हैं और आदिम कालमें इनका प्रादुर्भाव हुआ है, जिससे इनका शरीर अन्तवाहक है। यह सर्वदा अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित रहते हैं। इससे इनका शरीर अन्तवाहक है और यह दृश्यों को अपना ही सकल जानते हैं। यह तो हुई ब्रह्मा जी के सम्बन्ध की व्याख्या। अब आधिभौतिक शरीर की व्याख्या सुनो। जिनको दृश्योंमें दृढ़ विश्वास है, उनको अधिभूत कहते हैं। जिस प्रकार जल की जड़ता वश जल का बरफ होता है, उसी प्रकार दृश्य की दृढ़ता से आधिभौतिक है। हे राम जी ! यह आधिभौतिकता कुछ है नहीं, इसका आत्मरुत्ता में भाषित होना केवल एक भ्रम है। वास्तव में समस्त जीवों का शरीर अन्तवाहक है किन्तु अज्ञानी को आधिभौतिकता के दृढ़ होने से अन्तवाहकता का लोप होगया है, जिस कारण उसे ऐसाही प्रतीत होता है। किन्तु ज्ञानी पुरुष अन्तवाहकरूप हैं, इससे उनके लिये यह सारा जगत आकाशरूप रहता है। जैसे गन्धर्व नगर और स्वप्नपुर की रचना होती है, वैसे ही इस सारे विश्व का मन ने रचा है और इसका कोई वास्तविक रूप

नहीं हैं। हे राम जी ! जब तक मन का सद्भाव है, तब तक समस्त दृश्यों का बीज केवल मनही कहा जायगा। अतः जगत् का बीज मन है और मन ने ही समस्त जगत की उत्पत्ति की है। जब मन उपराम होता है, तब दृश्यों का अभाव हो जाता है। और जब तक मन उपराम नहीं होगा, तब तक दृश्य-भ्रम कदापि निवृत्त नहीं होगा और जब तक दृश्य-निवृत्ति नहीं होती, तब तक शुद्ध ज्ञान नहीं होता। शुद्ध ज्ञान के बिना आत्मानन्द की प्राप्ति नहीं होती।

श्री योगवाशिष्ठभाषा उत्पत्ति प्रकरण का तीसरा सर्ग समाप्त ॥ ३ ॥

चौथा सर्ग



वास्मीकि जी बोले कि, इस भौति कह कर मुनिशादूल वशिष्ठजी चुप होगए और उनकी अमृतमय वाणी सुनकर समस्त श्रोता-मण्डली भी गद्गद होगई। फिर जितने सन्त, महात्मा एवं निकटमें निवास करने वाले श्रोता तथा पत्नी आदि थे, सब अपने २ स्थान को प्रस्थानित हुए और यथा-स्थान पहुँचकर सब लोग वशिष्ठ जी को वाणी पर स्थित चित्त हो विचार करने लगे। इतने में मध्याह्न काल का समय होने पर टहलुओं ने आकर रामजी से कहा,— हे राजन् ! अब आपके स्नान-ध्यान का समय हो गया, उठिए, और नित्य नैमित्तिक कर्मों को कीजिये। तब वशिष्ठ जी ने कहा, हे रामजी ! अब जो कुछ कहना था, कह चुके। शेष फिर कहेंगे। रामजी ने कहा, बहुत अच्छा। तदन्तर वहाँ से उठकर रामजी ने स्नान किया और अर्घपाद्य नेवेद्य लेकर वशिष्ठ जी का पूजन किया। फिर वहाँ जितने महर्षि आदि उपस्थित थे उनकी भी यथायोग्य पूजा की। जब सबका पूजन होगया तब वशिष्ठ जी अपने स्थान को जानेके लिये कथा—आसन से उठे और परस्पर प्रणामयाशीर्वाद के पश्चात् चल दिए। उनके चलते ही वहाँ जो शेष मुनि व ब्रह्मर्षि, नक्षत्रादि तथा भूतल एवं आकाश व पाताल के निवासी थे, वे भी अपने २

स्थान को चले गये। सूर्य भगवान भी दिन गत की कल्पना का परित्याग करके अपने स्थान में स्थिर हुए। उस समय त्रयताप को हरने वाली सुन्दर मन्द, सुगन्ध वायु चलने लगी। उस वायु का चलना देखकर ऐसा प्रतीत हुआ कि मानों वायुदेवभक्तानार्थ होना चाहते हैं। पश्चात् सन्ध्याकाल निकट होते ही सूर्यभगवान अस्ताचल को गए और श्याम रात्रि का आगमन जानकर आकाशमण्डल में तारागण प्रकट हुए। पुन रजनी की श्यामता को हरण करनेवाला अमृतरूपो चन्द्रमा अपने सुन्दर किरणों द्वारा पृथ्वी को सुशोभित करते हुए प्रकट हुआ। फिर तो अधकार का नाश होगया और राजा (रामचन्द्र) का द्वार भी चन्द्रमा की किरणों में शीतल होगया। उस समय ऐसा ज्ञात हुआ कि उनकी तप्तता मिट गई। पश्चात् रात्रिका समय निवृत्त हुआ और सूर्यदेव अपनी अरुण लालिमा सहित किरणों में नभ मण्डलमें उदय हुए। फिर तो सूर्य भगवान के उदय होते ही रात्रि का अधकार ऐसे ही नष्ट हो गया, जैसे सन्तजनों की वाणी द्वारा अज्ञानियों का अज्ञान नष्ट हो जाता है। फिर तो जगज्जाल की क्रियायें उत्पन्न हुईं और पुन. निज नैमित्तिक कर्मों से निवृत्त कर श्रोतामण्डली कथा-स्थल पर क्रमशः पक्वित होने लगी। आकाश, पाताल और मन्व्यलोक के निवामी परस्पर प्रणा माशीर्वाद करते हुये जहाँ तहाँ आबैठे। जब समस्त श्रोतामण्डली यथा-स्थान बैठ गयी, तब वशिष्ठ जी के उपस्थित होनेपर राजा रामचन्द्र बोले,—हे भगवन ! अब आप कृपा पूर्वक मुझे यह बतलाइये कि मसार रूपी दुखों की मजरी को उत्पन्न करनेवाला यह मन क्या वस्तु है ? हे मुने ! उस मन का रूप क्या है ? राम जी का ऐसा गूढ प्रश्न सुनकर वशिष्ठ जी बोले,—हे राम जी ! मनका रूप कुछ दृष्टिगत नहीं होता। मन का केवल नामही नाम है। परन्तु वास्तव में यह कुछ है- नहीं। यह आकाश की नाईं शून्य है। जिम प्रकार आकाश शून्यरूप है, उसी प्रकार मन भी शून्यरूप है।

हे रामजी ! आत्माविषयक मन नहीं उत्पन्न हुआ । मन का सम्बन्ध आत्मासे उसी प्रकार का है कि जिस प्रकार सूर्यसे प्रभा का और जल से तरंग का तथा सुवर्ण से भूषणका सम्बन्ध रहता है । जिस प्रकार मृगतृष्णा का जल है, जिस प्रकार अकाश के लिए दूसरा चन्द्रमा हो, पर वास्तव मे वह कुछ है नहीं, इसी प्रकार आत्मा के विषय में मन की कोई वास्तविकता नहीं प्रकट होती । हे राघव ! वास्तव मे यह बड़ा आश्चर्य है कि कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हुई और आकाशवत् घट-घट में वर्तमान भी है एवम् यही समस्त जगत् मन होकर भी प्रकट है । हे रामजी ! आत्मा शुद्ध और निराकार है । उसी के सम्बन्ध में दूसरे रूपसे जो जगत् की यथार्थता प्रकट हो रही है, वही मन है । इसमें जो संकल्प विकल्प होता है, उसी को मनका रूप जानो । जिस-जिस स्थान मे संकल्प विकल्प हुआ, वही-वही मन है । जिस प्रकार जहाँ-जहाँ तरंग प्रकट होते हैं, वहाँ वहाँ ही जल होता है, उसी प्रकार जहाँ-जहाँ संकल्प-विकल्प होता है, वहाँ वहाँ मन होता है । इसके अतिरिक्त मनके और भी कई नाम हैं । पर उन नामों को ज्ञानी गुरु ही जानते हैं । श्रुति, अविद्या, मलिनता, और तम आदि भी मनके ही नाम हैं । हे रघुकुल शिरोमणि रामजी ! यह जितना कुछ जगज्जाल ज्ञात होता है, सबकी मनसे ही उत्पत्ति हुई है और यह सभी दृश्य मन का ही रूप है । क्योंकि मन द्वारा ही इनकी रचना हुई है । पर यह परमार्थ मे कुछ नहीं है । हे रामजी ! यह मनरूप जो शरीर है, उसका नाम अन्तर्वाहक शरीर है । वह संकल्प रूप है और समस्त जीवों का आदि वपु है । उसमे संकल्प विषयक जो प्रमाद है उसके द्वारा ही आधिभौतिक प्रकट होता है । इसीसे उन्मत्त हुआ है । हे रामजी ! यह समस्त संसार संकल्पस्वरूप है । और स्वरूप की उन्मत्तता से ही पिडाकार भासता है । जिस प्रकार स्वप्न शरीर का-आकार अकाशवत् है और उसमे पृथ्वी आदि का-भाव नहीं है किन्तु अज्ञानवश उसमें आधिभौतिकता ज्ञात होती है, वह मन

निर्बुद्धि प्राणियों को जगत् मालम होता है। पर जगत् की कोई वास्तविकता नहीं है। हे रामजी ! न तो जगत् ही कोई वस्तु होकर उत्पन्न हुआ और न मनही वैसे उत्पन्न हुआ; बल्कि दोनोंही स्वरूप रहित हैं, जिस प्रकार आकाश में चन्द्रमा कोई दूसरी वस्तु प्रतीत होता है उसी प्रकार आत्मा के विषयमें जगत् प्रतीत होता है। जिस भाँति आकाश निज शून्यता से पूर्ण है और जिस भाँति समुद्र जलसे पूर्ण है, वैसेही ब्रह्म सत्ता स्वतः स्थित और पूण, है उसके निकट जगत् की पहुँच नहीं है।

इतना सुनकर रामजी ने कहा,—हे भगवन ! आपका यह वचन तो ऐसाही है, जैसे कहा जाय कि, बन्ध्या के पुत्रने पवतको चूर्ण कर दिया अथवा स्यार के साँग अति सुन्दर हैं, बालुका से तेल निकलता है, पत्थर की शिला नाचती है, मूर्ति का बादल गर्जता है और पत्थर की पुतलियाँ गाती हैं आदि। इस भाँति आपका शब्द मुझे ज्ञात होता है। आप कहते हैं कि, दृश्य कुछ उत्पन्न नहीं हुआ और यह है ही नहीं परन्तु यह तो मेरे नेत्रों के समक्ष जरा-भरण आदिक विकारों युक्त प्रत्यक्ष नाचता है। इसीसे आप के वचनों की सञ्ची भावना, मेरे निकट नहीं प्रतीत होती। परन्तु आपके मनमें इस विषय में जो निश्चित बात है, वह मुझे बतलाइए।

वशिष्ठजी बोले, हे राम जी ! इसमें कोई बात असत्य नहीं है। हृदय में भलीभाँति विचार पूर्वक देखो तो तुम्हें ज्ञात हो जायगा कि वास्तव में जगत् आढम्बर मात्र है और प्रलय काल के पश्चात् केवल शुद्ध-चैतन्य-स्वरूप वस्तु शेष रह जाती है। उसमें कार्य, कारण और कल्पना आदि कुछ नहीं रहता। उस समय का जो जगत् प्रतीत होता है, वह विना कारण ही प्रतीत होता है। जिस भाँति निद्रावस्था में स्वप्न दिखाई पड़ता है, जिस भाँति स्वप्न की सृष्टि विना कारण है, वैसेही यह स्टाष्टि भी विना कारण है। राम जी ! जब समवायि-कारण (मिश्रित कारण) और निमित्त

कारण (अंश-कारण) न होवे और यह प्रत्यक्ष दृष्टिगत हो तब जानना चाहिये कि यह भ्रम-स्वरूप है। जिस प्रकार स्वप्न का अनुभव होता है और वह नाना प्रकार के कार्यों सहित तुम्हें ज्ञात है पर वास्तव में वह बिना कारण है, उसी प्रकार यह जगत् भी बिना कारण है। इससे सिद्ध है कि यह ससार बिना कारण ही उत्पन्न हुआ है। जिस भाँति गन्धर्वनगर, सकल्पपुर और आकाश में विद्यत दूसरा चन्द्रमा प्रतीत होता है उसी प्रकार यह जगत् भी प्रतीत होता है, और इसमें कोई भी पदार्थ सत्य नहीं है। जिस भाँति प्राणी स्वप्न में समस्त राज्य और अनेक वस्तुओं का भोक्ता हो जाता है और उसका कोई कारण नहीं रहता, सब अकारण है, केवल मन के ससरण मात्र से प्रतीत होता है, उसी भाँति यह ससार चित्त के सकल्प-विकल्प से प्रतीत होता है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में स्वप्न होता ही रहता है, उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में मन की कल्पनाओं से जगज्जाल प्रतीत होता रहता है। हे राम जी ! चलना, दौड़ना, देना, लेना, बोलना, सुनना और सूँघना इत्यादि विषय जो रागद्वेषादिक विकार, रूप हैं वे सभी मन का कल्पना से उदय होते हैं। किन्तु आत्मा के सम्बन्ध में कोई भी विकार नहीं है। जब मन में ज्ञान का प्रकाश हाता है तब सभी कल्पनाओं का अन्त हो जाता है। इससे जगत् का प्रधान कारण मन है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का चौथा सर्ग समाप्त ॥४॥

पाचवाँ सर्ग

देव-स्वरूप-वर्णन



रामजी बोले—हे भगवन् ! अब कृपा पूर्वक यह बतलाइये कि मन का क्या रूप है और वह किस पद को प्राप्त करने से मायामय होता है ? वशिष्ठजी ने कहा,—हे रामजी ! जब महाप्रलय के समय जगत् का अभाव हो जाता है, तब जो शेष रहता है, वही सत्य-स्वरूप है। उसका नाश नहीं होता। वह सर्वदा प्रकाश-स्वरूप परम

सातवाँ सर्ग ।

दृश्य-सत्ता-प्रतिपादन



स प्रकार देव-स्वरूप और प्रयत्नोपदेश सुन लेने पर राम जो ने वशिष्ठ जी से प्रश्न किया कि, हे मुनीश्वर । आप ने जिस देव-स्वरूप का वर्णन किया है और जिसको जान लेने पर संसार-बन्धन से प्राणी मुक्त हो जाता है, वह देव कहाँ स्थित है और किम प्रकार उसकी प्राप्ति होती है ? वशिष्ठ जी ने उत्तर दिया कि, हे राम जी ! जिम देव का मेने वर्णन किया है, वह कहाँ दूर नहीं है । वह हमारी तुम्हारी शरीर मे ही स्थित है । वह नित्य, चिन्मात्र, सर्वतः पूर्ण और समस्त संसारसे परे है । भगवान् शिव जी, ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्रादिक जितने भी देवता है और जो कुछ भी यह जगत है, सब चिन्मात्ररूप है । राम जी ने कहा,— हे भगवन् ! इतना तो श्रवण वालक भी कहते हैं कि, आत्मा चिन्मात्ररूप है, फिर आप के उपदेश से मुझे क्या लाभ हुआ ? वशिष्ठ जी बोले,— हे राम जी ! यह तो ठीक है कि, बालक कहते हैं कि, संसार चिन्मात्ररूप है और तुम भी वैसा ही जानने हो, पर केवल इस जान लेने मात्र से ही संसार-सागर को न पार कर सकोगे । क्योंकि यह संसार सजीव पशु के समान है और नाममात्र के लिए संसार कहा जाता है । हे राम जी ! इसमे जो चेतनाशक्ति है वह महान अनर्थ का कारण है । परन्तु जो इस चेत्य से रहित है, वही चैतन्य वस्तु परमात्मा है । उस परमात्मा को जान लेने से मुक्ति हो जाती है । हे राम जी ! परमात्मा के जान लेने पर जड़-ग्रन्थि छूट जाती है और जो ग्रह, मम इत्यादिक भावनायें हैं — भी नष्ट होकर समस्त संशयों का नाश हो जाता है और समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं । राम जी ने कहा,— हे चित्त ऐसी चैतन्य शक्ति

किये रहता है कि जिससे दृश्य प्रतीत होते हैं, तब भला उस शक्ति के रहते हुए चित्त को रोकने में किस प्रकार सफलता मिल सकती है ? मेरे विचार में तो इससे निवृत्ति पाना अत्यन्त कठिन है। वशिष्ठ जी ने कहा,—हे राम जी ! दृश्य का सयोग धारण करने वाला जो चैतन्य है, वही जीव है और वह जन्मरूपी वन में भटकते-भटकते थक जाता है। जो इसको चेतना कहते हैं, वे पण्डित बड़े मूर्ख हैं। क्योंकि यह तो संसारी जीव है। इसके जानने से मुक्ति कैसे हो सकती है। मुक्ति तो परमात्मा को जानने से होती है और तभी सब दुःखों का नाश होता है। जिस प्रकार कठिन रोग के लिए उत्तम औषधि की आवश्यकता है, उसी प्रकार मुक्त होने के लिये परमात्मा की जानकारी होना आवश्यक है। रामजी ने पूछा,—हे भगवन् ! उस परमात्मा का क्या रूप है कि, जिसको जानकर मोहरूपी समुद्र पार किया जाये ? वशिष्ठ जी बोले,—हे राम जी ! जहाँ संसार का अत्यंत अभाव होता है, और केवल ज्ञानवस्तु शेष रहती है, वही परमात्मा का रूप है। हे राम जी ! जहाँ दृश्य, द्रष्टा और दर्शन का अभाव होता है, ऐसा जो आकाश है, वही परमात्मा का रूप है। जो बिना किसी वस्तुके शून्य है, जो शून्यकी नाईं स्थित है, जहाँ स्रष्टिका समूहभी शून्य है और जो ऐसी अद्वैत सत्ता है, वही परमात्मा का रूप है। हे राम जी ! जो महा चैतन्य रूप विशाल पर्वत की नाईं अचल है और जड़ की नाईं स्थित है, वही परमात्मा का रूप है। वह सब के अन्तर और बाहर भी स्थित है और जो सबको प्रकाशता है वही रूप परमात्मा का है। हे राम जी ! जिस भाँति सूर्य का प्रकाश ही उसका रूप है और आकाश भी शून्यरूप है, उसी भाँति यह जगत् आत्मा का रूप है। राम जी ने कहा हे भगवान् ! जब इस प्रकार सर्वत्र परमात्मा ही विद्यमान है, तब वह स्वयम् क्यों नहीं प्रकट होते और जब यह जगत् प्रकट है, तब इसका निर्वाण (मोक्ष) भी कैसे होगा ?

वशिष्ठ जी ने कहा,—हे राम जी ! यह जगत् भ्रमरूप होकर

उत्पन्न हुआ है। इसमें वास्तविकता कुछ नहीं है। जब आत्मा के विषय में जगत का अभाव हो जाता है, तब परमात्मा का साक्षात्कार होता है। इसके अतिरिक्त उसे प्राप्त करने का और कोई उपाय नहीं है। दृश्याभाव होने पर ही परमार्थ-सत्ता का ज्ञान होता है। हे राम जी ! यह चित्तरूपी आदर्श दृश्य के प्रतिबिम्ब बिना नहीं रहता। अतएव जबतक दृश्यों का अभाव नहीं होता, तब तक परमात्मा का साक्षात्कार होना कठिन है। यह सुनकर राम जी ने पूछा कि, हे महामुने ! प्राणी के मन में दृश्य जाल का आडम्बर कैसे स्थित हुआ ? जिस प्रकार राई में मन्दराचल पर्वत का प्रवेश करना अमम्भव है, उमी प्रकार मन में इस विशाल जगत् का प्रविष्ट करना महान् आश्चर्य है ? वशिष्ठ जी बोले—हे राम जी ! तुम्हारे में यही दृष्टि-दोष है। इसके निवारण के लिए जब तुम, जिस दिन त्रिगुणात्मिका माया से रहित हो वेद धर्म में प्रवृत्त होकर, सत्सग और सञ्छास्त्र परायण होकर स्थित हो जावोगे, उसी दिन तुम्हारा यह दृश्यरूपी मैल दूर हो जायेगा। फिर तो उसी समय तुम्हारे निकट द्रष्टा भी शांत हो जायगा और तब इन दोनों का अभाव होने पर तुम्हें शुद्ध आत्म सत्ता भासमान होगी। हे राम जी ! जब तक द्रष्टा है, तब तक दृश्य है और जब तक दृश्य है, तब तक द्रष्टा है। जिस प्रकार एक के बाद दो होता है और जब दो होता है तब एक अवश्य है। फिर जब एक है, तब दो भी अवश्य है। जब एक न होवे, तब दो कहाँ से होगा ? द्रष्टा के पश्चात् दृश्य और दृश्य के पश्चात् द्रष्टा होता है। एक का अभाव होने से दोनो का अभाव हो जाता है। हे राम जी ! अहंता आदि लो जो दृश्य है, सो मैं तुम्हारे लाभ के लिये सबका माजन कर दूँगा। हे रामजी ! अनात्मा में आदि काल से दृश्य लगा हुआ है और वही मैल है। उससे रहित हो जावे तो चित्तरूपी दर्पण निर्मल हो जाता है। जो वस्तु असत्य है, वह सत्य नहीं होती और जो वस्तु सत्य है वह कदापि असत्य नहीं

हो सकती। तब जो वस्तु सत्य नहीं है उसका मार्जन भी कैसे होगा ? हे राम जी ! यह जगत् उत्पन्न नहीं हुआ है, जो उत्पन्न हुआ ज्ञात होता है, सो केवल भ्रान्तिमात्र है। जिस प्रकार सुवर्ण से भूषण होता है और वह सुवर्णसे भिन्न नहीं है, इसी प्रकार जगत् और ब्रह्ममे कुत्र भेद नहीं है। हे राम जी ! इस दृश्यरूपी विषुचिका से निवृत्ति पाने के लिये मैं तुमको बहुत प्रकार से युक्तिपूर्ण उपदेश सुनाऊँगा। आशा है कि उमको जान लेने से तुम्हें अद्वैत सत्ता की महत्ता ज्ञात हो जावेगी। देखो, इस जगत् की कोई भी वारतविक्रता नहीं है और न इसकी उत्पत्ति का कोई कारण है। जैसे मरुभूमि में नदी है, आकाश में दूसरा चन्द्रमा है, वैसे ही यह जगत् बिना कारण ही भासता है। जिस प्रकार मरुभूमि में जल नहीं होता, जैसे बन्ध्या को पुत्र नहीं होना और जैसे आकाश में वृक्ष का होना सम्भव नहीं है, वैसे ही इस जगत् का होना सम्भव नहीं है। किन्तु जो कुत्रभी दृष्टिगत हो रहा है, वह सब कुछ ब्रह्म मय है। हे राम जी ! यह जो कुत्र मैंने कहा है, केवल वाणी का श्रम नहीं है, वरन् मय युक्ति पूर्वक कह रहा हूँ। हे राम जी ! जो अपने गुरु की युक्ति पूर्ण वाणी पर विश्वास नहीं करता उसको सिद्धान्तों की प्राप्ति नहीं हाती।

श्री यागनाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति प्रकरण का सातवा सर्ग समाप्त ॥ ७ ॥

आठवाँ सर्ग

सञ्ज्ञास्त्र निरूपण

रामजी बोले-हे मुनीश्वर ! आपने अभी जो युक्ति कही है, वह क्या है, कैसे प्राप्त होती है और उसको धारण करने से प्राणी आत्मपदको कैसे प्राप्त होता है ? कृपा कर वह सम्पूर्ण युक्ति मुझे बतलाइये। वशिष्ठजी बोले-हे रामजी ! जगत् नामकी विषुचिका जा मिथ्या ज्ञान के कारण ही चिरकाल से दृढ़ हुई है, वह विचाररूपी मत्रों द्वारा ही शांत होती है। देखो तुम्हारे हित के

लिये मैं इस पर एक आख्यान कहता हूँ। यदि तुम इमको ध्यान पूर्वक श्रवण करोगे तो निश्चही मुक्तात्मा हो जाओगे। किन्तु यदि तुम न सुने और अर्धप्रबुद्ध होकर उठ गये तो तिर्यगादिक धर्म को प्राप्त होवोगे और बहुत कष्ट होगा। अतः जिस धर्म को प्राप्त करने की इच्छा रखते हो, उसको प्राप्त करने के लिये पूर्ण यत्न करो। यदि यत्न करोगे तो अवश्य पावोगे। सिद्धान्त की प्राप्ति के लिये सत्सग और सच्चास्र परायण होना परम आवश्यक है। किन्तु वह भी अल्प नहीं, दृढ़ और दीर्घ हाना चाहिये। रामजी बोले,—हे भगवन् ! यह तो ठीक है किन्तु आत्मबाध का कारण कौन शास्त्र है और उन शास्त्रों में भी श्रेष्ठ शास्त्र कौन है कि, जिसको जानने से शाक का नाश हो जाता है ? वशिष्ठजी ने कहा,—हे रामजी ! शास्त्रों में महारामायण शास्त्र सबसे श्रेष्ठ है और यही आत्मबाध का भी कारण है, क्योंकि इसमें बहुत बड़े २ आख्यान हैं और उसके द्वारा ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। परन्तु हे राम जा ! अब मैं सब शास्त्रों का निचोड़ तुमसे कहता हूँ कि, जिसका समझ कर तुम जीवनमुक्त होजाओगे और जगत् की वास्तविकता नाश होगी। जिस प्रकार स्वप्न से जागने पर स्वप्न की वस्तु ज्ञात होती है, उसी प्रकार जो कुछ सिद्धान्त है सब तुमको इसमें मिलेगा। पर जो इसमें न होगा वह और कहा न मिलेगा। इसको समस्त शास्त्रों के विज्ञान भंडारवाला बुद्धिमानजन हो जानते हैं। हे रामजी ! इस शास्त्र का जो पुरुष श्रद्धा साहस सुनत और सुनकर उसपर नित्यशः विचारते हैं, उनको बुद्धि उदार होती है और वही परमबाध को प्राप्त होते हैं किन्तु जो इस शास्त्र के सम्बन्ध में प्रेम नहीं करते वे निश्चही बड़े पापी हैं। उनको चाहिये कि वे पहले और शास्त्रों को विचारे तब इसका विचार कर जावनमुक्त होवे। जिस प्रकार उत्तम औषधि से रोग शीघ्र ही निवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार इस शास्त्र का श्रवण करनेसे अज्ञान का नाश होजाता है और शीघ्र ही आत्मपद की प्राप्ति होता है। हे रामजी ! आत्म-

हो सकती। तब जो वस्तु सत्य नहीं है उसका मार्जन भी कैसे होगा ? हे राम जी। यह जगत उत्पन्न नहीं हुआ है, जो उत्पन्न हुआ ज्ञात होता है, सो केवल भ्रान्तिमात्र है। जिस प्रकार सुवर्ण से भूषण होता है और वह सुवर्णसे भिन्न नहीं है, इसी प्रकार जगत और ब्रह्ममें कुछ भेद नहीं है। हे राम जी। इस दृश्यरूपी विषुचिका से निवृत्ति पाने के लिये मैं तुमको बहुत प्रकार से युक्तिपूर्ण उपदेश सुनाऊँगा। आशा है कि उसको जान लेने से तुम्हें अद्वैत सत्ता की महत्ता ज्ञात हो जावेगी। देखो, इस जगत की कोई भी वास्तविकता नहीं है और न इसको उत्पत्ति का कोई कारण है। जैसे मरुभूमि में नदी हो, आकाश में दूसरा चन्द्रमा हो, वैसे ही यह जगत विना कारण ही भासता है। जिस प्रकार मरुभूमि में जल नहीं होता, जैसे बन्ध्या को पुत्र नहीं होता और जैसे आकाश में वृक्ष का होना सम्भव नहीं है, वैसे ही इस जगत का होना सम्भव नहीं है। किन्तु जो कुछ भी दृष्टिगत हो रहा है, वह सब कुछ ब्रह्म मय है। हे राम जी। यह जो कुछ मैंने कहा है, केवल वाणी का श्रम नहीं है, वरन् सब युक्ति पूर्वक कह रहा हूँ। हे राम जी। जो अपने गुरु की युक्ति पूर्ण वाणी पर विश्वास नहीं करता उसको सिद्धान्तों की प्राप्ति नहीं होती।

श्री यागवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति प्रकरण का सातवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७ ॥

आठवाँ सर्ग

सञ्चास्त्र निरूपण

रामजी बोले-हे मुनीश्वर। आपने अभी जो युक्ति कही है, वह क्या है, कैसे प्राप्त होती है और उसको धारण करने से प्राणी आत्मपद को कैसे प्राप्त होता है ? कृपा कर वह सम्पूर्ण युक्ति मुझे बतलाइये। वशिष्ठजी बोले-हे रामजी। जगत नाम की विषुचिका जा मिथ्या ज्ञान के कारण ही चिरकाल से दृढ़ हुई है, वह विचाररूपी मत्रों द्वारा ही शांत होती है। देखो तुम्हारे हित के

लिये मैं इस पर एक आख्यान कहता हूँ। यदि तुम इसको ध्यान पूर्वक श्रवण करोगे तो निश्चयी मुक्तात्मा हो जाओगे। किन्तु यदि तुम न सुने और अर्धप्रबुद्ध होकर उठ गये तो तिर्यगादिक धर्म को प्राप्त होवोगे और बहुत कष्ट होगा। अतः जिस धर्म को प्राप्त करने की इच्छा रखते हो, उसको प्राप्त करने के लिये पूरे यत्न करो। यदि यत्न करोगे तो अवश्य पावोगे। सिद्धान्त की प्राप्ति के लिये सत्सग और सच्छास्त्र परायण होना परम आवश्यक है। किन्तु वह भी अल्प नहीं, दृढ़ और दीर्घ हाना चाहिये। रामजी बाले,—हे भगवन ! यह तो ठीक है किन्तु आत्मबोध का कारण कौन शास्त्र है और उन शास्त्रों में भी श्रेष्ठ शास्त्र कौन है कि, जिसको जानने से शाक का नाश हो जाता है ? वशिष्ठजी ने कहा,—हे रामजी ! शास्त्रों में महारामायण शास्त्र सबसे श्रेष्ठ है और यही आत्मबोध का भा कारण है, क्योंकि इसमें बहुत बड़े २ आख्यान हैं और उसके द्वारा ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। परन्तु हे राम जा ! अब मैं सब शास्त्रों का निचोड़ तुमसे कहता हूँ कि, जिसका समझ कर तुम जीवनमुक्त हो जाओगे और जगत् की वास्तविकता नाश होगी। जिस प्रकार स्वप्न से जागने पर स्वप्न की वस्तु ज्ञात होती है, उसी प्रकार जो कुछ सिद्धान्त है सब तुमको इसमें मिलेगा। पर जा इसमें न होगा वह और कहा न मिलेगा। इसको समस्त शास्त्रों के विज्ञान भंडारवाल बुद्धिमानजन ही जानते हैं। हे रामजी ! इस शास्त्र का जो पुरुष श्रद्धा साहस सुनत और सुनकर उसपर नित्यशः विचारते हैं, उनको बुद्धि उदार होती है और वही परमबोध को प्राप्त होते हैं किन्तु जो इस शास्त्र के सम्बन्ध में प्रेम नहीं करते वे निश्चयी बड़े पापी हैं। उनको चाहिये कि वे पहले और शास्त्रों को विचारें। विचार कर जावनमुक्त होवे। जिस प्रकार उत्तम ग-शीघ्र ही निवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार इस शास्त्र से अज्ञान का नाश होता है। हे रामजी !

पद की प्राप्ति वर-शापकी भाँति नहीं होती। केवल वर देने मात्र से आत्मा का ज्ञान नहीं होता। जब विचारों का अभ्यास किया जाता है, तब आत्मज्ञान प्राप्त होता है। हे रामजी! दान देने, तपस्या करने और वेदों का पाठ करने से आत्मपद की प्राप्ति नहीं होती वरन् आत्मविचार करने से ही आत्मपद की प्राप्ति होती है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का आठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८ ॥

नवाँ सर्ग

परम-कारण वर्णन



शिष्ट जी बोले, हे रामजी! जो पुरुष अपने चित्तको आत्म-विषय चिन्तनमें लगाये रहता है और जो अपने प्राणों की चेष्टा भी आत्मा की ओर ही किए रहता है और जो आत्मा

ही का वर्णन करता, उन्हीं में संतुष्ट रहता है तथा जो सर्वकाल आत्मा ही में रमण किया करता है, ऐसा जो ज्ञानी पुरुष है, वह निसन्देह जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त हो जाता है। रामजी बोले,—हे महामुने!

जीवन्मुक्त और विदेहमुक्तसे आपको क्या तात्पर्य है? ऐसे पुरुषों के क्या लक्षण हैं? यदि आप बतला सकें तो मैं भी बोसाही करूँगा।

शिष्ट जी ने कहा,—हे रामजी! जीवन्मुक्त वह प्राणी है जो समस्त ससार का व्यवहार किया करता है, किन्तु उसके हृदय में द्वेष भ्रम नहीं रहता और वह सर्वदाही शांत रहता है। जो प्राणी समस्त क्रियाओं को करते हुए भी किसी में लिप्त नहीं रहता और अभ्यांतर में

आकाश के सदृश ही निर्मल रहता है, वही प्राणी जीवन्मुक्त है। फिर वह प्राणी भी जीवन्मुक्त है, कि जो ससार की स्थिति से सर्वथा ही निद्रित रहता है और जिसके जगत-भ्रम आदिक नाश हो गए हैं। हे रामजी!

वह प्राणी भी जीवन्मुक्त है कि जो किसी मनोरथ की प्राप्ति के लिये प्रसन्न नहीं होता और असफलता के लिए भी खेद नहीं प्रकट

करता है। हे रामजी! जो किसी मनोरथ की प्राप्ति के लिये प्रसन्न नहीं होता और असफलता के लिए भी खेद नहीं प्रकट

करता है। हे रामजी! जो किसी मनोरथ की प्राप्ति के लिये प्रसन्न नहीं होता और असफलता के लिए भी खेद नहीं प्रकट

करता । पुनः वह पुरुष भी जीवन्मुक्त है कि जो प्रत्येक मांसारिक व्यवहारों को करते हुए भी उसमें लिप्त नहीं होता और रागद्वेष से पृथक् रहकर शीतल रहता है । हे रामजी ! जिस प्राणी को अहं, मम आदि का भाव नहीं होता और जिसकी बुद्धि किसी में लिप्त नहीं रहती, वह कर्म करे या न करे-परन्तु वह अवश्य ही जीवन्मुक्त है । हे रामजी ! ऐसे प्राणी को मान, अपमान भय और क्रोध सम्बन्धी विकार कुछ नहीं जान पड़ते । और जो आकाश के सदृश शून्य रहते हैं, वह भी जीवन्मुक्त हैं । ऐसे पुरुष प्रत्येक पदार्थों का भोक्ता होते हुए भी अन्तरसे आभोक्ता हैं । जिम प्राणी से संसार व्यग्र नहीं होता और जो स्वयं भी संसार से व्यग्र नहीं होते और जो सर्वथा ही राग द्वेषादिसे परे रहते हैं वे भी जीवन्मुक्त हैं । हे रामजी ! वह पुरुष भी जीवन्मुक्त है कि जो चित्त के संकल्प-विकल्प को जानता है और उसी से जगत की उत्पत्ति जानता है और चित्त के अस्फुरण को ही प्रलय जानता है और सर्वत-समबुद्धि रखता है, । हे रामजी ! ऐसा पुरुष सर्वदा ही आत्मा में स्थित रहता हुआ जगत को ब्रह्मस्वरूप जानता है । यह सुनकर रामजी बोले, हे भगवन् ! यह तो आपने जीवन्मुक्तकी बड़ी कठिन व्याख्या की, पर यह तो कहिए कि, इष्ट की प्राप्ति में और अनिष्ट की प्राप्ति में समता और शीतल बुद्धि कैसे होती है ? वशिष्ठ जो बोले, हे रामजी ! इष्टता अनिष्टता रूपी जगत तो अज्ञानी को मालूम होता है, जो ज्ञानी है उसको सब आकाश रूप है । उसको किसी सम्बन्ध में रागद्वेष नहीं होता । अन्य लोगों के देखने में तो वह चेष्टित रहता है पर वास्तव में वह जगत के वातावरण से सर्वदाही निद्रित रहता है । हे रामजी ! जो प्राणी जीवन्मुक्त हैं, वे जब कभी शरीर का परित्याग करते हैं तब ब्रह्मपद को ही प्राप्त होते हैं । जैसे वायु अपनी गमनता को त्याग देने से लुप्त हो जाती है, वैसे ही प्राणी जीवन्मुक्त पद का परित्याग कर विदेहमुक्त हो जाता है । फिर तो वह ऐसा दृढ़ स्थित हो ज

सूर्य, हो कर वही तपता है और वही

ब्रह्मा होकर उत्पन्न होता है। वही विष्णु होकर चराचर का पालन पोषण करता है और वही रुद्र होकर संहार करता है। वही पृथ्वी होकर समस्त प्राणियों के भार को सहन करता है और वही औषधि आदि अन्नों को उत्पन्न करता है तथा वही पर्वत होकर पृथ्वी को स्थित रखता, वही जल होकर द्रवता और वही अग्नि होकर उष्णता को धारण करता है, वही पवन होकर समस्त पदार्थों को सुखाता है। और वही चन्द्रमा होकर औषधियों को भी पुष्ट बनाता है। फिर वही आकाश होकर समस्त पदार्थों को स्थान देता है, बादल बन कर वरसता है और इस प्रकार वही जड़म सहित समस्त संसारमे आत्मा रूप होकर सर्वदा स्थित रहता है। रामजी ने पूछा,—हे भगवन् ! जब इम प्रकार प्राणी विदेह मुक्त शरीर को धारण करके जगतमें आता है, तब उसको त्रैलोक्यका भ्रमक्यो नहीं मिटता? वशिष्ठ जी ने उत्तर दिया—हे राम जी ! समार का आडम्बर तो अज्ञानी के हृदय मे सर्वदा ही स्थित रहता है किन्तु ज्ञानी के लिए तो सब निर्मल और आकाशरूप है। हे राम जी ! वास्तव में जगत कुछ उत्पन्न नहीं हुआ, जो उत्पन्न हुआ ज्ञात होना है, वह केवल अज्ञान है। हम तुम और और जगत् सब आकाशरूप है। जिस प्रकार आकाश मे नीलता और दूधरा चन्द्रमा प्रकट होता है, जैसे मरुस्थल मे जल दृष्टिगत होना है वैसे ही आत्मा में जगत् प्रकट एवम् प्रतीत होता है। हे राम जी ! जिम प्रकार सुवर्ण में भूषण कोई अन्य वस्तु नहीं उत्पन्न हुआ और जिम प्रकार जल में तरङ्ग अन्य कोई वस्तु नहीं है और वह भी शुद्ध जल है, उसी प्रकार आत्मा मे जगत उत्पन्न नहीं हुआ। किन्तु जो कुछ भी जगत् जाल है, वह मन की भावना से ही भाषित होता है। इमका कोई स्वरूप नहीं बना है। जब ज्ञान को इसका निश्चय सदैव रहता है तब फिर उसको जगत का चोभ कैसे होगा ? हे राम जी ! तुम्हे समझाने और ज्ञान कराने के लिए ही मेने इतनी सरल युक्ति कही है, नहीं तो जगत कहाँ है ? जगत का तो अत्यन्त अभाव है। राम जी ने पूछा कि, हे मुनीश्वर ! क्या,

जगत का अत्यंत अभाव हुए बिना आत्मा का बोध नहीं होता ? वशिष्ठ जी ने उत्तर दिया, - हे राम जी ! दृश्य और द्रष्टा का तो मिथ्या ही भ्रम उत्पन्न हुआ है, फिर बोध कैसे होगा ? बोध तो तब होता है, जब इन दो में से एक का अभाव हो जाये । जब एक का अभाव हो जायगा तब निसन्देह दोनों का ही अभाव हो जावेगा । इस प्रकार जब दोनों का अभाव हो जाता है, तब केवल शुद्ध ज्ञान शेष रहता है । अतएव जगत के अभाव हेतु अब मैं एक दूसरी युक्ति तुम्हें बतला रहा हूँ । हे राम जी ! बहुत समय से जो यह जगत् दृढ हो रहा है वह केवल मिथ्याज्ञान और कठिन रोग है । इसकी निवृत्ति विचार रूपी मंत्र से ही होती है । जगत् के अत्यंत अभाव हुए बिना आत्मा का बोध नहीं होता । अतः आत्मप्राप्ति के लिये मैं तुम्हें एक युक्ति बतलाता हूँ । इसको जान लेने से जगत् के भ्रम का नाश हो जावेगा और तुम जीवनमुक्त होकर विचरोगे । हे राम जी ! बन्धन रूप वही है, जो उत्पन्न होता है । और मुक्त भी वही है जो उत्पन्न हुआ रहता है । परन्तु जो यह जगत् तुमको भासता है, वह कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है । जैसे मरुस्थल में नदी प्रकट रहती है और जो वास्तव में उत्पन्न नहीं हुई है, केवल अज्ञान भ्रम से भासती है, वैसेही आत्मामें जगत प्रतीत होता है । अस्तु, यह जगत कहीं उत्पन्न नहीं हुआ केवल भ्रम से भासता है । हे राम जी ! जब महाप्रलय होता है, तब स्थावर, जगम, देवता, किन्नर, दैत्य, मनुष्य, ब्रह्मा, विष्णु, और रुद्रादिक सहित इस जगत् का सर्वथा ही अभाव हो जाता है । उसके पश्चात् जो शेष रहता है, वह एक ऐसी सत्ता है कि जो इन्द्रियग्राहक नहीं है और न असत्य है, न शून्य है, न प्रकाश है, न अंधकार है, न द्रष्टा है, न दृश्य है, न केवल है, न अकेवल है, न जड़ है, न ज्ञान है, न अज्ञान है, न साकार है, न निराकार है, न किंचन है, न अकिंचन है । तात्पर्य यह कि वह समस्त शब्दों से परे है और वहाँ वाणी का भी ससर्ग नहीं है । वहाँ जो है वह चेत्य से रहित चेतन और आत्मतत्त्व

मात्र ही शेष है। उसमें अहं, त्वं आदि कल्पनायें नहीं रहतीं। वह इस भाँति शेष रहता है कि, उसका पूर्ण, अपूर्ण, आदि, मध्य, और अन्त कुछ नहीं है। वह सब से परे है और वही सत्ता जगत रूप होकर भासती है। इससे जगत की कोई रचना नहीं हुई है। जैसे मृगतृष्णा का जल भासता है, वैसे ही आत्मा में जगत भासता है। हे राम जी। जब मनोवृत्तियाँ जगत की कल्पना करती हैं, तभी जगत जगदाकार भासता है और जब कल्पनाओं का नाश होता है, तब जगत का भी अभाव हो जाता है। इस प्रकार आत्मसत्ता सर्वदा एकरस रहती है। जिस प्रकार वायु का गमन करना ही वायु का रूप है और गमन करने ही से भासता है नहीं तो वन्द हो जाने से नहीं भासता परन्तु वायु एक ही है, वैसे ही चित्त की संवेदना कल्पना रूप है। और तभी जगत रूप होकर भासता है। कल्पनाओं के नाश होने पर जगत का भी नाश हो जाता है। हे राम जी। चेतन तब जाना जाता है जब संवेदन स्पन्दरूप होता है। जैसे सुगन्ध का ग्रहण आधार-भूत से होता है और भूत द्रव्य बिना सुगन्ध का ग्रहण नहीं होता। जैसे स्वेत वस्त्र पर ही रंग चढ़ता है अन्यथा नहीं, वैसे ही आत्मा का जानना स्पन्द से होता है। परन्तु स्पन्द के बिना जानने की कल्पना भी नहीं होती। जिस प्रकार आकाश में शून्यता और अग्नि में उष्णता प्रकट होती है, वैसे ही आत्मा में अनन्य रूप जगत प्रतीत होता है। जिस प्रकार जल की द्रवता से तरंग है, वैसे ही आत्मा की सत्ता से जगत का रूप है। वह आकाशवत् शुद्ध है और श्रवण चक्षु, नासिका, त्वचा, देह, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से रहित है। परन्तु सब ओर से वह आपही आप श्रवण करता, बालता, सूँघता स्पर्श करता और रस लेता है। अतः आत्मरूपी सूर्य की किरणों से जल रूपी त्रिलोकी फुरती भासती है। जिस प्रकार जलका भँवर जल से भिन्न नहीं, वैसे ही जगत आत्मा से भिन्न नहीं है। सब आत्मस्वरूप है। आत्मा ही जगत रूप होकर भासता है। इसको जिह्वा

नहीं है तो भी बोलता है। अभोक्ता होकर भी भोक्ता है। फिर अद्वैत नहीं है पर वही द्वैत रूप होकर भासता है। हे राम जी। आत्म-सत्ता सर्व शब्दों से अतीत है। पर वही सब शब्दों को धारती है। और अन द्रष्टा होके भासती है। इतर कुछ नहीं है। कई सृष्टि समान होती है और कई विलक्षण होती है परन्तु स्वरूप से दूसरा कुछ नहीं है। सर्वदा आत्मस्वरूप स्थित है जिस प्रकार सुवर्ण में भूषण के समान अन्य विलक्षण आकार भी होते हैं, परन्तु कंकण से आदि पर्यन्त जितने प्रकार के भी भूषण हैं सब सुवर्णरूप ही हैं दूसरा कुछ नहीं, उसी प्रकार जगत् आत्मस्वरूप है और आकाश से भी निर्मल और बोध मात्र है। हे राम जी ! जब तुम उसमें स्थिर होजाओगे तब जगत् का भ्रम नष्ट होजावेगा। क्योंकि वास्तव में जगत् कुछ है नहीं, ज्यों का त्यों स्वतः स्थित है। मन के संकल्प विकल्प से ही इसकी सत्ता है। सकल्पों का नाश हो जावे तो जगत् का भी नाश होजायेगा। परन्तु आत्मा की सत्ता ज्यों की त्यों बनी रहेगी। क्योंकि यह सबका अधिष्ठानरूप है। जगत् की उत्पत्ति इसीसे हुई है और यही उसका रूप एवं सबका अधिष्ठानरूप है। उस आत्मसत्ता का कोई कारण नहीं होता। वह अकारण है। क्योंकि वह बिना कारण अद्वैत अजर, अमर समस्त कल्पनाओं से रहित और शुद्ध रूप है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का नवौं सर्ग समाप्त ॥ ९ ॥

दशवाँ सर्ग

परमात्म-स्वरूप वर्णन



स प्रकार परमाकाश की सुन्दर कथा सुन चुकने पर राम जी ने वाशिष्ठ जी से प्रश्न किया कि, हे मुनिवर। आप कहते हैं कि = पश्चात् समस्त पदार्थों का अभाव हो और केवल ऐसा पदार्थही शेष

रहता है, कि जहाँ वाणी का भी गम नहीं रहता, परन्तु बड़ा आश्चर्य है कि, प्रलय के पश्चात् जो शेष रहता है वह शून्य है या प्रकाश है, क्योंकि उसमें तम का लेश नहीं है, चेतन है या जीव है या मन है या बुद्धि है अथवा सन, असत् कुछ तो है ? फिर यह कैसे मान लें कि, आप का कथन पर्याप्त है ? वशिष्ठ जी ने उत्तर दिया कि, हे राम जी ! यद्यपि तुम्हारा यह प्रश्न बहुत विस्तृत और जटिल है, तथापि मैं इस भ्रम को बड़ी सरल युक्ति और अल्प परिश्रम से ही नष्ट कर दूँगा फिर तो जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अंधकार का नाश हो जाता है, उसी प्रकार तुम्हारा यह भ्रम नष्ट हो जायेगा । हे राम जी ! यह मैंने बहुत ठीक कहा है कि, महा प्रलय होने पर प्रत्येक दृश्यों का अभाव हो जाता है और जो शेष बचता है वह शून्य नहीं क्योंकि उसमें सदैव दृश्याभास विद्यमान रहता है, पर वास्तव में वह कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है। जिस प्रकार स्तम्भ के होने पर शिल्पी उसमें पुतलियों की रचना करता और स्तम्भ न हो तो वह किसमें रचेगा उसी प्रकार आत्मरूपी स्तम्भ के होने पर ही मनरूपी शिल्पी जगत रूपी पुतलियों की रचना करता है। यदि आत्मा न होवे तो वह किसविधे पुतलियों की रचना करेगा। जिस भाँति स्तम्भ में पुतलियाँ स्तम्भरूप हैं वैसे ही सब जगत ब्रह्मरूप है। ब्रह्म से परे जगत का होना सम्भव नहीं। जैसे पुतलियों का भाव अभाव स्तम्भ से ही है क्योंकि स्तम्भ ही अधिष्ठानरूप है वैसे ही आत्मा के बिना जगत नहीं होता। हे रामजी ! किसी वस्तु का सद्भाव सत्यता पर निर्भर है और असत्यता से नहीं होता। जो हममें अभाव सिद्ध होता है वह भी सत्य वस्तु से ही होता है। इससे सत्य शून्य नहीं है। यदि वह शून्य हो तो फिर उसमें भासना कैसे हो। जिस प्रकार स्वच्छ जल में तरंग उत्पन्न होता है और नहीं भी होता है। नहीं, इस कारण होता है कि तरंग जलसे भिन्न अन्य कोई वस्तु नहीं है और सद्भाव इस कारण से होता है कि

जल में ही तरंग उठते हैं। अतः सत्य में भी इसीलिए सद्भाव है कि जल में तरंग होती है, उसी प्रकार जगत का असद्भाव आत्मा से होता है। जिस भाँति जल में तरंग केवल नाम के लिए है, वह अन्य कोई वस्तु नहीं है, उसी प्रकार केवल नाम के लिए जगत है, वास्तव में वह कोई अन्य वस्तु उत्पन्न नहीं हुआ केवल एक सत्ता ही मुख्य है। शून्य अशून्य भी कुछ नहीं। क्योंकि शून्य अशून्य जो यह दो शब्द हैं वह उस विषे कल्पना मात्र है। क्योंकि शून्य तो वह है कि जिसका अभाव ही और अशून्य वह है जो विद्यमान हो। किन्तु वह सत्ता तो इन दोनों से ही रहित है। फिर शून्य अशून्य कहाँ? उसमें तो इन दोनों का सर्वथा ही अभाव है। हे राम जी! यह जो सूर्य, तारे, दीपक आदि प्रकाशरूप हैं, इनकी भी वहाँ गम नहीं है। क्योंकि प्रकाश तो अन्धकार का शत्रु है। यदि प्रकाश हो तो अन्धकार का सिद्धि नहीं। परन्तु वहाँ तो अन्धकार भी सिद्ध होता है। इसलिये कहा है कि वहाँ प्रकाश भी नहीं और अन्धकार भी नहीं। यदि अन्धकार हो तो जिसके द्वारा सूर्य उदय होकर प्रकाश पहुँचाता है वहाँ अंधेरा कैसे रहेगा? आत्मा के प्रकाश के बिना तो सूर्य आदि भी अन्धकार स्वरूप हैं। इसलिए वह शून्य अशून्य प्रकाश और अप्रकाश कुछ नहीं है, वह केवल आत्मतत्त्व मात्र है। जिस प्रकार स्वप्न में पुनर्लिपि कुछ नहीं हैं, उसी प्रकार आत्मा में जगत कोई अन्य वस्तु होकर नहीं उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार बिल्ली और उसकी मांस में कोई अन्तर नहीं है, उसी प्रकार आत्मा और जगत में कोई अन्तर नहीं है। इसी भाँति जैसे जल और तरंग में और जैसे मिट्टी व मिट्टी के घड़े में कोई अन्तर नहीं है, वैसे ही ब्रह्म और जगत में कोई भेद नहीं है। भेद तो केवल नाम मात्र का है। हे रामजी! जल और मिट्टी का जो उदाहरण मैंने है वह भी आत्मा के सम्बन्ध में पर्याप्त नहीं है। क्योंकि और मिट्टी के घड़े भी किसी परिमाण युक्त होते हैं। पर का कोई परिमाण नहीं है।

यदि कहा जाय कि, मानसिक है, तो आकाशरूप है। अतएव जगत कोई भिन्न वस्तु नहीं है। रूप, देखना, मनसा कार्यता यह जो कुछ भी ज्ञात होता है, सब आकाशरूप है। -आत्मसत्ता ही चित्त के सकल्पों द्वारा जगत होकर प्रतीत होती है। जैसे सूर्य की विद्युत् ज्योति में, जल का भास होता है, वैसे ही आत्मा में जगत भासता है। अतएव हे राम जी ! जिसके द्वारा यह जगत भासता है, उसको शून्य कैसे कहा जाय। फिर यदि चैतन्य माना जाय तो भी कैसे ! क्योंकि चैतन्य भी तब जाना जाय जब चित्त की कलायें अपना कार्य पूर्ण करती हों। यदि कलायें अपना कार्य न पूरा करती हों तो वहाँ चैतन्यता कैसे रहे। जैसे मिर्चकी तीक्ष्णता खाने ही पर भासती है वैसे ही चैतन्य जानना भी स्पन्दकलना में होता है। आत्मा विषे जानना भी नहीं, चैतन्यता से परे चिन्मात्र है और अक्षय तुरीय यानी घोर निद्रा उसकी एक अवस्था है। वह ज्ञेय और ज्ञानवान होकर भी गुप्त है। हे राम जी ! जो पुरुष उसमें स्थित है, उसको सप्तरूपी सर्प नहीं डसता। वह अचेत्य चिन्मात्र होता है। परन्तु जो अपनी आत्मा में स्थित नहीं है उसको दृश्यरूपी सर्प अवश्य डसता है। अतएव आत्मा की सत्ता में द्वैतभाव नहीं है। वह आकाश से भी निर्मल है। उसके लिए द्रष्टा, दर्शन, दृश्य स्वतः आत्मसत्ता है और वह त्यक्त आत्मस्वरूप है। उसको अभ्यास द्वारा प्राप्त किया जाता है। हे रामजी ! उसमें द्वैत—कल्पना कुछ नहीं है। वह केवल अद्वैत है। उसमें द्रष्टा, जीव, विकार, स्थूल, सूक्ष्म कुछ नहीं है। वह एकशुद्ध अद्वैतरूप है और स्वतः स्थित है। इस लिए जब उसमें चेतना शक्ति के विकास का वहमूल ही नहीं है कि जिससे वह अपनी कलायें प्रदर्शित करे तब जीव कैसे हुआ ? फिर जीव नहीं होगा तब बुद्धि कहाँ से होगी ? और यदि बुद्धि नहीं तो मन और इन्द्रियों का होना भी कैसे हो सकता है ? फिर जब इन्द्रियाँ नहीं तब शरीर कैसे होगा ? शरीर नहीं तो जगत कैसे होगा ? इस कारण, हे रामजी ! आत्मा

की सत्ता में सभी कल्पनाओं की नष्टता है। उसके सम्बन्ध में कुछ कहते नहीं बनता। वह तो पूर्ण, अपूर्ण, सत्य और असत्य आदि सब से पृथक् है। उसके निकट भाव अभाव कुछ नहीं है और आदि मध्य व अन्त की कल्पना भी मिथ्या है। वह तो अजर, अमर, आनन्द, अनन्त, चित्स्वरूप, अचेत, चिन्मात्र और अवाच्यपद, सूक्ष्मातिसूक्ष्म दृष्ट से भी दृष्ट एक अद्वैतरूप और अनन्त चिद्रूप है। रामजी बोले,— हे मुनिवर ! आपने यह जो अचिंत्य, चिन्मात्र परमार्थ सत्ता का गूढ वर्णन किया, वह क्या है—कृपा कर मेरे ज्ञान होने के हेतु उसको समझाकर फिर कहिए। वशिष्ठ जी ने कहा,— हे रामजी ! तुम उधर जान चुकेहो कि महाप्रलय के समय जगत नष्ट हो जाता है और परब्रह्म सत्ता ही शेष रहती है। अतः अब मैं उसीका रूप वर्णन करता हूँ, ध्यान देकर सुनो। हे रामजी ! मन रूपी ब्रह्म है। इसकी भिन्न २ पाँच वृत्तियाँ हैं। प्रमाणवृत्ति, विपर्यय वृत्ति, विकल्प वृत्ति, अभाव वृत्ति और स्मरणवृत्ति क्रमशः पाँच नाम हैं। इसमें पहली प्रमाण वृत्ति तीन प्रकार की है। पहली प्रत्यक्ष, दूसरी अनुमान, और तीसरी धुवाँ व अग्नि की जानकारी रखने वाली शब्द रूप आसकामिका वृत्ति है। उपी भाँति दूसरी विपर्यय वृत्ति भी है। तीसरी हाव और भाव से विकल्प वृत्ति है, जिससे शब्द ज्ञान और अर्थका भान होता है। जिस प्रकार चेतन पुरुष कहा जाय तो उससे यह ज्ञात हुआ कि, कोई एक पुरुष है और उसका स्वरूप दूसरी कोई चैतन्य वस्तु है— इससे यह चैतन्य पुरुष कहलाता है। अतः चेतन ईश्वर का रूप है और साक्षी पुरुष स्वरूप है। तात्पर्य यह कि, जैसे सीप में चाँदी की वृत्ति (भ्रूलक) होने से ही सीप मालूम हो तो उसका नाम विकल्प है। इसी प्रकार चौथी स्मरणवृत्ति है और पाँचवीं अभाव वृत्ति है। इन पाँचों का अहंकार मन है। जब यह अहंकार नष्ट होगा तब पीछे जो शेष सत्ता रहेगी वही निश्चल सत्ता और अनन्त आत्मा है। मैं असत्य नहीं कहता हूँ। हे रामजी !

जाग्रत अवस्था के अभाव होने पर जब तक सुषुप्ति नहीं आती, वह परमात्मा का रूप है। अगुण्ट को जो शीत उष्ण का स्पर्श होता है और उमको जो अनुभव करता है, वही परमात्मा का रूप है। जिममें द्रष्टा, दर्शन, दृश्य उत्पन्न होते हैं और फिर उमी में लीन हो जाते हैं, वही परमात्मा का वास्वविक रूप है। वह सत्ता ऐसी है कि जिममें चेतनता भी नहीं है। हे रामजी ! जो जीव चैतन्य स्वरूप है और जब जो देहादि हे यह दोनों ही उस सत्ता के निकट नहीं है। अतः जो ऐसा चिन्मात्र स्वरूप है वही परमात्मा का रूप है। जो सब व्यवहार करता हुआ भी अन्त से आकाश की नाईं निर्मल है, और जिसको किसी प्रकार का लोभ नहीं है—ऐसी जो सत्ता है वही परमात्मा का स्वरूप है। परन्तु वह रूप शून्यता से भी परे है। हे रामजी ! जिसमें आकार सहित द्रष्टा, दर्शन, दृश्य यह तीनों प्रतिविवित हैं ऐसी जो सत्ता है वही परमात्मा का स्वरूप है। जो स्थावर मे स्थावरभाव से विद्यमान है, चैतन्यता मे जो चैतन्य भाव से व्याप्त है, जिसको मन और बुद्धि तथा इन्द्रियाँ नहीं पा सकती ऐसी जो सत्ता है, वही परमात्मा का रूप है। हे रामजी ! ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का भी जहाँ अभाव हो जाता है उसके पश्चात् जो वस्तु शेष रह जाती है और कोई विकल्प नहीं रहता— ऐसी जो अचेत, चिन्मात्र सत्ता है, वही परमात्मा का रूप है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का दशमो सर्ग समाप्त ॥ १० ॥

ग्यारहवाँ सर्ग

परमार्थरूप वर्णन



परमात्म-स्वरूप का विशद विवेचन हो चुकने पर रामचन्द्र जी ने वशिष्ठ जी से पूछा,—हे मुने ! महाप्रलय में दृश्य रूपी पदार्थ कहाँ चले जाते हैं ? वशिष्ठ जी ने उत्तर दिया,—हे राघव ! बाँझ स्त्री का पुत्र कहाँ से

आता है और कहाँ जाता है। आकाश का वन भी कहाँ से आता है और कहाँ जाता है ? जिस प्रकार आकाश का वन है, उसी प्रकार यह भी है। राम जी ने कहा--हे मुनिवर ! बाँक स्त्री को पुत्र होना और आकाश में वन होना तो त्रैलोक्य में भी सम्भव नहीं, पर यह जगत तो स्पष्ट जान पड़ता है, फिर बाँक स्त्री के पुत्र की समता कैसे हुई ? वशिष्ठ जी बोले कि, हे रामजी ! जिस प्रकार बाँक स्त्री का पुत्र और आकाश का वन उत्पन्न नहीं हुआ वैसे ही यह जगत भी उत्पन्न नहीं हुआ है। जिस भाँति स्वप्नपुर प्रत्यक्ष जान पड़ता है और आकाशवत् है, उसका कोई पदार्थ सत्य नहीं है, उसी प्रकार यह जगत आकाशवत् है--इसमें कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है। इस जगत में भेद वैसे ही नहीं है जैसे कि, जल और तरंग में भेद नहीं होता। हे रामजी ! जगत की कोई वास्तविक रचना नहीं हुई है। इसमें आत्मसत्ता स्पष्ट स्थित है। जब अज्ञान प्रसृत है तब वही जगत मालूम होता है। जिस प्रकार आकाश में दूसरा चन्द्रमा जान पड़ता है, जैसे मरुस्थल में जल और जैसे आकाश में तारागण जान पड़ते हैं, वैसे ही आत्मा के विषय में अज्ञानतावश जगत जान पड़ता है। यह सुनकर रामजी बोले,--हे भगवन् ! आप कहते हैं कि, जगत कुछ उत्पन्न नहीं हुआ, सब आभास मात्र है। इसके उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं है और इसमें कोई वास्तविकता नहीं है। पर हमारा नम्र निवेदन यह है कि अब आप कृपा पूर्वक उस एक युक्ति को कहिये कि, जिसके जान लेने से जगत का अभाव हो जाये। वशिष्ठ जी बोले,—हे राम जी ! जगत का अभाव तब होगा जब पहले दृश्य का अभाव हो जावेगा। इससे दृश्य के अभाव निमित्त मैं एक सुन्दर आख्यान कहता हूँ, ध्यान पूर्वक श्रवण करो। इसका निश्चय पूर्वक अर्थ समझ लेने से दृश्य दोष नाश हो जायेगा और फिर जगत की वास्तविकता न जान पड़ेगी। हे राम जी ! यह जगत जो तुमको जान पड़ता है, वह बिना कारण है।

हे राम जी । जो वस्तु बिना कारण होते हुए भी जान पड़े, उसको उत्पन्न हुआ न जानो, बल्कि वह भ्रममात्र है । जिस प्रकार स्वप्न में सृष्टि जान पड़ती है, सो किसी कारण से नहीं संवितरूप उसी प्रकार स्वर्ण आदि भी कोई कारण से नहीं उत्पन्न हुआ, केवल आभासरूप है और परमात्मा का कुछ नहीं है । हे राम जी ! जिस वस्तु में जो पदार्थ अकारण ही जान पड़े, वही अधिष्ठान रूप है । जैसे स्वप्न में स्वप्नपुर जान पड़ता है, और वहाँ किसी पदार्थ की वास्तविकता नहीं, केवल प्रतिबिम्ब रूप होता है, वैसेही संसार बिना कारण परछाई के सदृश आत्मसत्ता होकर जान पड़ता है । जिस प्रकार जल में द्रवता है, वायु में गमनता है, जल में रस है और तेज में प्रकाश है, उसी प्रकार आत्मा चित्त की सवेदना मात्र है । जब चित्त की सवेदनार्थ संकल्प,—विकल्प रूप धारण करती हैं, तभी जगत का रूप जान पड़ता है, नहीं तो जगत कोई वस्तु नहीं है । हे राम जी । जिस प्रकार तत्वों के अणु सब जगह पाये जाते हैं और आकाश का अणु नहीं पाया जाता, क्योंकि आकाश शून्यरूप है, उसी प्रकार आत्मा से पृथक् इस जगत का भाव कहीं नहीं पाया जाता । क्योंकि जगत परछाई के सदृश है इसके उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं है । यदि तुम कहो कि पृथ्वी आदि तत्वों से जगत उत्पन्न हुआ है तो यह नितान्त असम्भव है । जिस प्रकार छाया से धूप नहीं उत्पन्न हो सकता उसी प्रकार तत्वों से जगत नहीं उत्पन्न हो सकता । क्योंकि जब पृथ्वी स्वतः नहीं उत्पन्न हुई है तब जगत बिना कारण कैसे उत्पन्न होगा । इससे सिद्ध हुआ कि, ब्रह्मसत्ता स्वतः स्थित है और आत्मसत्ता जगत का कारण नहीं है । हाँ, यह प्रश्न हो सकता है कि जब जगत कुछ नहीं हुआ, तब वास्तव में यह क्या है । इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार सुवर्ण ही भूषणरूप है, और यह किसी अन्य वस्तु से उत्पन्न नहीं हुआ है, उसी प्रकार ब्रह्मसत्ता ही जगतरूप होकर जान

पड़ती है। जिस भाँति अनुभवसहित स्वप्न-नगर-रूप होकर जान पड़ता वैसे ही यह सृष्टि विद्यनरूप है, दूसरी कोई वस्तु नहीं। सदैव ब्रह्मसत्ता स्वतः अपने आप में स्थित है। इस प्रकार जितना भी स्थवार जंगम रूप जगत जान पड़ता है—सब आकाशरूप है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, वैराग्य प्रकरण का ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ ११ ॥

वाहरवाँ सर्ग ।

जगत उत्पत्ति वर्णन



शिष्ठ जी बोले,—हे राम जी ! आत्मसत्ता नित्य शुद्ध और अजर अमर तथा सदैव अपने आप में स्थित हैं। उसमें जिस प्रकार सृष्टि उदय हुई है, अब उसको सुनो। यह जान लेने से जगतकी कल्पनाओं का नाश हो जायगा। हे रामजी।

यह जीव सर्वदाही भाव अभाव, ग्रहण, त्याग, स्थूल सूक्ष्म और जन्म-मरण आदि पदार्थों में पड़ा हुआ द्विद्वित होता रहता है। यदि तुम हमारी वाणी को शिरोधार्य करोगे तो इससे मुक्त हो जाओगे और जिस प्रकार चूहे सुमेरु पर्वत को चूर्ण नहीं कर सकते, उसी प्रकार ससारके यह भाव अभाव आदिक विषय तुम्हें चूर्ण नहीं कर सकेंगे। हे राम जी ! वह आदि-पुरुष, शुद्धदेव और चिन्मात्र स्वरूप है। उसमें चेत्यभाव सदैव विद्यमान रहता है। क्योंकि वह चैतन्य स्वरूप है। जिस प्रकार वायु में स्पंदशक्ति सदैव विद्यमान रहती है, उसी प्रकार चिन्मात्र में चेतनाशक्ति सदैव पूर्ण रहती है। यही कारण है कि, उसका नाम चैतन्य है। हे राम जी ! उस चैतन्य में भी जबतक अपने स्वरूप के पहचानने की शक्ति नहीं आती, तब तक उसका भी नाम जीव है।

उसी से सब का नाम बीज चित्त सवित है और उसी से सब का नाम बीज चित्त सवित है और उसी से सब का नाम बीज चित्त सवित है और उसी से सब का नाम बीज चित्त सवित है।

का नाम बीज चित्त सवित है और उसी से सब का नाम बीज चित्त सवित है।

शून्य हो जाता है। उसमें केवल एक गुण 'शब्द' का होता है। उस शब्द से पद और वाक्य तथा प्रमाणों सहित वेद उत्पन्न हुए हैं। जितना कुछ जगत सम्बन्धी शब्द है, उसका बीज तन्मात्रा है। उसी से सूर्य और अग्नि आदि का प्रकाश हुआ है। फिर रस तन्मात्रा हुई जिससे जल हुआ और सब जलों का वही बीज हुआ। हे राम जी। ऐसे ही पञ्चभूत हुए हैं। उसके बाद पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश से जगत उत्पन्न हुआ है, सो पंचीकृत और अपंचीकृत है। यह भूत शुद्ध चिदाकाश नहीं है क्योंकि यह मेल संकल्प सहित हुये हैं। अतः चिद अणु में ही सृष्टि भासती है। जिस प्रकार वट वृक्ष में से ही वट विस्तार होता है, उसी प्रकार चिद अणु से ही सृष्टि होती है। कहीं क्षण में युग जान पड़ता है और कहीं युग में क्षण जान पड़ता है। उसी चिद अणु में पड़ी हुई सृष्टियाँ फुरता हैं। इस भाँति जब चित्त में चेतनाशक्ति आती है, तब अनेक सृष्टियाँ जान पड़ती हैं और उसी प्रकार जब चित्त में आत्मा के प्रति स्थान हो जाता है, तब आत्मा का साक्षात्कार होने पर वह सत्य-सृष्टि पिडाकार होकर जान पड़ती है। इसका अर्थ यह है कि तब, सब सृष्टि आत्मस्वरूप ही जान पड़ती है। इस कारण जगत का बीज सूक्ष्मभूत है और इसका बीज चित्त अणु है। हे राम जी। जैसा बीज होगा, वैसे ही वृक्ष भी होगा। इसलिये यह समस्त जगत चिदाकाशरूप है पर संकल्प से ही आढम्बर है। जिस समय सकल्प मिट जायगा, उस समय यही जगत चिदाकाश होजायगा। जिस प्रकार सकल्प आकाश प है, उसी प्रकार जगत भी आकाशरूप है। हे राम जी। इस जगत का मूल पञ्चभूत है और उसका बीज सचित और स्वरूप चिदाकाश है। हे राम जी, देत कुछ नहीं।

तेरहवाँ सर्ग

स्वर्यंभू उत्पत्ति वर्णन



शिष्ठजी बोले,—हे रामजी ! वह परब्रह्म शांत, स्वच्छ, अनंत और चिन्मात्र है । वह सर्वकाल अपने आपमें स्वतः स्थित है । उसीमें सम, असमरूप यह जगत उत्पन्न हुआ है । सो वह समरूप अर्थात् सजातीयरूप और असम-

रूप अर्थात् भेदरूप कैसे हे, सुनिए । पहले तो उसमें चेत्य का फुरना हुआ, तब उसका नाम जीव हुआ । जब जीवने दृश्य को जगाया तब उसीके द्वारा तन्मात्रा, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध उत्पन्न हुये । इन्हीं सबों से पृथ्वी, अप, तेज, वायु, और आकाश यह पंचभूत रूपी वृत्त उत्पन्न हुए । फिर उस वृत्त में ब्रह्मांड रूपी फल लगा है । इससे जगत का कारण पंच तन्मात्रा ही है । इस तन्मात्रा का बीज आदि संवित आकाश है और उसीसे यह सब जगत ब्रह्मरूप है । हे राम जी ! बीज के अनुरूप ही फल होता है । सो इसका बीज परब्रह्म है, इससे यह भी ब्रह्म है और जो चेतना रहित चिन्मात्र है, वह आकाशरूप है और वास्तव में द्वैतरूप कुछ नहीं बना । यही जीवाकाश और ब्रह्माकाश भी है । हे रामजी ! जिस प्रकार इसको शरीर ग्रहण करना पड़ा—अब वह कथा सुनिए । शुद्ध चिन्मात्र से जो चैतन्या-मुखत्व 'अहं—अस्मि' हुआ और उस अहं भावसे जीव अपने को अणु जानने लगा तो उसी अहंभाव के नाते उमका नाम अहकार पड़ गया । जब वह दृढ हो गया तब उससे निश्चयात्मक बुद्धि उत्पन्न हुई और उससे संकल्प विकल्परूपी मन उत्पन्न हुआ । जब मन संसरने लगा तब इसको सुनने की इच्छा हुई । तब उसके लिए श्रवण की आवश्यकता होकर श्रवणेन्द्रिय उत्पन्न हुई । इस भाँति जब श्रवण करने का सभी साधन मिल गया तब उसे रूप देखने की इच्छा हुई और चक्षु इन्द्रिय उत्पन्न हुई । जब उसने स्पर्श की इच्छा की

तव त्वचा इन्द्रिय प्रकट हुई । फिर जब उसने रस लेने की इच्छा की तब रसना इन्द्रिय प्रकट हुई । अस्तु, इमी भाँति शरीरेन्द्रियाँ चेतनता लिए हुए प्रकट हुईं और उसमें यह जीव अहं प्रतीत करने लगा । हे राम जी ! जिस प्रकार दर्पण में पर्वत की परछाई दर्पण के बाहर होती है, उसी प्रकार शारीरिक इन्द्रियाँ बाहरी दृश्य हैं और अपने में भासती हैं । फिर उन्हीं के द्वारा उन्हींमें अहं प्रतीति होती है । जिस प्रकार कुये में मनुष्य अपने को देखता है, उसी प्रकार देह में भी अपने आप को देखता है । जैसे डब्बे में रत्न होता है वैसे ही देह में प्राणी अपने आपको देखता है । सो वही देहके साथ मिलकर दृश्य की रचना करता है । तब 'अह' भाव से वह रूप के विषय में यह क्रिया जानने लगी । सो भी कैसे, सुनो । जैसे स्वप्न में दौड़ता जावे और जैसे स्थितविषे स्पन्दता होती है, वैसे ही आत्मा के विषय में स्पन्द-क्रिया प्रकट हुई सो चित्त-सवेदन से ही है और उसीका नाम स्वयंभू ब्रह्मा है । जैसे संकल्प से दूसरा चन्द्रमा जान पड़ता है, वैसे ही मनोमय जगत भासता है । कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है । केवल चित्तके सकल्प-विकल्प से फुरता है । तब जिस-जिस प्रकार से चित्त फुरता गया वैसे ही वैसे, देश, काल, द्रव्य, स्वाथर, जगम जगत की मर्यादा भी उत्पन्न होती गई । इसलिए यह जगत सकल्परूप है, सकल्प से परे जगत का कोई भी आकार नहीं है । जब सकल्प फुरता है तब आगे जगत का दृश्य जान पड़ता है । जब संकल्प निस्पन्द होता है, तब दृश्य का अभाव हो जाता है । हे राम जी ! इस प्रकार से यह ब्रह्मा पहले निर्वाण हुआ है और फिर उपजा है । इससे सब सकल्प मात्र है । जिस प्रकार नट अनेक-प्रकार का स्वांग करके फिर फिर बाहर निकल आता है, वैसे ही यह सब माया मात्र है । हे राम जी ! जब यह चित्त की ओर संसरता है तब दृश्य का अन्त नहीं होता । पर जब अन्तर्मुख हो जाता है तब समस्त-जगत आत्मरूप हो जाता है । चित्त ज्योंही निस्पन्द हो जायगा कि त्योंही

ज्ञानमात्रमे ही जगत निवृत्त हो जाता है । कारण कि सब कुछ संकल्प-रूप है । अतएव यह जगत आकाशरूप है, कुछ उत्पन्न नहीं हुआ ! केवल आत्मसत्ता ही स्वतः स्थित है । जैसे स्वप्न में भ्रमके नाते पर्वत और नदियाँ दिखलाई पडती हैं, वैसे ही भ्रम के नाते, यह जगत जान पडता है । हे राम जी ! जब आदि विराट स्वरूप ब्रह्मा के उत्पन्न होने में कोई वास्तविकता नहीं है, तब जगत कैसे उत्पन्न हुआ ? जिस प्रकार बिना कारण ही स्वप्न में अनेक प्रकार के देश काल और व्यवहार दृष्टिगोचर होते हैं और वास्तवमें उनके उत्पत्ति की कोई वास्तविकता नहीं है, सब आभास रूप है, उसी प्रकार इस जगत की भी कोई वास्तविकता नहीं है । आभास मात्र है । यद्यपि यह सब कार्य कारण से है तथापि अकारण है । हे राम जी ! स्वयम् हमारे लिए, यह जगत ऐसा ही भासता है, जैसे स्वप्ने में जागे हुए मनुष्य के लिए स्वप्न नगर भासता है । क्योंकि जो वस्तु बिना कारण जान पड़ी वह केवल भ्रम मात्र है । जिस प्रकार सकल्पपुर और गन्धर्व नगर जान पडते हैं, वैसे ही यह जगत भी जान पडता है । हे राम जी ! आत्मा यदि विराट-स्वरूप है तो वही अंतर्वाहक-रूप है । वह पृथ्वी आदि तत्वों से रहित और आकाशरूप है । फिर यह जगत अधिभूत कैसे होगा ?

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का तेरहवाँ सर्ग समाप्त ॥१३॥

चौदहवाँ सर्ग ।

सर्व-ब्रह्म-प्रतिपादन

हे रामजी ! यह जितना कुछ दृश्य है, सब असत्यरूप है । जो है वह निरामय ब्रह्म है । वह ब्रह्म आकाशज जीव के सदृश है । जिस प्रकार समुद्र के द्रवने से तरंग का रूप होता है, वैसे ही ब्रह्म जीवरूप होता है । आदि में जो सवितरूप हुआ है, वह ब्रह्मा हुआ है । उस ब्रह्मा से भी पहले जन्म हुआ है । जिस भाँति एक दीपक से अनेक दीपक हो जाते हैं, वैसे ही एक सकल्प से अनेक

सकल्पों का होना कठिन नहीं है। उसी भाँति एक आदि जीव से अनेक जीव उत्पन्न हुए हैं। जिस प्रकार स्तम्भ में चित्रकार पुतलियों को चित्रित करता है और वह पुतलियाँ पहले उसके मनमें होती हैं—स्तम्भ में नहीं, उसी प्रकार आत्मा में समस्त पदार्थों को मनने उत्पन्न किया है। इसलिए आत्मा ही ब्रह्म है और वास्तव में उन पुतलियों में सबसे बड़ी पुतलीरूप ब्रह्मा है। छोटी पुतलियाँ ही जीव हैं। जिस प्रकार पुतली न उत्पन्न होकर स्तम्भ की ही वास्तविकता है, वैसे ही जीव में आत्मसत्ता की प्रधानता है। इससे जगत की उत्पत्ति नहीं, सकल्प से ही जान पड़ता है। सकल्प का नाश होने पर जगत की कल्पना मिट जाती है।

इतनी कथा सुनकर रामजी ने पूछा कि हे भगवन् ! एक जीव से जो अनेक जीव उत्पन्न हुए हैं तो क्या वे पहाड़ में पत्थर के सदृश उत्पन्न हुए हैं या वह कोई जीवों की खान है ? उस एक में इतने जीव कैसे उत्पन्न हो जाते हैं ? कृपया यह प्रसंग भी बतलाइये। फिर यह भी बतलाने की रूपा कीजिए कि, वह एक जीव कौन है, जिससे सम्पूर्ण जीवों की उत्पत्ति होती है ? वाशिष्ठ जी ने कहा,—हे रामजी ! न तो एक जीव है और न अनेक जीव हैं। तुम्हारे यह वाक्य तो ऐसे ही हैं, जैसे कोई कहे कि, मैंने खरगोस की सींग का उडते हुए देखा है। जिस प्रकार खरगोस को सींग नहीं उत्पन्न हुआ, उसी प्रकार एक जीव भी नहीं उत्पन्न हुआ। और जब एक जीव नहीं उत्पन्न हुआ तब अनेक जीव कैसे उत्पन्न हुये। परन्तु जो शुद्ध अद्वैत आत्म सत्ता लिए ऐसे उत्पन्न हुए हैं, वह अपने आप में स्थित हैं, वह अनंत आत्मा है और उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। हे रामजी ! यह जो कुछ जगत तुम्हें जान पड़ता है, सब आकाशरूप है। इसमें कोई पदार्थ उत्पन्न नहीं हुआ है। केवल सकल्प के प्रकट होने से जान पड़ता है। जीव और अजीव शब्द का अर्थ आत्मा में कोई उत्पन्न नहीं हुआ।

यह कल्पना भ्रम होकर जान पड़ती है। नहीं तो आत्मसत्ता ही जगत के सदृश है और उसमें न तो एक जीव है और न अनेक जीव हैं। हे राम जी ! जो आदि विराट रूप आत्मा है वह आकाशवत् है। उसी से यह जगत उत्पन्न हुआ है। मैं तुम्हें क्या कहूँ ? यह जगत विराटरूप है और वही विराट जीवरूप है और वही जीव आकाशरूप है। फिर तुम्हीं बतलाओ कि, जगत क्या रहा और जाव क्या हुआ ? हे रामजी ! सब निर्मल आकाश रूप है। जगत में जितने जीव जान पड़ते हैं, सब ब्रह्मरूप हैं। इसमें दूसरा कोई तत्व नहीं है और न इनमें कोई भेद है। यह सुन कर राम जी ने पूछा कि, हे मुने ! आप कहते हैं कि, आदि जीव कोई नहीं हुआ, तब इन जीवों का पालनकर्ता कौन है ? यह सब जीव किसकी आज्ञा से विचरण करते हैं और इनका स्वामी कौन है ? यदि कोई नहीं है तो यह सर्वज्ञ और अल्पज्ञ भी कैसे है, और एक भी कैसे है ? वसिष्ठ जी ने उत्तर दिया—हे रामजी ! जिसको तुम आदि जीव कहते हो वह ब्रह्म नित्य, शुद्ध और अनन्त शक्तिवाला है। वह अपने आप में स्थित है। उसमें जगत की कोई कल्पना नहीं है। हे राम जी ! उस शुद्ध और विदाकाश अनन्त शक्ति वाले में जो आदि चित्त अपूर्ण हुआ है, वह शुद्ध ब्रह्मसत्ता जीव की भाँति जानने लगी है। वही थोड़ा-थोड़ा हिलने के सहारे उत्पन्न हुये की भाँति जान पड़ती है। पर केवल स्वरूप मात्र के अतिरिक्त कुछ और उत्पन्न नहीं हुआ है। वही चैतन्य बुद्धि जो आदि में थोड़ा-थोड़ा हिली है, उसी हिलने के नाते विराट आत्मा ब्रह्मस्वरूप होकर स्थित हुआ है। फिर उसने संकल्प करके जगत की रचना और कर्मों की रचना का है। हे रामजी ! वह देव अनन्त है और आदि के प्रपन्न है। तब इस भाँति, फुरी वह वैसेही स्थित, प्रपन्न तब इस भाँति, फुरी वह वैसेही स्थित, प्रपन्न फुरी वह वैसेही स्थित, प्रपन्न फुरी वह वैसेही स्थित, प्रपन्न

पुरुष है, वह अतवाहकरूप और पृथ्वी आदि तत्वों से परे नहीं है और यह जगत भी अतवाहक रूप है पृथ्वी आदि तत्वों से नहीं उत्पन्न हुआ है। पर अंतर यह है कि, इसमें सब सकल्प रूप है। जिस प्रकार मनोद्वेग का राज्य और नगर शून्य है वैसे ही यह जगत शून्य है। हे राम जी। इसका निमित्त कारण और समवायि कारण कोई नहीं है। अतः केवल भ्रम मात्र है और कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है। इसकी उत्पत्ति की यथार्थता तो तब होती जब यह उपर्युक्त दोनों कारणों में किसी कारण से उत्पन्न हुआ होता। पर इस जगत का तो कोई कारण ही नहीं है। यहाँ तो ब्रह्मसत्ता ही नित्य शुद्ध अद्वैत सत्ता है। फिर उसमें कार्य कारण की कल्पना कहाँ से आई? हे राम जी। यह जगत तो बिना कारण है और भ्रमके कारण जान पड़ता है। पर ज्योंही तुम्हारे हृदय में आत्मविचार की शक्ति उत्पन्न होगी त्योंही यह दृश्य-भ्रम दूर हो जायगा। जिस प्रकार दीपक हाथ में लेकर देखने से अन्धकार दूर हो जाता है, वैसे ही विचार करके देखने से जगतका भ्रम दूर हो जाता है। क्योंकि यह जगत तो केवल भ्रमरूपी मन के फुरने [हिलने] से उदय होता है, इससे यह सकल्पमात्र है। इसका स्वामी ब्रह्म है और यह जितने भी नाम पदार्थ हैं, सबमें इसी ब्रह्म की सत्ता कल्पित है। यहाँ तक कि छहों प्रकार के विकार भी ब्रह्मसत्ता में ही फुरते हैं और सबसे पृथक् भी हैं। इससे वह शुद्ध चिदाकाश रूप है और जगत का भी वही रूप है। जिस प्रकार मसुद्र की द्रवता से तरंग और बुदबुदों से फेन जान पड़ता है, उसी प्रकार आत्मसत्ता में चित्त के फुरने से जगत जान पड़ता है। जिस प्रकार सर्व प्रथम चित्त में पदार्थसत्ता दृढ हुई, उसी प्रकार यह जगत स्थित है आत्मा के प्रति उसका कोई भेद नहीं है। सब चिदाकाश है और उसकी इच्छा भी आकाशवत् है। देवता भी आकाश रूप है और समुद्र तथा पर्वत भी आकाश रूप हैं। हे राम जी। यही सब कारण है कि हमको सदैव ही चिदाकाश रूप जान

पडता है। आत्मसत्ता ही मनरूप होकर जान पड़ती है। और यही बुद्धिरूप हो जान पड़ती है, तब पर्वत और कंदरायें भी जगत का रूप जान पड़ते हैं। इस भाँति जब चेतनाशक्ति होती है, तब जगत जान पड़ता है नहीं तो नहीं जान पड़ता। जिस प्रकार वायु गमन करने ही पर जान पड़ती है अन्यथा नहीं, उसी प्रकार जब चित्त की संवेदना गमनरूप में होती है, तब जगत जान पड़ता है। इसी भाँति जब चित्त चलायमान नहीं होता तब जगत का अभाव होता जाता है। हे राम जी ! चिन्मात्र में चेत्यभाव होने पर ही वह जगत हुआ है नहीं तो यह कुछ नहीं है। जब जगत नहीं है तब आत्मा के सम्बन्ध में भेद पूर्ण कल्पना भी कैसी ? इस लिए न कोई कार्य है, न कोई कारण है और न जगत है। यह सब कुछ भ्रम मात्र केवल कल्पना है। नहीं तो वह शुद्ध परब्रह्म अपने आप में स्थित है। हे राम जी ! उस शुद्ध चिन्मात्र में थोड़ा चित्त सदैव रहता है। जिस प्रकार मिर्च के बीज में थोड़ी तीक्ष्णताई सदैव रहती है पर जब खाया जाता है तभी उसकी तीक्ष्णता जान पड़ती है, अन्यथा नहीं मालूम होती, उसी प्रकार जब चित्त संवेदन चैतन्योमुखत्व होता है तब जीव जगत चैतन्यजान पड़ता है। और संवेदनसे न रहने पर जीव को जगत की कल्पना नहीं जान पड़ती। हे राम जी ! जब हिलने के साथ किसी परिभाषा तकका संकल्प मिलता है, तब जीव प्रकट होता है और जब-इमसे परे हो जाता है तब शुद्ध चिदात्मा ब्रह्म होता है। जिस प्राणीको अशेष की कल्पना नहीं है और जिसको शुद्ध विकार रहित ब्रह्मसत्ताका दर्शन हुआ है, जानो वह प्राणी मुक्त हो गया है। हे रामजी ! यह सब जगत आत्माकी छाया मात्र है और वह आत्मा अभेद्य अदाह्य, अक्लेद्य, नित्यशुद्ध और सर्वांगत स्थाणु के सदृश अचल है। वह अहं-रूप है और सब जगत भी चिदाकाशरूप है। हम तो सदैव ऐसा ही जानते हैं। पर अज्ञानी वाद विवाद में पड़ा करते हैं। हमारे लिए वादा विवाद कुछ नहीं। क्योंकि हमारे सब

भ्रमों का नाश हो गया है। हे राम जी ! जिनको ऐसा निश्चय हो गया है कि, यह सब जगत ब्रह्मरूप है, दूसरा कुछ नहीं, उनके लिए शरीर अपना ही स्वरूप है। फिर उनके लिए निराकार निर्वपु सत्ता का अंग अपना अपना स्वरूप क्यों न हो ? इससे जो कुछ भी प्रपंच है सब चिदाकाशरूप है। पर मुखों को भिन्न २ जान पड़ता है और जन्म मरण भी जान पड़ता है। पर जो ज्ञानी हैं उनको सर्वत्र आत्मा को ही स्वरूप भासता है। उनके लिए पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश सब आत्मा के आश्रय से जान पड़ते हैं और वे यह जानते हैं कि, चित्त की शक्ति ही सब कुछ है। जैसे वसन्त ऋतु के आगमन पर रमशक्ति से वृक्ष बने प्रफुल्लित हुई जान पड़ती हैं वैसे ही चित्त शक्ति स्पन्दता करके जगत रूप होकर जान पड़ती है। हे राम जी ! जैसे वायु हिलने की क्रिया से ही जान पड़ता है वैसे ही जगत फुरणे से [हिलने से] जान पड़ता है। इस लिए चित्त की सवेदना ही जगत रूप होकर जान पड़ती है। अतः केवल फुरने ही से जगत है। दूसरी वस्तु से जो कुछ हुआ नहीं इसीसे जगत कुछ नहीं। जिस प्रकार समुद्र तरंग रूप में जान पड़ता है, वैसे ही आत्मा जगत रूप होकर जान पड़ता है। इससे जगत दृश्य भाव में जान पड़ता है और हिलने से कुछ नहीं हुआ। परन्तु वायु जड है और आत्मा चैतन्य है और जले भी किमी मात्रा में तरंगका रूप है और आत्मा अन्युत है, निराकार है। हे रामजी ! एक चैतन्यरूप रत्न है जिसका चमत्कार ही जगत है और उमी चैतन्यरूपी अग्नि में जगत उष्णता है। हे राम जी ! उस चैतन्त का प्रकाश ही भौतिक रूप प्रकाश होकर जान पड़ता है। इसी से जगत है, अन्य से नहीं ? वह चैतन्य शक्ति ही शून्य आकाश सदेश होकर जान पड़ती है। इसी भाव से जगत है, अन्य से नहीं। इस लिए जगत की कोई वास्तविकता नहीं है, चैतन्य सत्ता ही पृथ्वी रूप होकर जान पड़ती है। यह दृश्य में आता है इससे

जगत है, नहीं तो आत्मसत्ता से अन्य कुछ नहीं है। चैतन्य, विना-
 घने अन्धकार-में जगत रूपी श्यामता है या चैतन्यरूपी, कज्जल-का
 पर्वत है और जगत रूपी उसका प्रमाण भ्रम है और चैतन्यरूपी, सूर्य
 में जगत रूपी दिन है, आत्मारूप समुद्र में जगतरूपी लहरें हैं और
 आत्मारूपी पुष्प में जगतरूप सुगन्ध है। आत्मारूपी वृक्षमें जगतरूपी
 फूल है। आत्मा रूप स्वर्ण जगतरूप, भूपण है। आत्मा रूप पर्वत
 जगत रूप जड़ है। आत्मरूप अग्नि में जगतरूपी प्रकाश है। आत्म-
 रूप आकाश में जगतरूप शून्यता है। आत्मरूपी जगत में मधुरूपी
 मीठापन है। आत्मरूप छीर में जगत रूप घृत है। आत्मरूप सूर्य में
 जगत रूपी जलाभास है। अन्य कुछ नहीं है। हे रामजी ! इस भाँति
 देखिये कि, जो सर्व ब्रह्म सच्चिदानन्द शुद्ध-स्वरूप है, वही सर्वत्र सवमे
 स्वतः स्थित है। उसमें भेद कल्पना कुछ नहीं है। जिस प्रकार जलकी
 द्रवता में तरंग रूप होकर जान पड़ता है, उसी प्रकार ब्रह्मसत्ता जगत
 रूप होकर जान पड़ती है। न कुछ उपजा है, न नष्ट है। हे रामजी !
 प्रारम्भ में जो चित्त शक्ति चलायमान हुई है, वही विराटरूप ब्रह्म है
 और वही चिदाकाश रूप है, वह आत्मसत्ता से अन्यभाव को नहीं प्राप्त
 हुआ है। जिस प्रकार पत्तों की रेखाये पत्तों से पृथक् अन्य कोई नहीं,
 पत्तों का ही रूप है, वैसेही ब्रह्म में जगत है, दूसरा कुछ नहीं। वल्कि
 पत्तों की रेखायें तो एक स्वरूप की भी हैं किन्तु ब्रह्म और जगत में
 कोई आकार नहीं है। सब कुछ आकाश रूप होकर मन में फुरता है
 पर जगत कुछ नहीं है। जैसे स्तम्भ में शिल्पी द्युतलियाँ कल्पता है, वैसे
 ही आत्मा में मन ने जगत की कल्पना की है। पर वास्तव में जगत
 की कोई उत्पत्ति नहीं है। वह शिला की नाई स्थूल रहकर जगत को
 धारण कर रही है और आकाश की नाई विस्तरित होते हुए भी शान्त-
 स्वरूप है। अतएव उत्पन्न कुछ नहीं हुआ, जो है वह परब्रह्म स्वरूप
 है। इसी से इसमें कोई कल्पना भी कैसे हो सकती है ? ऐसा कहकर
 वाल्मीकि जी बोले कि, इस भाँति जब मुनि शादूल वशिष्ठजी ने

कहाँ तब संध्या का समय हो गया था, जिससे सभा के सब लोग एक-दूसरे को प्रणाम करके अपने-अपने स्थान को चले गए। दूसरे दिन सूर्य भगवान् के उदय होने ही फिर अपने स्थान पर कथा सुनने आ विराजे।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का चौदहवाँ सर्ग, समाप्त ॥ १४ ॥

पन्द्रहवाँ सर्ग

मण्डपोपाख्यान-राज्य-वर्णन



स प्रकार जब समस्त श्रोतागण यथा-स्थान विराजमान हो गये, तब रामचन्द्रजी को सम्बोधन कर वशिष्ठजी बोले,— हे रामजी ! आत्मा में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। जो उत्पन्न हुआ जान पड़ता है, वह भ्रम मात्र है। जिस प्रकार आकाश में तरवरे भासते हैं, सो भ्रम हैं, उसी प्रकार अज्ञानतावश आत्मा में जगत भासता है। जिस प्रकार स्तम्भ में विना चित्रित पुतलियाँ शिल्पकार के मन में भासती हैं उसी प्रकार चैतन्यरूपी स्तम्भ में मनरूपी शिल्पी त्रिलोकी रूपी पुतलियाँ कल्पता है। पर उसी उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है। ब्रह्मसत्ता यथातथा स्थित है। हे रामजी ! आकाश, पर्वत, समुद्र और पृथ्वी आदि सहित जो कुछ जगत जान पड़ता है, वह कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है। जब इनकी उत्पत्ति नहीं, तब अन्य-पदार्थ कहाँ से हुए ? इससे सब आकाशरूप है और वास्तव में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। इतने पर भी जो अनुभव से माना जाय तो भी असत्य है। जिस प्रकार स्वप्न की सृष्टि असत्य और असद्रूप है, उसकी उत्पत्ति की कोई वास्तविकता नहीं है, उसी प्रकार यह जगत भी असद्रूप है और शुद्ध निर्विकार सत्ता अपने आप विषे स्थित है। हे रामजी ! उस निर्विकार-सत्ता का त्याग करके जो लोग अवयव और अवयवी का विवाद उठाते हैं, उनको धिक्कार है। क्योंकि यह सब जगत तो आकाशवत्

पर यह जो बहुत प्राणियों वाला जगत जान पड़ता है, वह गन्धर्व-नगर और स्वप्नपुर के ही समान है। हे रामजी ! यह जगत जो पर्वतो सहित बहुत विशाल ज्ञान पड़ता है सो, अणुमात्र भी नहीं है। जैसे स्वप्न में देखे गए पर्वत जागने पर रत्तीमात्र भी नहीं हैं; क्योंकि उनकी कोई वास्तविकता नहीं है, वैसे ही यह जगत आत्मस्वरूप है, भ्रम होने से जान पड़ता है। जिस प्रकार संकल्पमेघ सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, वैसे ही यह जगत आत्मा के सम्बन्ध में बहुत ही तुच्छ है। जिस प्रकार खरगोस की सींग का होना असत्य है, उसी प्रकार जगत का होना असत्य है। जैसे मृगतण्डा की नदी असत्य है, वैसे ही यह जगत भी असत्य है। मिथ्या ज्ञान करके जान पड़ता है। पर विचार-पूर्ण ज्ञान से शांति मिलती है। शुद्ध चैतन्यसत्ता में जब चित्त उद्वेगित होता है, तब वही उद्वेग जगत रूप होकर जान पड़ता है। पर वास्तव में जगत हुआ कुछ नहीं। जिस भाँति समुद्र अपनी द्रवता से तरंग रूप जान पड़ता है, पर-तरंग कोई अन्य वस्तु नहीं है, वह भी जल का रूप है, वैसे ही ब्रह्मसत्ता जगत रूप होकर जान पड़ता है। वह ब्रह्मसत्ता अपने थोड़े ही प्रभाव द्वारा ऐसे जान पड़ती है, जैसे, जैसा बीज होता है वैसे ही उसमें से अंकुर निकलते हैं। इस लिए आत्मसत्ता ही जगत रूप है, दूसरी कोई वस्तु नहीं। आत्मा ही से स्वतः स्थित है और चित्त की सवेदना से ही हिलकर जगत रूप हो गई है। हे रामजी ! इसके सम्बन्ध में मैं तुमको एक आख्यान सुनाता हूँ जो श्रवण करने के योग्य है। इसके समझ लेने पर तुम्हारा सब संशय दूर हो जायगा और शांति एवं विश्राम पाओगे। यह सुनकर रामजी ने कहा कि, हे भगवन् ! मेरे ज्ञान की उन्नति के लिए आप मण्डपोपाख्यान को संक्षेप में कहिए। वशिष्ठ जी बोले,—हे रामजी ! पूर्वकाल में एक बहुत ही गुणज्ञ तेजस्वी, धर्मात्मा, सन्तानवान और मित्र-प्रिय तथा प्रजाप्रिय पद्म नाम का राजा इस पृथ्वी पर था। उसकी स्त्री का नाम 'खीला'

था जो बहुत ही सुन्दर और पातिव्रत धर्म में अटल लक्ष्मी के समान थी। उसके सौन्दर्य और गुणों पर राजा ऐसा मुग्ध रहता था कि उसे साथ लेकर कभी कदम्बों और कभी कल्पवृक्षों और कभी सरोवरों में क्रीड़ा किया करता था। धीरे-धीरे जब क्रीड़ा करने में राजा की स्पृहा अधिक बढ़ गई तब उसने कई जड़ाऊ मंदिर और वर्षीले स्थान क्रीड़ा करने के लिए बनाये और उसमें भी जाकर रानी सहित क्रीड़ा करता था। यहाँ तक कि बाद में वे दोनों वहाँ के निकटवर्ती मन्दिरों और देवस्थानों में भी जाकर क्रीड़ा कर आते थे। क्रीड़ा करने में उन दोनों को यह विचार न आता था कि अमुक स्थान कैसा है। और क्रीड़ा के योग्य है या नहीं। वे सर्वदा अपने रंग में मस्त रहते थे और सात्वती तथा राजसी सभी स्थानों में विचरना ही उनका ध्येय था। उस क्रीड़ा के आनन्द में वे दोनों बहुत से श्लोकों की रचना भी कर ले जाते और पुनः आपसमें ही उत्तर प्रति-उत्तर भी श्लोक ही में करते थे। उनके श्लोक साधारण न थे बल्कि मूल में तो वह भाषा के रूप में रहते और अर्थ सस्कृत में होते थे।

इस भाँति जब दोनों का प्रचुर स्नेह कुछ समय तक व्यतीत हुआ, तब 'लीला-रानी' ने सोचा कि, राजा मुझे बहुत प्रिय है और इनके स्नेह से मैंने बड़ा सुख लाभ किया, इस लिए ऐसा कोई यत्न अथवा यज्ञ, तप, दानादि करना चाहिये कि, राजा की युवावस्था सदैव इसी भाँति बनी रहे और कभी मेरा इनका वियोग न होवे। ऐसा विचार दृढ़ कर लीला उसकी पूर्ति में चिन्तित रहती थी कि, एक दिन उसके वहाँ संयोगवश कुछ ब्राह्मण और ऋषि मुनि आए। तब उनका सत्कार कर लीला ने पूछा कि, हे मुनीश्वरो। क्या आप लोग कोई ऐसी युक्ति बतला सकते हैं कि, मनुष्य अमर हो जावे और कभी उसकी मृत्यु न हो ? मुनियों ने कहा, — हे देवि। जप, तप और दानादि से मिद्धियाँ भले ही मिल जाँय पर अमर होना अत्यन्त कठिन है। मुनियों की ऐसी वाणी सुन कर लीला

का बड़ी चिन्ता हुई, उसने उन लोगों को विदा कर सोचा कि, "जब राजा का अमर होना कठिन है तो उनसे पहले अपना ही शरीर छोड़ने में सुख और शांति मिलेगी अथवा कोई ऐसा यत्न करूँ कि, यदि राजा की शरीर पहले छूटे तो उनका जीव मेरे ही अभ्यांतर में प्रविष्ट होकर रहे, जिससे मैं प्रतिक्षण उनका दर्शन किया करूँ। अतः इस मनोरथ की पूर्ति के लिए मैं सरस्वतीजी की पूजा करूँगी।"

हे रामजी! ऐसा निश्चय कर 'लीला' ने सरस्वती जी को प्रसन्न करने के लिए तीन सौ दिन का तिरात्रि निराहार रहकर चतुर्थ दिन पारायण करने वाले महाव्रत का अनुष्ठान किया। उस व्रत में लीला ने देवता, ब्राह्मण, पण्डितों और ज्ञानियों को स्नान, दान, तप और ध्यान सहित ब्रह्मचर्य रह कर विधि पूर्वक सत्कार किया। जब वह तीन सौ दिन पूरे हो गए तब उसकी श्रद्धा और भक्ति से सरस्वती-बागेश्वरी प्रसन्न होकर प्रकट हुई और साक्षात् दिव्य रूप धारण कर बोली, हे देवि! तुमने अपने पति को अमर करने के लिए जो यह महान् अनुष्ठान किया है उससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ, वर माँग। लीला ने कहा,—भगवती, आपकी जय हो। जय हो॥ हे देवि! मुझ अनाथिनी की रक्षा कीजिए, मैं आपकी शरण हूँ। हे देवि! यदि आप मुझ पर प्रमन्न हैं तो पहला वर यह दीजिए कि जब मेरे पति की मृत्यु हो तो उनका जीव बाहर न जावे और मेरे ही अंतःपुर में रहे। दूसरा वर यह दीजिए कि, जब मेरी इच्छा हो आप मुझे दर्शन दे दिया करे। सरस्वती ने कहा, एवमस्तु—एसा ही होगा। हे रामजी! यह वरदान देकर सरस्वती अन्तर्ध्यान हो गई और लीला वर पाकर प्रसन्न हुई। इधर तो यह हुआ, उधर तीन सौ दिन के लीला की पृथक्ता से राजा पद्म की दशा शोचनीय हो गई और वह विरहाग्नि में शरीर को छोड़ चला। फिर तो उसकी मृत्यु देख रानी लीलाको बड़ा क्लेश हुआ और वह दारुण विलाप करने लगी। तब उसके उसमहा विलाप और वारंवार की मूर्च्छा को

जान कर देवी सरस्वती ने आकाशवाणी किया कि, हे लीले । पति की मृत्यु से शोक न कर और उसके शव को पुष्प मालाओं से भलीभाँति ढँककर सुरक्षित रख । तुझे तेरा पति फिर मिलेगा और वह पुष्प भी ज्यों-का-त्यों रहेगा । तेरा पति कहीं नहीं गया है और जिस प्रकार आकाश की कान्ति निर्मल है, उसी प्रकार तेरा पति तेरे ही मन्दिर में विद्यमान है, कहीं अन्यत्र नहीं गया है ।” हे रामजी ! सरस्वती की ऐसी आकाशवाणी सुनकर, जिस प्रकार जल बिना तड़पती हुई मछली को जल वर्षा से शान्ति मिल जावे, उसी प्रकार लीला कुछ शान्त हो गई । परन्तु जिस भाँति धनी मनुष्य को कृपणता के नाते धन का सुख नहीं मिलता, उसी भाँति केवल आकाशवाणी से लीला को शान्ति न मिली और अपने पति के दर्शनो की लालसा से दुखी होकर पति की शव को पुष्पमालाओं से ढँक कर वहीं बैठ कर फिर विलाप करने लगी । इसी क्षण लीला ने भगवती सरस्वती का स्मरण किया जिससे देवी आ प्रकट हुई और बोली,—हे सुभगे ! तूने किस लिए मेरा स्मरण किया और इतना शोक क्यों करती है ? क्या नहीं जानती कि, यह जगत भ्रान्ति-मात्र है । हे सुन्दरी ! जिस प्रकार मृग तृष्णा की नदी होती है, उसी प्रकार यह जगत भी है । मैं, तुम और वह से लेकर आदि पर्यन्त जो जगत जान पड़ता है, सब केवल कल्पना और भ्रम होने से ही जान पड़ता है । नहीं तो आत्मा में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ । फिर तू किसके लिए शोक कर रही है । लीला ने कहा,—हे भगवती ! इस समय मुझे कुछ ज्ञान नहीं है । मेरा पति कहाँ है और उसने कौनसा रूप धारण किया है, यही देखने की मुझे उत्कण्ठा है । उनमें मिले बिना अब मैं अपने जीवन को नहीं देख सकता । देवो ने कहा,—हे लीले ! आकाश के तीन नाम हैं । पहला भृताकाश, दूसरा चित्ताकाश और तीसरा चिदाकाश । यह तीनों क्रमशः एक दूसरे के आश्रय हैं । तेरा पति इस समय चिदाकाश में पहुँचा है और चिदाकाश चित्ताकाश के आश्रय में है । इससे

जब तू चिदाकाश में स्थित होगी, तब समस्त ब्रह्माण्ड तुम्हको जान पड़ेगा, क्योंकि उसी में सब प्रतिबिम्बित होते हैं। तेरा पति वहीं गया है और समस्त जगत भी वहीं जाता है, वही तुम्हें पति का दर्शन होगा। हे पुत्री! यह सचित देश से देशान्तर को क्षणमात्र में चला जाता है और उसके बीच जो अनुभव आकाश है वही चिदाकाश है। जब तू संकल्प को त्याग देगी और उससे जो शेष होगा, वही चिदाकाश है। हे सुन्दरी! इस पृथ्वी पर विचरण करनेवाले समस्त जीव पृथ्वी के ही आश्रय में रहते हैं और पृथ्वी आकाश के आश्रय में रहती है। इस कारण यह समस्त जीव जो विचरते हैं वह भूताकाश के आश्रय से विचर रहे हैं और चित्त एक क्षण में जिसके आश्रय से देश देशान्तर में भटकता है वह चित्ताकाश है। हे लीले! दृश्य के अभाव होने पर परमपद की प्राप्ति होती है। मेरा वर तुम्हको शीघ्र प्राप्त होगा। हे राघव! ऐसा कह कर भगवती अन्तर्ध्यान हो गई और रानी लीला समाधि लगाकर ब्रह्माण्ड से प्राण को ऊपर निकाल आकाश को उड़ गई। फिर तो जिस प्रकार पक्षी अपने घोंमले से उड़कर आकाश को चल देते हैं, उसी प्रकार वह रानी भी चिदाकाश को उड़ी और एक क्षण में आकाश को पहुँच गई। वहाँ पहुँच कर अपने परम शांतिरूप और सबका अधिष्ठान रूप जो है उसमें साथ ले गए हुये अपने स्वप्न-कल्पना से पति को देखा। वहाँ अपने बहुत से मण्डलाधीशों को सिंहासनारूढ़ देखा और यह भी देखा कि मेरा पति एक सिंहासन पर आकाश में विराजमान है। वहाँ चारों ओर से ऐसा शब्द हो रहा था कि, हे राजा! तुम्हारा जय हो, जय हो और तुम बहुत दिन तक जीवो। इस भाँति लीला ने वहाँ बहुत से मन्दिरों को देखा और यह भी देखा कि राजा के पूर्व दिशा में वहाँ बहुत से ब्राह्मण, मुनीश्वर हुए तुम्हारे ध्यान से पाट कर रहे हैं। जब लीला ने वहाँ में देखा तो उधर बहुत सी सुन्दर स्त्रियाँ विविध प्रकार पढ़ने हुए बैठी हैं

तथा राजा के उत्तर दिशा की ओर हाथी, घोड़े, रथ और सिपाहियों की अपार सेना डटी है और पश्चिम की ओर अनेक मण्डलाधीश विराजमान हैं। ऐसी उपस्थिति देखकर लीला को बड़ा आश्चर्य हुआ। फिर लीला ने वहाँ पर नगर और प्रजागण को भी देखा जो अपने सब व्यवहारों में स्थित थे। यह सब कुछ देखकर लीला राजा की सभा में ऐसे जा बैठी कि उसे कोई देख न सका और वह सबको देखती थी। वहाँ बैठकर रानी ने देखा कि उसके अभ्यांतर में देव मन्दिर और ठाकुर वाडियाँ बनी हैं और देवताओं की पूजा विधि-पूर्वक हो रही है। वहाँ से गन्ध, धूप मिली हुई वायु त्रिलोकी को मग्न कर रही थी और राजा का यश चन्द्रमा के मद्दश प्रकाशित हो रहा था। उसी समय पूरव दिशा की ओर से एक हरकारे ने आकर कहा कि, 'हे राजन् ! पूरव दिशा की ओर में किपी और राजा को क्षोभ हुआ है और आपके मण्डलेश्वर युद्ध कर रहे हैं। फिर उत्तर दिशा की ओर से एक हरकारा आया और उमने कहा, 'हे राजन् ! उत्तर दिशा में किसी राजा को क्षोभ हुआ है और आपके मण्डलेश्वर युद्ध कर रहे हैं। उसी प्रकार दक्षिण की ओर से भी एक हरकारे ने आकर कहा कि राजा को क्षोभ हुआ है। फिर पश्चिम दिशा से भी एक हरकारे ने आकर वैसेही कहा। वह कहती रहा था कि एक दूसरे ने आकर कहा कि, सुमेरु पर्वत पर जो देवतागण रहते हैं, वहाँ भी एक क्षोभ हुआ है। फिर अस्ताचल पर्वत से आए हुए एक हरकारे ने कहा कि, अस्ताचल में क्षोभ हुआ है। तब राजा की आज्ञा से बहुत सी सेना वहाँ आई और जितने मंत्री थे और नद आदिक जितने टहलुए थे, सब वहाँ ऋषियों और मुनियों के सहित या उपस्थित हुए। उन भृत्यों के वस्त्र बहुत ही साफ थे और उनकी बोलियों से ऐसा शब्द हो रहा था कि, 'उस शब्द के आगे नगरों का भी शब्द न्यून था।

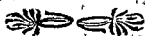
सोलहवाँ सर्ग

संदेह-राष्ट्र-वर्णन



रामजी ! इस भाँति वहाँ के बृहत् समागम को देख कर लीला को बड़ा आश्चर्य हुआ, उसे यह शंका हुई कि, हमारा पति ही मरा है या जो लोग परलोक में आए हे वे दुखी हैं अथवा सम्पूर्ण नगर के लोग मर गए हैं । उसी समय लीलाने देखा कि मध्याह्नकाल के सूर्य की नाई तेज धारण किए सोलह वर्ष का राजा पहले की जरावस्था को त्याग कर नवीन शरीर धारण करके आ बैठा है । ऐसा आश्चर्य देख रानी फिर अपने गृह को चली । तब क्या देखा कि, आधी रात का समय है और उसकी सब सखियाँ सोई हुई हैं । लीला ने उनको जगाते हुए कहा, जिस सिंहासन पर मेरे पति देव बैठते थे उसको साफ कर आये । और जिस पर मैं बैठती हूँ और जिस पर मंत्री व दाम आदि बैठते थे उनको भी साफ कर आओ । ऐसा सुनकर सहेलियों ने बड़े मंत्री से कहा और उस मंत्री ने सबको जगाया । फिर तो उन सबों ने सिंहासन को खूब झाड़ कर मेष की नाई उस पर जल बरसाया और सुखाकर उस पर वस्त्र बिछा दिया । फिर सिंहासन के चारों ओर वस्त्र बिछाकर बड़ी बड़ी मसालें जलाईं जिससे बड़ा प्रकाश हुआ और अन्धकार का नाश हो गया । तब मंत्री, सेवक, पण्डित, अधीश्वर और ज्ञानी लोग वहाँ सिंहासन के निकट यथा-स्थान आकर बैठ गए । फिर तो वहाँ इतने लोग आकर जमा हो गये मानो प्रलयकाल में समुद्र को क्षोभ हो गया और जल से पूर्ण प्रलय होकर मानो अनन्त सृष्टि की उत्पत्ति हुई ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का सोलहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १६ ॥



सत्रहवाँ सर्ग

सकल-जगत-भ्रान्ति-प्रतिपादन

वशिष्ठजी बोले,—इम प्रकार जब सिंहासन के चारों ओर सब लोग आकर बैठ गए और राजा न आया तब लीला रानी को बड़ा दुख हुआ। वह विधि की विडम्बना पर आश्चर्य करती हुई उलटे पाँव अपने पूजा गृह में लौट गई और ध्यानावस्थित होकर सरस्वती जी का स्मरण करने लगी। उसी क्षण कन्या का रूप धारण कर सरस्वती जी प्रकट हुई। तब लीला ने कहा,—हे देवि! मैं आपका वारम्बार स्मरण करके आपको कष्ट देती हूँ और पूछती हूँ, इस पर आप उद्विग्न न हो और मुझे क्षमा करें। क्योंकि शिष्य के वारम्बार पूछने पर बड़े लोग खेद नहीं प्रकट करते। उनका स्वभाव बड़ा उदार होता है। इससे हे देवि! मैं पूछती हूँ कि यह जगत क्या है और वह जगत क्या है? इन दोनों में कृत्रिम कौन है? अथवा इनमें बनावटी कौन है?

सरस्वती जी ने उत्तर दिया,—हे लीले! तुम्हारा प्रश्न यह है कि अतृप्त (असली) कौन है और अकृति (नकली) कौन है। सो इसका उत्तर मैं वाद को दूंगी। लीला ने कहा,—हे देवि! मेरे समझ से तो यहाँ हम और आप जो बैठे हैं सो अकृतृप्त है और वह जहाँ कि, मेरे पति का स्वर्ग है वह कृतृप्त है। क्योंकि वह सृष्टि शून्यावस्था में हुई है। इस पर देवी ने कहा,—हे लीले! कारण के अनुरूप ही कार्य होता है। यदि कारण सत्य है तो कार्य भी सत्य होता है न कि असत्य और असत्य से सत्य भी नहीं होता। कारण से अन्य रूप का कार्य नहीं होता। इससे जैसा यह जगत है वैसा ही वह जगत भी है। लीला ने कहा,—हे भगवती! कारण से अन्य, कार्य-सत्ता होती है। क्योंकि मिट्टी जल को नहीं उठा सकती जब तक कि वह घड़े के रूप में न बना ली जाय। जब वह घट का रूप

धारण करेगी तभी जल को उठा सकती है। फिर आप कैसे कहती हैं कि कारण से अल्प कार्य की सत्ता नहीं होती। देवी ने कहा,— हे लीले ! तुम्हारा यह कहना ठीक है, पर कारण से अन्य कार्य की सत्ता तब होती है, जब उसको भिन्न-भिन्न सहकारी मिलते हैं। जब सहकारी न मिलेंगे तब कारण से अन्य कार्य की सत्ता न होगी। तेरे पति की जो सृष्टि है वह विना कारण भासती है। उसका जीव सवित आकाश रूप था। जहाँ न कोई समवायि कारण और न निमित्त कारण ही है। फिर उसको कृत्रिम कैसे कहा जाय ? यदि किसी ने किया हो तो अवश्य कृत्रिम हो पर जो आकाश रूप और पृथ्वी आदिक तत्वों से भी रहित है वह कृत्रिम कैसे ? इसलिए जो वस्तु समवायि कारण नहीं है, उसका निमित्त कारण भी नहीं है। अतएव तेरे पति का सर्ग विना कारण है। इस पर लीला ने पूछा कि, हे देवि ! जब ऐसा ही है तब उस सर्ग (जगत) की स्मृति सस्कार का कारण क्यों नहीं है ? सरस्वती जी ने कहा,— हे लीले ! स्मृति क्या वस्तु है। यह तो आकाश रूप है। क्योंकि यह स्मृति शब्द संकल्पित नाम है और वह सकल्प आकाशवत् है। उसमें कोई वस्तु नहीं है, वह मनोराजरूप है और इसी से उसकी कोई वास्तविकता नहीं है। वह केवल अभ्यासरूप है। लीला ने कहा,— हे भगवती ! सकल्पमात्र आकाश रूप होने पर भी वह आकाश रूप है और यहाँ जहाँ कि, हम तुम दोनों बैठे हैं, वह भी आकाश रूप है। इससे दोनों ही समान है। सरस्वती ने कहा,— हे लीले ! जैसा तुम कहती हो वैसे ही है। मैं, तुम, वह और यह सम्पूर्ण जगत निसन्देह आकाश रूप है और भ्रम मात्र जान पड़ता है। वास्त में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है, सब आकाशरूप है। इसके स्वरूप की कोई सदभावना नहीं। क्योंकि यदि पदार्थ ही सत्य नहीं है तो उसकी स्मृति कैसे सत्य हो सकती है। लीला ने कहा,— हे देवि ! मेरा पति तो मूर्ति रहित था पर अब मूर्तिवत् होकर उसे जगत कैसे जान-पडने

लगा ? उसका कोई स्मृति कारण है या किसी अन्य प्रकार से यह मेरे दृश्य भ्रम निवृत्ति के लिए मुझको वही रूप सहित हुआ है। देवी ने कहा, हे लीले ! यह और वह सर्ग दोनो ही भ्रमरूप हैं। यदि यह सत्य होता हो इसकी स्मृति भी सत्य होती, पर यह तो स्वयम् असत्य रूप है। जिस प्रकार यह भ्रम तुझको जान पड़ता है, वह सुनो। एक महाचिदाकाश है और उसका किञ्चन विद्मंशु है और उसके किसी अंश में जगतरूपी वृक्ष है और सुमेरु उस वृक्षको स्तम्भ है और सप्तश्लोक शापाये हैं, शिखा आकाश है, सप्तसमुद्र उममें रस है और तीनों लोक फल हैं। उममें सिद्ध, गन्धर्व, देवता, मनुष्य, दैत्यरूप मच्छर हैं, तारागण उसके फूल हैं और उसी वृक्ष के किसी छिद्र में एक देश है और उसमें एक पर्वत है। उस पर्वत के नीचे एक नगर बसता है। वहाँ एक नदी का प्रवाह प्रवाहित होता है। उस स्थान पर वशिष्ठ नाम का एक ब्राह्मण जो कि बड़ा धर्मात्मा अग्नि होत्री, धन और विद्या में भरपूर था—निवास करता है।

श्री योगवशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का सत्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १७ ॥

अठारहवाँ सर्ग

ब्राह्मण, मरण वर्णन



लीले वह वशिष्ठ-ब्राह्मण विद्या, कर्म, धन और पराक्रम आदि में वशिष्ठ मुनि के समान था, पर जैसा खेचर वशिष्ठ का ज्ञान है वैसा भूचर-वशिष्ठ का ज्ञान न था। उसकी भी स्त्री का नाम अरुन्धती था और वह भी पति परायणा और महासुन्दरी थी। विद्या, कर्म, कान्ति, धन, चेष्टा और पराक्रम में भी उसी अरुन्धती के समान थी। ज्ञान और चैतन्यता आदि लक्षण भी उसी के समान था। भेद इतना ही था कि वह आकाश की अरुन्धती थी और यह पृथ्वी की। एक समय वह वशिष्ठ ब्राह्मण हरी-हरी घासों में एक पर्वत पर बैठा था

कि, वस्त्राभूषणों से अलंकृत एक सुन्दर राजा अपने परिवार सहित आखेट के लिये पर्वत के सन्निकट मार्ग से जा रहा था। उसके साथ, हाथी, घोड़े, रथ और पैदल चारों प्रकार की सेना थी और सेवकगण उसके शिर पर दिव्य चमर डुला रहे थे। उसकी सेना की चाल से पृथ्वी धूल से ढक कर आकाशमार्ग को अन्धेरा बनाये हुए थी। तब नौवत और नगरों के वाद्य को सुनकर और राजा की सवारी जाते हुए देख कर वशिष्ठ ब्राह्मण अपने मन में विचारने लगा कि राजाओं को बड़ा सुख मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि जीव बड़े भाग्य से राज-कुल में उत्पन्न होता है। यदि मुझे भी राज्य मिल जाते तो बड़ा अच्छा होता। ऐसा विचार कर वह काँक्षा करने लगा कि मैं कब ससार-विजयी होऊँगा और मेरे यश से दशों दिशाये कब पूर्ण होगी कि, ऐसा ही क्षत्र मेरे भी शीश पर होगा और उस पर चंवर दुरेगी। अथवा सुन्दर राजसदन में सुन्दर स्त्रियों के साथ मैं कब विलास करूँगा और सुगन्ध आदि के पदार्थ कब सेवन करने को प्राप्त होंगे। हे लीले! ऐसा सकल्प धारण करके-निज कर्मा को करता हुआ उस ब्राह्मण ने बहुत काल पर्यन्त जरावस्था को प्राप्त किया। फिर तो जिस प्रकार कमल पुष्प थोले के पड़ने से झुलस जाते हैं, उसी प्रकार उस ब्राह्मण की शरीर झुलस गई और मृत्युदेव निकट आ पहुँचे। तब मृत्यु को निकट देखकर उसकी स्त्री बहुत दुखी हुई और जिस प्रकार तुमने मेरा स्मरण किया उसी प्रकार उसने भी अनुष्ठान करके मेरा स्मरण किया और अपने पति को अजर-अमर होने के लिए वर माँगा। तब मेने तेरे ही अनुरूप उसे भी वर दिया। फिर बहुत काल पर्यन्त उस ब्राह्मण की मृत्यु हुई और उसका जीव मन्दिर में ही रहा। जिस प्रकार मन्दिर में आकाश रहता है उसी प्रकार वह मन्दिर में पड़ा रहा। हे लीले! आकाशरूप होने पर उसकी पुर्यष्टक में राजा का जो पूर्व दृढ संकल्प विद्यमान था, उसके कारण जिस प्रकार बीज से अकुर निकलता है, उसी प्रकार वह सकल्प आफुरा

और उसीमें वह अपने को त्रिलोकी का राजा एवम परम मौभाग्य-शाली देखने लगा । तब उसको-ज्ञात हो गया कि, दिशायें मेरे यश से परिपूर्ण हो रही हैं । हे लीले ! उस ब्राह्मण को तो ऐसा आनन्द मिला पर उसकी स्त्री उसको मृतक देखकर बहुत चोभित रहा करती थी । फिर तो नित्यश शोकित रहने के कारण यह परिणाम हुआ कि, एक दिन उसने भी शरीर-त्याग दिया, और अपने पति से वैसे ही जा मिली जैसे कि वेगवती नदियाँ समुद्र-में जा मिलती हैं । उस ब्राह्मण के कई पुत्र थे । अन्त में वही सब धन के स्वामी हुए । अभी उम ब्राह्मण को मरे हुए कुल आठ दिन हुआ है । अब वही वशिष्ठ ब्राह्मण तेरा पति राजा पदम होकर तुझे मिला है और अरुन्धती उसकी स्त्री तू लीला होकर उसे मिली है । इससे जो कुछ भी स्थावर जगमरूपी त्रिलोकी है, वह सब वशिष्ठ ब्राह्मण के अन्त-पुर में एक अणु में स्थित है । वहाँ का अभी केवल आठ दिन व्यतीत हुआ है और सूतक भी अभी नहीं गया है, पर वही आठ दिन तेरे लिए साठ सहस्र वर्ष का हुआ है और तूने इतने अधिक दिन तक राज्य करके कोटिश सुखों को प्राप्त किया है । हे लीले ! तेरे जन्मकी पूरी कथा मैंने कह दी । इससे जितना कुछ जगत तुझको जान पड़ता है, सब आभास मात्र है । केवल मकल्प से ही प्रकट होता है । नहीं तो इसकी कोई वास्तविकता नहीं है । हे लीले ! जब यह जगत सत्य नहीं, तब इसकी स्मृति सत्य कैसे ? हम तुम और सब उस ब्राह्मण के मंदिर में स्थित हैं । लीला ने कहा, हे भगवती ! आपके वचन को असत्य कहने की मेरी सामर्थ्य नहीं । पर आपने जो यह कहा है कि उस ब्राह्मण का जीव अपने गृह में ही रहा और जहाँ हम और आप बैठे हैं और देश देशान्तर, पर्वत, समुद्र लोक और लोकपालादि सब जगत उसी गृह में हैं सो आश्चर्य है कि उसमें इन सबका समावेश कैसे है ? आपका यह वचन तो ऐसा ही है जसा कि घुँघुची के दाने से मस्त हाथी बाँपा हुआ है और मच्छर तथा सिंहों का युद्ध हो रहा है ।

लीला रानी की ऐसी बात सुनकर देवी सरस्वती ने कहा,—हे लीले । यह मैंने असत्य नहीं कहा है । क्योंकि आदि परमात्मा का यह नियम और नीति है कि महान् व्यक्ति असत्य नहीं बोलते । इससे हम भी असत्य नहीं भाषण करतीं, हम तो धर्मका ही प्रतिपादन करती हैं और जहाँ धर्म की हानि होती है वहाँ हम प्रतिपादन नहीं करती । क्योंकि यदि हमी धर्मका पालन न करेगी तो और कैसे मानेगे ? इस लिए हे लीले । जिस प्रकार निद्रित को स्वप्न में त्रिलोकी भास आती है और वह अंतःकरण में ही होती है और जैसे स्वप्न से जाग्रत होना है, उसी प्रकार मृत्यु को भी जानो । जब प्राणी की मृत्यु हो जाती है तब जो पुर्यष्टक जीव है वही आकाशरूप हो जाता है । फिर वामना के अनुसार उसको जगत जान पडने लगता है । जिस प्रकार स्वप्न में जगत जान पडता है और फिर आकाश रूप हो जाता है । उसी प्रकार इसको भी जानना चाहिए । हे लीले । यह समस्त जगत तेरे उसी अंतःपुर में स्थित है । क्योंकि उसकी स्थिति चित्ताकाश में स्थित है । जिस प्रकार सिद्धांत में केवल छाया मात्र शेष है, उसी प्रकार चित्ताकाश में जगत स्थित है । हे लीले । यह जगत जो तुम्हको जान पडता है, वह आकाशरूप है । जिस प्रकार स्वप्न पुर जान पडता है, सकल्प पुर जान पडता है और जिस प्रकार आख्यान का अर्थ जान पडता है, उसी प्रकार यह जगत भी है । जिस प्रकार मृगतृष्णा का जल है, उसी प्रकार इस जगत को भी जानो । क्योंकि वास्तव में कोई पदार्थ उत्पन्न नहीं हुआ है, केवल भ्रम से जान पडता है । जिस भाँति स्वप्न से स्वप्नान्तर जान पडता है, फिर और स्वप्न देखता है, उसी प्रकार तुम्हको यह सृष्टि-भ्रम जान पडता है । नहीं तो यह जगत आत्मरूप है । क्योंकि जहाँ चिद्रागु है वहाँ जगत भी है । पर उसका रूप केवल आभास रूप है । जिस प्रकार यह आकाश रूप है, उसी प्रकार यह जगत भी आकाश रूप है । जैसे यह चेत है, उसी प्रकार जान पडता है, इससे यह केवल संकल्प

है। जिस प्रकार यह पुर जान पड़ता है और स्वप्न नगर होता है, उमी प्रकार यह जगत है। जैसे मरुस्थल की नदी का तरंग होता है, वैसे ही यह जगत जान पड़ता है। इस लिए तू इसकी कल्पना त्याग दे।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का अठारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १८ ॥

उन्नीसवाँ सर्ग

परमार्थ-प्रदिपादनम्



रस्वती जी के ऐसे कथन को सुनकर लीला रानी ने कहा,—हे भगवती ! आप कहती हैं कि, इस वशिष्ठ ब्राह्मण को मरे हुए केवल आठही-दिन हुए और मेरे लिए वही साठ सहस्र चीत गए, इससे आपकी वार्ता को मैं सत्य किस प्रकार जानूँ ? भला उस थोड़े समय को बहुत अधिक समय कैसे हो गये सरस्वती जी ने उत्तर दिया कि, हे लीले ! जिस प्रकार छोटे देश में बड़े देश भी आकर मिल जाते हैं, वैसे ही थोड़े काल में बड़ा काल भी आ जाता है। अहंकार और ममता सहित जो कुछ भी जगत है, सब आभास मात्र है। अब मैं क्रम पूर्वक उसका वर्णन कर रही हूँ, तू ध्यान देकर सुन। हे लीले ! पहले मरण समय में मूर्च्छा आती है और मूर्च्छा के बाद चेतन्यता आती है। तब उससे यह जान पड़ता है कि, यह एक आधार है तो दूसरा आधेय है। उस समय यह जान पड़ता है कि, यह मेरा हाथ है, यह मेरा शरीर है, यह मेरा पिता है, इसका मैं पुत्र हूँ। इतने वर्षों का मैं हुआ, यह मेरी गाई है, इनके साथ मैं प्रेम करता हूँ, यह मेरा गृह है और यह सब मेरा बहुत दिन से चला आता है। इस प्रकार मृत्यु के समय प्राणी इतने क्रम को देखता है। हे लीले ! जिस प्रकार वह देखता है, उमी प्रकार यह भी जान। यह जगत चेतना का किंचन है। जिस प्रकार चेतन संवित में चेत्यता है, उसी प्रकार यह

जगत भी जान पड़ता है। जैसे स्वप्न में द्रष्टा, दर्शन, दृश्य जान पड़ते हैं, वैसेही आत्म-सत्ता में यह जगत किञ्चन होता है। नहीं तो वास्तव में कुछ हुआ नहीं। जिस प्रकार स्वप्न में अकारण ही नाना प्रकार का जगत-जान पड़ता है, उसी प्रकार परलोक में भी नाना प्रकार का जगत, विना कारण ही आकाशवत् है। केवल भ्रम से भासित होता है। स्वप्न-जगत, परलोक-जगत और जाग्रत-जगत में कोई अन्तर नहीं है। जिस प्रकार वह भ्रम-मात्र है, वैसेही यह भी भ्रम-मात्र है। वास्तव में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। जिस प्रकार समुद्र की तरंग में कोई वास्तविकता नहीं, उसी प्रकार आत्मामें जगतकी कोई वास्तविकता नहीं है और असत्य ही सत्य के सदृश जान पड़ता है। अतः जिस कारण से वह उत्पन्न नहीं हुआ, उसी कारण से वह अविनाशी है। हे लीले ! जिस प्रकार चैतन्योन्मुखत्व होने पर चेतन रूपी आकाश जान पड़ता है, वैसेही चेत्यता में भी चेतन का रूप आकाशवत् है। क्योंकि वह कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। केवल समुद्र में तरंग के समान ही आत्मा और जगत का सम्बन्ध है। नहीं तो आत्मा में जगत कुछ अन्य वस्तु नहीं। जिस प्रकार खरगोश को सींग का होना असत्य है, उसी प्रकार जगत असत्य, मिथ्या है। बल्कि यों कहना चाहिये कि समुद्र और समुद्र के तरंग के सदृश ही आत्मा और जगत का सम्बन्ध नहीं है। हे लीले ! जिस प्रकार मृत्यु काल में मनुष्य को विना कारण ही जन्म प्रकार का मोह क्षण-क्षण में धर लेता है और उस क्षण में कुछ भी जान पड़ता है, उसी प्रकार विना कारण ही यह जगत जान पड़ता है। इससे न कोई द्रष्टा है न देश, न काल, न क्रिया, न शक्ति, न देह, न इन्द्रियाँ, न प्राण, न मन और न बुद्धि, यह सब ही जान पड़ते हैं। अन्यथा अ रूप हे। इमी के प्रमाद से भ्रम के कारण ही तो २।

समान जान पड़ी थी। उसी प्रकार यहाँ भी थोड़े ही काल में बहुत काल जान पड़ता है। दोनों अवस्था में इसको और का और जान पड़ता है। स्वप्न में भी कुछ अन्य जान पड़ता है और उन्मत्त होने पर भी कुछ का-कुछ जान पड़ता है। वह अपने को भोला और अभोला दोनों ही मानता है और भ्रम के नाते ही उत्साह और शोक को एकत्रित देखता है। किसी को उत्साह होता है और कोई स्वप्न में मृतकभाव और शोक को ही देखता है और वही भ्रम विखुड़े हुए को स्वप्न में मिला देता है। इससे जो कुछ है, सब भ्रम-स्वरूप है। परन्तु सब में ब्रह्म की सत्ता है, उससे परे कुछ नहीं है। इसी से यह बन्धे, मोक्ष भी कुछ नहीं है। जिस प्रकार मिर्च में तिक्तरस है, उसी प्रकार आत्मा में जगत है और जिस भाँति स्तम्भ में पुतलियाँ हैं उसी प्रकार आत्मा में जगत है। फिर जैसे-जैसे स्तम्भ में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ वह ज्यों-का त्यों है, उसी प्रकार ब्रह्म में जगत कुछ नहीं है। बल्कि मनरूपी शिल्पी ने जगत रूपी पुतलियों की कल्पना की है। अन्यथा आत्मसत्ता ज्यों की त्यों अजर-अमर होकर अपने आपमें स्थित है।

श्री योगाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ १९ ॥

बीसवाँ सर्ग

विश्रान्ति वर्णन



वी ने कहा,—हे लीले ! जब प्राणी को मृत्यु समय मूर्च्छा होती है तब उसको जन्म, देश, काल, क्रिया, द्रव्य और अपना परिवार आदि नाना प्रकार का जगत भासने लगता है। पर वास्तव में वह कुछ है नहीं। यहाँ तक कि, उसकी स्मृति (स्मरण शक्ति) भी असत्य है। स्मृति दो प्रकार की होती है। एक तो अनुभव स्मृति और दूसरी बिना अनुभव स्मृति, पर दोनों ही असत्य हैं। क्योंकि कोई भी

वस्तु किसी से उत्पन्न नहीं हुई है। इससे यह जगत बिना कारण और ब्रह्ममय है। उस विदूरथ (सूर्यवशी एक राजा) की सृष्टि सहित सब संकल्प मात्र है। यह सुन कर लीला ने प्रश्न किया कि— हे भगवती ! यदि यह सृष्टि केवल संकल्प रूप है तो विदूरथ की सृष्टि इस सृष्टि के संस्कार से हुई है और यह सृष्टि उस ब्राह्मण और ब्राह्मणी की स्मृति संस्कार से हुई है। फिर ब्राह्मण और ब्राह्मणी की सृष्टि किस स्मृति से हुई ? देवी ने उत्तर दिया कि, हे लीले ! यह तो सत्य है कि, वाशिष्ठ ब्राह्मण की सृष्टि उसके संकल्प में हुई और ब्रह्म ब्राह्मण में फुरा। पर वास्तव में ब्राह्मण उत्पन्न नहीं हुआ। इससे उसकी सृष्टि को क्या कहें ? इस प्रकार की जितनी भी सृष्टियाँ हैं वह उमी ब्राह्मण के मन्दिर में हैं, वास्तव में कुछ हुई नहीं है। सब संकल्प-रूप हैं और मन के फुरने से भासती हैं। जैसे जैसे संकल्प फुरता है, वैसे वैसे ही यह भासता है। इसी भाँति तेरे पति की सृष्टि उसके संकल्प की भावना से भास आई है। लीला ने कहा,— हे देवि ! जिस ब्राह्मण को मरे उस सृष्टि में अभी आठ दिन हुए, यदि मैं उसको देखना चाहूँ तो कैसे देख सकती हूँ। देवी ने कहा,— हे लीले ! वह सृष्टि तो केवल योगभाष्य द्वारा देखी जा सकती है, अन्यथा नहीं क्योंकि वह सृष्टि चिदाकाश में फुरती है। इससे जब तू चिदाकाश के सम्बन्ध में पूर्ण अभ्यास करे तो भलेही वह सृष्टि तुझे जान पड़ेगी। क्योंकि वह सृष्टि तो किसी और के ही संकल्प में फुरती है। जब तू उसके संकल्प में प्रविष्ट होगी तब वह तुझे दिखलाई पड़ेगी। जिस प्रकार दूसरे के स्वप्न को दूसरा नहीं जान सकता, उसी प्रकार दूसरे की सृष्टि नहीं भासती। इससे जब तू अनवाहक रूप हो जा, तब उस सृष्टिको देख नहीं तो आधिभौतिक व पंच तत्वों वाली शरीर में तेरा जब तक अभ्यास है, तब तक उसको न देख सकेगी। क्योंकि निराकार को निराकार ही ग्रहण करता है, आकार नहीं। आधिभौतिक शरीर तो भ्रम है। जब इसको त्याग कर चिदाकाश सत्ता में

इस प्रकार स्थित होवे कि, जिस प्रकार पत्नी अपने घोसलों को छोड़ कर आकाश में उड़ जाते हैं और इच्छानुकूल स्वतंत्र होकर जहाँ चाहते हैं विचरते हैं, उसी प्रकार चित्त को एकाग्र करके,—तू इस शरीर का परित्याग कर दे और योगासन से आत्मसत्ता में स्थित होकर जब आवरण से रहित होकर जहाँ इच्छा करे वहाँ चली जा (फिर तू जो कुछ भी देखना चाहेगी, वह देखेगी। हे लीले ! हम उमी आकाश में सदैव स्थित हैं। इससे हमको आवरण रोक नहीं सकता हमारे सदृश जितने लोग उदार प्रकृति के हैं वे सदैव स्वरूप में स्थित हैं और सदैव ही उससे पृथक हैं। कोई भी कार्य हमारी स्वतंत्रता में बाधक नहीं। जहाँ चाहे वहाँ जाते हैं। पर तेरे लिए ऐसा करना अमभव है। हे लीले ! अपना ही सकल्प मनोराज है और उसी में चित्त की विवृत्ति लगी हुई है और उसमें अपना शरीर ही काल है। पर जब वही नहीं भासता तब दूसरा क्या भासे ? इससे जब तुझे अतवाहकता का पूरा अभ्यास हो जाय और आधिभौतिक शरीर से चैराग्य हो जाय तब आधिभौतिकता का लोप हो जायगा क्योंकि पहले सृष्टि ही अतवाहक रूप है और संकल्प की दृढ़ता से ही उस प्रकार भासती है, जिस प्रकार जल शीतल होने पर जमकर बर्फ हो जाता है, उसी प्रकार अतवाहकता से आधिभौतिकता होती है। नहीं तो प्रमादरूपी संकल्प से अन्य कुछ नहीं हुआ। और जब वही सकल्प सूक्ष्म वस्तु, अतवाहक की ओर जाता है, तब आधिभौतिकता का नाश हो जाता है। और अतवाहकता का उदय होता है। इस प्रकार जब तुमको निवारण रूप का उदय हो और दृष्टि में और जानने में कुछ न हो क्योंकि साकार को निराकार ग्रहण न करेगा, निराकार का एक्य निराकार से ही है, नहीं तो नहीं। इसी प्रकार जब तू अतवाहक रूप हो जायगी तब उसकी सृष्टि में तेरा प्रवेश होगा। हे लीले ! जगत केवल सकल्प रूप है और अद्वैत सत्ता अपने आपमें स्थित है। लीला ने कहा,—हे भगवती ! जब अद्वैत आत्मसत्ता ही

सम कुछ है तब इसमें कलना क्या वस्तु है ? देवी ने कहा,—हे लीले ! जिस प्रकार सुवर्ण में भूषण कुछ नहीं और सीप में रूपा कुछ नहीं तथा रस्सी में सर्प नहीं है, उसी प्रकार कलना भी कुछ वस्तु नहीं है । केवल अद्वैत आत्म सत्ता ही सहज में स्वतः स्थित है । पर उसमें जो नानात्व (अनेकता) भासती है, वह केवल भ्रम है । नहीं तो अपना आप एक अनुभव सत्ता है । लीला ने कहा,—हे भगवती ! यदि अनुभव सत्ता और अपना आप है तो मैं इतने काल तक क्यों भ्रमती रही ? देवी ने कहा,—हे लीले ! तू अपने अविचार से भ्रम रही है । यदि विचार करे तो भ्रम शांत हो जायगा । भ्रम और विचार दोनों ही तुझसे उत्पन्न हुए हैं । जब तुझे अपने विचार का ज्ञान होगा तब भ्रम छूट जायगा । क्योंकि विचार से ही भ्रम का नाश होता है । जिस प्रकार रस्सी को जान लेने पर सर्प का भ्रम नष्ट हो जाता है और सीपी जान लेने से रूपे का भ्रम नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा को पहिचान लेने पर आधिभौतिक भ्रम नष्ट हो जाता है । दृश्यो का अभाव होने पर ही दृढ़ वैराग्य होता है और तभी आत्म-स्वरूप का अभ्यास होने पर आत्मा का साक्षात्कार होता है और तभी भ्रम शांत होकर कल्याण होता है । हे लीले ! दृश्य रूपी जगत में वैराग्य होने पर ही वासना का नाश होता है और वासना का नाश होने पर शांति मिलती है । इससे तू जगत-भ्रम शांत होने के लिए पहले आत्मसत्ता का अभ्यास कर क्योंकि भ्रम कोई वस्तु नहीं है । यह शरीर भी तो केवल भ्रम है, कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है । जिस प्रकार रस्सी को जान लेने पर सर्प का भ्रम नाश हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा को जान लेने से शरीरादि का अभाव हो जाता है ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का बीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २० ॥

इक्कीसवाँ सर्ग

विज्ञानाभ्यास वर्णन



लीले। यह शरीर जो तुझे जान पड़ता है, वह स्वप्नपुर के सदृश है। जिस प्रकार स्वप्न में शरीर जान पड़ता है और जब उसके स्वरूपका विस्मरण हो जाता है तब शरीर की कोई वास्तविकता नहीं रहती और जिस प्रकार सकल्प का परित्याग करने पर सकल्प शरीर नहीं भासता, उसी प्रकार ज्ञान होने पर यह शरीर नहीं भासता। अतः स्वरूप का ज्ञान होने पर यह कदापि न जान पड़ेगा। जिस प्रकार स्वरूप का स्मरण होने पर स्वप्नशरीर शांत हो जाता है, उसी प्रकार वासना के शांत होने पर जाग्रत शरीर भी शांत हो जाता है। जिस प्रकार स्वप्न का शरीर ज्ञानाभाव से अस्त्य है, उसी प्रकार जाग्रत रहने पर भी शरीर की भावना का त्याग करने पर शरीर अस्त्य है। अतः इस भावना का त्याग करने पर अंतर्बाहक देह उदय होता है। जिस प्रकार निद्रा से स्वप्न में रागद्वेष की प्राप्ति होती है और जब ज्ञान से पदार्थों की वासना नष्ट हो जाती है, तब उनसे प्राणी मुक्त होता है, उसी प्रकार जिम पुरुष की वामना जाग्रत पदार्थों के सम्बन्ध में नष्ट हो चुकी है, वही पुरुष जीवन्मुक्त होकर अक्षय पद को प्राप्ति करते हैं। ऐसे पुरुष को कदाचित् वासना भी आ जाय तो भी वह उससे परे हैं। उसका नाम सत्ता सामान्य है। हे लीले। जो पुरुष अपनी वासनाओं को रोक चुका है और अज्ञान निद्रा से घिरा है वह सुपुष्टि है। क्योंकि उसकी वासना सुपुष्ट है। पर जिमही वासना प्रकट है और जाग्रत रूपसे विचारती है उसका चित्त अत्यंत मोहमें घिरा हुआ जानना चाहिए। किन्तु जो पुरुष चेष्टा करते रहते हैं और जिनकी अंतर वामना नष्ट हो चुकी है, उनको तुरीया जान। फिर जिसकी जगत-भावना नष्ट हो गई है, वह पुरुष सत्यपद को प्राप्त हो चुका है। पर जिसकी वासना

पुरा करती है और शरीर की वासना नष्ट हुई रहती है उसी को अंत वाहकता प्राप्त होती है। जिस प्रकार बर्फ की विशाल चट्टानें सूर्य की गर्मी पानेसे गलकर जलके समान हो जाती हैं उसी प्रकार आधिभौतिकता के नाश होने पर अन्तवाहकता प्राप्त होती है। अन्तवाहकता प्राप्त होने पर शरीर मांस से रहित केवल चित्त-स्वरूप हो जाता है और उसको सर्वासाधारण का ज्ञान हो जाता है। हे लीले ! ऐसे पुरुष के लिए सब कुछ सुलभ है। जन्म जन्मान्तर और सृष्टि का तथा जहाँ जाने की इच्छा करे या जो कुछ देखने की इच्छा करे ऐसी सभी सिद्धियाँ उसके लिए सुलभ हैं। पर बिना अन्तवाहकता के ऐसी शक्ति का मिलना असम्भव है। अतः इस देह से अहंभाव नाश होने पर ही तुझे सब जगत प्रत्यक्ष जान पड़ेगा। हे लीले ! आधिभौतिक शरीर की वासना नष्ट होने पर ही अन्तवाहक शरीर की प्राप्ति होती है। और अन्तवाहक शरीर में स्थिति होने पर ही अन्य संकल्पित सृष्टि जान पड़ती है। इस कारण वासना को क्षय करने का ही यत्न करना चाहिए। क्योंकि वासना नष्ट होने पर ही अक्षय पद की प्राप्ति होती है। परन्तु जब तक तुझे पूरा ज्ञान नहीं है तब तक के लिए शरीर को यहाँ स्थापित कर यदि तू चाहे कि केवल चलकर ही उस सृष्टि को देख आऊँ तो अन्तवाहक शरीर और मांसमय स्थूल शरीर का व्यवहार ठीक नहीं है। क्योंकि स्थूल शरीर से सूक्ष्म कार्य नहीं हो सकता। इसमें अंतवाहक शरीर के लिए ही अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास करने पर ही तू उस सृष्टि को देखने में समर्थ होगी। हे लीले ! यह समस्त जगत अंतवाहक रूप है। क्योंकि यह संकल्प स्वरूप है और अज्ञानतावश संकल्प के अभ्यास से आधिभौतिक रूप से उत्पन्न हुआ है। उसीसे ससारकी वासनायें दृढ़ हुई हैं और उसीके नाते जन्म मरणके जो विकार हैं चित्तमें स्थित हो भासते हैं। नहीं तो जीव न तो मरता है और न जन्म लेता है। जिस प्रकार स्वप्न में जन्म और मरण दोनों ही भासते हैं और जिस

प्रकार सकल्प से ही भ्रम का अस्तित्व है, उसी प्रकार जन्म-मरण भी भ्रम होने से जान पड़ता है। अन्यथा आत्मपद का अभ्यास करने पर यह विकार मिट जाता है और आत्मपद की प्राप्ति होती है। लीला ने कहा,—हे देवि ! आपने यह अत्यन्त निर्मल उपदेश मुझे दिया है। इसके जानने से दृश्य दोष अवश्य नाश हो जायगा। पर जिस अम्याम को आपने बार-बार कहा है, वह क्या वस्तु है ? उसके ज्ञान का साधन क्या है और किस प्रकार उसका दृढ अभ्यास होगा ? तथा अभ्यास दृढ होने पर उसका क्या परिणाम होगा ? देवा ने उत्तर दिया,—हे लीले ! कोई भी कार्य अभ्यास के बिना सिद्ध नहीं होता। सबको सिद्ध करने वाला अभ्यास ही है। इस कारण तू ब्रह्म का अभ्यास कर। क्योंकि चित्त में आत्मपद की ही चिन्तना होती है और उसका कथन होता है, ज्ञान भी उसी का होता है और जीव की चेष्टा भी आत्मा ही में होती है और चित्तवन भी आत्मपद का ही होता है। इसीको ब्रह्माभ्याम कहते हैं। वही बुद्धिमान है जो शास्त्र और अपने गुरु की गम्भीर वाणी को सुन चुका है और उसपर युक्तिपूर्ण विचार कर चुका है और वही मत्कथन है जो शिष्यो को उपदेश करने के लिए हो। तथा अन्योन्य परस्पर बोध करना, समान धर्म मा निश्चय चर्चा और निर्णय करना और इन तीनों में परायण रहना उसका नाम बुद्धिमान जनः ब्रह्माभ्याम कहते हैं।—इम प्रकार जिनका पाप क्षीण हो गया है और पुण्य बड़ा है और जो रागद्वेष से मुक्त हो चुका है वही सच्चा ब्रह्म-सेवक है। हे लीले ! जो पुरुष रात दिन अध्यात्म शास्त्र का चिन्तन करते रहते हैं और वासना को अपने पास नहीं फटकने देते, वही सच्चे ब्रह्माभ्यासी हैं, एवम् वही ब्रह्माभ्याम में स्थित हैं। हे लीले ! जिसकी भोग वासना नष्ट हो गई है और जिनके निकट ममार का अभाव है, ऐसे महात्मा शीघ्र आत्मपद को प्राप्त करते हैं। फिर जिन पुरुषों की बुद्धि पर वैराग्य का रंग चढ़

चुका है और जिनकी चित्त वृत्तियाँ आत्मानन्द में ही आनन्दित है वेही उदारात्मा और ब्रह्माभ्यासी हैं। हे लीले ! जिस पुरुष ने जगत की अभावता को जान लिया है और जो यह जानता है कि, जगत की उत्पत्ति नहीं हुई है और दृश्य भी असत्य है, केवल परम तत्व ही सत्य है—ऐसी युक्ति में जो अभ्यस्त है, वही ब्रह्माभ्यासी है। पर जो जानता है कि दृश्य का अभाव नहीं है, वह रागद्वेषादि से कभी मुक्त नहीं होता। पर वह यह नहीं जानता कि रागद्वेष ही संसार के दुखों का मूल है। किन्तु जो यह जानता है कि दृश्य का निसन्देह अभाव है, उसको ज्ञेय अर्थात् परमात्मतत्व का ज्ञान अवश्य प्राप्त होता है। इस प्रकार जब प्राणी निरन्तर अभ्यास करता रहे, तब निर्वाण पद की प्राप्ति होती है और इसके लिए यत्न करना उसका प्राकृतिक धर्म है। हे लीले ! ज्ञान का साधन अभ्यास है और अभ्यास शास्त्र से होता है और उसकी पुष्टि प्रयत्न करने से होती है। पुष्टि होने पर आत्मतत्व की प्राप्ति होती है। हे लीले ! ऐसे पुरुष ही ब्रह्माभ्यासी और ब्रह्म-सेवक कहे जाते हैं। पर इनकी भी उत्तम, मध्यम और प्राकृतिक तीन प्रकार की श्रेणियाँ हैं। उत्तम सेवक वह है, जिसको बोधकलना उत्पन्न होकर दृश्य का असंभव ज्ञान हुआ है और जिसको ऐसा ज्ञान हुआ है पर बोधकलना नहीं उत्पन्न हुई है जो अभ्यास करने में ही लगा हुआ है, वह मध्यम सेवक है। पर जिसको दृश्य का असंभव ज्ञान नहीं हुआ है और जिसके हृदय में सदैव यही रहा करता है कि, दृश्य का असंभव हो जाय, वह प्राकृतिक है। इससे जिस भाँति मैंने तुम्हें अभ्यास करने को कहा है, यदि इस प्रकार अभ्यास करेगी तो निसन्देह तुम्हें परमपद की प्राप्ति हो। वशिष्ठ जी बोले,—हे रामजी ! अज्ञान रूपी निद्रा में यह जीव सोया करता है। इसीसे यह जगत को नाना प्रकार से देखता रहता है। उसी प्रकार अविद्यारूपी निद्रा से लीला को ज्ञान रूपी बचनो द्वारा जल की वर्षा काके सरस्वती जी ने जगाया। तब उसकी अज्ञानरूपी निद्रा वैसे

ही नाश हो गई जैसे शरत्काल में मेघ की काली घटा नाश हो जाती है। वाल्मीकि जी बोले कि, इस भाँति जब मुनीश्वर ने कहाँ तब संध्या समय होने से सभा फेलोग एक दूसरे को नमस्कार करके स्नान करने चले गए। और रात्रि व्यतीत कर सूर्य के उदय-हाते ही फिर आ उपस्थित हुए।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २१ ॥

बाईसवाँ सर्ग

लीला-विज्ञान-देहाकाश-गमन-वर्णन



शिष्ट जी बोले,—हे राम जी। लीला और सरस्वती देवी का यह सवाद अर्द्ध रात्रि के समय हुआ था। उस समय लीला की सब सहेलियाँ सो गई थी और उसका पति भी पुष्प मालायो से ढँका हुआ पड़ा था। उसके

निकट ही दिव्य वस्त्र पहने चन्द्रमा की ज्योति के अनुरूप सुन्दर देवियाँ सब कलनाओं और अङ्गों को सिकोड़ कर समाधि में ऐसे स्थित हो गई मानो रत्न के स्तम्भ में पुतलियाँ चित्रित हैं। फिर उनके प्रकाश से अन्तःपुर भी प्रकाशित हुआ। वे सब कलनाओं को त्यागकर निर्विकल्प समाधि में ऐसे स्थित हो गई जैसे कल्पवृक्ष नवीन ऋतु के रस को ग्रहण करता है। उसी प्रकार वे सब भी दृश्य—भ्रम को त्यागकर आत्मतत्त्व में स्थित हो गई और उनका अह आदि दृश्य भ्रम शांत हो गया। दृश्य के शांत होने पर शरत्काल के आकाश की नाई वे सब निर्मल भाव को प्राप्त हुईं। हे रामजी। जिस प्रकार खरगोश की सींग असत्य है, उसी प्रकार यह जगत भी असत्य है। क्योंकि जिसके आदि और अन्त का पता नहीं है और प्रकट वर्तमान है तो वह भी असत्य ही है। जैसे मृग तृष्णा का जल असत्य है, वैसेही यह जगत असत्य है। इस प्रकार जब उन सबों की स्वभावसत्ता हृदयगम होकर चित्ताकाश में स्थित हुईं

तब उनको जो अन्य सृष्टि देखने का संकल्प था वह आ-फुरा । उस फुरने से वे वह आकाशवत शरीर सहित चित्ताकाश में उड़ी और उड़ते २ सूर्य-चन्द्रमा के मण्डल को भी लॉघ कर दूर से भी दूर और अनंत योजन पर्यंत लॉघती चली गई । फिर बहुत दूर चले जाने पर उन दोनों ने भूतों की सृष्टि को देखा और उसमें प्रवेश किया ।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का गडसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २२ ॥

तेईसवाँ सर्ग

आकाश-वर्णन

इस प्रकार जब वे सब एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए दूरातिदूर उड़ती हुई जाने लगीं तो क्या देखती है कि, अग्नि और वायु के वेग नदियों की नाई चल रहे हैं । कहीं चन्द्रमा का प्रकाश है तो कहीं सूर्य का प्रकाश है । कहीं देवगण विमानों पर घूम रहे हैं तो कहीं सिद्ध लोग डर रहे हैं और कहीं विद्याधर और किन्नर गन्धर्व गायन कर रहे हैं । कहीं सृष्टि उत्पन्न हो रही है तो कहीं प्रलय पड़ी हुई है । कहीं प्राणी अपने व्यवहार में लगे हैं तो कहीं शिखाधारी तारे उपद्रव करते हुए उदय हो रहे हैं और कहीं पशु पत्नी विचर रहे हैं । कहीं दैत्य, डाकिनी घूम रहे हैं तो कहीं जोगिनियाँ नृत्य कर रही हैं । कहीं अन्धो और गूंगो का निवास है, तो कहीं गीध, पत्नी, सिंह और घोड़े की मुखाकृतिवाले जीव विचर रहे हैं । कहीं वरुण, कुबेर, इन्द्र और यमादिक लोकपाल बैठे हैं तो कहीं सुमेरु और मदराचल बड़े-बड़े पर्वत हैं । कहीं बहुत दूर-दूर तक वृक्ष ही-वृक्ष है तो कहीं अनेक योजन तक अविनाशी प्रकाश है और कहीं वैसाही बहुत दूर तक अन्धकार है । कहीं जल से भरा हुआ बहुत दूर तक का स्थान है तो कहीं सुन्दर पर्वत पर, गङ्गा का प्रवाह चल रहा है । कहीं सुन्दर बगोचे, सरोवर व तालाव हैं, और उसमें कमल लगे हुए हैं और कहीं कल्पवृक्ष के बहुत विशाल बन हैं कि जहाँ चिन्ता

मणि अनंत है। कोई स्थान शून्य है तो किसी स्थान में देव और दानवों का परस्पर युद्ध हो रहा है। उसमें नक्षत्र चक्र पड़े फिर रहे हैं। किसी स्थान पर प्रलय पड़ा हुआ घूम रहा है और कहीं देवता ही घूम रहे हैं। कहीं स्वामि कार्तिकके नियुक्त किये हुए मोरो के समूह विचर रहे हैं तो कहीं कुक्कुट और मोर गण और अन्य पक्षियों तथा विद्याधरो के वाहन पड़े विचर रहे हैं। कहीं यम का वाहन पड़ा है तो कहीं भैरव के गण नाच रहे हैं। कहीं प्रभा चमक रही है तो कहीं कल्पवृक्ष है और मंद २ शीतल सुगंध पवन चल रहा है इत्यादि। हे राम जी। उस जगत के जाल को देवियों ने इस प्रकार देखा।

श्रीयोगवाणिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का तेईसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २३ ॥

चौबीसवाँ सर्ग

भूलोक-वर्णन

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इस प्रकार उम महीतल में पहुँच कर उन देवियों ने ग्रामके ब्रह्मांड खप्परमें प्रवेश किया। वह ब्रह्मांड त्रिलोकी रूपी कमल के समान है और उसकी आठ पुतलियाँ हैं। उसमें पर्वत रूप डोंडा लगा है और चेतना सुगंध है और नदियाँ उसके अंबुक्षण हैं। उसमें जब रात्रिरूपी अलि (भौरा) जा बैठता है तब वह कमल सकुच जाता है। उसमें पाताल रूपी कीचड़ लगा है, अपत्र रूपी मनुष्य ही देवता हैं, दैत्यराक्षस कटक है और डोंडी उसकी शेष नाग है। जब वह डोंडी हिलती है तब भूचालन होता है। उससे जो दिन का प्रकाश है उसका विस्तार एक लाख जम्बू दीप है और उसके परे दुर्गुनाखारा समुद्र है। जिस प्रकार हाथ का कङ्कण चारों तरफसे घेर रहता है उसी प्रकार उस जल से वह द्वीप घिरा है। उसके आगे दुनी परिधिवाला क्षीर सागर है और उसके आगे उससे भी दुनी पृथ्वी है जिसका नाम कुश-द्वीप है और वह उससे भी

दूने घृत के समुद्र से घिरो है। फिर दुगुनी पृथ्वी है, जिसका नाम कौंच द्वीप है। वहाँ दूने दही का समुद्र है और उससे वह घिरा है। फिर शाम्ल द्वीप है और उससे दूना मधुका समुद्र है। फिर प्लक्ष द्वीप है जिससे दूना इक्षुरस का समुद्र है और उससे दुगुना पुष्कर द्वीप है और उससे भी दुगुना मीठे जल का समुद्र है। इस भाँति वहाँ सात समुद्र हैं। इसके अतिरिक्त दश कोटि योजन कञ्चन की पृथ्वी प्रकाशित हो रही है। उसके ऊपर बड़ा शून्य वन है और उससे परे एक बृहद् समुद्र है। उससे परे दशगुनी अग्नि है। अग्नि से परे दशगुनी वायु है और वायुसे परे दशगुना आकाश है। आकाश से परे एक लाख योजन बादल रूप ब्रह्मांड का कन्धा है। हे राम जी! उसको देखकर दोनों लौट आईं।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का चौबीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २४ ॥

पच्चीसवाँ सर्ग

सिद्ध-दर्शन-हेतु-वर्णन

वशिष्ठ जी बोले,—हे रामजी! वहाँ से लौटने पर लीला देवी ने वशिष्ठ ब्राह्मण और अरुन्धती का मण्डल देवा। उसे देख-कर फिर ग्राम, और नगर को देखने लगी। पर वह सभी-स्थान शोभा रहित हो चुके थे। जिस प्रकार अगमत्य मुनिने समुद्र का पान कर लिया था और समुद्र शोभा रहित हो गया था और जैसे वन में अग्नि लगजाने से वन शोभा रहित हो जाय, वैसे ही उन ग्रामोंकी पहली शोभा नष्ट हो गई थी। दास और दासी विलाप कर रहे थे, चारों ओर—हाहाकार मची थी। तब लीलारानी जो चिरकाल के ज्ञान को अभ्यास कर चुकी थी उसे यह इच्छा हुई कि, मुझे और देवी (सरस्वती) को मेरे बाधक देख लेते तो बड़ा अच्छा होता। फिर तो लीला को ऐसा सकल्प करते ही बाधक देखने लगे। उसी समय वशिष्ठ ब्राह्मण का ज्येष्ठ पुत्र जिसका नाम देवशर्मा था उसने

पुष्पादि सहित लीला रानी और देवी सरस्वती के चरणों की प्रेम पूर्वक पूजा की और कहा,—हे भगवती ! आप की जय हो ! हम लोग इस समय बहुत शोकवान् हैं—प्राप हमारे कष्ट को दूर कीजिए । यहाँ मेरे पिता वशिष्ठ ब्राह्मण और माता अरुन्धती ने बहुत काल तक निवास किया है । पर आज कुछ ही दिन हुए कि वे शरीर छोड़ स्वर्ग को चले गए । उनके न रहने से हमारे लिए त्रिलोक्य भी शून्य जान पड़ता है । पर आज हम आप का दर्शन करके बहुत प्रसन्न हो रहे हैं । क्योंकि सज्जनों के दर्शन मात्र से ही बहुत बड़े से बड़े शोक का नाश हो जाता है । फिर, आप तो जग-ज्जननी हैं । आप का समागम निष्फल न होना चाहिए । इससे कृपाकर आप हमारे शोक का निवारण कीजिए ।

हे रामजी ! ज्येष्ठशर्मा की ऐसी विनीत वाणी को सुनकर दोनों देवियाँ बहुत प्रसन्न हुईं और लीला रानी ने ज्येष्ठशर्मा के शिर पर हाथ रख कर उसका सब शोक दूर कर दिया । वह अतरात्मा से शुद्ध होकर शांति को प्राप्त हुआ । जिस प्रकार ज्येष्ठ की तप्तता में त्रसित वृक्ष आदि सूख जाते हैं और पृथ्वी भी जल जाती है पर आपाद का जल गिरते ही पुनः वृक्षों और पृथ्वी में हरिथाली आ जाती है, उसी प्रकार लीला द्वारा प्रणीत शांति को प्राप्त कर ज्येष्ठशर्मा प्रफुल्लित हो गया और उसका हृदय शीतल हो गया । साथ ही उस नगर के समस्त पदार्थों में जीवन संचार हो गया और वृक्ष आदि जो सूख गए थे वे हरे होकर फूल और फलों से पुनः शोभायमान हो गए ।

यह सुनकर राम जी ने प्रश्न किया कि, हे गुरु जी ! ज्येष्ठशर्मा तो एक प्रकार से लीला रानी का ही पुत्र था, फिर लीला ने उसको माता के सदृश क्यों न दर्शन दिया ? वशिष्ठ जी ने कहा,—हे रामचन्द्र ! आत्मा में जो सवेदन, सत्ता है अर्थात् हिलने की शक्ति है, वह पिण्डाकार जान पड़ती है और वास्तव में वह

आकाश का रूप जान पड़ती है, उसी प्रकार भ्रम का नाश होने पर पृथ्वी आदिके भूत आकाश सदृश जान पड़ते हैं। जिस प्रकार स्वप्न-नगर स्वप्नावस्था में अर्थ संयुक्त जान पड़ते हैं और अग्नि जलाती है, पर जाग जाने पर वही सब शून्य हो जाता है—उसी प्रकार अज्ञान का नाश हो जाने पर यह जगत आकाश रूप हो जाता है। पर जो ज्ञानवान् हैं उनको सब कुछ विदाकाश ही जान पड़ता है। उनके निकट जगत की कोई कल्पना नहीं रहती। इससे लीला उसको पुत्र और अपने को माता भावसे कैसे देखती? उसको तो अह और मम की भावना ही न थी। यदि उसके पास कुछ ममता का भाव होता तो वह अवश्य उसको माता भावसे देखती। पर उसके पास तो अह का नितात अभाव था। इसी कारण से न उसने माता भावसे, देखा और न तो देवीके ही रूपसे शिर पर हाथ रखा। बल्कि संतों का ऐसा ही दयालु स्वभाव है। अन्यथा माता और पुत्र की कोई कामना न थी। केवल आत्म-स्वरूप समस्त जगत उसे जान पड़ा था।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का पच्चीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २७ ॥

छत्वीसवाँ सर्ग

जन्मान्तर वर्णन



शिष्ठ जी बोले,—हे रामजी। इस प्रकार ज्येष्ठशर्मा को प्रसन्न कर सरस्वती सहित लीला उस पर्वत के ऊपरी भाग वाले ग्राम में जिसमें कि वशिष्ठ ब्राह्मण का गृह था गईं। तब वहाँ के निवासी प्रसन्न होकर आनन्द कानन में विचरने लगे। इधर अन्तर्ध्यान होने पर सरस्वती

ने कहा,—हे लीले। तुम्हें जो कुछ जानना था, सो जान चुकीं, पर अब जो कुछ और तुम्हें पूछना पूछ। लीला ने कहा,—हे देवि। मेरी इच्छा होते ही आदि ने तो मुझे देखा,

परन्तु मेरा पति जो विदूरथ है, जिसको देखने में गई थी, उसने मुझे न देखा—इसका क्या कारण है? देवी ने कहा, हे लीले! विदूरथ ने तुझे इस कारण नहीं देखा कि, उस समय तक तेरा दैत भाव नष्ट न हुआ था। जिस प्रकार ज्येष्ठ के बाद आपाद् का आगमन हो और वर्षा काल का प्रत्यक्ष न हो—तू भी उसी प्रकार थी। ससार मार्ग को तूने अवश्य लॉघ लिया था, पर अद्वैत तत्व को न प्राप्त कर तूने आत्मशक्ति का प्रत्यक्ष न किया था। तब तेरा सकल्प सत्संकल्प न था पर अब तू सत्संकल्पमय हुई है। तुमने ज्येष्ठ-शर्मा को देखना चाहा, इससे उसने तुझे देखा। पर अब यदि तू विदूरथ को देखना चाहती है तो उसके पास जा, वह तुझे अवश्य देखेगा और तेरे साथ पहले की भाँति व्यवहार करेगा।

लीला ने कहा,—हे भगवती! अब मैंने जान लिया कि, मेरे पति महाराज राजा पद्म इस लोक के राजा विदूरथ हैं जो पहले वशिष्ठ ब्राह्मण होकर मृतक हुए थे। इससे मुझे ज्ञात हो गया कि, इस मण्डप रूपी आकाश में उनका जन्म मरण दोनों हुआ और अनेक ब्राह्मण इसमें स्थित हैं। जिस प्रकार छोटे से सम्पुट में सरसों के अनेक दाने हों, उसी प्रकार इसमें ब्राह्मण मुझको समीप ही जान पड़ते हैं, पर अपने पति की सृष्टि में अब भी अन्तर जान पड़ता है। इससे अब आर्पण जो आज्ञा दे, वह करूँ। देवी ने कहा,—हे भूतल की अरुन्धती! तेरे तो अनेक जन्म और अनेक पति हो चुके हैं, वे तेरे समस्त पति इसी मण्डप में हैं। एक तो वशिष्ठ ब्राह्मण ही जो मरणोपरान्त पद्म राजा हुआ और जिसका शयन तेरे मण्डप में पड़ा है और तीसरा तेरा पति वसुधापति है जो समुद्र में भोगरूपी कलौल करता हुआ चेतना से व्यग्र है। वह राज्य के कार्यों में बड़ा ही निपुण है पर आत्मपद से विमुख है। वह अपनी अज्ञानता से समझता है कि, मैं ईश्वर हूँ, मेरा शासन सर्वोपरि है और मैं बहुत अच्छे भोगों का भोक्ता हूँ। हे लीले! यह तेरे तीन पति हैं।

अब बतला कि, तू किसके पास चलना चाहनी है। जिस प्रकार सुगन्ध को वायु ले जाता है, उसी प्रकार तू जहाँ कहे में तुझको वहाँ ले चले। हे लीले। इस सृष्टि का कोई अन्त नहीं है। यह अनन्त है। समुद्र और मन्दराचल पर्वत आदिक अनन्त हैं, और उन परमाणुओं में अनन्त सृष्टि पडी हुई चिदाकाश के सहारे फुरती है। उसी चिद्व्युत्पत्ति के अनुसार इस सृष्टिका विस्तार दृष्टिगत होता है। परतु विचार पूर्वक इसे तोला जाय तो यह एक चावल के बराबर भी नहीं है। अज्ञानवश देखने में तो अनक रत्न-पर्वत भी देख पड़ते हैं पर सभी आकाश रूप हैं। जिस प्रकार स्वप्नमें चेतना का किंचन नाना प्रकार का जगत दिखलाई पडता है, उसी प्रकार यह जगत चेतना का किंचन (हिलना मात्र) है। अन्यथा पृथ्वी आदिक तत्वों से इसकी उत्पत्ति नहीं है। हे लीले। आत्मसत्ता स्वतः स्थित है और उसी में आभास स्वरूप यह जगत भी उत्पन्न होता और मिटता रहता है। जिस प्रकार नदी में तरंग उत्पन्न होते और लय होते रहते ह, उसी प्रकार आत्मा में जगत उपजता और नष्ट होता रहता है, परन्तु आत्मसत्ता तो इस सम्बन्ध में सदा एकरस और आभास-स्वरूप है। इसकी कोई वास्तविकता नहीं है।

लीला ने कहा,—हे अम्बे। राजसी जन्म से लेकर अब तक जो नाना प्रकारके अष्टाशत जन्म मैंने पाये हैं, सबका मुझे स्मरण हो गया है। अब मैं जान गई कि पहले मैं चिदाकाश से उत्पन्न हुई थी और विद्याधर की स्त्री थी। उस जन्म में मैंने जैसा कर्म किया उसके अनुसार भूतल में जन्म लेकर पत्नी हुई, तब जाल में फँसी। फिर भिल्लिनी होकर कदव के वन में रही। फिर बनलता हुई। उसमें गुच्छे ही मेरे स्तन थे और पत्र मेरे हाथ थे। तब मेरी शोभा को देख कर एक ऋषि नित्य मुझ पर हाथ फेरा करते थे जिससे मरणो-परान्त मैं उनके गृह में पुत्री होकर उत्पन्न हुई। फिर वहाँ के शुभ कर्मों के नाते मैं लक्ष्मीवान राजा की स्त्री हुई। तब मैंने दुष्ट कर्म किया,

जिससे मैं बदरी हुई और मेरे अग कुण्ड रोग से अशोभित हुए। मरणोपरान्त मैंने वैल की योनि में जन्म लिया। खेती के काम में जुतने लगी और बहुत दुख मिला। फिर भ्रमरी हुई और पुष्पों पर सुगन्ध लेने लगी। तब मृग योनि में उत्पन्न हुई और जीवन पर्यन्त वनों में विचरती थी। मरणोपरान्त एक देश का राजा हुई और वहाँ पूरे सौ वर्ष तक राज्य किया। फिर कछुवे का जन्म मिला और फिर कर्मा के वश मैंने राजहंस का जन्म लिया। इस भाँति मैंने अनेक जन्मों को ग्रहण किया और बहुत कष्ट उठाया। इससे हे देवि। अब मुझे ज्ञात हो गया कि, आत्मज्ञान के बिना जन्मोंका अन्त नहीं होगा। पर आपकी कृपा से अब निःसंकल्प पदको प्राप्त कर लिया।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का द्वितीय सर्ग समाप्त ॥ २६ ॥

सत्ताइसवाँ सर्ग

गिरिग्राम और परमाकाश वर्णन



मजी ने पृच्छा कि, हे गुरुजी। जब ब्रह्माण्ड खण्ड इतने कोटि योजन पर्यन्त लम्बा चौड़ा था कि जिसका अन्त भी नहीं है, तब उसको देवी और लीला ने कैसे पार किया? विशिष्ठ जी ने उत्तर दिया, हे रामजी। न कोई ब्रह्माण्ड खण्ड है और न कोई गया, सब आकाश रूप है। विशिष्ठ ब्राह्मण जिस पर्वत के ग्राम में रहता था, मैंने उसी मण्डप आकाश में सृष्टि का अनुभव किया है। इसी प्रकार जब वह ब्राह्मण मरा, तब उसी मण्डप आकाश के एक कोने में रह कर अपने आपको आसमुद्रान्त पृथ्वी का राजा मानने लगा और कहने लगे कि मैं ही राजा पदम हूँ और अरुन्धती ही मेरी रानी लीला हूँ। तब वह फिर मरा, तब उसी आकाश मण्डप में जिससे अपने को राजा

विदूरथ जानने लगा । अब तू देख कि वह कहाँ गया और उसका क्या स्वरूप हो गया । आखिर वह वशिष्ठ ब्राह्मण ही के चित्र में तो स्थित है और उसी आकाश मंडप में ही तो उसे सृष्टि का अनुभव हुआ ? हे रामजी ! इसी प्रकार देवी सरस्वती की कृपा से अपने ही देहाकाश में लीला उड़ी और ब्रह्मांड को भी लॉघ कर, फिर अपने प्रथम गृह में चली आई । पर यह आना-जाना भी कुछ नहीं है । फिर ब्राह्मण्ड के लॉघने में क्या श्रम रहा ? वह कहाँ आई और कहाँ गई, एक ही स्थान में रह कर तो उसने एकसृष्टि से अन्य सृष्टि को देखा । हे रामजी ! अंतवाहक रूप होकर मन द्वारा जहाँ लॉघना चाहे, लॉघ जा सकता है, क्योंकि वही लॉघने वाला है । पर वास्तव में वह कुछ है नहीं । केवल स्पन्द सृष्टि के समान आभाम मात्र है । वामना ही जगत है, अन्यथा पृथ्वी आदिक भूत कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है । इसमें निवारण ज्ञान आकाशवत और अनन्त रूप से स्थित है । जिस प्रकार स्पन्द और निस्पन्द दोनों ही वायु के रूप हैं, उसी प्रकार स्फुर और अस्फुर रूप आत्मा ही किंचन में ज्यों-कान्त्यों स्थित है । पर वह शांत रूप और त्रिदाकाश है । उसमें किंचनता होते ती वह जगतरूप होकर जान पड़े लगता है । पर आत्म-ज्ञानी पुरुष ही उस जगत से परे रह सकते हैं नहीं तो अज्ञानियों के लिए जगत ब्रज के समान दृढ़ भासता है ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त ॥२७॥

अट्ठाईसवाँ सर्ग

परमाकाश वर्णन



रामजी ! इस भौति गिरि-ग्राम की अनुपम रचना देखती हुई लीला और देवी ने जाकर अपने गृह में निवास किया । गृह में पहुँचते ही लीला का ज्ञान और भी हो गया और वह त्रैकालज्ञ हो गई । तब अरुन्धती वाले शरीर का स्मरण कर देवी से कहा,

कृपा से अब हमारे

नाश हो गया और पूर्व जन्म में मैंने यहाँ जो कुछ किया था, सब स्मरण हो रहा है। देखिए, मैं इस स्थान में बैठ कर पूजा करती थी, यहाँ मैंने ब्राह्मणों को दान दिया था, यह मेरे दूध रखने का स्थान है, यहाँ अन्न के ढेर रहते थे और यहाँ मेरे पुत्र पुत्री और जामात्र आदि रहते थे। इस आमन पर बैठ कर मैं सेवकों को कार्य करने की आज्ञा देती थी कि, अमुक कार्य कर लाओ। हे भगवती! देखिए, यह मेरे रसोई बनाने का स्थान है, इधर मैंने पुष्प बोया था, यह सब वृक्ष मेरे ही हाथ के लगाये हैं, इनके पुष्पों से मेरी यह खिडकियाँ ढँकी रहती थी और अब भी यह चारों ओर से घेरे हैं। हे देवि! मेरे पतिदेव समस्त कार्य बड़ी शुद्धता से करते थे। आज वह सब कुछ मुझे स्मरण हो रहा है। इसी स्थान में मेरा पुत्र ज्येष्ठशर्मा पड़ा रो रहा है। यही मेरा मण्डपाकाश है और इसी में मेरे पति का जीव आकाश की नाई है।

लीला के ऐसे कथन को सुनकर देवी ने कहा,—हे लीले! शरीर की नाभि-कमल से दश अंगुल अगुष्ठ के समान उर्ध्व हृदयाकाश है और उसी में उसका संचित आकाश है सो उस आकाश में राजसी वासना विद्यमान रहने के ही कारण वशिष्ठ ब्राह्मण को मरणोपरान्त आसमुद्रान्त पृथ्वी का राज्य मालूम पड़ा। पर अभी यहाँ तो उसे मेरे केवल आठही दिन हुआ है। परन्तु उसने बहुत दिनों तक राज्य सुख का अनुभव कर लिया। लीला ने कहा हे-देवि! मालूम होता है कि थोड़े ही काल में उसने बहुत काल का अनुभव कर लिया। इसी से तो अभी तक उसकी शव हमारे ही मंडप में पड़ी है, पर उसके पुर्यंक में जगत फुर आया है। उसी में राजा विदूरथ ने अपने को जाना है और उसकी संचित इसी आकाश मंडप में स्थित है। अस्तु अब मुझको उस राजा की सृष्टि करोड़ों योजन जान पड़ती है। जिम प्रकार आकाश में गन्ध को लेकर वायु स्थित है, उसी प्रकार उसकी चेतना शक्ति सकल्प को धारण कर इस मण्डपाकाश में स्थित

है। पर है वह बहुत दूर। जब बादल और आकाश के अनेक योजन वाले मार्ग को तू पार कर जावेगी तब अपने पति के निकट पहुँचेगी और तभी चिदाकाश के बदले तू उसे अपने पास ही देखेगी। नहीं तो अभी केवल व्यावहारिक दृष्टि से वह बहुत दूर है। इससे अब वही चलना चाहिए जहाँ कि, मेरे पति राजा विदूरथ हैं। यद्यपि उनका स्थान दूर है, तथापि निश्चयवानो के लिए निकट है।

वशिष्ठजी ने कहा,—हे रामजी। ऐसी मम्मिलित वार्ता करके वह दोनों ही राजा विदूरथ को देखने के लिए मंडपकाश में उड़ी और बहुत बड़े-बड़े मेघादि पर्वतादि और सूर्य, चन्द्रमा तथा ब्रह्म-लोकादि को लाँघकर दूर से भी दूर चली गईं। फिर तो शून्यआकाश में पहुँच कर उन्हें घोर अन्धकार मिला। तब लीला ने कहा,—हे देवि। सूर्य आदि का प्रकाश क्या हो गया, यहाँ तो अधकार ही अधकार है। यह अन्धकार भी ऐसा है जैसे सृष्टि में ग्रहण होता है। सरस्वतीजीने कहा,—हे लीले। अब हम तुम दोनों ही महाआकाश में पहुँची है। यह तो अंधकार का स्थान ही है। यहाँ सूर्यादि का प्रकाश कैसे होगा? लीला ने कहा,—हे देवि। तब तो बड़ा आश्चर्य है कि, हम दूरातिदूर चली आईं। पर अब इससे भी भागे कहाँ चला जायगा। देवी ने कहा,—इसके आगे ही ब्रह्माण्ड कपाट है जो कोटि योजनो वाले विस्तार का है और वहाँ के धूल की कणिका भी बज्र के समान दृढ़ है।

वशिष्ठजी बोले,—हे रामजी। यह वार्ता करती हुई दोनों चली जा रही थी कि, ब्रह्माण्ड कपाट की सीमा पर पहुँच गईं। परन्तु अपने दृढ़ निश्चय के अनुसार उन दोनों ने उस कोटि योजन विस्तार वाले ब्रह्माण्ड को भी क्षण मात्र में पार कर दिया और तनिक भी कष्ट न पहुँचा। वहाँ पहुँच कर उन्होंने क्या देखा कि ब्रह्माण्ड कपाट के चारों ओर दशगुना जल, दशगुना अग्नि और दशगुना वायु और दशगुना आकाश—फिर परमाकाश कि, जिसका आदि अन्त

और मध्य कुछ जान ही नहीं पड़ता-वहाँ विद्यमान है। जिस प्रकार बन्ध्याके पुत्रकी कथा और चेष्टा आ का अन्त नहीं और आदि भी कुछ नहीं, वैसे ही परमाकाशमे आकाशादि का अन्त नहीं है। वह नित्य शुद्ध, अनन्त और अपने आपमे स्थित है। उसका अन्त लेने को शिव भगवान् भी यदि अपने मन की दौड़ से कल्पलौं दौड़े तो भी नहीं पा सकते और यदि विष्णु भगवान् भी चाहे तो अपने गरुण पर सवार हो कल्पलौं दौड़े तो भी उसका अन्त न कर सकेंगे। फिर यदि उस परमाकाश का अन्त पवन भी लेना चाहे तो वह भी न पावेगा। क्योंकि उसका आदि मध्य और अन्त कहीं नहीं है। वह केवल बोध मात्र है।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का अठाइसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २८ ॥

उन्तीसवाँ सर्ग

परमाकाश मे भीषण संग्राम



शिष्ठजी ने कहा, - हे रामजी ! परमाकाशमे पहुँचकर लीला और देवी सरस्वती ने बहुत आश्चर्यजनक वस्तुओं को देखा। वहाँ पर सृष्टियों तो बार-बार उत्पन्न हो रही थी और प्रलय भी बार-बार हो रहा था। किसी और जलका प्रवाह ऐसा था कि उसके आदि और अन्तका पता नहीं था जिससे अन्धकार ही अन्धकार था और प्रकाश तो नाम मात्र का भी न था। कहीं ऐसा मालूम होता था कि ब्रह्माही सृष्टि की रचना करते हैं और कहीं यह जान पड़ता था कि, विष्णु भगवान् और शंकर ही सृष्टि के रचयिता हैं। कहीं यह मालूम होता था कि समस्त सृष्टि प्रजापति से उत्पन्न हुई है और कहीं ईश्वर को भी कोई न मानता था।

इस प्रकार उन दोनों ने अगणित सृष्टि को चिदाकाश मे उत्पन्न होने देखा। उनकी सख्या निश्चित करना वाणीशक्ति के परे है। सभी चिदाकाश मे आकाशवत् फुर रही थीं। अब उन सबको देखते

हुए लीला और देवी अर्द्ध रात्रि के समय अपने मण्डप स्थानों को देखने लगी। उनका वह देखना ऐसा ही था जैसे कि, सोया हुआ मनुष्य जाग्रत अवस्था में वस्तुओं को देखता है। तब लीला ने देखा कि, राजा का शव शरीर पुष्प मालाओं से ढँका हुआ पड़ा है और गृह के समस्त प्राणी सो गए हैं। लीला का शरीर भी शव के पास पड़ा है। उस दृश्य को देखकर दोनों ने विचार किया कि, अब राजा की कवहरी में चलना चाहिए। क्योंकि उसकी पुर्यष्टक में ही तो विदूरथ का अनुभव हुआ था। फिर तो ऐसा विचार कर देवी सहित लीला ने अन्तर्वाहक शरीर धारण किया और भूट आकाश मार्ग को उड़ चली। उड़ते-डूडते जब ब्रह्मांड की सीमाको पार कर गईं तब उन्हें विदूरथ के संकल्प-जगतकी सीमा दिखलाई पड़ी। वह जगत ऐसा ही था जैसे कि, सरोवर में सेवार रहता है। क्योंकि उस जगत में सभी द्वीप द्वीपादि और पहाड़ रचित और विद्यमान थे। जम्बूद्वीप, भरतखंड, नवखंड और सुमेरुपर्वत आदि समस्त रचनाये दिखलाई पड़ी। उसी में राजा विदूरथ का मंडपस्थान भी दीख पड़ा। यही नहीं, वहाँ उन दोनोंने राजा सिंध को भी देखा कि, वह राजा विदूरथ की कुछ पृथ्वी को अपने शासनाधिकार में दबाये था। उसके लिए राजा विदूरथ ने सेना भेज कर युद्ध करने का निश्चय किया था। उत्तर में राजासिंध की भी सेना डट गई थी और दोनों में घमासान युद्ध हो रहा था। उस युद्ध को त्रैलोक्य के लोग देखने को वहाँ एकत्र थे। देवगण अपने-अपने विमानों पर आरूढ थे और सिद्ध, चारण, गन्धर्व और विद्याधर भी उस युद्ध को देख रहे थे। यह सब कुछ देखते हुए उन दोनों ने देखा कि वहाँ विद्याधरी और अप्सरायें युद्धमें मृतक शूरो को स्वर्ग ले जाने के लिए एकत्रित थीं। मांस और मज्जाका भक्षण करने के लिए राक्षस, पिशाच और मांसाहारी जीव जमा हो रहे थे।

तीसवाँ सर्ग ।

युद्ध का प्रथम दृश्य



रामजी । वहाँ के ऐसे भयानक दृश्य को देखने के पश्चात् लीला और देवी ने फिर क्या देखा कि, भिड़ी हुई दोनों सेनाओं ने अपने २ व्यूह की रचना करली है । तब मन्त्रव्यूह, चक्रव्यूह और गरुड-व्यूह रचकर दोनों पक्ष के सैनिक अपनी २ टुकड़ियों सहित युद्ध करने लगे । किसी ने कहा तू पहले अपना बाण चला तो उसने कहा नहीं पहले तू चला । वे ऐसा कह ही रहे थे कि महमा दोनों और से सैनिक गए अपने २ पक्ष को दृढ़ बनाने के लिए टूट पड़े । फिर तो युद्ध की मर्यादा नष्ट हो गयी और सब भिड़ कर युद्ध में गत हो शस्त्रों का प्रहार करने लगे । तब फरमा, त्रिशूल, भाला, वरुची, छुरी, चक्र और गदा आदिक शस्त्रों का ऐसा प्रहार हुआ कि, बड़ा भयानक शब्द उत्पन्न हुआ । उन सब शस्त्रों का एकही साथ चलना ऐसा मालूम हो रहा था मानों वर्षा की झड़ी लगी हुई है । हे राम जी । ऐसा मालूम हो रहा था मानो प्रलय काल उपस्थित हो गया है । उसमें वीर योद्धा तो अपने प्राणोंकी आहुति देनेके लिए आगे बढ़ रहे थे और कायर डर कर भाग रहे थे । फिर तो ऐसा घोर युद्ध हुआ कि अगणित शूरवीरों से पृथ्वी टूंक गई और उनके हाथी घोड़े तक संग्राम भूमि में कट कर गिर पड़े । उन सबके शिर और शरीर ऐसे कट रहे थे जैसे कमल-पुष्प काट लिया जाता है । तब ऐसा भीषण दृश्य उपस्थित होने पर दोनों पक्ष के राजाओं को बड़ी चिन्ता हुई । फिर तो क्षण मात्र में रक्त की प्रचंड धारा बह चली और वह अपने वेगमें वीरोंका शिर और शरीर बहा ले चली । उस धारामें प्रवाहित नरमुण्डों और अन्य जीवोंकी टकराहट से ऐसा शब्द उत्पन्न हुआ कि उसके आगे बादलों की गडगडाहट भी कम है । हे रामजी । इस प्रकार सकल्प विमानारूढ और कल्पाकाश

मे स्थित होकर उन दोनों देवियों ने देखा कि युद्ध ने ऐसा भयानक रूप धारण कर लिया है जैसा कि, प्रलयकाल में समुद्र एक रूप हो जाता है। वीरों के प्रहार करने के समय शस्त्र ऐसे चमकते थे जैसे बिजुली चमक जाती है। शूरों को अप्सरायें खींच-खींच कर स्वर्ग को ले जा रही थीं और देवतागण उनकी स्तुति करके कहते थे कि, यह चिरकाल तक स्वर्ग भोगेंगे। तब वह वाणी सुनकर और उसकी चिन्तना करके वीरों को और भी हर्ष होता था और वह विशेष प्रकार का युद्ध कौशल प्रदर्शित करते हुए मारकाट मचा रहे थे। जिस प्रकार वे युद्ध के लिए ऐसा व्याकुल होते थे वैसे ही उनमें धैर्य भी अधिक दृढ़ होना जा रहा था। इससे वह अचल योद्धा की नाई युद्ध करते थे। और वह संग्रामभूमि के भूपेटों से ऐसे चूर्ण हो जाते थे, जैसे कि ओखली में पड़कर कोई वस्तु चूर-चूर हो जाती है। फिर भी वह एक-दूसरे का सामना करने से पीछे न हटते और महा हाहाकारी शब्द करते हुए एक-दूसरे का सामना किया करते थे। गजारूढ़ सैनिक, गजारूढ़ों से, खड्गवाले, खड्गवालों से और त्रिशूल वाले त्रिशूल वालों से घोर युद्ध कर रहे थे। यहाँ तक कि जब जिसके पास शस्त्र न रहता तब वह मुष्टि युद्ध करता और पीछे न हटता था। फिर तो थोड़ी ही देर में दशों दिशाओं युद्धसे परिपूर्ण हो गईं।

॥ श्री योगवाशिष्ठ-म पा, उत्पत्ति-प्रकरण का तीसरा सर्ग समाप्त ॥ ३० ॥

इकतीसवाँ सर्ग

पुनः घोर युद्ध-वर्णन

वशिष्ठजी ने कहा, हे रामजी। वह ऐसा भीषण संग्राम हुआ कि, रुधिर की धारा भागीरथी गङ्गा के समान अत्यन्त वेग से बहने लगी। उसमें हाथी घोड़े, मनुष्य और सभी रथ आदि बह चले। उस समय बड़ा कलकला शब्द उत्पन्न हुआ। उस नदी के तट पर बैठ कर मांसाहारी जीव मृतको की शरीर को चिबोड़कर खाने लगे। फिर वेग ऐसा बढ़ा कि, समुद्र का

हो गया और उसमें हाथी, घोड़े, रथ और शूरमा लहरों के सदृश उछलने लगे। पर उस रक्त के वेग में भी योद्धागण एक दूसरे से भिड़ रहे थे। हे रामजी ! जिस प्रकार प्रलय की अग्नि समस्त मत्स्य को भस्म कर देती है, उसी प्रकार सग्राम भूमि वीरों को नाश कर देती थी। जो शिर कट जाता था, उसका घड़ अपने शत्रु से उठ-उठ कर युद्ध कर रहा था। किसी की भुजा कटती थी तो किसी किसी के ऊपर रथ, हाथी और घोड़े दौड़ पड़ते थे, जिसमें योद्धागण पिस उठते थे।

श्री योगवाशिष्ठ मापा, उत्पत्ति प्रकरण का इकतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥३१॥

बत्तीसवाँ सर्ग

सहायकागमन वर्णन

हे रामजी ! जब सग्राम ने ऐमा भीषण रूप धारण किया तब दोनों ओर के सैनिकों का सहार हो गया। तब काशी, भीला, मालवा, किरात, कवटा, मकला, म्लेच्छ, पारमी, काश्मीर, तुर्किस्तान हिमालय और सुमेरु आदिक पर्वतों के राजे महाराजे दोनों ओर के सैनिकों की सहायता करने के लिए जा भिड़े। फिर तो जिस प्रकार समुद्र के उछलने से दिशाये और स्थान जल से पूर्ण हो जाते हैं, वैसे ही उन राजाओं से युद्धभूमि परिपूर्ण हो गई और वे लोग दोनों ओर से भिड़कर युद्ध करने लगे। चक्रवाल, खड्ग कुल्हाड़े, छुरी, बर्छी, फटारी और गदादि शस्त्रों का ऐमा भीषण प्रयोग हो रहा था कि जिसका वर्णन करना अत्यन्त कठिन है।

श्री योगवाशिष्ठ मापा, उत्पत्ति प्रकरण का बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३२ ॥

तीसवाँ सर्ग

जनपद-युद्ध-वर्णन

हे रामजी ! योद्धागण दौड़ते हुए युद्ध भूमि में आगे बढ़ते थे, पर जाते ही शस्त्रों के प्रहार से काल कवलित हो जाते थे। उनका

नाश होना ऐसे ही था जैसे कि अग्नि में आहुति नाश हो जाती है। फिर तो ऐसा घोर युद्ध हुआ कि, रक्त का समुद्र बह चला और उसमें हाथी, घोड़े रथ और मनुष्य तृण के समान बहने लगे। समस्त संग्रामभूमि रक्त रञ्जित हो गयी। वीरों का शिर कट कर पृथ्वी पर ऐसे गिर रहा था मानो ताड़वृक्ष से फल तडातड़ गिर रहे हैं। हे रामजी ! वह ऐसा लोमहर्षण युद्ध हुआ कि वर्णनातीत है। मेरी तो गिनती ही क्या है, सहस्रमुख शेषनाग भी उस रण कौशल का वर्णन करने में असमर्थ हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३३ ॥

चौतीसवाँ सर्ग

युद्ध निवृत्ति-वर्णन

ऐसा घोर युद्ध चल ही रहा था कि, सूर्य भगवान् अस्त हो गए। तब राजा विदूरथ ने अपने चतुर सेनापति और मंत्री को बुलाकर युद्ध बन्द कर देने का आदेश किया। राजा की आज्ञा को पाकर सेनापति ने युद्ध के बीच भाग में जाकर उच्च स्थान से वस्त्र हिलाते हुए युद्ध बन्द कर देने की सूचना दी। फिर तो सैनिक-गण जहाँ के तहाँ रुक गए और युद्ध बन्द हो गया। दोनों पक्ष के सैनिक युद्ध बाध बजाते हुए अपने-२ स्थान को चले गए। राजा विदूरथ भी अपने राजसदन में पहुँच कर विश्राम करने लगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का चौतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥३४॥

पैंतीसवाँ सर्ग

निशाचर-रात्रि-वर्णन

उधर रात्रि होने पर मांसाहारी जीव संग्राम भूमि में पहुँच कर मांस भक्षण करने और रुधिरपान करने लगे। संग्राम भूमि में कितने वीर तो ऐसे पड़े थे कि उनकी भुजायें कट गई थी पर प्राण न निकला था और हाय-हाय कर कराह रहे थे। जब वे देखते थे कि मांसाहारी

हो गया और उसमें हाथी, घोड़े, रथ और शूरमा लहरों के सदृश उछलने लगे। पर उस रक्त के वेग में भी योद्धागण एक दूसरे से भिड़ रहे थे। हे रामजी ! जिस प्रकार प्रलय की अग्नि समस्त मत्सर को भस्म कर देती है, उसी प्रकार मग्राम भूमि वीरों को नाश कर देती थी। जोशिर कट जाता था, उसका धड़ अपने शत्रु से उठ-उठ कर युद्ध कर रहा था। किसी की भुजा कटती थी तो किसी किसी के ऊपर रथ, हाथी और घोड़े दौड़ पड़ते थे, जिससे योद्धागण पिस उठते थे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का इकतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥३१॥

बत्तीसवाँ सर्ग

महायकागमन वर्णन

हे रामजी ! जब मग्राम ने ऐसा भीषण रूप धारण किया तब दोनों ओर के सैनिकों का मंहार हो गया। तब काशी, भीला, मालवा, किरात, कवटा, सकला, म्लेच्छ, पारसी, काश्मीर, तुर्किस्तान हिमालय और सुमेरु आदिक पर्वतों के राजे महाराजे दोनों ओर के सैनिकों की सहायता करने के लिए जा भिड़े। फिर तो जिस प्रकार समुद्र के उछलने से दिशायें और स्थान जल से पूर्ण हो जाते हैं, वैसे ही उन राजाओं से युद्ध भूमि परिपूर्ण हो गई और वे लोग दोनों ओर से भिड़कर युद्ध करने लगे। चक्रवाल, खड्ग कुल्हाड़े, छुरी, वर्षी, कटारी और गदादि शास्त्रों का ऐसा भीषण प्रयोग हो रहा था कि जिसका वर्णन करना अत्यन्त कठिन है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३२ ॥

तीसवाँ सर्ग

जनपद-युद्ध-वर्णन

हे रामजी ! योद्धागण दौड़ते हुए युद्ध भूमि में आगे बढ़ते थे, पर जाते ही शास्त्रों के प्रहार से काल कवलित हो जाते थे। उनका

नाश होना ऐसे ही था जैसे कि अग्नि में आहुति नाश हो जाती है। फिर तो ऐसा घोर युद्ध हुआ कि, रक्त का समुद्र वह चला और उसमें हाथी, घोड़े रथ और मनुष्य तृण के समान-बहने लगे। समस्त संग्रामभूमि रक्त रञ्जित हो गयी। वीरो का शिर कट कर पृथ्वी पर ऐसे गिर रहा था मानो ताड़वृक्ष से फल तडातड गिर रहे हैं। हे रामजी ! वह ऐसा लोमहर्षण युद्ध हुआ कि वर्णनातीत है। मेरी तो गिनती ही क्या है, महसमुख शेषनाग भी उस रण कौशल का वर्णन करने में असमर्थ हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का तैत्तिरीयो मर्ग समाप्त ॥ ३३ ॥

चौतीसवाँ सर्ग

युद्ध निवृत्ति-वर्णन

ऐसा घोर युद्ध चल ही रहा था कि, सूर्य भगवान् अस्त हो गए। तब राजा विदूरथ ने अपने चतुर सेनापति और मंत्री को बुलाकर युद्ध बन्द कर देने का आदेश किया। राजा की आज्ञा को पाकर सेनापति ने युद्ध के बीच भाग में जाकर उच्च स्थान से वस्त्र हिलाते हुए युद्ध बन्द कर देने की सूचना दी। फिर तो सैनिक-गण जहाँ के तहाँ रुक गए और युद्ध बन्द हो गया। दोनों पक्ष के सैनिक युद्ध बाध बजाते हुए अपने-२ स्थान को चले गए। राजा विदूरथ भी अपने राजसदन में पहुँच कर विश्राम करने लगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का चौतीसवाँ मर्ग समाप्त ॥ ३४ ॥

पैंतीसवाँ सर्ग

निशाचर-रात्रि-वर्णन

उधर रात्रि होने पर मांसाहारी जीव संग्राम भूमि में पहुँच कर मांस भक्षण करने और रुधिरपान करने लगे। संग्राम भूमि में कितने वीर तो ऐसे पड़े थे कि उनकी भुजायें कट गई थीं पर प्राण न निकला था और हाय-हाय कर कराह रहे थे। जब वे देखते थे कि मांसाहारी

जीव और भूत पिचाश मांस भक्षण करते हुए निकट पहुँच रहे हैं तो वे डर जाते थे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३५ ॥

छत्तीसवाँ सर्ग

विदूरथ-चिन्ता

इधर राजा विदूरथ ने मंत्रियों को बुला कर दूसरे दिन के युद्ध का परामर्श किया और पुनः विश्राम करने लगा। पर चिन्ता ने उसे ऐसा सताया कि, वह करवटें बदलता रह गया और नींद न आई। उसी समय इन दोनों देवियों ने आकाश से उतर कर जिस प्रकार संध्या समय कमल मुँह वन्द कर लेंते हैं और उनमें वायु प्रविष्ट हो जाता है, उसी प्रकार राजा के वन्द गृह में भी देवियों ने सूक्ष्म परमाणु के मार्ग से प्रवेश किया।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३६ ॥

सैंतीसवाँ सर्ग

स्मृति अनुभव वर्णन

यह सुन कर रामजी ने प्रश्न किया कि, हे भगवन् ! उन शरीर धारी देवियों ने परमाणु के रन्ध्र में किस विधि से प्रवेश किया। क्योंकि वह रन्ध्र तो कमल के तन्तु और बाल के अग्रम भाग से भी सूक्ष्म अति सूक्ष्म है ? वाशिष्ठ जी ने उत्तर दिया कि, हे रामजी ! वास्तव में इस आधिभौतिक शरीर से सूक्ष्म रन्ध्र में प्रवेश करना अत्यन्त कठिन है पर मनरूपी शरीर तो ऐसा है कि, इसे कोई रोक नहीं सकता। उस समय लीला और सरस्वती का शरीर तो अन्त वाहक था। फिर उनको प्रविष्ट करने में क्या कठिनाई रही ? यदि कहीं आधिभौतिक शरीर होता तो अवश्य यत्न करना पड़ता। पर जहाँ आधिभौतिक ही नहीं है, वहाँ यत्न की शका कैसे ? सभी शरीर चित्तरूप हैं। इनमें जिसको जैसा अनुभव सचित में होता है

वैसेही उसको मिद्धि मिलती है, दूसरी नहीं। जो ऐसा निश्चय करे कि शरीरादि आकाश रूप है, उसको आधिभौतिकता का अनुभव नहीं होता किन्तु जिसके निश्चय में आधिभौतिकता दृढ़ हो रही है उसके लिए आधिभौतिकता कुछ नहीं है। जिस प्राणी को पूर्वार्ध का अनुभव नहीं होता उसको उत्तरार्ध में गमनता नहीं होती। जिस प्रकार वायु उर्ध्व को नहीं चलता और जिस प्रकार आदि चेतना की सवित में प्रवृत्ति हुई है, वह वैसे ही स्थित है। इससे जिसको अंतवाहाक शक्ति प्राप्त हो गई है, उसके निकट आधिभौतिकता का विचार लोप हो गया है, पर जिसको आधिभौतिकता दृढ़ है उसको अंतवाहाक शक्ति नहीं मिलती। जिस प्रकार छाया में बैठे हुए प्राणी को धूप का अनुभव नहीं होता और धूपवाले को छाया का अनुभव नहीं होता और अनुभव उसी को होता है कि जिसकाचित्त दृढ़ है अन्यथा किसी को नहीं होता। हे रामजी! चित्तसवित में जैसा उदाहरण होगा और जब तक अन्य की प्रतीति न होगी तब तक वैसीही सिद्धता प्राप्त होगी। जिस प्रकार रस्सी सर्प जान पड़े और भयवश कम्पित हो जावे तो वह कम्पायमान तभी तक होता है जब तक सर्पकी शंका दूर नहीं होती। परज्योही वह रस्सी-रस्सी जान पड़ी कि त्योही सर्प का भ्रम नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार जैसा अनुभव चित्तसवित में प्रमाणतः दृढ़ होता है, उसी का अनुभव होता है। यह बात तो बालक भी जानते हैं कि चित्त की भावना के अनुरूप ही रूप प्रकट होता है। यह नहीं होता कि, निश्चय कुछ और हो और अनुभव कुछ और हो। हे रामजी! आदि सर्ग तो आत्मा से स्वाभाविक और विना कारण ही उत्पन्न हुआ है। इसमें प्रमादवश द्वैत कार्य अकारण रूप होकर पीछे स्थिर हुआ है।

हे रामजी! उधर कह आए हैं कि, आकाश तीन है। चिदाकाश, चित्ताकाश और भूताकाश। इन तीनों में चिदाकाश ही मूल है। अन्य दोनो तो भिन्न भिन्न कलनाओं से हुए हैं। नहीं तो चिदा-

काश ही शुद्ध और आदि है। उसी अचेत्य चिन्मात्र में सवेदना जैसी फुरी है, उसी का नाम चित्ताकाश है और उसी में यह समस्त जगत हुआ है। चित्तरूपी शरीर सर्वगत है। इसमें जिम-जिस प्रकार से स्पन्दता हुई है, उसी प्रकार से वह जान पड़ती है। अन्य समस्त पदार्थों में तो वह व्याप्त ही है, किन्तु रेणुका में भी वह सूक्ष्मभाव से स्थित है। वही आकाश में व्याप्तमान है। वह अंतर और बाहर जगत में सर्वत्र चित्तरूप से स्थित है। जिस प्रकार समुद्र और तरङ्ग में भेद नहीं, उसी प्रकार आत्मा और चित्त में कुछ भेद नहीं है। अतः जो प्राणी आत्मानुभवी हैं और सर्ग का आदि चित्त ही जिनका शरीर है और जिनको आधिभौतिकता नहीं जान पड़ती, वह महाआकाश रूप हैं और उनका शरीर अन्तवाहक है। परन्तु जिस प्राणी को आधिभौतिकता में विश्वास है उसको अन्तवाहकता नहीं प्राप्त होती। योंतो सभी अन्तवाहक रूप हैं, पर भ्रम की दृढ़ता से आधिभौतिकता को देखते हैं। जिस प्रकार मरुस्थल में जल भासता है और जैसे बन्ध्या के पुत्र का सदभावना होती है, उसी प्रकार आधिभौतिक जगत भासता अर्थात् जान पड़ता है।

यह सुन कर रामजी ने पूछा कि हे भगवन् ! चित्त का होना और न होना क्या है और चित्त में क्या रहता है ? इस जगत को चित्तरूप क्यों कहा जाता है और यह अन्यथा कैसे होता है ? वशिष्ठ जी ने कहा, — हे रामजी ! प्रत्येक जीव के प्रति चित्त होता है और जैसा चित्त होता है वैसे ही शक्ति भी होती है। क्योंकि चित्त में ही जगत का भ्रम होता है और वह क्षण-क्षण में उदय और लय होता रहता है। यह कल्पना भी किसी को निमेष में होती है और किसी को क्रम पूर्वक मालूम होती है। इसका विवरण भी सुनने ही योग्य है। हे रामजी ! जब मरण समय में मूर्च्छा आती है, तब उस महा प्रलय रूप-मृत्यु-मूर्च्छा में नाना प्रकार का जगत जान पड़ने लगता है। जिस प्रकार स्वप्न सृष्टि फुरती है और सकल्पपुर जान पड़ता

है उसी प्रकार मूर्च्छान्तर में सृष्टि जान पडती है। जैसे महाप्रलय होने पर आदि विराट रूप ब्रह्मा ही होते हैं, वैसे ही मृत्यु के अनन्तर इसको विराट स्वरूप अनुभव होता है। क्योंकि इसका मनरूपी शरीर होता है। इस पर रामजी ने कहा, हे भगवन् ! मृत्यु के समय जो सृष्टि जान पडती है, वह स्मृति से होती है तो क्या वह सृष्टि कारण-सहित है ? वशिष्ठ जी ने उत्तर दिया कि, हे रामजी ! महाप्रलय होने पर तो हरि-हरादि सभी विदेहजन मुक्त हो जाते हैं फिर स्मृतिका होना कैसे सम्भव हो सकता है। हाँ, इस समय के जीवों के लिए स्मृति सकारण अवश्य हो सकता है, क्योंकि उनका जन्म-मरण स्मृति-कारण से होता है, वे मोक्ष नहीं होते और उनको मोक्ष का सर्वदा अभाव है। क्योंकि मरण समय में वह कैवल्य भाग में स्थित नहीं होते और चित्त संवेदन होता रहता है। इससे जगत फुर आता है। परन्तु ज्ञान होने पर काल, क्रिया, भाग, अभाग और स्थावर जंगमरूपी जगतादि सब आकाश रूप हो जाना है। पर जिसको ज्ञान नहीं होता, जिसके चित्त में संवेदनायें उठा करती हैं उन्हें शरीर और इन्द्रियाँ भास आती हैं। यद्यपि वह भी अंतर्वाहक शरीर धारण किये हैं तथापि विरकाल की प्राप्ति अर्थात् उस अज्ञानता के कारण आधिभौतिकता भास आती है जिससे देश, काल, क्रिया आदिक उदय होकर स्थित होते हैं। संवेदना से ही जगत है, अन्यथा नहीं है और इसी से ज्ञात होता है कि, मैं यहाँ उत्पन्न हुआ हूँ और यह मेरा है। नहीं तो सब मिथ्या है और भ्रमसे अपनेको उत्पन्न हुआ देखता है। फिर जीव का मृतक होना अर्थात् यह जानना कि जीव भी मरता है—यही जगत-भ्रम है। पर वास्तव में यह बात नहीं है, जीव भी आकाशरूप है और जगत भी आकाशरूप है। अज्ञानता वश जीव अपनेको उत्पन्न जानता है। यही अज्ञानता नाना प्रकार के जगत-भ्रम को दिखलाती है और यही नगर, पर्वत, सूर्य, चन्द्रमा, मरण और लोभ व्याधि में विश्वास

दिलाकर, व्यग्र करती रहती है। इसीसे भाव, अभाव, भय, स्थूल, पृथ्वी, नदियाँ, भविष्य और वर्तमान आदि को भी दिखलाता है। इसीसे प्राणी समझता है कि, मैं उत्पन्न हुआ हूँ, मैं अमुक का पुत्र हूँ, अमुकगण मेरे कुनवे हैं, यह मेरी माता है, यह मेरे भाई हैं, इतना धन मुझको मिला है इत्यादि। हे रामजी! ऐसे ही अज्ञानमय वासना और जालों में प्राणी दुःख भोगता है और कुमृत व देहाकृत की व्याख्या करता है। कहता है कि, पहले मैं बालक था, अब युवा हुआ, यह मेरा वर्ण है इत्यादि। यही जगत की अनेक कल्पनाएँ प्रत्येक जीव की होती हैं। हे रामजी! समार एक वृक्ष है और चित्त उसका बीज है। तारागण उसके फूल हैं और चञ्चल मेघ पत्ते हैं। और जङ्गमजीव, मनुष्य, देवता, दैत्य और पक्षी उसपर बैठने वाले हैं। रात्रि उसके ऊपर धूल है। समुद्र बावड़ी है। पर्वत शिलवट्टे हैं, अनुभव अकुर है। मरण समय में जीव क्षण भर में इन सबों को देखता है। ऐसे ही प्रत्येक जीव को अनेक प्रकार का जगत जान पड़ता है। हे रामजी! एक नहीं, कितने ही कोटि ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, पवन और मर्पादि हो गए हैं। पर जहाँ सृष्टि है वहीं यह भी है। चिद्व्याणु में अनेक सृष्टि हैं और उसमें अनेक जीव हुए हैं। उसी में सुमेरु आदिक पर्वत और मण्डल तथा द्वीपादि भी अनेक हो गए हैं। उस चिद्व्याणु में अर्थात् परब्रह्म में कुछ नहीं है। क्योंकि उसकी कोई वास्तविकता नहीं। जिस प्रकार शिल्पी पत्थर की दीवार में पुतलियों की कल्पना करता है और वह कुछ है नहीं, उसी प्रकार चिदाकाश में जगत कुछ नहीं है। केवल मनोमात्र है। मनोमात्र व स्मरण भी चिदाकाश रूप है और इसी में मनोमात्र व स्मरण भी है। यदि दृश्य की वास्तविकता कही जाय तो वह भी कुछ नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार मनो राज नाना प्रकार का जान पड़ता है, उसी प्रकार चिदाकाश की ज्योति नाना प्रकार का जगत होकर जान पड़ता है। इससे यह समस्त

संसार चिदाकाश रूप है। हमको भी ऐमाही जान पड़ता है। पर तुमको अर्थ संयुक्त भासता है। इसीसे लीला और सरस्वतीका आख्यान सुनाकर मैंने तुमसे कहा है कि, वह दोनों आकाशरूप, सर्वज्ञ-स्वच्छ-स्वरूप और निराकार थी। इसी से वे स्वतंत्ररूप से विचरण करती हुई इच्छानुकूल सिद्धता को प्राप्त कर लेती थी। क्योंकि चिदाकाश का अनुभव होने पर उस कोई रोक नहीं सकता। अतः जो सर्व रूपमे स्थित हो चुकी थी, उसके लिए राजाविदूरथ के बन्द गृह मे प्रवेश करना क्या आश्चर्य है ?

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३७ ॥

अड़तीसवाँ सर्ग

राजाविदूरथ का भ्रांति निवारण

वाशिष्ठ जी ने कहा,—हे रामजी ! जब अंतवाहक शरीरधारी दोनों देवियोंने राजा विदूरथ के गृहमे प्रवेश किया, तब उनकी प्रभासे गृह-मण्डप प्रकाशमान हो गया और एक अनोखी ज्योति जगमगाने लगी। कल्पवृक्षोंसे ऐसी सुगन्धि चली कि समस्त व्याधियाँ दूर हो गईं और राजा विदूरथ की भी निद्रा उचट गई। उसने नेत्र खोल कर देखा तो दो देवियों सुन्दर स्वरूप और दिव्याभूषणों से सुसज्जित खड़ी हैं। तब जिस प्रकार शोपनागों की शय्या से विष्णु भगवान् उठ खड़े हो उसी प्रकार वह राजा विदूरथ हाथों मे पुष्प लेकर खड़ा हो गया और दोनों हाथ जोड़े हुए आकर देवियोंके चरण कमल पर चढ़ा दिया। फिर विविध प्रकार से निवेदन कर बोला,—हे देवियों ! आपकी जय हो ! आप जन्म-मरण के दोषों को दूर करनेवाली हैं। आप का दर्शन करने से ब्रह्म-तम नष्ट हो जाता है। आप सूर्य और चन्द्रमाके समान-पूजनीय हैं। राजा ऐसी वन्दना कर ही रहा था कि, उसके मंत्री आदि जो सोये सोये भी जाग गए और राजा के निकट आ बैठे। तब देवी कि, हे राजन् ! तुम कौन हो और

किसके-पुत्र हो और तुमने कब जन्म लिया है। राजा विदूरथ उत्तर देना ही चाहता था कि, उसके मंत्रीने कहा, -हे देवि। राजा की ओर से मैं इनके जन्म और कुलका वर्णन कर रहा हूँ। आप ध्यान पूर्वक सुनिए। ये महाराज इक्ष्वाकु कुल के वंशज हैं। इस कुलमें एक बड़े प्रतापी राजा श्रीमान् कुन्दरथ हो चुके हैं। उनके पुत्रका नाम कुधरथ और कुधरथके पुत्र का सिंधुरथ नाम था। फिर उन महाराजसे महारथ और महारथ से विष्णुरथ और उनसे कलारथ तथा उनसे सूर्य रथ व उनसे राजा नभरथ का जन्म हुआ था। हे देवि। उन्हीं महाराज राजा नभरथसे इन महाराज राजा विदूरथका जन्म हुआ है। इनकी माता का नाम सुमित्रा था। यह महाराज जन्मही से बड़े तीव्रबुद्धि के थे, जिससे केवल दश वर्ष की आयु में ही इनके पिता महाराज नभरथने राज्यका सारा भार इनपर सौंप दिया और स्वयम् वनको तपस्या करने चले गए। उसी दिनसे इन महाराजने क्रमपूर्वक पृथ्वी की रक्षा का भार अपने हाथ में ले लिया है। ये महाराज बड़े पुण्यशाली हैं और पुण्य के प्रभावसे ही आज आपका दर्शन मिला है। नहीं तो आपके दर्शनके लिए चिरकाल पर्यंत कोई तपस्या करके भी नहीं पाता और हमारे महाराज ने प्राप्त कर लिया। इससे ज्ञात होता है कि, पुण्यके परिणाम-स्वरूप ही आपका दर्शन इनको प्राप्त हुआ। हे रामजी। जब सरस्वतीसे ऐसा कहकर मन्त्रा चुप हो गया तब सरस्वती ने कृपा पूर्वक राजा विदूरथ के शिर पर हाथ रखकर कहा, -हे राजन् ! अब तुम विवेक-दृष्टि से अपने हृदय में विचारकर देखो कि तुम कौन हो। देवीके स्पर्श करनेसे राजा की बुद्धि निर्मल हो गई और पूर्व-जन्म का स्मरण करके बोला, -हे भगवती। इस समय आपकी कृपा से मेरी बुद्धि बहुत निर्मल हो गई है जिससे मुझे पूर्व जन्म का स्मरण होकर ऐसा ज्ञात हो रहा है कि, मैं ही राजा पद्म था और मेरी ही स्त्री का नाम लीला था। वह शरीर छोड़े और इस शरीरको धारण किए, योज सत्तर वर्ष व्यतीत हो गए। पर

अब तक मुझे आपकी उस सृष्टि का स्मरण न हुआ था । किन्तु आज तो मुझे अपने प्रपितामह और बाल्यस्था और कुमारावस्थाका सम्पूर्ण स्मरण हो रहा है । मित्रोंका भी पूरा-पूरा स्मरण हो रहा है । विदूरथका ऐसा कथनका सुनकर सरस्वती जीने कहा,—हे राजन् । मृत्यु के समय पहले मूर्च्छा होती है और उससे नाना प्रकार का जगत भासने लगता है । फिर उसी क्षण में वर्षों का भी अनुभव होता है । जिस प्रकार स्वप्न में एक मुहूर्त से अनेक वर्षों का अनुभव होता है, उसी प्रकार मुझे मृत्यु-मूर्च्छा में यह जगत भासता है । हे राजन् । जिस सृष्टि में तू राजा पद्म नाम से वहाँ विख्यात था, उस सृष्टि का परित्याग किये मुझे आज केवल एक ही मुहूर्त व्यतीत हुआ है । पर तुम्हको बहुत अधिक दिन का अनुभव हुआ । किन्तु अब मैं तेरे उस पिछले वृत्तांत को बहुत सत्य अंशों में बतला रही हूँ, ध्यान देकर सुन । हे राजन् । इस पर्वत के ऊपर एक ग्राम था । उसमें वशिष्ठ नाम के एक ब्राह्मण रहते थे । उनकी स्त्री का नाम अरुन्धती था । उसने मुझसे वशिष्ठ को अमर करने के लिए वर लिया था कि जब मेरा पति शरीर छोड़े तो उनका जीव इसी मण्डपाकाश में रहे । मैंने भी यह वर दे दिया था और जब वह मरा तब उसकी पुर्यष्टक शरीर उसी मंदिर में स्थिर रही । उसमें राजाकी वासना दृढ़ थी । उस मण्डपाकाश में उसको पद्मराजा की सृष्टि जान पड़ी और अरुन्धती ही लीला रानी होकर उसे प्राप्त हुई । तब पद्मका मण्डप उस ब्राह्मण के मण्डपाकाश में स्थित जान पड़ा । फिर उस मंडप में तू राजा पद्म मृतक हुआ । तब तेरी संवेदना में अनेक प्रकार के आरम्भ सहित यह जगत जान पड़ा । हे राजन् । यही तेरा जगत है । वही राजा पद्म के हृदयमें जान पड़ा है और उसीके मंडपाकाश में स्थित है । इससे तू ब्राह्मण वशिष्ठ के मंडपाकाश में स्थित है और वही वशिष्ठ तू राजा विदूरथ हुआ है । सो तू कैसे स्थित है, सुन । हे राजन् ! यह जगत केवल परछाई के समान एक झलक है और मन

की कल्पनाओंसे जान पड़ता है, नहीं तो इसकी कोई उत्पत्ति नहीं है। देवीजी के ऐसे वचन को सुनकर राजा विदूरथने कहा, हे भगवती ! यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है कि मेरा जन्म भ्रम रूप है। पर जब मेरा ही जन्म इतना भ्रम-पूर्ण है तो सम्पूर्ण इक्ष्वाकु कुलका भी जन्म भ्रम रूप होमा। मेरे पिता और माता भी भ्रम रूप ही हैं। इसी भ्रममें मेने जन्म लिया और बालक होकर जब दश वर्षका हुआ तब पिताजी वनको चले गए और मुझपर राज्य-मञ्चालन का अपार बोझ आ पड़ा। फिर तो मेने दशो दिशाओंको दिग्विजय करके प्रजाका पालन किया। इस अवधि में मेरे सत्तर वर्ष बीत गए। पर अब मुझको युद्धकी भीषणतामें समयव्यतीत करना पड़ रहा है। आज पूरे दिन भर युद्ध चलता रहा और जब वन्दे हुआ है, तब रात्रि समय आकर गृहमें विश्राम कर रहा हूँ। जब मुझे निद्रा आ गई है, तब आप दोनों देवियों का शुभागमन हुआ है। फिर मेने आपकी पूजा की है। और आप दोनों में से एकने मेरे शिर पर हाथ रखा है जिससे मुझे ज्ञान हुआ और हृदय प्रफुल्लित हो गया है। अब मालूम होता है कि, मेरा सब अज्ञान नष्ट हो गया है और मेने निर्वाण पदको प्राप्त किया है। मरुस्वती ने कहा,—हे राजन् ! तुम्हें जो कुछ भी जान पड़ा है, सब भ्रम मात्र है। यह अनेक प्रकारका व्यवहार और लोकाचार सभी भ्रम-मात्र है। क्योंकि जो तुमको उस सृष्टि में मृतक हुए एक मुहूर्त व्यतीत हुआ है, उसी मण्डपाकाश में, तुम्हें यह जगत जान पड़ा है। वहीं तो राजा पद्म की सृष्टि ब्राह्मण के मंडप में स्थित है और वहीं तुम्हें नदियाँ, पर्वत समुद्र और पृथ्वी आदिक सम्पूर्ण जगत जान पड़े है। तब जिन प्रकार समुद्र में तरङ्ग के प्रकार हो जाते हैं, उसी प्रकार यह जगत जान पड़ा है। क्योंकि सृष्ट्युक्त समय जब मूर्च्छा होती है तब एक न एक प्रकारके रूपमें जगत जान पड़ता है। क्योंकि कल्पना है और उसका कोई सच्चा रूप नहीं है। केवल ज्ञान जान पड़ा है। जिस प्रकार एक मुहूर्तकी निद्रा

मे बहुत वर्षों का क्रम दिखलाई पड़ जाता है, उसी प्रकार जगत का अनुभव मृत्युके समय हो जाता है ! जिस प्रकार संकल्पपुर मे अपना जीवन और मरण दिखलाई पड़ता है और जिस प्रकार गन्धर्व नगर केवल भ्रम-मात्र है, जिस प्रकार नाव में बैठनेवाले को किनारे के वृक्ष चलते हुए जान पड़े है और जिस प्रकार घुमरी खेलनेवाले बालकोको गृह और पर्वतादि भी घुमरते हुए जान पड़ते हैं और जिस प्रकार अपना शिर कटना भ्रमसे जान पड़ता है, उसी प्रकार यह जगत स्वप्न में भ्रम होनेसे भासता है । हे राजन् ! ऐसे ही अज्ञानवश यह मिथ्या कल्पना तुम्हे उत्पन्न हुई है । परंतु वास्तवमे न तो तू मृतक हुआ है और न जन्म लिया है । तू शुद्ध विज्ञान और शान्त-स्वरूप है । इससे तुम्हे चाहिए कि अपने स्वरूपको जानकर उसमे स्थित हो जा । अन्यथा यह अनेक प्रकार का जगत भ्रमसे भासता रहेगा, क्योंकि सम्पूर्ण ज्ञानवाली सर्वात्मसत्ता जान पड़ती है और यही जगत है । जिस प्रकार सुन्दर मणि की ज्योति अनेक प्रकार की ज्योतियो सहित जान पड़ती है और वह मणिसे भिन्न कुछ नहीं, उसी प्रकार आत्म-सत्ताका किञ्चन जगत रूप होकर जान पड़ता है । उस गिरिग्राम मे तुम भी किञ्चन रूप हो । जितना कुछ जगत तुमको विस्तार पूर्वक जान पड़ता है, वह लीला और राजा पद्मके मंडपाकाश मे स्थित है । वह लीला रानी और राजा पद्मकी राजधानी वशिष्ठ ब्राह्मण के मंडपाकाश मे स्थित है ।-इससे यह समस्त जगत वशिष्ठ ब्राह्मण के भाग्याकाश मे पड़ा हुआ फुरता है । वह आकाश मे स्थित है । वह न तो पृथ्वी और न पर्वत है और न कोई मेघ है, न समुद्र हे और न मुमुक्षु है, केवल शून्य और स्वतः स्थित है । वहाँ न कोई जागता है और न उसका कोई देख रेख करनेवाला है । इससे यह सब कुछ भ्रम मात्र है और तुम्हारे उसी मंडपाकाश मे फुरा करते हैं । यह सुनकर विदूरथने कहा,—हे देवि ! जब ऐसाही है, तब आप यह कहेए कि मेरी मृत्यु भी अपने आत्माके सम्बन्ध में सत्य है या असत्य ? देवीने

कहा,—हे राजन् । वेदों ने जिसका वर्णन किया है, वह पुरुष शुद्ध बोध-स्वरूप है । उसके निकट जगत की कोई यथार्थता नहीं; केवल चिदाकाश रूप है । जिस प्रकार शंका निवृत्त होनेपर रस्ती में सर्पका भ्रम नहीं रह जाता, उसी प्रकार जिन पुरुषों को आत्मबोध हो गया है और जगत भ्रम-दूर हो गया है, उनको जगत की यथार्थता नहीं जान पड़ती । जिस प्रकार सूर्यकी किरणों में जल की यथार्थता झूठी समझने पर जल-सत्ता नहीं जान पड़ती, उसी प्रकार जिनको आत्म-ज्ञान हो गया है और जिन्होंने जगत को मिथ्या जान लिया है, उनको जगत सत्य नहीं जान पड़ता । जिस प्रकार स्वप्नमें कोई अपने शिरको कटा देखे और जागने पर वह व्यथा दूर हो जावे, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुषको जगत सत्य सा नहीं प्रतीत होता । जिस प्रकार स्वप्न-मरण भ्रमसे ही जान पड़ता है, उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष को जगत सत्य जान पड़ता है । पर वास्तव में वह कुछ नहीं है । जिस प्रकार शरद ऋतु के बीत जानेपर आकाश निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष को फिर मैं और तुम आदिक शब्द का नितान्त अभाव हो जाता है । इससे हे राजन् । तुम और तुम्हारे सेवकों आदि की जो यह सृष्टि है, सब आत्मा से ही फुरी है । जिस प्रकार तू फुरा है वैसे ही यह सब भी फुरे है । अन्यथा वस्तुतः कोई उत्पन्न नहीं हुआ है । केवल आत्म-सत्ता स्वतः स्थित है । वाल्मीकि जी बोले कि । इस भाँति जब सरस्वती देवी और राजा विदूरथ का सम्वाद वशिष्ठजीने रामजी से कहा, तब सूर्य भगवान् अस्ताथल को गए और सध्या काल का समय उपस्थित हुआ तब मभाके सब लोग एक दूसरे को नम्र प्रणाम करके स्नान करने चले गए । फिर रात्रि व्यतीत करके सूर्योदय होते ही अपने २ स्थानों पर आकर विराजमान हो गये ।

श्री योगनाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति प्रकरण, का अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३८ ॥

उनतालीसवाँ सर्ग

स्वप्न-पुरुष सत्यता-वर्णन

वाशिष्ठजी बोले हे रामजी ! जिन पुरुषोंको पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ है, उनको यह जगत बज्रके समान ही कठोर हुआ है। जिस प्रकार मरुस्थलका जल असत्य है, उमी प्रकार असम्यक्दर्शीको यह असत्य रूप जगत सत्य होकर भासता है। हे रामजी ! यह जगत दीर्घकाल का स्वप्न है। इसकी कोई वास्तविकता नहीं है। इसका सर्व सत्य, शान्ति रूप, चिन्मात्र स्वरूप, जो सर्व आत्मा है उसमे जैसा स्पन्द कुरा है, वैसा ही जगत भासता है। जैसे स्वप्न सृष्टि भासती है, और जैसे स्वप्न-भ्रम चिराकाल से स्थित है और जैसे इस चिदाकाश मे स्वप्न-पुरका स्फुरण हुआ है, और वही गुण जो द्रष्टा होकर दृश्य को देखता है, वही द्रष्टा और दृश्य दोनों ही चेतन सवितम आभास रूप हैं। हे रामजी ! यह सारा जगत स्वप्नके समान है। इसी स्वप्न रूपमें तुम्हारा भी भाव हुआ है और जैसे तुम हो, वैसे ही और भी हैं, परन्तु जैसे स्वप्न नगर असत्य है, वैसे ही यह जगत भी असत्य है। इतनी कथा सुनकर रामजी बोले, हे भगवन ! स्वप्न से जाग्रत होनेपर तो स्वप्नके पदार्थ असत्य रूप हो जाते हैं, परन्तु यह जगत और इसके पदार्थ तो जब देखिए तब ज्योके त्यो दिखलाई पड़ते हैं, फिर जाग्रत और स्वप्न को एक समान कैसे कहा जाय ? वाशिष्ठ जीने कहा—हे रामजी ! स्वप्न और जाग्रत मे कोई अन्तर नहीं है। स्वप्नको भी स्वप्न तब जानता है, जब जागता है। बिना जागे स्वप्न को असत्य कैसे जाना जा सकती है। इसी प्रकार जब तक आत्मपद में नहीं जागेगा, तब तक यह स्वप्न रूप जगत असत्य नहीं भासेगा। हे रामजी ! यह जगत असत्य रूप है। केवल भ्रम वस सत्य के समान भास रहा है। जिस अनकालकी स्त्रीका रूप असत्य है, और स्वप्नमें सत्य रूप यह असत्य रूप जगत

रूप दिखलाई पड़ता है। हे रामजी ! आत्मा सर्वत्र और सदा अद्वैत रूप है। जहाँ जैसा चिन्तन करता है, वहाँ वैसा प्रतीत होता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३९ ॥

चालीसवाँ सर्ग ।

सरस्वती द्वारा विदूरथको वरप्राप्ति और अग्निका भीषण दृश्य ।

वशिष्ठजी बोले,—हे रामजी ! जब इस प्रकार सरस्वती ने राजा विदूरथ को हाथों से स्पर्शकर अमृतमय उपदेश दिया, तब उसके हृदय में विवेकमय सुन्दर ज्ञानका अकुर उत्पन्न हो गया। तब सरस्वती जी ने फिर कहा,—हे राजन् ! मुझे जो कुछ कहना था, कह चुकी। अब मुझे ऐसा निश्चय हो रहा है कि तू सग्राम में मृतक होगा। लीला को दिखाने के लिए मैं यहाँ आई थी। सो देख लिया। सरस्वती की ऐसी वाणी सुनकर राजा विदूरथ ने कहा,—हे देवि ! हमारे भी बड़े भाग्य है कि आपका दर्शन मिला। बड़े लोगों का दर्शन निष्फल नहीं जाता और महाफलको देने वाला है। हे देवि ! मैं साधारण पुरुष हूँ, पर ऐसा विचार रखता हूँ कि जो कोई अर्थवश मेरे पास आवे तो मैं उसे निराश होकर नहीं लौटाता। उसका अर्थ अवश्य पूर्ण करता हूँ। फिर आप तो साक्षात् ईश्वरी हैं। इससे मुझको यह वर दीजिए कि शरीर त्यागने पर मैं राजा पद्मके शरीरमें प्रविष्ट करूँ। साथही मेरे मंत्रीगण और मेरी स्त्री लीला वहाँ भी मेरे साथ होवे। तब सरस्वती ने वरदान देकर कहा,—ऐसाही होगा। तू पद्मके शरीर को प्राप्त होगा और विवेक रखते हुए निर्भय होकर राज्य करेगा। हमारी सेवा व्यर्थ न जायगी। अब तू रण में मृतक होगा और निःसन्देह पहले के राजा पद्मके शरीर में जा मिलेगा। तुम्हारी यह भार्या और मंत्रीगण भी वहाँ जा मिलेंगे। अभी हमारा और तुम्हारा साथ होने के योग्य नहीं है। इससे हम जा रही हैं।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का चालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४० ॥

इकतालीसवाँ सर्ग।

अग्निदाह

यह कहकर ज्योही सरस्वती प्रस्थान करना चाहती थी कि, राजा विदूरथसे एक दूतने आकर कहा, हे महाराज । शत्रुओं की सेना आ पहुँची और वह सब शास्त्रों की वर्षा कर रहे हैं । जिस प्रकार प्रलय के समय में बड़े २ पर्वत वायुमें उड़ते हैं, वैसेही शत्रु सैनिक चले आ रहे हैं । उनकी सेना से सब दिशाये ढँक गई हैं । उनलोगों ने पहुँचते ही बाणों की वर्षा कर चारों ओर अग्नि लगा दिया है जिससे आपके नगर-जल रहे हैं । बड़ा भयानक शक हो रहा है । बड़े २ विशाल गृह सत्यानाश हो जा रहे हैं और उसमें रहनेवाली जो सुन्दर २ नारियाँ वस्त्रभूषणोंसे सुशोभित हैं, जल रही हैं । ममस्त दिशाये अग्निसे परिपूर्ण हो रही हैं । बड़े २ अंगारे उड़ रहे हैं । नरनारी अग्निमें पड़कर अपने वस्त्रों सहित जल रहे हैं और हाय-हाय करते हैं । उममें भी सब लोग अपने पुत्र और बन्धु बान्धवों की खोज कर रहे हैं ।

दूत के मुँह से ऐसा दारुण समाचार सुनकर राजा विदूरथ का हृदय कम्पित हो गया और वह दोनों देवियों और अपने मंत्रियों सहित गृह के ऊँचे ऋरोत्ते में बैठ कर उस वीभत्स दृश्य को देखने लगा । तब क्या देखा कि, बड़ी-बड़ी सेनायें चली आ रही हैं और स्नेह पाश में बँधे हुए जीव मृत्यु समय में भी स्नेह को नहीं त्यागते और नाना प्रकार का दुःख भोग रहे हैं । हे राघव ! उस समय ऐसा घोर शब्द उत्पन्न हुआ कि संग्राम भूमि शब्दायमान हो गई । लोग, हाय-भाई, हाय माता, हाय पिता, हाय स्त्री इत्यादि शब्दों से संग्राम भूमि को कम्पायमान कर रहे थे । न जाने कितनी हाथी घोड़े, बैल और ऊँट आदि जलकर ढेर लग गये । बड़ा जोष उत्पन्न हुआ । क्षणमात्रमें महाप्रलयकी स्थानों को परिपूर्ण कर

वयालीसवाँ सर्ग ।

अग्नि-दाह-वर्णन

यह भीषण दृश्य विदूरथ देखही रहा था कि, उसी समय कुछ सखियाँ एक महासुन्दरी को साथ लेकर वहाँ आ पहुँची । उन्हें आते देख कर राजा अचम्भित हो गया । तब सखियों ने कहा, महाराज ! आपके अन्त-पुर में जो स्त्रियाँ थीं, उनको शत्रु हर ले गए और बहुनों को बड़ा-बड़ा कष्ट दे रहे हैं । राजद्वार पर आपकी जो सेना बैठी है, उसको शत्रु चूर्णित कर रहे हैं । पर इस लीला रानीको हमलोग चुराकर एक दूसरे द्वार से ले भागी हैं । अब आप इनकी रक्षा कीजिए । क्योंकि शत्रुओं का बल बढ़ता ही चला आ रहा है और समस्त नगर में हाहाकार मचा हुआ है ।

अब सखियों की घबराहट और अन्त-पुर की लुटपाट ने राजा विदूरथ को और भी उत्तेजित कर दिया । तब उन्होंने सरस्वती जी से कहा, हे भगवती ! अब इस लीला की रक्षा करना आपके हाथ है । यह आपके चरण की दासी है । इससे आप तो, इसकी रक्षा करें और मैं युद्ध करने जाऊँगा । ऐसा कहकर मोघावेश में राजा विदूरथ युद्ध करने चला । तब सरस्वती के साथवाली लीला को अपने ही रूपके समान नवीन लीला को देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ । उसने सरस्वती से कहा, — हे देवि ! मैंने तो आपका आशीर्वाद प्राप्त कर अज्ञान को नष्ट कर डाला है, फिर अब मुझको भ्रम क्यों हो रहा है । क्योंकि जब मैं पहले आई थी, तब मुझको मंत्री टहलुये और सब नगरके लोग दिखलाई पड़े थे और वह संशय भी मैंने आपसे निवृत्त करा लिया था । फिर अब उसी रूपमें से एक और लीलीहोर क्यों उत्पन्न हो गई ? इस दृश्यका रूप किस भाव को लिये हुए है कि जिसके भीतर और बाहर भी प्रतिबिम्ब है ? यह मंत्री और टहलुये और मेरा यह स्वरूप क्या है और क्यों यह दृश्य भाव होकर जान पड़ता

हे १ हे देवि । आप मेरे इस भ्रम को दूर कीजिए । देवी ने कहा; — हे लीले ! जैसे चित्त की स्पन्दता में सबेदना फुरती है, वैसेही वह तात्कालिक सिद्ध हो जाती है । इसी प्रकार जिस अर्थ की चिन्तना में चित्त सवित देह को त्याग करता है, वह जाकर उसी अर्थ को प्राप्त होता है । फिर तो उसी घड़ी देश, काल और समस्त पदार्थों की दीर्घता होती है । जिस प्रकार स्वप्न की सृष्टि फुर आती है, उसी प्रकार परलोक सृष्टि भी जान पड़ती है । हे लीले ! जब तेरा पति मरने लगा, तब उसका, तुझमें और मंत्रियों में जो विशेष मोह था, उसी से वह सत्यरूप में अपनी वासना के अनुसार जान पड़ा । जिस प्रकार सकल्पपुर और स्वप्न की सेना जान पड़ती है, उसी प्रकार यह देशकाल और पदार्थ जान पड़ते हैं । परन्तु यदि कोई पदार्थ सत्य भी जान पड़े तो वह अज्ञानतावश जान पड़ते हैं । अन्यथा ज्ञानीके लिए तो सब बराबर है । ज्ञानीके निकट अधिक और न्यून कुछ नहीं है । जिस प्रकार जाग्रत अवस्था में स्वप्न, असत्य जान पड़ता है और स्वप्न में जाग्रत अवस्था का अभाव होता है और जाग्रत शरीर मरण समय में नाश हो जाता है, उसी प्रकार मृतक अवस्था में जन्म असत्य हो जाता है । इसलिए यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो सभी अवस्थाये भ्रम-स्वरूप हैं, उनकी कोई वास्तविकता नहीं है । आदि से महाप्रलय तक जो कुछ भी है वह उत्पन्न नहीं हुआ है, केवल ब्रह्मसत्ता स्वतः स्थित है । जगत की कल्पना छाया मात्र है और अज्ञानवश जान पड़ती है, जिस प्रकार आकाश में तारागण जान पड़ते हैं, उसी प्रकार भ्रमवश आत्मा में जगत् जान पड़ता है । नहीं तो वास्तव में किंचित कुछ नहीं है । जैसे समुद्र में तरंग उत्पन्न होकर उसी में मिल जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा में जगत् उत्पन्न होकर लीन हो जाता है । इससे मैं, तुम आदिक जो शब्द हैं, सब भ्रम मात्र हैं । हे लीले ! जगत मृग तृष्णा के जल के समान है और इसका विश्वास करना बड़ी अज्ञानता है ।

वयालीसवाँ सर्ग ।

अग्नि-दाह-वर्णन

यह भीषण दृश्य विदूरथ देखही रहा था कि, उसी समय कुछ सखियाँ एक महासुन्दरी को साथ लेकर वहाँ आ पहुँची । उन्हे आते देख कर राजा अचम्भित हो गया । तब सखियों ने कहा, महाराज ! आपके अन्तःपुर में जो स्त्रियाँ थीं, उनको शत्रु हर ले गए और वहुनों को बड़ा-बड़ा कष्ट दे रहे हैं । राजद्वार पर आपकी जो सेना बैठी है, उसको शत्रु चूर्णित कर रहे हैं । पर इस लीला रानीको हमलोग चुराकर एक दूसरे द्वार से ले भागे हैं । अब आप इनकी रक्षा कीजिए । क्योंकि शत्रुओं का बल बढ़ता ही चला था रहा है और समस्त नगर में हाहाकार मचा हुआ है ।

अब सखियों की घबराहट और अन्तःपुर की लुटपाट ने राजा विदूरथ को और भी उत्तेजित कर दिया । तब उन्होंने सरस्वती जी से कहा, हे भगवती ! अब इस लीला की रक्षा करना आपके हाथ है । यह आपके चरण की दासी है । इससे आप तो, इसकी रक्षा करें और मैं युद्ध करने जाऊँगा । ऐसा कहकर क्रोधावेश में राजा विदूरथ युद्ध करने चला । तब सरस्वती के साथवाली लीला को अपने ही रूपके समान नवीन लीला को देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ । उसने सरस्वती से कहा, — हे देवि ! मेने तो आपका आशीर्वाद प्राप्त कर अज्ञान को नष्ट कर डाला है, फिर अब मुझको भ्रम क्यों हो रहा है । क्योंकि जब मैं पहले आई थी, तब मुझको मंत्री टहलुये और सब नगरके लोग दिखलाई पड़े थे और वह संशय भी मैंने आपसे निवृत्त करा लिया था । फिर अब उसी रूपमें से एक और लीलीहोरु क्यों उत्पन्न हो गई ? इस दृश्यका रूप किस भाव को लिये हुए है कि जिसके भीतर और बाहर भी प्रतिबिम्ब है ? यह मंत्री और टहलुये और मेरा यह स्वरूप क्या है और क्यों यह दृश्य भाव होकर जान पड़ता

है ? हे देवि । आप मेरे इस भ्रम को दूर कीजिए । देवी ने कहा, — हे लीले । जैसे चित्त की स्पन्दता में सवेदना फुरती है, वैसेही वह तात्कालिक सिद्ध हो जाती है । इसी प्रकार जिस अर्थ की चितना में चित्त सवित देह को त्याग करता है, वह जाकर उसी अर्थ को प्राप्त होता है । फिर तो उसी घड़ी देश, काल और समस्त पदार्थों की दीर्घता होती है । जिस प्रकार स्वप्न की सृष्टि फुर आती है, उसी प्रकार परलोक सृष्टि भी जान पड़ती है । हे लीले । जब तेरा पति मरने लगा, तब उसका तुझमें और मंत्रियों में जो विशेष मोह था उसी से वह सत्यरूप में अपनी वासना के अनुसार जान पड़ा । जिस प्रकार सकल्पपुर और स्वप्न की सेना जान पड़ती है, उसी प्रकार यह देशकाल और पदार्थ जान पड़ते हैं । परन्तु यदि कोई पदार्थ सत्य भी जान पड़े तो वह अज्ञानतावश जान पड़ते हैं । अन्यथा ज्ञानीके लिए तो सब बराबर है । ज्ञानीके निकट अधिक और न्यून कुछ नहीं है । जिस प्रकार जाग्रत अवस्था में स्वप्न असत्य जान पड़ता है और स्वप्न में जाग्रत अवस्था का अभाव होता है और जाग्रत शरीर मरण समय में नाश हो जाता है, उसी प्रकार मृतक अवस्था में जन्म असत्य हो जाता है । इसलिए यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो सभी अवस्थाये भ्रम-स्वरूप हैं, उनकी कोई वास्तविकता नहीं है । आदि से महाप्रलय तक जो कुछ भी है वह उत्पन्न नहीं हुआ है, केवल ब्रह्ममत्ता स्वतः स्थित है । जगत की कल्पना द्याया मात्र है और अज्ञानवश जान पड़ती है, जिस प्रकार आकाश में तारागण जान पड़ते हैं, उसी प्रकार भ्रमवश आत्मा में जगत् जान पड़ता है । नहीं तो वास्तव में किंचित कुछ नहीं है । जैसे समुद्र में तरंग उत्पन्न होकर उसी में मिल जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा में जगत् उत्पन्न होकर लीन हो जाता है । इससे मैं, तुम आदिक जो शब्द हैं, सब मात्र हैं । हे लीले । जगत मृग तृष्णा के जल के समान है, वास करना बड़ी अज्ञानता है ।

इसमें भ्रम कुछ नहीं है। जिस प्रकार बादल अंधेरे में पक्ष जान पड़ता है और जो वरतुत है नहीं, केवल स्वतः ब्रह्मसत्ता है, उसी प्रकार आंति भी कुछ नहीं है। जैसे जितना कुछ "में और तुम" आदिक शब्द हैं, सबका प्रलय में अभाव हो जाता है। और जो शेष रहता है वह शुद्ध शांत स्वरूपही रहता है वैसे ही उसको अब भी जान। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। हे देवि ! पृथ्वी आदिक भूत भी सवित स्वरूप हैं क्योंकि जब चित्त की सवेदना स्पंद रूप होती है, तभी यह जगत होकर जान पड़ता है। इससे यह भी सवित स्वरूप है। जीव रूप समुद्र है उसमें जगत रूप लहरें उठा करती हैं और लय हुआ करती है। स्वरूप ही से वह जल रूप है, नहीं तो कुछ नहीं है। जिस प्रकार अग्नि में उष्णता है, उसी प्रकार जीव में सर्ग है और वह ज्ञान मान है। उसमें आत्मसत्ता ही सर्वत्र जान पड़ती है। पर अज्ञानी के लिए तो अनेक कल्पना है। हे लीले ! यह जगत जो साकार रूप जान पड़ता है, वह आत्मा से पृथक् नहीं है। जिस प्रकार वृक्ष में पत्ते और फल आदिक उसके अंग होकर जान-पड़ते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मसत्ता ही जगत रूप होकर जान पड़ती है, और कुछ नहीं। इस सम्बन्ध में अन्य कल्पना करना केवल भ्रममात्र है। नहीं तो जगत सत्-असत् कुछ नहीं है। रस्सी में सर्प के समान यह जगत जान पड़ता है। जैसे अज्ञानी के प्रति जगत असत्य नहीं जान पड़ता, वैसे ही आत्मज्ञानी के लिए जगत सत्य नहीं जान पड़ता। क्योंकि वह कोई वस्तु नहीं है। जिसमें जैसी स्पंदता फुरती है, उसको वैसे ही अनुभव होता है। मरण समय में तो इमको क्षणमात्र में जगत फुर आता है। हाँ, किमी को पूर्ण रूप से और किसीको अपूर्णत और किसी को मिश्रित भाव से फुरता है। यही कारण है कि, तेरे पति को वही मंत्री, वही सभासद और वही स्त्री उसके वासना के अनुसार फुर आये हैं। क्योंकि आत्मा सर्व रूप हैं। इसमें जिस-जिस भाँति से तीव्र स्पंदता होती है, वैसे ही

योगवाशिष्ठ

होकर जान पड़ता है। हे लीले ! जिस प्रकार प्रतीमा का उदय होता है, वह सत्य रूप प्रकृत प्रकार वह जो नवीन लीला तेरे वैमा ही वैशिष्ट्य और तेरे पति की जो तुझमें वासना थी, उन्हीं होकर राजा को यह लीला आकर प्राप्त हो गई थी शील और आचार इसका भी प्रतिबिंबित हुआ है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का पयालीसवाँ सर्ग

तेतालीसवाँ सर्ग ।

विदूरथ-निर्वाण वर्णन

यह सुन कर राम जी ने वशिष्ठ जी से पूछा कि, अब यह वतलाइए कि राजा विदूरथ ने संग्राम-भूमि में क्या किया ? वशिष्ठजी कहने लगे कि हे रामजी ! जब नवीन को सरस्वतीजी के सुपुर्द कर राजा विदूरथ अपने गृह से निर्र सेना में सुशोभित हुआ, तब उसने महा भीषण संग्राम उपस्थित दोनो सेनायों मिलकर शस्त्रों की वर्षा करने लगी । फिर तो प्रलय का समय उपस्थित हो गया और शस्त्रों की झड़ी से अशूरवीर धराशायी हो गए । उसमें राजा विदूरथ की अधिक मारी गई और उसका पक्ष कुछ निर्बल हो गया ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का तेतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४२

चौवालीसवाँ सर्ग

हेरामजी ! तब उमकी निर्बलता को देखकर दोनो लीलेने सरस् से कहा, हे भगवती ! आप हम पर बड़ी दया रखी हैं। पर सर्व शक्तिमान होते हुए भी युद्ध में हमारे पति विजय नहीं हो रही है ? सरस्वतीने कहा,— हे लीले ! हेरामका शक्ति के लिए मैंने

इसने तो मोक्ष के लिए वर प्राप्त किया है। इस कारण संग्राम में विजय सिन्धुराजकी होगी और तेरा पति मोक्षको प्राप्त होगा।

श्री योगवाशिष्ठ माया, उत्पत्ति प्रकरण का चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥४४॥

पैंतालीसवाँ सर्ग

भीषण-दृश्य

हेरामजी ! सरस्वती ऐसा कह ही रही थी कि दोनों सेनाये फिर भीषण संग्राम करने लगी और दोनों लीला उसे देखने लगीं। राजा विदूरथ और सिंधुराज दोनों खड़े होकर ऐसे बाण चला रहे थे जैसे कि दो विष्णु खड़े हो। उनके धनुष बाण की प्रत्यंचा से बाण निकल कर आपस में विविध प्रकार का युद्ध करते हुए सैकड़ों टुकड़े हो कर पृथ्वी पर गिरते थे। उसी समय राजासिंधुने सम्मोहन बाण चला कर विदूरथ की समस्त सेना को माहित कर दिया। सैनिकगण एक दूसरेका मुँह ताकते रह गए। यहाँ तक कि राजा विदूरथको भी उस बाणका प्रभाव हो गया। पर उसने सम्हल कर प्रबोध शस्त्र चलाया जिससे सैनिकों का मोह दूर हो गया और वे युद्ध में सन्नद्ध हुए। विदूरथके इस कौशलको देख कर सिंधुराज ने भी नागास्त्रका प्रयोग करके उसकी सेना को विलिप्त कर दिया। दशो दिशाओं में पर्वताकार नाग ही नाग उड़ने लगे। अतः नागोंके मुँहसे विष और अग्नि की ज्वाला निकल रही थी। उससे विदूरथ के सैनिकों में त्राहि-त्राहि मच गयी। तब राजा विदूरथ ने गरुणास्त्रका प्रयोग किया। फिर तो उन नागोंके नाश होने पर गरुण भी अर्न्तर्ध्यान हो गए। तब दोनों राजा साधारण बाण युद्ध करने लगे। उस समय राजा विदूरथ ऐसी वीरता से लड़ रहा था कि सिंधुराज के समस्त बाणों को खंड-खंड करके उड़ा देता था। फिर सिंधुराज ने भी सिंधुराज को लड़ने पर भी सिंधुराज को लड़ने में वैठी करोखे में वैठी। अब तो ऐसा

प्रतीत हो रहा है कि मेरे पतिदेव की ही विजय होगी। लीलाकी ऐसी बात सुनकर सरस्वती जी ने कोई उत्तर न दिया और किंचित मृदु मुसुक्यान के साथ मन में कहा कि जीव का चित्त बड़ा चंचल है। यह युद्ध अर्धरात्रि से ही चल रहा था कि, सूर्य भगवान् अपनी लालिमा को धारण कर उत्पन्न हुए। तब महा युद्ध होने लगा। दोनों पक्ष के सैनिक और दोनों राजा प्राणापण से युद्ध करने लगे। उस भङ्गावात युद्ध के चलने पर विदूरथ की सेना को विशेष क्षति पहुँची। यहाँ तक कि जब सिंधुराज के सैनिकों ने उस पर घोर शस्त्र चलाना आरम्भ किया, तब विदूरथ के सैनिक ब्राह्मि-ब्राह्मि की पुकार करते हुए उसके पास भाग कर पहुँचने लगे। तब सैनिकों की ऐसी दुर्दशा देखकर विदूरथ अत्यंत क्रुपित हुआ और उसने रूपक अस्त्र का प्रयोग किया। फिर तो महाभयानक रूप धारण कर भैरव के अगणित गण प्रकट होकर कंडकडाते हुए नग्न शरीर से खप्पर लिए हुए सिन्धु के सैनिकों को भक्षण करने और रक्तपान करने लगे। इससे सिंधुराज के सैनिकों को बड़ा क्षोभ हुआ। उनकी ऐसी दुर्दशा देखकर सिंधुराज को बड़ा क्रोध आया और उसने राक्षशास्त्र चलाकर करोड़ों राक्षस उत्पन्न कर दिया। वह भयानकरूप काले-काले और जिह्वा निकाले हुए राक्षस ऐसा चमत्कार करने लगे कि जैसे काली घटा में विजुली चमत्कार करती है। ऐसे अनेक राक्षस पाताल लोक से निकलकर संग्राम क्षेत्र में पहुँचकर जिसको अपने सामने पाते, चवा डालने लगे। उन राक्षसों को देखकर विदूरथ के सैनिक अत्यंत भयभीत हो गए। उन राक्षसों का ऐसा भयानक रूप हो रहा था कि, जिसके सामने हँसकर देखे, वह तुरंत डर कर प्राण छोड़ देता था। तब सेनाकी ऐसी दुर्दशा होते देखकर विदूरथ ने विष्णु बाण का प्रयोग किया, जिससे समस्त राक्षसों का संहार हो गया। का संहार और सैनिकों को त्रसित होते देखकर

रहा गया और उसने

वाण का प्रयोग कर दशों दिशाओं में अग्नि प्रज्वलित कर दिया। किन्तु उस अग्नि को देखकर राजा विदूरथ ने वरुणास्त्र का प्रयोग करके जल उत्पन्न किया और उससे समस्त अग्नि को शांत कर दिया। फिर तो अग्नि नष्ट होकर समस्तस्थानों में जल ही जल दिखलाई पढ़ने लगा। तब सिंधुराज ने शोषणमय अस्त्र चलाकर जल को सुखा दिया। यहाँ तक कि उस वाण ने कीचड़ को भी सुखाकर ऐसा ताप उपन्न किया कि, विदूरथ के सैनिक ऐसे ही जलने लगे कि जैसे क्रोध वश मूर्ख का हृदय जल रहा हो। पर विदूरथ ने मेघास्त्र का प्रयोग कर उस ताप को बुझा दिया और सिंधुराज ने वायव्य अस्त्र को चलाकर उसे ऐसा भगा दिया, कि जैसे वायु सूखे पत्तों को भगा देता है।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का पैंतालीसवाँ सर्गसमाप्त ॥ ४५ ॥

छियालीसवाँ सर्ग

विदूरथमरण वर्णन

वशिष्ठ जी बोले—हे रामजी ! इतने पर भी वह राजा विदूरथ भयभीत न हुआ और सिंधुराज के चलाये हुए वायव्य वाणों को विफल करने के लिए उसने पर्वतास्त्र का प्रयोग करके वायुका क्षोभ मिटा दिया। फिर तो जिस प्रकार संवेदना से रहित होने पर, चित्त की वृत्तियाँ शांत हो जाती हैं, उसी प्रकार वायुका वेग रुक गया और सभी पदार्थ स्थिर हो गए। पर्वतास्त्रके चलते ही, बड़े २ पहाड़ सिंधुराज की सेना पर टूटने लगे। पर उनको निवारण करने के लिए सिंधुराज ने वज्र चलाकर सब पर्वतों को छिन्न भिन्न कर दिया। पर्वतों को छिन्न भिन्न होते देखकर विदूरथ ने ब्रह्मास्त्र का-ऐसा प्रयोग किया कि वज्र वाण की शक्ति नष्ट हो गई और वह जहाँ का तहाँ गुप्त हो गया। इस प्रकार दोनों राजा एक दूसरे को परास्त करने के लिए वाण-कोशल प्रदर्शित कर रहे थे। पर दोनों ही, बढ-बढकरां थे। उसी समय राजा विदूरथ ने बड़ी वीरता पूर्वक एक ऐसा वाण चलाया

कि सिन्धुराज का रथ चूर चूर हो गया और घोड़े भी दूर जाकर गिर पड़े और तड़फडाने लगे। फिर तो रथ को नष्ट होते देखकर सिन्धुराज को ऐसा क्रोध आया कि, उसने एक महा भयानक अस्त्र का प्रयोग करके विदूरथ के रथ और घोड़ों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। अब दोनों नंगी तलवार लेकर सग्राम भूमि में कूद पड़े और भीषण युद्ध करने लगे। उसी समय दोनों के सारथी नवीन रथ लेकर पहुँच गए और फिर रथ पर बैठकर दोनों युद्ध करने लगे। फिर तो विदूरथ ने सिन्धुराज पर अपनी बरछी का एक ऐसा वार कर दिया कि, उसकी छाती से रुधिर की धारा बहने लगी। उसे देखकर भरौखे में बैठी हुई लीला ने कहा,—हे सरस्वती जी। अब मेरा पति अवश्य विजयी होगा। लीला का ऐसा कहना था कि, उसी समय सिन्धुराज ने अत्यन्त क्रुपित होकर विदूरथ के हृदय को लक्ष्य कर अपनी विष बुझी बरछी का ऐसा वार कर दिया कि, वह मूर्च्छित होगया। उसको मूर्च्छित देखकर विदूरथ को लीला भी मूर्च्छायमान हो गई। फिर तो सिन्धुराज ने तलवार उठाकर विदूरथ का पाँव काट डाला और घोड़ों को भी काटकर सग्रामभूमि में बिछा दिया। पर वह विदूरथ भी ऐसा वीर था कि, पाँव आदिके कटने पर भी उठ-उठ कर युद्ध करता ही रहा। किन्तु अर्द्धाङ्ग-वीर का साहस ही कितना, वह मूर्च्छा से विवश होकर रथ में गिर पड़ा और शरीर से रुधिर बहने लगा। तब सारथी उसके रथ को लेकर घर की ओर चला। पर अत्यन्त क्रुपित होकर सिन्धुराज ने उसका पीछा किया और चाहो कि विदूरथ की शरीर भी छीन लें। वह अपने रथ से कूद पड़ा और शरीर लेने को पाँव पैदल बन्दरो की भाँति दौड़ने लगा। पर देवी के आशीर्वाद से रथ इतनी शीघ्रता से चल रहा था कि वह उसे पकड़ न सका। फिर तो सारथी रथ लेकर राजा के गृहमें जा पहुँचा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का छियालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४६ ॥

सैंतालीसवाँ सर्ग ।

सिन्धु-राष्ट्र वर्णन

विदूरथ के रथ का पहुँचना था कि, गृहमे जो लोग पहले ही से विद्यमान थे स्त्रियाँ, मंत्री और बन्धु बान्धवगण छाती पीट-पीट कर महाविलाप करने लगे । उम दारुण रोहाट से बड़ा भयानक, शब्द उत्पन्न हुआ । फिर तो युद्ध बन्द हुआ और सिन्धुराजकी सेना ने विजय का डका बजा कर राजा विदूरथ का नगर लूट लिया । चारों ओर से सिन्धुराज की जय-ध्वनि सुनाई देने लगी । अब वह ममस्त भूमण्डल सिन्धुराज का हो गया ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उच्यते प्रकरण सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २७ ॥

अड़तालीसवाँ सर्ग

मरण-मूर्च्छा की प्रतिभा वर्णन

इस प्रकार विदूरथ का मरण और उसकी लीलाकी मूर्च्छा देख कर प्रबुद्ध लीला (नवीन लीला) ने प्रश्न किया कि, हे भगवती ! अभी तो राजा की थोड़ी थोड़ी श्वास भी चल रही है, पर उसकी लीला तो मृतकरूप जान पड़ती है । फिर यह कैसे कहा जाय कि लीला राजा के शरीर के साथ वहाँ पहुँच जावेगी ? मरस्वती ने उत्तर दिया कि, हे लीले ! तू यह जो कुछ भी देख रही है और जैसा कुछ युद्धादि हुआ है और जो यह नाना प्रकार का जगत है, सब भ्रममात्र है । तेरे पति राजा पद्म का हृदय तो मण्डपाकाश में स्थित था । वहीं यह सम्पूर्ण जगत स्थित है और राजा पद्म का मण्डपाकाश वशिष्ठ ब्राह्मण के मण्डपाकाश में स्थित है । पर उस वशिष्ठ का मण्डपाकाश विदाकाश के आश्रय में है । इससे यह सम्पूर्ण जगत वशिष्ठ ब्राह्मण की पुर्णशरीर में स्थित है । जिस प्रकार आकाश में ही आकाश स्थित है जो यह कल्पना भी कुछ नहीं है उसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत फुरा करता है नहीं तो इसकी कल्पना तक कुछ नहीं है । यह

ज्यो का त्यो प्रात्मसत्ता ही स्वतः स्थित है। उसी आत्मसत्ता में और तुम इत्यादिक सब जगत भ्रमवश जान पड़ता है। नही तो यह बुद्धि उत्पन्न नहीं हुआ है। हे लीले ! उमी वशिष्ठ ब्राह्मणके मण्डपाक में अनेक स्थान हैं और प्राणियों के आने जाने के तीन मार्ग व्यक्त हरित जान पड़ते हैं। जिस प्रकार स्वप्न में नाना प्रकार की अस्मिकता असत्यही जान पड़ती है उसी प्रकार यह जगत असत्य रूप है। इसमें द्रष्टा, दृश्य कुछ नहीं है, जो कुछ है सब त्रिपुण्ड्र में ही है और चित्त की संवेदना से जान पड़ता है। अतः पति को जो सृष्टि वशिष्ठ ब्राह्मणके मण्डपाकाश में स्थित है, अथा विदूरथ का जगत जो राजापद्मके हृदय में स्थित है, वहाँ तेरा शरीर पड़ा है और राजा पद्म का शय पड़ा है, वह हमारे लिए प्रदेशमात्र है। उस प्रदेश में अंगुठे के प्रमाण के सदृश हृदय-कमल है। उस कमल में तेरे पति का जीव है। उसमें ही यह जगत चिरकाल ब्रह्म निर्मित हुआ ज्ञात होता है। पर वह एक प्रदेश मात्र है और वसुधैव कुटुम्बकम् योयनो पर्यन्त दूर से भी दूर है, उसका मार्ग भी वज्र के समान कठिन और तत्वमय है, उसको लॉध जानेपर तेरे पतिकी वह साक्षात्कृत है जहाँ कि उसका शय पड़ा है। उमीके पास यह लीला पहुँच जायगी। यह सुनकर लीलाने कहा,—हे देवि ! जब वह मार्ग ऐसा कठिन है तो उसको लॉधकर क्षण मात्रमें ही यह कैसे पहुँच जायगी। जिस शरीर के साथ उमको जाना था सो तो अभी यहीं पड़ा है। वह कैसे रूप धारण कर वहाँ चली गई और उसको वहाँ के लोगो कैसे जान-पहिचान लिया होगा—यह सारी कथा आप संक्षेप में कहिए। तब सरस्वती जी कहने लगी,—हे लीले ! यह कथा बहुत बड़ी और इतने महत्वकी है कि, इसका तत्व समझ लेने पर जगत भ्रम का नाश हो जाता है। पर इसे संक्षेप ही में मैं तुम्हें सुना रहा हूँ, ध्यान देकर सुन। हे देवि ! सबसे पहले तू यह जान ले कि विदूरथ का जन्म मरण और नवीन लीला की प्राप्ति और यह जगत्

कुछ सग्रामादि हुए हैं सब जगत भ्रमरूप है। केवल 'मैं' सर्वात्मा हूँ। परन्तु मेरा प्रकट होना भी, भ्रमरूप है। हे देवि। वासनाके अनुसार ही तू अपने पति राजा पद्म को आ मिली थी। जो कुछ है, सब वासना ही से है। जब यह मृतक हो जाता है, तब पहले यह अतहावक शरीर धारण करता है और फिर वासना के अनुसार जो पहली वासना में शेष रहा है उसके अनुसार आधिभौतिक होता है। तब उसी के अनुसार फिर उसका जन्म और मरण होता है। इसी प्रकार जब तेरा पति मरा है, तब उसको अपना जन्म-मरण और कुल, भास आया है। तब उसको जनों का समूह जान पड़ा। तभी लीला का भी और माता पिता तथा लीलाके साथ विहार आदि भी उसको भामित हुआ। जिस प्रकार तू राजा पद्म को भास आई है, उसी प्रकार वह विदूरथ के प्रति, भास आई थी। पर यह सब कुछ वासनाके अनुसार भ्रमसे भासित हुआ है। अन्यथा ब्रह्मसत्ता सर्व आत्मसत्ता है। उसमें जैसी तीव्र स्पंदता होती है, वह वैसे ही प्रत्यक्ष होता है, पर मैं तो ज्ञाप्ति रूप और चेतनाशक्ति हूँ। मुझ ऐसेको जो जैसी इच्छा धारण करके पूजता है, उसे मैं वैसा ही फल देती हूँ। अतः जो पहले लीला ने मुझसे यह वर माँग लिया था कि, मेरा पति मरने पर भी मेरे ही मण्डपाकोश में रहे और मैं विधवा न होऊँ, उसके अनुसार मैंने उसे वर दे दिया था। इसी से उसे मूर्च्छा के होने पर अपना शरीर जान पड़ा और वह जहाँ तेरे पति राजा पद्म का शव शरीर रखा है वहाँ उस मण्डप में इसी शरीर से उमके निकट जा पहुँची। उसका इस बात का निश्चय था कि, मैं उस शरीर के साथ आई हूँ।

श्री योगवाशिष्ठ माया, उत्पत्ति प्रकरण का अठ्ठावीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४८ ॥

उनचासवाँ सर्ग ।

नवीन लीला की मण्डपाकाश यात्रा
हेरामजी डिग्घर तो मरस्वती आर लीला में यह वार्ता होती रही

थी कि उधर नवीन लीलाने अंतर्वाहक शरीर धारण कर राजा पद्मे
 के मध्यमें पहुँचने का मार्ग बना लिया । वह उड़तो हुई शीघ्रता पूर्वक
 चली जा रही थी कि, अकस्मात् उसके आगे एक कुमारिका आ
 खड़ी हुई । उसे देखकर लीला ने पूछा आप कौन है और मेरे आगे
 मार्ग रोकने को क्यों पहुँची हैं । कुमारिका ने उत्तर दिया, कि मैं
 देवी सरस्वती की पुत्री हूँ और आपको मार्ग बताने के लिए आई
 हूँ । लीला ने कहा, तब तो मेरा बड़ा भाग्य उदय हुआ । अच्छा,
 कृपाकर मुझे मेरे पतिदेव के पास ले चलिए । फिर तो आगे-आगे
 कुमारिका मार्ग बतलाते हुए लीला को साथ लेकर आकाश मार्गमें
 उड़ चली । तब सूर्य और तारों का मण्डल लांघती हुई लोकपाल,
 ब्रह्मलोक, विष्णुलोक, और रुद्रलोकको लाँघ कर वज्र के समान कठोर
 ब्रह्माण्ड कषाट के निकट जा पहुँची । वहाँ से चल कर अग्नि, वायु
 और आकाशतल की सीमा को पार करते हुए महाचेतन आकाश
 में जा पहुँची । उस महाचेतन आकाश के आदि और अन्त का
 पता नहीं कि वह कितना बड़ा है । उसका अन्त पाने के लिए यदि
 विष्णु भगवान का वाहन गरुण भी कोटि कल्पतक उड़े तो भी अन्त
 नहीं पा सकता । पर अंतर्वाहक शरीर से कुमारी के साथ लीला उसे
 पार कर परमाकाश में पहुँच गई । वहाँ उसे कोटि ब्रह्माण्डों की
 रचना दिखलाई पड़ी । वह रचना ऐसे ही थी, जैसे कि मन में अनेक
 वृत्तों का फल लगा हो । फिर तो वे दोनों देवी एक फल के
 मार्ग से ऐसे ही प्रविष्ट हुईं जैसे कि, किसी फल में चींटी प्रवेश कर
 जाती है । फिर तो उन दोनों ने वहाँ भी ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र सहित
 त्रिलोकी को फिर देखा । परन्तु उन लोकीको भी पार करके वे दोनों
 लोकपाल, चन्द्रमा और तारागण मण्डल को भी पार कर
 और मेघमण्डल को पार कर राजा के नगर में जा
 फिर नगर में प्रविष्ट होकर उसके मन्दिर में
 उसका शव पुष्पो से ७ था.

चतेही देवी कुमारी तो मायायी वस्तुकी नाई अन्तर्धान हो गई और लीला, राजा पद्म को शव के पास जा बैठी। फिर कुछ शोचविचार कर पास ही में चमर रखा देक कर उठा लिया और अपने पतिदेव को चमर डुलाने लगी।

उधर प्रबुद्ध लीलाने राजा विदूरथकी धीरे २साँस चलते हुए देखकर सरस्वती पूछा कि, हे भगवती। अब तो प्रतीत होता है कि, राजाका मरणकाल अत्यन्त निकट है। पर जब यह मरजायगा तब फिर राजा पद्मकी शरीरमें यह कैसे प्रविष्ट होगा और जागनेपर उस के नौकर चाकर इसे कैसे पहचानेगे ? सरस्वतीजीने उत्तर दिया,—हे लीले। यह रहस्य बड़ा गुप्त है। इसे या तो मैं जानती हूँ या तू जानेगी या वह लीला जानेगी अन्यथा और कोई न जानेगा। जब राजाके जागनेका समय होगा तब मंत्री आदि उसके सेवक [टहलुए] हो जायेंगे और उनको दूसरी कोई कल्पना न भासेगी। ऐसा उत्तर सुनकर लीलाने पूछा कि, हे देवि। अब यह बतलाइए कि, उस लीलाकी शरीर तो अभी यहाँ ही पड़ी है, फिर वह राजा पद्मके पास कैसे पहुँच गई ? सरस्वतीजीने कहा,—हे लीले। वह मेरे वरके प्रतापसे और अपने सकल्पके चलसे वहाँ पहुँच गई है। उसका शरीर मकल्पमें स्थित था और वह उसेही अपने साथ ले गई है। फिर आत्ममत्ता तो सर्वात्मस्वरूप है। उसमें जैसी २ भावना दृढ होती है, वह वैसा ही रूप धारण करता है। जो यह समझता है कि मैं पञ्चभूत रूप हूँ, उसके लिए उठ सकना अत्यन्त असम्भव है। पर इस लीला का भ्रम तो मेरे वर के प्रतापसे दूर हो गया था, इससे मूर्च्छान्तरमें उसको भ्रम आया कि, मैं सरस्वतीजीके वरके प्रतापसे चली जाऊँगी—ऐसी वासनाने ही उसे वहाँ पहुँचा दिया। हे लीले। समस्त जगत आत्मामें केवल आभास स्वरूप और स्वतः अपने आपमें स्थित है। यही अज्ञानी के लिए दूर जान पड़ता है। पर जो ज्ञानी पुरुष हैं वे सदैव शान्तस्वरूप और आत्मानन्दमें तप्त रहते हैं। किन्तु अज्ञानियोंको शान्ति नहीं मिलती।

पचासवाँ सर्ग

द्रव्य-मत्ता-नीति विवेचन

वशिष्ठजी बोले,—हे रामजी । इस प्रकार लीलाके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए सरस्वतीजी ने कहा—हे लीले । यदि कोई बड़ा ज्ञानी हो तो उसे भी जानने योग्य पदको न जानने से अन्नवाहकता नहीं प्राप्त हो सकती । अन्नवाहक शरीर भी मिथ्या है क्योंकि संकल्प से ही इसकी वास्तविकता है । यह ममस्त जगत उत्पन्न नहीं हुआ, केवल शुद्ध-चिदाकाश-सत्ता अपने में स्वतः स्थित है । यह सुनकर लीलाने पृष्टा कि, हे कल्याणि । यदि सब जगत मन्त्र मात्र है तो भाव और अभाव रूप पदार्थ कैसे होते हैं । अग्निमें उष्णता, पृथ्वीमें स्थिरता, वर्षमें शीतलता और आकाश सत्ता, काल सत्ता और स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थ, ग्रहण और त्याग, जन्म और मरण, फिर मरण और जन्म लेने आदिकी मत्ता कैसे भासती है ? इसका उत्तर देते हुए देवी सरस्वतीने कहा,—हे लीले । महाप्रलय होनेपर समस्त पदार्थोंका अभाव हो जाता है और काल सत्ता भी नष्ट हो जाती है । उसके बाद अनन्त चिदाकाश और सब कलनाओं से रहित केवल बोध मात्र ब्रह्म-सत्ताही शेष रहती है । उसमें केवल्य चेतन सत्तासे जब चित्त सवितमे चेतन्यता होती है, तब चेतना शक्तिमें अपने को तेज अणु जानने लगता है । जैसे स्वप्न में कोई अपनेको पत्नीके समान उड़ता हुआ देखे, वैसे ही अपने को तेज अणु देखता है । उससे स्थूलता होती है और वह ब्रह्मांड रूप है । उसमें वह तेज अणु अपनेको ब्रह्मारूप जानता है और यह जानता है कि मैं ही ब्रह्मा हूँ और फिर मैं ही ब्रह्मारूप होकर जगत को रचता हूँ । वह ब्रह्मा जिस प्रकार चेतता जाता है, उसी प्रकार उसमें स्थिरता का रूप भी दृढ़ होता जाता है । आदि रचना से जैसा निश्चय धारण किया है कि, 'यह ऐसा ही हो और इतने काल तक' नाम नीति है । अतः जैसे आदि रचनाकी नीति है की त्यों है, उसका निवारण

करने में कोई समर्थ नहीं और वस्तुतः आदि ब्रह्मा भी बिना कारण रूप है अर्थात् उमकी कोई उत्पत्ति नहीं है। फिर जगत को उत्पन्न हुआ मैं कैसे कहूँ। हे लीले। रूप धारण कर कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है। केवल चेतन सचेदन के फुरने में जगत आकार होकर भासता है। उसमें जैसा निश्चय है, वैसा ही वह स्थित है। अग्नि में उष्णता, बर्फ में शीतलता और पृथ्वी में स्थिरता ही उसका रूप है। जिस रूपसे वह उपजे है, वैसेही स्थित भी है। हे लीले। चेतन के सन्बन्धमें ऐसी नीति है कि वही उपदेशका अधिकारी है, पर जो जड़ है उसके लिए उपदेश नहीं। क्योंकि वह तो वही स्वभाव ही है। अस्तु जब आदि चित्त सवितमें आकाश का फुरना निश्चय है, तब उमका आकाश रूप से स्थित हाना भी सिद्ध है। जब कालमें स्पन्द फुरा अर्थात् संकल्प विकल्प हुआ तब वही चेतन शक्ति व्यात्म रूप होकर स्थित हो गयी। जैसे वायु में चेतनता होने पर वह शक्ति वायु रूप होकर स्थित होती है, वैसेही अग्नि, जल और पृथिव्यादि अनेक रूप होकर स्थित है। ऐसे ही स्थूल और सूक्ष्मरूप होकर चेतनाशक्ति ही स्थिर हो रही है। जिस प्रकार स्वप्न में चेतना शक्ति ही पर्वत से वृक्ष रूप होकर स्थिर होती है, उसी प्रकार वही चेतना शक्ति जगत रूप होकर भी स्थित है। हे देवि। जैसे-जैसे आदि नीति ने संकल्प रूप धारण किया है, वैसेही वह स्थित भी है। उसे कोई भी निवारण नहीं कर सकता। कारण कि उमने चेतना का पूर्ण अभ्यास किया है। इससे हे लीले। यह जगत मिथ्या है। असत् ही सत् के समान भासता है। वास्तव में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। जिस प्रकार स्वप्न की सत्ता असत्य है, पर उस समय सत्यरूप से भासती है, उसी प्रकार, अज्ञान से मिथ्या जगत मत्य भासता है और यही कारण जन्म-मरण आदिक कर्मों का फल होता है। उमका भी कारण सुन। हे लीले। देश, काल और द्रव्य छोटे और बड़े होते हैं। कोई बाल्यावस्था में मरते हैं और कोई युवावस्था ही में मर जाते हैं। उसमें

जिसकी देश, काल और द्रव्य की क्रिया एवं चेष्टा यथा शस्त्र होती है उसकी अन्यक्रिया भी शास्त्रानुसार ही होती है। पर जो चेष्टा शास्त्रके विपरीत हाती है तो आयुर्वल भी वैसा ही होता है। किसी किगासे आयु बढ़ती है और किसी क्रिया से घटती है। इसी भाँति देश, काल, क्रिया और द्रव्य आयुको घटाने बढ़ानेवाले होते हैं। उन्हीं सबों में समस्त जीवों के शरीर अत्यन्त ही सूक्ष्म अवस्थामें सोये पड़े हैं। यही आदि रची हुई नीति है। इसमें सौ दिव्य वर्ष का कलियुग, दो सौ दिव्य वर्षका द्वापर और तीन सौ वर्षका त्रेता और चार सौ दिव्य वर्ष का सतयुग है। पर यही लौकिक व्यवहार में चार लाख वत्तिस हजार का कलियुग और आठ लाख चौंसठ हजार वर्ष का द्वापर व वारह लाख छानवे हजार वर्ष का त्रेता और सत्रह लाख अष्टादश हजार वर्ष का सतयुग माना जाता है। ऐसेही युगों की मर्यादा में जीव अपने कर्मानुसार आयु भोगते हैं। हे लीले ! पापी जनही मरते हैं और उन्हीं को मरण समय में अत्यन्त कष्ट होता है। इस पर लीला ने पूछा कि, हे कल्याणि ! मरे हुआ को दुःख और सुख कैसे भोगना पडता है। देवी ने उत्तर दिया कि, जीवों को मृत्यु तीन प्रकार की है। मूर्ख, धारणाभ्यासी और ज्ञानी। धारणाभ्यासी न तो मूर्ख है और न ज्ञानी। वह देवता का उपासक है। शरीर छोड़ने पर वह उसी देवता को जा मिलता है। पर ऐसे अपूर्ण ज्ञानियों का शरीर सुख से छूटता है। सुपुष्टि के समान धारणाभ्यासी शरीर त्यागता है। वह पुनः सुख भोगकर आत्मत्व को प्राप्त करता है। इसी प्रकार ज्ञानी का भी शरीर सुख से छूटता है, किन्तु यह विदेह मुक्त होता है। पर मूर्ख को तो मृत्युके समय अत्यन्त कष्ट होता है। [मूर्ख वह है जो अज्ञानियों के संगति में रहे, शास्त्रों के विपरीत आचरण करे और सदैव विषयवामना में लवलीन रहकर पाप करता फिरे] ऐसे मूर्खों को मृत्यु के समय शरीर छोड़ते हुए बड़ा कष्ट मिलता है। क्योंकि वह पापी है। हे लीले ! मरण समयमें मनुष्य की अर्थाभरण

बुद्धि जो उसकी सम्बन्धिनी रहती है, पहले उससे वियोग होता है, तब कण्ठ रुंध जाता है, आँखों की ज्योति फट जाती है और शरीर की कान्ति ऐसा रहित हो जाती है, जैसे कोई कमल-पुष्प कट कर गिर पड़ा हो। फिर तो शरीर के सभी अवयव टूट जाते हैं और प्राण नाडियों से निकलने लगता है। तब जिन अवयवों और नाडियों से उसका सम्बन्ध और स्नेह रहता है, उनसे वियोग होने से बड़ा कष्ट होता है। ऐसा कष्ट होता है, मानो कोई अग्नि के कुण्ड में छोड़ दे। उस समय सभी पदार्थ भ्रम से जान पड़ते हैं और पृथ्वी आकाश रूप तथा आकाश ही पृथ्वी रूप जान पड़ता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, मुमुक्षु-भकरण का पचासवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५० ॥

इक्यावनवाँ सर्ग ।

मरणान्तरावस्था वर्णन

वशिष्ठ जी कहने लगे,—हे रामजी ! इतने में राजा विदूरथ के नेत्र फट गए और शरीर निरस होकर श्वास नासिका के मार्ग से निकल गया। चित्त की चेतना जर्जर हो गई और जीव चेतना की वासना सहित आकाश में जा स्थिर हुआ। तब उसको दूतों के साथ जाते देखकर दिव्य दृष्टि वाली दोनों देवियों ने पीछा किया और धर्मराजके नगर में जा पहुँची। वहाँ जाकर क्या देखती हैं कि, राजा विदूरथ धर्मराज के समक्ष खड़ा किया गया है और वह चित्रगुप्त में राजा के पुण्य का लेखा जाँच रहे हैं। लेखा जाँच कर चित्रगुप्त ने धर्मराज से बतलाया कि, यह राजा बड़ा पुण्यकर्मी और देवी सरस्वती के वरदान का पात्र है। इसके पुनः प्रवेशके लिए एक शरीर पुष्पो से ढँका हुआ पहलेही से रखा है। सरस्वती जी के वरदान के अनुसार अब यह उसी शरीर में प्रविष्ट करेगा। अतः इससे और कुछ कहने सुनने की आवश्यकता है।
के ऐसा कहने पर दूतों ने राजा को

वह अत्यन्त वेग से चला और दोनो देवियाँ भी उसी के पीछे पीछे चलीं । देवियाँ तो उसे देख ही रही थी पर राजा उनको नहीं देख पाता था । तब वह तीनों एक ब्रह्माण्ड की सीमा को पार कर दूसरे में और फिर उसे भी पार कर राजा पद्म के नगर में जा पहुँचे । फिर तो पलमात्र में राजा विदूरथ का जीव राजा पद्म के मंदिर में उसकी शव शरीर के साथ जाकर ऐसे ही मिल गया जैसे की वादल से वायु मिल जाता है । तब देवियाँ भी वहीं जा मिली । यह सुन कर राम जी ने पूछा कि, हे सर्व विद्याओं के आचार्य वशिष्ठजी । राजा विदूरथ तो मर गया था, फिर उसने राजा पद्म के स्थान में पहुँचने का मार्ग कैसे जाना और वहाँ कैसे जा मिला ? वशिष्ठजी कहने लगे,—हे रामजी । राजा ने मृतक होकर केवल शरीर का त्याग किया था, उसकी वासना का नाश नहीं हुआ था । उसी वासना से वह अपने स्थान को जा मिला । हे रामजी । जगत तो भ्रान्ति मात्र है । जैसे वट-बीज में अनंत वट-वृक्ष होते हैं, वैसे ही चिद् अणु में अनंत जगत भी है । जो अपने में स्थित है उसको देखना क्या कठिन है । जब जीव अपने जीवत्व अंकुर को देख सकता है, तब चिद् अणु त्रिलोकी को भी देख सकता है । जिस प्रकार कोई धनी पुरुष अपने धन को पृथ्वी में गाड़ कर बाहर चला जावे तो सोते जागते वासना द्वारा वह हर समय अपने धन को दिखता रहता है, उसी प्रकार वासना की दृढता से ही राजा विदूरथ ने अपने स्थान को देखा । अतः जिसकी जैसी भावना होती है, उसको वैसा ही अनुभव होता है । इस पर राम जी ने फिर पूछा कि, हे भगवन् । जिसकी वासना के पीछे पिडदानादिक क्रियाएँ नहीं रहती और मर जाता है, तब वह अपने साथ शरीर को कैसे देखता है ? क्योंकि उसकी पिड-क्रिया तो हुई नहीं । वशिष्ठजी ने उत्तर दिया कि, हे रामजी । मनुष्य माता के पिड अर्थ से जो शुभ कर्म करता है तो उन्हीं की वासना इसके

हृदय में रहती है। वही वासना फल रूप होकर इसको [जीवको] भासती है। यह मेरा शरीर है, मेरे बाद मेरे पुत्र अथवा बन्धुओं ने मुझे पिंड दिया है और उसी में मेरा शरीर हुआ है। हे राघव! चाहं प्राणी विदेह हो या सदेह, पर निज वासना के अनुसार ही उसे अनुभव होता है। पुरुष चित्तमय है। उस चित्त में पिंड की जैसी भावना रहती है, वैसाही वह अपनेको पिंडवान जानेगा। उसके अनुसार [भावना के] असत्य भी सत्य हो जाता है। अतः प्रत्येक पदार्थों में भावनाही मूल कारण है। कारणविना कार्य नहीं होता।

रामजी ने पूछा कि, हे मुनिशार्दूल गुरुजी! जो मनुष्य पिंडादिक शुभ कर्म नहीं करते और उनके पाम ऐसी भावना का अभाव है, और जब करते हैं, तब क्या वे प्रेत वासना युक्त हो जाते हैं और क्या तब वे अपने को पापी और प्रेत जानते हैं? परन्तु बाद में जब उनके बान्धव पिंडादि देते हैं तब क्या उनको ऐसी भावना हो जाती है कि, यह मेरा शरीर हुआ है अर्थात् क्या वह पिंडदानादिक क्रियायें उसको मिल जाती हैं? क्या उसके बान्धव यह जानते हैं कि, उस जीव के निमित्त मैंने जो कुछ किया है, उसको मिल जायगा? वशिष्ठ जी ने उत्तर दिया कि, हे रामजी! देश, काल, क्रिया, द्रव्य और सपदा से ही भावना की उत्पत्ति होती है। जिसकी जैसी भावना होती है, उसको वैसी ही सिद्धता प्राप्त होती है। जिमका कर्तव्य बलवान है, उसी की जय होती है। स्त्री, पुत्र, और बन्धुजन वामना का रूप है। धर्म की वासना ऐसी है कि, उससे बुद्धिमें प्रसन्नता उत्पन्न होकर पुण्य कर्मों से पहले की भावना क्षीण हो जाती है और शुभ गति मिलती है। ऐसी बलिष्ठ वासना से जय होती है। अतः कल्याण के लिए शुभ कर्मों का करना अत्यन्त आवश्यक है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का इक्यावनवाँ सर्ग

वाचनवाँ सर्ग ।

स्वप्न-विवेचन

वशिष्ठ जी बोले,—हे रामजी ! अब आगे की कथा सुनिए । जब दोनो देवियाँ राजा पद्म के मन्दिर में पहुँच गईं तो क्या देखती हैं कि, बहुत सुन्दर स्थान बना हुआ है और वहाँ सभी मनुष्य सोये हैं और उनकी श्वाँसे निकलकर पुष्प सुगन्धिमें आ-जा रही हैं। किवाड बन्द हैं और पुष्पों से ढँका हुआ राजा पद्म का शव एक सुन्दर चवूतरे पर रखा है । उसके निकट पूर्व की लीला अपने उन्हीं पूर्व के सुन्दर वस्त्राभूषणों से कुछ चित्त-भग्न बैठी हुई राजा को चमर डुला रही है । सरस्वती और उसके साथ की लीला खड़ी २ देख रही थीं और वह इन दोनोको न देखती थी। क्योंकि यह दोनो प्रबुद्धात्मा और सत्संकल्पमय थी । यह सुनकर राम जी ने पूछा कि, हे गुरु जी ! आपने उस लीला का वर्णन नहीं किया कि जो अपने शरीर को राजा पद्मके पास ही छोड़कर सरस्वती जी के साथ राजा विदूरथ को देखने गई थी । अभी सो, वह कहाँ गई और उसकी क्या दशा हुई ? इस पर वशिष्ठ जी कहने लगे, हे रामजी ! वह लीला और उसका शरीर तथा उमकी सत्ता तो कही नहीं थी । वह तो अरुन्धती के मन में लीला के शरीर की एक भ्रान्ति की चमक मात्र थी । आधिभौतिकता तो अज्ञान से है । ज्ञान होने पर तो इसकी निवृत्ति हो जाती है । अतः उस लीला को ज्ञान होने से उसके आधिभौतिक शरीर की निवृत्ति हो गई । उसने अन्तर्वाहक शरीर धारण कर लिया । हे रामजी ! उधर मैंने बहुत बार कहा है कि, समस्त जीव अन्तर्वाहक हैं, कोई आधिभौतिक नहीं है । तुम मेरे कथन को अपने हृदय में स्थान क्यों नहीं देते ? हे राघव ! जिस प्रकार दृढ जड़ता वश जल बरफ हो जाता है, उसी प्रकार प्रमाद वश सकल्पाभ्यास से यह अन्तर्वाहक शरीर आधिभौतिक रूप हो जाता है । परन्तु तत्व का

ज्ञान उदय होने पर आधिभौतिकता नाश हो जाती है और वही शरीर आकाशरूप (अन्तर्वाहक) हो जाता है । जिस प्रकार स्वप्न में शरीर से आदिलों जो कुछ बृहत् जगत जान पड़ता है, वही जाग्रत होने पर छोटा हो जाता है, उसी प्रकार परमात्मा का ज्ञान होने पर आधिभौतिक शरीर निवृत्त हो जाता है और केवल संकल्पका ही रूप जान पड़ता है । अतः अज्ञानाभ्यास होते रहने से ही आधिभौतिकता जान पड़ती है नहीं तो ज्ञानाभ्याससे आधिभौतिकता नष्ट होकर अन्तर्वाहकता का उदय होता है । जिस प्रकार जीव एक शरीर को छोड़ कर दूसरा शरीर धारण करता है, उसी प्रकार स्वप्न से जागने पर स्वप्न शरीर शान्त हो जाता है । इससे जगत भ्रममात्र है । अज्ञानता वश सत्यता प्रतीत होता है । पर आत्मज्ञान होने से सब आकाश रूप हो जायगा ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का वाचनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५२ ॥

तिरपनवाँ सर्ग ।

राजा पद्मा का पुनः जन्म लेकर दोनों लीला सहित निर्गण्य पद प्राप्त करना ।

वशिष्ठ जी बोले,—हे रागजी । इस प्रकार जब सरस्वती और लीला, राजा पद्मके मण्डप में पहुँच गई, तब लीलाने सरस्वतीजीसे पूछा कि हे देवि । समाधिस्थ हुए मुझे कितना दिन व्यतीत हो गया । मैं अपने शरीर को वहाँ छोड़कर आप के साथ भूपाल की सृष्टि देखने गई थी, पर आनेपर मैं अपने उस शरीर को नहीं देखती हूँ । रूपा कर बतलाइए कि मेरा वह शरीर कहाँ गया ? सरस्वती जी ने कहा,—हे लीले । तुम्हें समाधिस्थ हुए अभी कुल इकतिस दिन व्यतीत हुये हैं । हे देवि ! वहाँ तू विदूरथ की सृष्टिमें विचर रही थी । तब तुम्हें उस निर्जीव शरीर में क्या प्रयोजन ? जिस समय तू उस राजा की सृष्टि में विचर रही थी, उसी समय तेरा शरीर निर्जीव होकर गिर पड़ा और यहाँ के लोगों ने उसे मृतक जानकर धृतादि देकर

जला दिया । उस शरीर का तो पिंडादिक क्रिया भी हो गई । यदि उस समय तू उतर आयी होती तो तुझे देखकर सब लोग आश्चर्य चकित होजाने । पर अब भी तुझे देखकर आश्चर्य ही करेगे और सब यही कहेंगे कि, रानी परलोक भ्रमण कर के आ गई है । हे लीले ! मेरे विचार से तुझे अब सच्चा बोध हुआ है । इसीसे तेरे उस शरीर की वासना नष्ट होकर अन्तवाहकता में निश्चय हुआ और इसी कारण से वह शरीर जीवित हुआ । तात्पर्य यह कि, अब तुझको सच्ची लीलाकी वासना में बोध हुआ और अब तू सच्ची लीला रानी हुई है । इससे तेरा शरीर वैसाही है । उस समय तुझमें लीलाके शरीर की थोड़ी सी वासना रह गयी थी, इसीसे तू मोक्षपदको न प्राप्त कर सकी, अन्यथा तू विदेह मुक्त हो जाती । पर अब तू मत्सकल्पमय हुई है, अब तुझे इन्द्रानुसार अनुभव प्राप्त होगा । क्योंकि जिसको जैसी भावना होती है, उसीके अनुसार उसको प्राप्ति होती है । जो तो समस्त जीवों का शरीर आरम्भ से ही अन्तवाहक है, पर प्रमादवश आधिभौतिक भासता है । हे लीले ! अब तुझे अन्तवाहकता में विश्वास हुआ है । इससे तेरा शरीर फिर वैसा ही हो गया है । इससे अब तू सत्य सकल्प वाली है, जैसी चिन्तना करेगी निसन्देह वैसाही होगा । पर यहाँ जो तू अपने पति के पास इस कमल नयनी नवीन लीला को बैठे हुये देख रही है, इसको यहाँ का कोई मनुष्य नहीं जान रहा है—मैंने सब को निद्रा में मोहित कर दिया है । जब तक मैं स्वयम् इसे दर्शन न दूँगी तब तक यह और किसी को तथा और लोग इसको न जान सकेंगे । पर अब मैं इसे दर्शन दूँगी और यह मुझे देखेगी । ऐसा कह कर ज्योंही देवी सरस्वती ने उम लीला को अपने सत्सकल्प से दर्शन दिया कि त्योंही उसने माण्डपमें बहुत बड़े प्रकाशको देखा । फिर तो उसने देखा कि उस में अनेक सूर्य और चन्द्रमासे प्रकाशित प्रकाशमें दो देवियाँ समक्ष ही खड़ी हैं । तब उनको देखकर उम नवीन लीला ने दण्डवत् किया

और सुन्दर स्वर्ण सिंहासन बैठने को दिया । फिर उनको बैठाकर उसने कहा,—हे जीव-ञ्जात्रो, आप की जय हो । जय हो ॥ आपने हम पर बड़ी कृपा की है कि, मैं यहाँ पहुँच आई हूँ । तब सरस्वती ने पूछा,—तू यहाँ कैसे पहुँची और यहाँ आकर भी तूने क्या देखा । उसने कहा, जब मेरा राजा संग्राम-भूमि में मूर्च्छित हो गया, तब मैं अपने को सभाल न सकी और मैं भी मूर्च्छित हो गई । पर मूर्च्छित होते ही मुझे पुनः चेतना हुई और मैंने उसी शरीर को देखा यथात् आपका वरदान स्मरण आया । फिर तो उसी से मैं आकाश मार्ग को उड़ चली । तब मार्ग में मुझे एक कुमारी मिली और मुझे मेरे पति के पास बैठा कर स्वयं गुप्त हो गई । इस प्रकार मेरा पति जो संग्राम में थका था यहाँ आकर सो रहा है । आते समय मैंने बहुत देखा, पर कहीं भी आप का दर्शन न मिला । यह कह कर वह ज्योंही चुप हुई कि सरस्वती ने अपने साथ वाली लीला से कहा कि, अब मैं राजा के जीव को छोड़ूँगी । लीला कुछ बोल भी न सकी थी कि सरस्वती ने नासिका के मार्गसे जीवनकला को छोड़ दिया । फिर तो जिम प्रकार कमलके भीतर वायु प्रवेश कर जावे एवं शरीर में वायु प्रविष्ट हो जावे, उसी प्रकार राजा के शरीर में जीवनकला पुनः प्रविष्ट हो गई । क्योंकि उसकी पुर्यष्टक वासनामय थी । फिर तो राजा के शरीर ने काति धारण करलिया और जिम प्रकार वसन्त ऋतु में पुष्प और वृक्षों में नवीन रसका संचार हो जाता है, उसी प्रकार उसके अङ्गों में प्राणवायु का संचार हो गया । फिर तो जिस प्रकार वसन्त रितु में पुष्प बिले आते हैं उसी प्रकार उसकी मंडन्धियाँ खिल गईं । इन्द्रियों के खिलते ही जिस प्रकार रोक़ा हुआ विन्ध्याचल पर्वत उठ खड़ा हुआ था, उसी प्रकार राजा पुष्पों से उठ खड़ा हुआ । उसके उठते ही दोनों लीला भी खड़ी हो गईं । तब राजाने पूछा, तुम दोनों कौन हो ? प्रबुद्ध लीलाने कहा, मैं आपकी विवाहिता स्त्री हूँ । आप जब यहाँ अपने पहली शरीर को छोड़कर परलोकवासी हुये थे, तब

मुझमें आपका अत्यंत स्नेह था, जिससे मेरे प्रतिस्मिन्-स्वरूप यह लीला आपको वहाँ भासित हुई थी। पर यह बहुत बड़ी कथा है। कृपा पूर्वक ध्यान देकर सुनिए। हे महाराज। यह देवी जी, जो मेरे शिर पर हाथ रखे हुये स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान है, यह सरस्वती और सर्व जीवों की जननी हैं। इन्हीं की कृपा से मैं आपको पुनः स्वर्ग से जाकर ले आई हूँ। हे रामजी! लीला का ऐसा कहना था कि, राजा अत्यंत प्रसन्न होकर देवीजी के चरणों में जा गिरा और स्तुति करके बोला कि, हे भगवती! आपने मुझपर बड़ी कृपा की है। पर अब बारबार यह विनय है कि, आप मुझे महान् आर्युवल ऐसा प्रदान कीजिए कि मैं निष्कण्टक राज्य करूँ और अपार लक्ष्मी को प्राप्त कर रोग रहित सम्पूर्ण आत्मज्ञान को पा सकूँ। तात्पर्य यह कि, भोग और मोक्ष दोनों ही पाऊँ। राजा की ऐसी पार्थना सुनकर देवी ने कहा, तथास्तु। ऐसाही होगा। यह वरदान देकर सरस्वती अन्तर्ध्यान हो गईं। तब प्रातःकाल होते ही सब लोग जाग गए और भुवनभास्कर भगवान् अपनी किरणों सहित आकाशमण्डल में उदय हुए। फिर तो राजा पद्म ने प्रेमपूर्वक दोनों लीला का आलिङ्गन कर बहुत आश्चर्य प्रकट किया। बधाइयाँ बजने लगीं, अप्सरायें नृत्यगान करने लगीं और चारों ओरसे ऐसी हर्ष-ध्वनि हुई कि, मन्दिर गूँज उठा। सब लोग कहने लगे कि, आज हमारी लीला रानी एक नवीन लीला को अपने साथ लाई हैं। जब ऐसा कौतूहल मत्वा तब अन्य देश के निवासियों ने भी जाना कि, राजा पद्मने फिर जन्म लिया है। हे रामजी! अब तक तो राजा पद्म को अपने नवीन जन्म लेने पर विश्वास न था, पर देश-देशान्तरोंमें आश्चर्य और आतंक फैल जानेपर उसे भी पूर्ण विश्वास हो गया। तब उसके मंत्रियों और द्वारपडितों ने विधिपूर्वक राजा को राजतिलक देकर सिंहासन पर बैठाकर राज्य भार सौंप दिया। उस दिन से वह शासन की बागडोर अपने हाथ में लेकर राज्य की

सुन्दर व्यवस्था करने लगा । फिर तो सरस्वतीजी के आशीर्वाद से वह इतना प्रभावशाली हो गया कि, समस्त भूमण्डल उसपर सुग्ध हो कर उसका अनुचर हो गया । समस्त प्रजा उसे प्यार की दृष्टि में देखने लगी । वह भी धर्मपूर्वक प्रजाकी सेवा करने लगा । इस भाँति उसने पूरे एक हजार वर्ष तक राज्य किया और अन्तमें विदेह-मुक्त हो कर निर्वाण पद का भागी हुआ । फिर उसी के साथ लीला भी अक्षयलोक को प्राप्त हुई ।

श्री योगराशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का तिरपनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५३ ॥

चौनवाँ सर्ग

लीला-सम्बन्ध-वर्णन

इतनी कथा कह कर वशिष्ठजी ने रामजीसे कहा,—हे रामजी ! अब तो आशा है कि लीला रानी और आकाशराज ब्राह्मणका आख्यान सुन कर तुम्हारा दृष्टिदोष दूर होगया होगा । क्योंकि दृश्य-भ्रम की निवृत्ति के लिये ही यह कथा मैंने तुमको सुनाई है । अतः अब दृश्य दृढ़ता को त्याग दो । यह जो जगत तुमको भास रहा है, केवल आभास रूप है । इसकी कोई यादिस उत्पत्ति नहीं हुई है । जब इसकी उत्पत्ति नहीं है तब यह असत्य है और जब अमन्य है तब इससे निवृत्त होना कोई कठिन नहीं है । विना यत्न किये ही यह निवृत्त हो जायगा । जो ज्ञानी हैं, उनके लिए सब आकाशरूप जान पड़ता है और आकाशकी नाई ही स्थित है । हे रामजी ! पहले पहल ब्रह्म-सत्तामे

है और वही ब्रह्मभाव से स्थित हुआ है ।

परे है । अतएव जब वह स्वयम् ही

करने की शक्ति कहीं मे हुई ?

—“क्योंकि आत्मपद का दर्शन

अज्ञानियों के लिये तो

। यह जीव शुद्ध

चिदाकाशका एक अणु मात्र है और उसी जीवाणुमे यह जगत भासता है अर्थात् जान पड़ता है। उस जगतकी सृष्टि और उसकी नीति, उसकी वासना और उसके पदार्थों का वर्णन करते नहीं बनता। हे राघव ! यह जगत कुछ वस्तु होकर उत्पन्न नहीं हुआ है, केवल संवेदन के होनेसे ही भासता है। शुद्ध शक्तिमे कल्पनारूपी नदी प्रवाहित है और उसमे जगत फुर रहा है। जब उस शक्ति का वेग रोका जाय तब दृष्टि भ्रम स्वयंही नष्ट हो जायगा। इसके लिए अर्थात् आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए श्रवण मनन और निदिध्यासन करनेकी आवश्यकता है। ऐसा अभ्यास जब किया जाय, तब दृश्य-भ्रम स्वयम् नष्ट हो जायगा। हे रामजी ! यह जगत जो तुमको भासता है, सां हमको अखंड ब्रह्म-सत्ता ही भासती है। पर यह जगत मायमय है। माया भी कुछ और वस्तु नहीं, केवल ब्रह्मसत्ता ही अपने आप मे स्थित है। रामजीने कहा,—हे मुनीवर ! आपके इस अमृतमय उपदेश से अब मेरा दृश्य भ्रम नष्ट हो गया है और ज्ञातज्ञेय होकर मैने पाँच बातों पर ध्यान दिया है। पहली यह कि, जगत (मिथ्या है) कुछ नहीं है। दूसरी यह कि, आत्मा में आभास है। तीसरी बात यह कि, इसका स्वभाव परिणामी है और चौथी बात यह है कि, यह अज्ञानसे उत्पन्न हुआ है और पाँचवीं बात यह कि, यह अनादि और अज्ञान पूर्ण है। यही जानकर मै ज्ञानियों की भाँति शान्त हो गया हूँ। अब मुझे ऐसा जान पड़ता है कि, मे निर्वाण और मुक्त हो गया हूँ। हे गुरुजी ! आपका यह उपदेश अन्य शास्त्रोंसे तो बड़ा ही आश्चर्यमय और भिन्न प्रकार का है। आपकी अमृतमय वाणी को सुन कर मै तृप्त नहीं हो पाता हूँ। इससे फिर निवेदन करता हूँ कि, आप मेरे इस संशय को भी दूर कीजिए कि लीला के पति को तीन सृष्टि का अनुभव किस प्रकार हुआ ? पहली वशिष्ठ ब्राह्मण की, दूसरी राजा पद्म की और तीसरी विदूरथ की सृष्टियों मे उसने काल का व्यतिक्रम भी भिन्न २ है, सो कैसे ? हे मुनिनाथ ! यद्यपि आपने

इस बात को बहुत बार कहा है पर मेरे ममकमे नहीं आता है, अतः उसका फिर वर्णन कीजिए। वशिष्ठजी कहने लगे, हे राम जी। शुद्ध सवित सर्ग के पास है। उसमें जैसा संवेदन होता है, वैसा ही रूप होकर जान पड़ता है। उसके लिए कहीं एक क्षण में कल्प पर्यंत और कहीं कल्प का अनुभव क्षणमात्र में ही हो जाता है। जिसको विष में अमृत की भावना होती है तो वह अमृत ही जान पड़ता है। यदि शत्रु को मित्र के समान जाना जाय तो वह मित्र ही मालूम पड़ेगा। पर यदि उसको शत्रु ही जानिए तो निसन्देह वह शत्रु ही है। अतः संवेदन के अनुसार ही स्वरूप जान पड़ता है। यदि संवेदन तीव्र भाववाला अभ्यास करके निर्मल भावके लिए होगा तो संकल्प सत् होगा। क्योंकि जैसा चेता जायगा वैसी ही सिद्धि मिलेगी। इससे संवेदनकी तीव्रता ही मुख्य है। क्योंकि रोगी के लिए एक रात्रि कल्प के समान हो जाती है, पर वही निरोग मनुष्य के लिए केवल क्षण मात्र है। जैसे एक घड़ी के स्वप्न में कोटि वर्षों का अनुभव होता है और ज्ञात हो जाता है कि मैंने जन्म लिया है और अमुक मेरे माता पिता हैं, अब मैं सयाना हुआ हूँ और अमुक मेरे बन्धुजन हैं। पर जब जाग जाता है तब वही उसे एक क्षणके समान भी नहीं जान पड़ता। राजा हरिश्चन्द्र को एक रात में बारह वर्ष का अनुभव हुआ था और राजा लवण को एक क्षण में मो वर्ष का अनुभव हुआ था। इससे संवेदन जिस प्रकार से फुरता है, वही वही प्रकार जान पड़ता है। हे रामजी। ब्रह्मा की एक घड़ी में ही मनुष्य की सम्पूर्ण आयु बीत जाती है। कारण यह है कि, ब्रह्मा उसको एक घड़ी का अनुभव करता है और मनुष्य पूर्ण आयु का अनुभव करता है। पर जिसको ब्रह्माकी सम्पूर्ण आयु प्राप्त है अर्थात् वह जिसको सम्पूर्ण आयुका अनुभव करता है, वही विष्णु के लिए एक दिन के समान है। ब्रह्माकी तो समस्त आयु बीत जाती है पर विष्णु को वह एक दिन का ही अनुभव होता है। इससे सिद्ध

हुआ कि, जिस जिस प्रकारसे सवेदनमे दृढता होती है, वैसाही वैसा जान पड़ता है। हे राघव ! यह जितना कुछ जगत तुम देख रहे हो, सब का फुरना सवेदनके अस्तित्व मे ही स्थित है। जब मनुष्य उसमे स्थित हो जाता है, तब न तो दिन जान पड़ता है और न रात्रि जान पड़ती है, न कोई पदार्थ भासते है और न अपना शरीर भासता है। उसके लिए केवल आत्मतत्त्व सत्ता ही दिखलाई पड़ती है। इससे तुम देखो कि, यह समस्त जगत मन के फुरने मे ही है। यह जिस जिस प्रकारसे फुरता है वैसाही वैसा रूप होकर भासता है। यदि तीक्ष्णता मे मधुरता की भावना हो तो मधुरता ही जान पड़ेगी और मधुरता मे यदि तीक्ष्णता की भावना हो तो वह मधुर भी उसको तीक्ष्ण (कटु) रूप हो जायगा। स्वप्न समय में निर्जनस्थान मे भी नाना प्रकार के व्यवहार होते जान पड़ते हैं पर वे अस्थिर ही हैं। मन मे जैसा स्मरण होता है वैसा ही भासता है। यदि कोई नौका मे बैठ कर जल में चलता है तो उसको किनारे के सभी वृक्षादि भी चलते हुए जान पड़ते हैं। पर वह सभी स्थिर पदार्थ हैं। इसी प्रकार जो प्राणी विचारवान हैं वह चलते हुए का भी स्थिर जानते हैं। पर जो भ्रम में पड़ने वाले है उनको स्थिरीभूत मंदिर आदिक भ्रमते भासते हैं। किन्तु जो विचार में दृढ़ है, उसको भ्रमके समान भासित होने मे भी अचल बुद्धि रहती है। इससे निश्चयके अनुसार ही भासता है। हे रामजी ! जिसके नेत्र में दोष है, उसको श्वेत वस्तु भी पीत वर्ण सी जान पड़ती है। और जिसकी शरीर में वात, पित्त, कफका रोग है, उसको सब पदार्थ विपर्यय भासते हैं। पृथ्वी आकाश रूप भासती है और अचल चल भासता है। जिस प्रकार बालकको अपनी परछाई मे बैताल का भ्रम होता है और जो वास्तव में असत् होते हुए भी सत् रूप जान पड़ता है अर्थात् भय प्रदर्शित करता है। उसी प्रकार यदि शत्रु में भी मित्रकी भावना होती है तो वह शत्रु भी मित्र सुहृद के समान जान पड़ता है। पर यदि उसमे शत्रु भाव

बिना कारण ही किम प्रकार, उत्पन्न हुई । इसे मैं जैसे समझ सकूँ, वैसेही आप मुझे समझाने की कृपा कीजिए ।

वशिष्ठ जी कहने लगे,—हे रामजी । यह जितना कुछ जगत कार्य-कारण सहित भासता है, सब परमात्म सत्ता से ही उदय हुआ है । यही समझो कि, सबमें संवेदन का ही फुरना है और सर्व शब्द व अर्थों युक्त जो कलना जान पड़ती है, वह भी ब्रह्म की ही आकृति है । ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु नहीं है । जिस प्रकार सुवर्ण से भूषण भिन्न नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म से जगत भिन्न नहीं है । इससे सर्व आत्मा परमात्मा ही जगत का रूप है और जगत ही परमात्मा अर्थात् ईश्वर का रूप है । जिस प्रकार स्वर्ण ही भूषणरूप है और भूषण ही स्वर्ण रूप है, केवल शब्दों और अर्थों की एक कल्पना मात्र है, नहीं तो वह एक ही वस्तु है—उसी प्रकार जगत आत्मा का केवल आभास मात्र है । नहीं तो जगत को कोई वास्तविकता नहीं है । हे रामजी । यह जितना कुछ जगत है, वही ब्रह्मरूप है । आत्मा में संवेदन के फुरने से (अर्थात् एक नई शक्ति उत्पन्न होने से) ही तन्मात्रा फुरती है और उसी में कल्पना होती है जिससे यह सब जगत है । इससे यह जो समस्त प्राणी हैं वे आत्मा से भिन्न (दूसरे) नहीं हैं । जिस प्रकार शिला में चित्रकार ने पुतलियाँ कल्पी हैं और वह शिला रूप ही है, उसी कुछ नहीं है, उसी प्रकार अह-त्व इत्यादिक जगत आत्मा में मनरूपी चित्रकार की कल्पना है और वही चितघन रूप है—कोई अन्य वस्तु नहीं है । जिस प्रकार वायु और स्पन्द में कोई अन्तर नहीं है, उसका स्पन्द और निस्पन्द दोनों वायुकाही रूप है, स्पन्दरूप होनेसे ही स्पर्शरूप जान पड़ता है और निस्पन्द होनेपर स्पर्श करता हुआ नहीं जान पड़ता, उसी प्रकार जगत और ब्रह्ममें कुछ अन्तर नहीं है । संवेदनकी किंचनता से ही जगतरूप होकर भासता है और निस्पन्द होने से नहीं भासता । पर वह आत्ममत्ता मदेव एक रूप है । ज्ञानी पुरुषों के लिए यह दृढी भूत जगत आकाश

रूप है। पर जो अज्ञानी है उनके लिए यह असत्य स्वरूप जान पड़ता है। यह जगत जिसके चित्त-संचित में जैसा फुरता है, उसको उसी रूपका जान पड़ता है। इससे यह जितनी तन्मात्राये और तत्व हैं, सब चित्त की संवेदना के फुरने से ही स्थित हैं। जिस २ प्रकार से उसमें स्फूर्ति आती जाती है, उसी २ प्रकार से वह होकर जान पड़ता है। कारण कि आत्मा सर्व-शक्तिमान है, इससे उसमें जिन २ पदार्थों का फुरना होता है वही अनुभव में सत्यरूप होकर भासता है। पाचों ज्ञान इन्द्रियाँ और छठे मन का जो कुछ भी विषय है, सब असत्य है। आत्मा इन छहोंसे अतीत है। जिस प्रकार समुद्र में तरंग स्थित है, उसी प्रकार आत्मा में जगत भी स्थित है। यही विश्व का रूप है। जैसे तेज और प्रकाश अनन्य रूप है, वैसेही आत्मा और जगत भा अनन्य रूप है। जिस प्रकार शिन्पी बिना चित्रित शिला में भी पुतलियों को देख जाता है और कुम्हार मिट्टी के किसी परिमाण वाले ढेर में ही वासनों को देख जाता है, उसी प्रकार अनन्यरूप परमात्मा में सृष्टि भी अनन्य रूप है। जिस प्रकार मृगतृष्णा का जल असत्य है, पर तृपित मृग को सत्यसा मालूम पड़ता है, उसी प्रकार जगत आत्मा में असत्यरूप चित्तसंचित (चेतनाशक्ति) के फुरनेसे ही जगत जान पड़ता है। यदि संवेदन न फुरे तो जगत भी न जान पड़े। क्योंकि उस परम शक्ति अर्थात् ब्रह्म से जगत कुछ भिन्न नहीं है। निराकर आत्मा में यह सृष्टि उसी प्रकार स्वभावतः स्थित है कि, जिस प्रकार अग्नि में उष्णता स्वभावतः स्थित है। ब्रह्मरूपी एक रत्न है और जगतही उसका किञ्चन है। जैसा किञ्चन होता है, वैसा होकर भासता है। बिना कारण पदार्थ, बिना कारण ही होता है और जिस अधिष्ठान में भासता है उससे अनन्य रूप [अनेक रूप] हो जाता है। पर अधिष्ठान से उसकी सत्ता भिन्न नहीं है। इसी प्रकार जगत आत्मा में अनन्य रूप है। इसमें कुछ उत्पन्न नहीं हुआ, केवल संवेदन का

बिना कारण ही किम प्रकार, उत्पन्न हुई। इसे मैं जैसे समझ सकूँ, वैसेही आप मुझे समझाने की कृपा कीजिए।

वशिष्ठ जी कहने लगे,—हे रामजी ! यह जितना कुछ जगत कार्य-कारण सहित भासता है, सब परमात्म सत्ता से ही उदय हुआ है। यही समझो कि, सबसे सवेदन का ही फुरना है और सर्व शब्द व अर्थों युक्त जो कलना जान पड़ती है, वह भी ब्रह्म की ही आकृति है। ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। जिस प्रकार सुवर्ण से भूषण भिन्न नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म से जगत भिन्न नहीं है। इससे सर्व आत्मा परमात्मा ही जगत का रूप है और जगत ही परमात्मा अर्थात् ईश्वर का रूप है। जिस प्रकार स्वर्ण ही भूषणरूप है और भूषण ही स्वर्ण रूप है, केवल शब्दों और अर्थों की एक कल्पना मात्र है, नहीं तो वह एक ही वस्तु है—उसी प्रकार जगत आत्मा का केवल आभास मात्र है। नहीं तो जगत की कोई वास्तविकता नहीं है। हे रामजी ! यह जितना कुछ जगत है, वही ब्रह्मरूप है। आत्मा में सवेदन के फुरने से (अर्थात् एक नई शक्ति उत्पन्न होने से) ही तन्मात्रा फुरती है और उसी में कल्पना होती है जिससे यह सब जगत है। इससे यह जो समस्त प्राणी हैं वे आत्मा से भिन्न (दूसरे) नहीं हैं। जिस प्रकार शिला में चित्रकार ने पुतलियाँ कल्पी हैं और वह शिला रूप ही है, उसी कुछ नहीं है, उसी प्रकार अह-त्व इत्यादिक जगत आत्मा में मनरूपी चित्रकार की कल्पना है और वही चितघन रूप है—कोई अन्य वस्तु नहीं है। जिस प्रकार वायु और स्पन्द में कोई अन्तर नहीं है, उसका स्पन्द और निस्पन्द दोनों वायुकाही रूप है, स्पन्दरूप होनेसे ही स्पर्शरूप जान पड़ता है और निस्पन्द होनेपर स्पर्श करता हुआ नहीं जान पड़ता, उसी प्रकार जगत और ब्रह्ममें कुछ अन्तर नहीं है। सवेदनकी किंचनता से ही जगतरूप होकर भासता है और निस्पन्द होने से नहीं भासता। पर वह आत्ममत्ता मदेव एक रूप है। ज्ञानी पुरुषों के लिए यह दृढी भूत जगत आकाश

रूप है। पर जो अज्ञानी हैं उनके लिए यह असत्य स्वरूप जान पड़ता है। यह जगत जिसके चित्त-संवित में जैसा फुरता है, उसको उसी रूपका जान पड़ता है। इससे यह जितनी तन्मात्रायें और तत्व हैं, सब चित्त की संवेदना के फुरने से ही स्थित हैं। जिस २ प्रकार से उसमें स्फूर्ति आती जाती है, उसी २ प्रकार से वह होकर जान पड़ता है। कारण कि आत्मा सर्व-शक्तिमान है, इससे उसमें जिन २ पदार्थों का फुरना होता है वही अनुभव में सत्यरूप होकर भासता है। पाचो ज्ञान इन्द्रियाँ और छठे मन का जो कुछ भी विषय है, सब असत्य है। आत्मा इन छहोंसे अतीत है। जिस प्रकार समुद्र में तरंग स्थित है, उसी प्रकार आत्मा में जगत भी स्थित है। यही विश्व का रूप है। जैसे तेज और प्रकाश अनन्य रूप है, वैसेही आत्मा और जगत भा अनन्य रूप है। जिस प्रकार शिन्पी बिना चित्रित शिला में भी पुतलियों को देख जाता है और कुम्हार मिट्टी के किसी परिमाण वाले ढेर में ही वासनो को देख जाता है, उसी प्रकार अनन्यरूप परमात्मा में सृष्टि भी अनन्य रूप है। जिस प्रकार मृगतृष्णा का जल असत्य है, पर तृपित मृग को सत्यसा मालूम पड़ता है, उसी प्रकार जगत आत्मा में असत्यरूप चित्तसवित (चेतनाशक्ति) के फुरनेसे ही जगत जान पड़ता है। यदि संवेदन न फुरे तो जगत भी न जान पड़े। क्योंकि उस परम शक्ति अर्थात् ब्रह्म से जगत कुछ भिन्न नहीं है। निराकर आत्मा में यह सृष्टि उसी प्रकार स्वभावतः स्थित है कि, जिस प्रकार अग्नि में उष्णता स्वभावतः स्थित है। ब्रह्मरूपी एक रत्न है और जगतही उसका किञ्चन है। जैसा किञ्चन होता है, वैसा होकर भासता है। बिना कारण पदार्थ, बिना कारण ही होता है और जिस अधिष्ठान में भासता है उससे अनन्य रूप [अनेक रूप] हो जाता है। पर अधिष्ठान से उसकी सत्ता है।

फुरना मात्र है। इससे जगत और वासना का बीज संवेदन है और वह भी भ्रम है। इस कारण संवेदनके अभाव का ही पुरुषार्थ करना चाहिये। इसका अभाव होनेसे ही जगत-भ्रम स्वयम् नष्ट हो जायगा। पर न तो कुछ उत्पन्न हुआ है और न नष्ट होता है, सब शान्त स्वरूप चिद्ब्रह्म अपने आपमें ही स्थित है। चित्त के परमाणु में चेत्यता से अनेक सृष्टियाँ भाल रही हैं। उन सृष्टियों में जो परमाणु, हैं उनके भीतर अन्य बहुत सी सृष्टियाँ हैं, पर उनकी संख्या कुछ नहीं है। जिस प्रकार जल में अनेक तरङ्ग उठते हैं, पर कुछ तो उसी में गुम हो जाते हैं और कुछ प्रकट होकर जान पड़ते हैं किन्तु वह सब क्या है, जल की एक शक्ति है। उसी प्रकार जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ जीवों के भीतर स्थित हैं पर कोई गुण है और कोई प्रकट रूप है। हे रामजी ! उस संवेदन शक्ति में जब तक द्वैतभाव लगा हुआ है, तब तक सृष्टि का अन्त नहीं हो सकता। पर ज्योंही चित्त उपशम होगा त्योंही जगत का भ्रम मिट जायगा। इस प्रकार जब भोगों में इच्छा न होगी तब आत्मपद प्राप्त हो जायगा। मोह दूर होना ही बन्धनों से मुक्त होना है। इससे ग्रहभाव [जीव-भाव] से मुक्त होना ही जन्म-सपदा का नष्ट होना है। अतः ऐसा शुद्ध स्वरूप होने पर यह स्थावर जगम रूपी जगत सब आत्मस्वरूपही प्रतीत होने लगता है। जैसी साधना होती है, वैसा फल अरश्य मिलता है। अतः नीतिही देव है और देव ही नीति है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का पचपनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७७ ॥

छप्पनवाँ सर्ग ।

देव क्या है ?

वशिष्ठ जी बोले,—हे रामजी ! चिद् परमाणु में जो एक निमेष होता है, उसके लारवें भाग में जगत के अनेक कल्प फुरते हैं और उस सृष्टि में जो परमाणु होते हैं, उनमें सृष्टि फुरती है।

समुद्र में तरङ्गों का स्फुरण होता है और वह भी जल का ही रूप है, तरङ्ग शब्द और उसका अर्थ भ्रमरूप है, उसी प्रकार आत्मा में भ्रम रूप अनेक सृष्टियाँ फुरती हैं। जिस प्रकार मरुस्थल का जल और मृग तृष्णा की नदी दृष्टिगत होती है, उसी प्रकार आत्मा में यह जगत भासता है। जैसे स्वप्न सृष्टि और गन्धर्वपुर भासता है, वैसेही जगत असत्य रूप होते हुए भी सत्यसा जान पड़ता।

रामजीने पूछा,—हे सर्व विद्याओं के आचार्य महामुनि। जिसको आत्मदर्शन हुआ है, उसको अपना शरीर कैसा जान पड़ता है? वशिष्ठजी कहने लगे कि,—हे रामजी। सर्व प्रथम में जो संवेदन ब्रह्मशक्ति में फुरा है, उसका नाम नीति है। उसमें जैसी-जैसी भावना होती है, वह वैसे-वैसे रूप धारण करती है। वह नीति ही महाशक्ति, महादृढ़, महासत, महाकृपा और महाचेतना है। वही अनंत महाब्रह्माण्डों को उत्पन्न करने वाली है। आदि ब्रह्मा से तृष्ण पर्यंत जो कुछ भी स्थावर जंगमरूपी दैत्य, देव, नाग आदिके विचार हृदय में स्थित होते हैं, सब उसी नीतिके द्वारा फुर कर स्थित हुये हैं। पर ऐसे स्वरूपों से ब्रह्मसत्ता में कोई व्यभिचार नहीं हुआ। जो ज्ञानी पुरुष है वह नीति को ही उत्पन्नकर्ता समझकर ब्रह्मभाव में स्थित रहते हैं। उनको सब और अबल ब्रह्मसत्ता ही जान पड़ती है। और अज्ञानी के लिए तो यह जगत चलायमान जान पड़ता है। वह यही जानता है कि, जैसे आकाश में वृक्ष जान पड़ता है और शिला के गर्भ में पुतलियाँ होती हैं, वैसेही यह जगत ब्रह्म में है। हे रामजी। वह नीति ही दैव है। साधना के अनुसार उससे फल प्राप्त होता है। नीति का दूसरा नाम पुरुषार्थ है। जैसे—तुमने मुझमें देव और पुरुष का निर्णय पूछा था और मैंने उसे बतलाया था सो तुम उसीसि नाम पुरुषार्थ है। उससे तुम्हें जो फल प्राप्त हो, उसी

जो कुछ प्राप्त होता है सब उस दैव की आज्ञासे ही प्राप्त होता है । हे रामजी ! भवितव्यता वही है जो आदि सवेदन के फुरने में है और उसको भी नीति (देव) कहते हैं । वह नीति ऐसी है कि, उसे ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र भी नहीं काट सकते । कर्मण्य को फल का प्राप्त होना और अकर्मण्य को न प्राप्त होना भी नीति है । यों तो जो कुछ किया जाय सब पुरुषार्थ करना ही है, पर सच्चा पुरुषार्थ वह है जो आत्मज्ञान के लिए है । जब पुरुष का आमंत्रण हो जाता है, तब परमपद की प्राप्ति होती है और परमपद पानेपर यह सब जगत ब्रह्मस्वरूप हो जाता है ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का छपनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५६ ॥

सत्तावनवाँ सर्ग ।

चित्तविकार

हे रामजी ! यह जगत जो स्थित हुआ जान पड़ता है, सब ब्रह्मत्वसे ही सर्वात्मा होकर स्थित हुआ है और वही अनन्त आत्मा है । जब उसमें चित्त शक्ति आती है, तब अहंकी स्फूर्ति होने से ही जगत भासने लगता है । फिर तो यह नाना प्रकार से उत्पन्न और नष्ट होता हुआ जान पड़ता है । वह जैसा-जैसा अभ्यास करता है, उसको वैसाही भास जाया करता है । क्योंकि वह आत्मा सर्व शक्तिशाली है । उममे जैसी स्फूर्ति होती है, वह उसी रूपमें जान पड़ता है । जितनी शक्तियाँ हैं, आत्मासे कोई भिन्न नहीं हैं । केवल समझाने के लिए ही बुद्धिमानों ने अनेक प्रकार का सकल्प विकल्प किया है । पर आत्मा के निकट विकल्प कुछ नहीं है । जिम प्रकार सुषण और भूषण में कोई अन्तर नहीं है, उमी प्रकार आत्मा और इस जगत की शक्तियो मे कुछ भेद नहीं है । हे रामजी ! एक संचित है, एक सवेदन है । सचित वास्तविक है और सवेदन कल्पित है । जब सचित में चिन्मात्र सवेदन फुरता है, तब वह जैसे-जैसे चेतता

है, वैसे-वैसे होकर स्थित होता है। नहीं तो उस शुद्ध चिन्मात्र में क्या बाहर क्या भीतर कोई भी अन्य कल्पना नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति-मकरण का सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५७ ॥

अठ्ठावनवाँ सर्ग ।

बीजावतार ब्रह्मसत्ता में जीव कैसे स्थित है ?

इतनी कथा सुनकर रामचन्द्रजी ने वशिष्ठजी से पूछा कि, हे भगवन्! जब उस अनुपम परिणाम में द्वैत रहित शुद्ध ब्रह्मसत्ता स्थित है, तब उसमें जीवकी सत्यता कैसे है ? क्योंकि जीव तो अत्यन्त तुच्छरूप है। वशिष्ठ जी कहने लगे, हे रामजी ! ब्रह्म एक ऐसी महत्व पूर्ण सत्य सत्ता है कि, जगत असत्य रूप होते हुए भी उसमें सत्य रूप भासता है। उसकी बड़ाई सर्वात्मक है और वह सर्व देशकाल और समस्त वस्तुओं से परिपूर्ण है। वह परम चेतन और भेदरूप है कि, जिसके भय से सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, जल और वायु अपनी-अपनी मर्यादा में चलते हैं। इससे वह ब्रह्मसत्ता समशुद्ध और अचिन्त्य है। उसमें जो अहंभाव से स्फूर्ति होती है, उसी का नाम जीव है। अतः वह ब्रह्म अनुभव रूपी दर्पण है और उसमें अहंरूपी प्रतिबिम्ब का फुरना ही जीव है। आत्मा और जीव में कुछ भेद नहीं है। जिस प्रकार समुद्र अपनी द्रवता से तरङ्ग रूप होता है, नहीं तो समुद्र और तरङ्ग में कुछ भेद नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म और जीव में कुछ भेद नहीं है। अपने स्वभावानुकूल ही चित्तरूपी आत्मतत्त्व ने माया करके सवेद सहित रूप धारण किया है। जीवरूप धारण करने पर यह अनेक प्रकार का बहुत बड़ा विस्तार करता है। जैसे इन्धन-अग्नि में अनेक अणु होते हैं और वे निकल कर बहुत प्रकाश करते हैं, वैसेही अपने फुरने से जीव जगतरूप से अस्तु, अहंभाव से ही ब्रह्म में जीव रूप जान पड़ रहा है। वायु के सहारे समुद्र संवेदन के फुरने से

सत्ता जीव रूप धारण कर लेती है। यह जीव बड़ा ही चैतन्योमुखत्व है। इसी से चित्त, जीत, मन, बुद्धि, अहंकार, आदिक इसके कई नाम हैं। सर्व प्रथम जब इमने सकल्प से पचभूत तन्मात्रा में चेतता, तब इन्हीं पाँचों तन्मात्रों के आकार से यह अणुविना उत्पन्न हुये ही उत्पन्न हुये की भाँति स्थित हुआ और भासने लगा। फिर तो उमी चित्त सवेदनने अणुको स्वीकार कर जगत की रचना की और जिस प्रकार एक सूक्ष्म बीज से सत् अंकुर उत्पन्न होकर अनेक वृक्ष हो जाते हैं, उसी प्रकार सवेदनने भी अनेक विस्तार पाया। नहीं तो प्रथम में वह एक अडरूप होकर ही स्थित हुआ है। बाद में उमी ने अड को भी फोड़ कर उसमें भिन्न-भिन्न शरीर और भिन्न-भिन्न नामोंकी कल्पना क्रिया। जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। फिर इन पाँचोंकी जितनी सृष्टियाँ हैं, सब संकल्प से ही उत्पन्न हुई हैं। हे रामजी। जैसे जल जब दृढ़ जड़ता को अङ्गीकार करता है तब वरफ का रूप होकर पापाण तुल्य हो जाता है, वैसेही जीव जब अनात्म में अभिमान करता है, तब कर्मों के बन्धन में आ जाता है। क्योंकि कर्मों की जड़ सकल्प है और सकल्प का फुरना जीव से है। जीव का उत्थान स्वरूप से है। उत्थान कहते हैं प्रमाद को। अतः जब उम शुद्ध चेतन मात्र में प्रमाद होता है, तब जीवत्व आता है। फिर तो जीवत्वभाव होतेही अनेक सकल्प कल्पना फुरने लगती है। फुरने का नामही कर्म है और उमी का नाम चित्त और देव भी है। पर इन गवका आदि कारण ब्रह्म ही है।

श्री योगशास्त्रिष्ठ भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का अष्टाध्यायनों सर्ग समाप्त ॥ २८ ॥

उनसठवाँ सर्ग ।

ब्रह्म-विवेचन

हे रामजी। जगत के आदि कारण स्वरूप ब्रह्म से ही मनकी उत्पत्ति हुई है। मन सकल्प रूप है और इसीसे यह समस्त जगत

उत्पन्न हुआ है। जितना कुछ भाव अभाव रूपी जगत है, सब मनकी कल्पना मात्र है। अन्यथा आत्मा मे द्वैतभेद की कोई कल्पना नहीं है। ब्रह्म, जीव, मन, माया, कर्म, जगत और द्रष्टा इत्यादिक सभी भेदों को मनने ही उत्पन्न किया है। पर यह सभी उत्पत्तियाँ असत्य रूप हैं। कारण कि चलायमान हैं। जैसे समुद्रकी लहरे उछलती और विस्तार पाती हैं, वैसे ही चित्तरूपी समुद्र से सवेदन द्वारा नाना प्रकार का जगत विस्तार पाता है। यह सत् भी है और असत् भी है। सत् तो तब ज्ञात होता है, जब अधिष्ठान रूप से देखा जाता है। पर द्वैत कुछ नहीं है। चित्त से ही सत् असत् दोनों ही केवल भ्रम है। किन्तु यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो जैसे वैताल का भ्रम नष्ट हो जाता है, वैसे ही आत्मज्ञान से यह भ्रम नष्ट हो जायगा। क्योंकि आत्मा तो अनादि और अंशांशीभाव से रहित और शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है। जब उसमे अपनी चेतना शक्ति से चैतन्योमुखत्व होता है, तब चित्त अपने चेतना लक्षण से ही जीव की कल्पना करता है। फिर जब जीव मे अह होता है कि, 'मैं हूँ' तब उसीसे चित्त फुरता है। चित्त से इन्द्रियाँ, इन्द्रियो से शरीर और शरीर से ही, सर्ग, नर्क, बन्ध और मोक्ष की कल्पनायें होती हैं। अतएव अहंभाव से ही जगतका विस्तार है। अन्यथा ब्रह्म और चित्त मे कुछ भेद नहीं है। इसी प्रकार चित्त और जीवमे, जीव और ईश्वर मे तथा ईश्वर और आत्मामें कुछ भेद नहीं है। सब ब्रह्मस्वरूप ही है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का उनसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५२ ॥

साठवाँ सर्ग ।

मन क्या है ?

इतनी कथा सुनकर रामजीने पूछा कि, हे सर्व विद्याओंके आचार्य ! अब कृपापूर्वक बतलाइये कि, मन कैसे उत्पन्न हुआ ? वाशिष्ठजी बोले—हे अनन्त और शक्तिशाली है

की-किञ्चनता होती है। जहाँ जैसी शक्ति की स्फूर्ति होती है वहाँ वैसा ही रूप भासता है। जब वह चिन्मात्र सत्ता चेतन में फुरती है तब उस फुरनेको ही जीव कहते हैं। वह चित्तशक्तिसंकल्पके ही कारण भासती है। जब दृश्य होकर भासता है, तब जीव कहते हैं। जब दृश्य होकर भासता है तब नाना प्रकारका कार्य-कारण जान पड़ने लगता है। रामजीने पूछा कि हे भगवन् ! जब वह ऐसा है, तब दैवका क्या नाम है और कर्म व कारण किसे कहते हैं ? वशिष्ठ जी ने उत्तर दिया,—हे राघव ! जिस प्रकार फुरण स्फुरण दोनोंही स्वभाव वायु में स्थित हैं उसी प्रकार आत्मसत्तामें यह दोनों स्वभाव स्थित हैं। जैसे फुरण स्वभाव से वायु आकाशकी भी स्पर्श कर लेता है, पर स्फुरणसे नहीं कर पाता, वैसेही जब शुद्ध चिन्मात्रसत्तामें—‘मैं हूँ’ ऐसा लक्षण आता है, तब वह स्पन्द बुद्धेश्वर होकर उसे जगत रूप दृश्य जान पड़ने लगता है। पर जब वही जगत-दृष्टिसे रहित हो जाता है, तब निस्पन्द हो जाता है। अतः चित्त के फुरने से ही नाना प्रकार का जगत, जगत होकर भासता है। अन्यथा अफुर होने पर जगत का भ्रम लोप हो जाता है। फिर तो नित्य और शांत स्वरूप ब्रह्मपद प्राप्त होता है। हे रामजी ! जीव, कर्म और कारण यह तीनों ही चित्त-स्पन्दके नाम हैं। चित्त-स्पन्द में अनुभव है और अनुभव ही चित्तकी स्पन्दता है। अतः जब चित्त स्पन्द रूप होता है, तब उसके आगे २ दृश्य भासने लगता है। फिर उसी चित्ताभास के द्वारा शरीर में ग्रह होने पर वही चित्त दृश्यों की ओर सर्वेदित होकर अग्रसर होने लगता है। वह भी दो प्रकार से अग्रसर होता है। एक बृहद्, एक लघु। इन दोनों के सस-ग्ने में अनेक जन्म लग जाता है। कोई तो पहले ही जन्म में आदि स्वरूप में स्थित हो जाते हैं। और कोई पहला जन्म लेकर प्रभाव वश फुरते हुए दृश्यों की ओर जाकर अनेक जन्म लेते हैं और शुभाशुभ फल-कामना से अनुभव करते हुए अनेक जन्म लेते हैं। इमसे वे अज्ञान बन्धन में ही रहने हैं। पर

है तो वह मोक्ष का अनुभव करने लगता है। इस भाँति उसे अनेक जन्म लेना पड़ता है और वही वृहद् प्रकार का संसरण है। हे राघव। जिस प्रकार सुवर्ण ही भूषण का रूप धारण करता है, उसी प्रकार संवेदन ही काष्ठ और लोह आदि का रूप होकर भासता है और जानता है कि मैं उत्पन्न हुआ हूँ, अभी जीवित हूँ, फिर मर जाऊँगा इत्यादि भ्रम उसे दिखलाई पड़ते हैं। पर यह सब जन्मादिक अवस्था भ्रमरूप है। आत्मा मे ही अज्ञानतावश जीव की कल्पना हुई है। इससे यह समस्त जगत मन के फेर (भ्रम) में पड़ा हुआ भाम रहा है। नही तो यह परमतत्व वेत्ता और शिव, चिन्मात्र है। उसमें 'मैं हूँ' ऐसा चैतन्योमुखत्व होने का ही नाम जीव है। हे रामजी। वह चेतनका फुरना ही जीवके सदृश जान पड़ता है। जिस प्रकार समुद्र द्रवने से ही तरंग रूप जान पड़ता है, उसी प्रकार चित्त चैतन्यता के सयोग सेही जीव कहलाता है। इसी प्रकार जीवके फुरनेको मन कहते हैं। और संकल्पका जो निश्चय रूप होता है वही बुद्धि है। उस बुद्धि में अहभाव के आने पर उसकी मात्रा कल्पित होती है और उमी से पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ऐसा सूक्ष्मभूत रूपी जगत होता है। अतः चित्त के संसरण से ही जगत-भ्रम भासता है। अन्यथा शुद्धात्मा नित्य तृप्त और शांत रूप है। वह अपने आपमें ही स्थित है। उसमें चित्त की संवेदना ने ही जगत को रचा है। वही जगत भ्रम से सत्य सा दीखता है। हे राघव। मन के संसरने का नाम जाग्रत है। अहंकार का नाम स्वप्न है। चित्त जो स्वतः चेतनेवाला है उसका नाम सुषुप्ति है। चिन्मात्र कानाम तुरीयपद है। जब शुद्ध चिन्मात्र में अत्यंत परिणाम होता है, तब वह तुर्यातीत पद कहलाता है। उसमें स्थित होनेपर शोक नही रहता। क्योंकि वही सत्य ब्रह्मसत्ता है और उमीसे सब उदय और उसी में लीन होते हैं। पर वास्तव में न तो कोई उत्पन्न है और न लीन होता है। केवल चित्त के फुरने से सब प्रकृता है। जिस प्रकार नेत्र दोष होने से

आकाशमे मुक्तमाला भासती है, वैसेही चित्त के फुरनेसे यह जगत मासता है। अन्यथा जगत वास्तव में कोई दूसरी वस्तु नहीं है। जैसे एक बीज द्वारा ही फल, फूल और डालियाँ तथा पत्ते वाले अनेक वृक्ष होते हैं, वैसेही आत्माके संवेदनसे नाना रूपधारी होकर यह जगत मासता है। पर यह केवल अज्ञानियों के लिए है। ज्ञानी के लिए तो अखण्ड सत्ता ही भासती है। उसके लिए जगत का कोई भ्रम नहीं है।

श्री योगवशिष्ट भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का साठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६० ॥

इकसठवाँ सर्ग

कर्कटी राज्ञसी का आख्यान

इस प्रकार जब रामजीने वशिष्ठजी से कई प्रश्न किये तब वशिष्ठ जी ने कर्कटी नामक राज्ञसीका वृत्तांत सुनाते हुए कहा कि, हे रामजी। यह राज्ञसी हिमालय पर्वत पर उत्पन्न हुई थी। इसका समग्र शरीर नितांत काला था और इसका दूसरा नाम विपूचिका था। इसकी जिह्वा अग्नि के समान लाल और चमकीली थी। बड़े बड़े नख थे और शिर भी वेढौल तथा बहुत ऊँचा था। इसको भोजनसे कभी तृप्ति नहीं होती थी। एक समय इमने सोचा कि जम्बूद्वीपके समस्त प्राणियों का भक्षण करूँ और इस उद्योग द्वारा अपनी भूख मिटा कर तप करूँ। ऐसा सोच कर वह हिमालय की कन्दरा में एक टाँग से खड़ी हो गई और दोनों हाथ तथा नेत्र आकाशकी ओर करके शरीर और प्राण को स्थित कर मूर्ति की नाई हो गई।

ऐसा होकर उसने पूरे एक हजार वर्ष तक महादारुण तप किया। तब ब्रह्मा जी ने आकर कहा,—हे पुत्रि। तेरी अखण्ड तपस्था से मैं बहुत प्रसन्न हूँ, वर माँग। कर्कटी ने कहा,—हे प्रभु। मुझे यह वर दीजिये-कि मैं लोह के समान वज्र के हृदय में प्रवेश करूँ। ब्रह्माजी ने कर्कटी के हृदय में प्रवेश करके जीवोंके

हृदय में प्राणवायु के मार्ग से प्रविष्ट होगी। पर गुणीजन मंत्रवल से तुझे दूर भी कर सकेंगे। यह वरदान देकर ब्रह्माजी चले गए। फिर तो राक्षसी ने उस विशाल शरीर का त्याग कर सूई के नोककी भाँति एक शरीर अत्यन्त सूक्ष्म और दूसरा पुर्यष्टक शरीर धारण कर लिया। इन्हीं दोनों शरीरों से वह प्राणियों में प्रवेश कर कष्ट देने लगी। पर जो गुणी पुरुष थे, वे ब्रह्माजी के बतलाए हुए मंत्र से उसका निवारण करते थे। किन्तु अज्ञानियों को वह कष्ट देकर अपनी लुधा तृप्ति करती ही रही। साथ ही अपने नीच प्रकृतिके कारण उसने अधिक कष्ट भी उठाया। वाल्मीकिजी कहते हैं कि, इतनी कथाके पश्चात् सूर्य अस्त हो गये और सब लोग अपने २ स्थानको चले गए। फिर प्रातःकाल सूर्यके उदय होतेही कथा सुनने सभास्थलमें आ विराजे।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का इकसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६१ ॥

वासठवाँ सर्ग ।

कर्कटी का पुनः तप और ब्रह्माजी का वरदान ।

वाशिष्ठजी कहने लगे,—हे रामजी ! इस भाँति जब प्राणियोंका संहार करते और स्वयम् कष्ट भोगते हुये उसने बहुत दिन व्यतीत किया तब अकस्मात् उसके हृदयमें यह भाव आया कि, मैंने बहुत कष्ट पाया और ब्रह्माजीसे ऐसा नीच वरदान क्यों माँगा। हा, विषूचिका का शरीर धारण कर मैंने बड़ी मूर्खता की। अन्यथा मेघवर्ण अपनी शरीरको त्याग कर यह दुःख मैं क्यों भोगती ? इससे अब मेरी मृत्यु हो जाती तो अच्छा था। परन्तु माँगने पर मृत्यु भी नहीं मिलती। अच्छा, अब मैं अपने उसी शरीर के लिए तप करूँगी। भला वह क्या वस्तु है जो तप करने से न मिले। हे रामजी ! ऐसा निश्चय कर वह तप करने को समर्थ हुई। तब उसने पहले की भाँति पर्वत की कन्दरामें फिर आसन लगाया। उसके योगासनको देखकर वायुदेवने बड़ा उत्पात किया। पर वह योग से विचलित न हुई। फिर तो उसने एक हजार

वर्ष तक घोर तपस्या किया। तब दृढ़ वैराग्य होकर उसका चित्त निर्मल हो गया और संकल्प त्यागकर परमपदकी भागी हुई। उसके हृदयमें ऐसा ज्ञान उदय हुआ कि, परमात्माका साक्षात्कार होकर वह परम पवित्र रूप हो गई। साराश यह कि, चेतनमें उसका एकत्वभाव हो गया। फिर तो उमके तप से सप्तद्वीप जलने लगे और इन्द्र भगवान का सिंहासन भी डगमगा गया। तब इन्द्र को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने नारदसे पूछा कि ऐमा घोर तप कौन कर रहा है? नारदजीने सारी कथा बतला कर कहा कर्कटी नामक राक्षसीने सात सहस्र वर्ष तक महाघोर तपस्या किया है। इन्द्रने कहा—हे महर्षि। फिर तो बड़ा अनर्थ हुआ। उसका क्या प्रबन्ध होगा। नारदजीने कहा, यह प्रबन्ध हमारे आपके हाथ में नहीं है। यदि ब्रह्माजीके पाम चले तो अवश्य कुछ निवारण हो सकता है। इन्द्र ने कहा, बहुत अच्छा, बलिए। ऐसी सम्मतिकर नारदजीके साथ इन्द्र ब्रह्माजीके पास पहुँचे। तब उन्हे देखकर ब्रह्माजी ने हँस कर कहा, आप लोगो की चतुराई हम जान गए। अब यहाँ बैठिए, मैं उस विपूचिकाके पास जा रहा हूँ। इन्द्र से यह कह ब्रह्माजी विपूचिकाके पास गए। उसको तपश्चर्चामें अत्यंत लवलीन और शुद्धभावमें स्थित देखकर ब्रह्माजीने अपने मनमें कहा कि, अब इसको जगतका भ्रमशान्त हो गया और यह वन्दना करनेके योग्य हो गई। इससे निकट पहुँच कर ब्रह्माजी ने कहा,—हे पुत्रि। वर माँग। उसने विचार किया कि, अब तो तपोबल से मैं शान्तरूप हो गई हूँ और जो कुछ जाने योग्य था जान गई, अब वर लेकर क्या करूँगी। ऐसा विचार कर वह चुपरही और न बोली। तब अन्तर्यामी ब्रह्माजी उसके हृदयके भाव को समझ कर बहुत प्रसन्न हुए और बोले,—हे कर्कटी। अभी तुम्हें यहाँ थोड़ेदिन और विचरना होगा। इससे तू वर ले ले। मैं तुम्हें यह वर देता हूँ कि तू विदेह मुक्त होगी और फिर जीवन मुक्त होकर विचरण करेगी। नीतिका जो निश्चय है, वह अवश्य होगा। हे कर्कटी। तूने तप करनेके पहले यह निश्चय किया था कि,

मैं अपनी पूर्व शरीर को प्राप्त होऊँ । सो अब तेरा संकल्प फुरा है और अब तू उसी शरीर को पाकर हिमालय के वन में विचरण करेगी । पर तेरा योग अखड है, इससे तुझे दो प्रकारका लाभ हुआ । एक तो पूर्व संकल्पके नाते तू पुनः शरीर धारण करेगी । दूसरे योगाभ्यास की प्रचंडता के कारण जीवन्मुक्त भी हो जायगी । अस्तु, मेरे इस वरदान को तू अंगीकृत कर । ऐसा कहकर ब्रह्माजी अन्तर्ध्यान हो गए । फिर तो जिस प्रकार बीज से वृक्ष होता है, उसी क्रमसे उसका शरीर बँढ़ गया और वह अपने पूर्व शरीर को प्राप्त हो गई ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, सुसुच-प्रकरण का वासठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६२ ॥

तिरसठवाँ सर्ग

राक्षसी का विचार

वशिष्ठ जी कहने लगे,—हे रामजी ! जब ब्रह्मा जी के आशीर्वाद से राक्षसी विसूचिका को पूर्वका शरीर पुनः मिल गया, तब वह छः मास तक उसी योगासन में बैठी रही । उसे न तो कही जाने की इच्छा हुई और न किसी पदार्थ को ग्रहण करने ही में लिप्ता हुई । उसके लिए सभी पदार्थों का अभाव हो गया । परन्तु पूर्व संकल्प के नाते योग समाधि से उठकर उसे लुधा की तृप्ति का थोड़ा यत्न करना पड़ा । तब वह हिमालय के शिखर से उतर कर किरात देश में पहुँची, जहाँ कि अनेक मृग और पशुओं का झुण्ड विचरा करता था । वहाँ पहुँच कर वह काली कलुटी राक्षसी अंधेरी रात में विचर रही थी कि, उसी समय किरात देश का राजा अपने मंत्री और कुछ सैनिकों सहित वहाँ आखेट को जा पहुँचा । तब उसको देखकर राक्षसी ने समझा कि, अब मुझे भोजन की यथेष्ट सामग्री मिल गई । यह राजा और उसके साथी अज्ञानी हैं । इनको देह का अभिमान है । मैं तुम्हें लोकोत्तर परलोक को कुछ भी नही पहुँचता । अतः मैं तुम्हें मारना ही योग्य है ।

कि, यह पाप को जन्म देनेवाले हैं। फिर ब्रह्मा की आदि नीति भी यही है कि, पापी वध करनेके योग्य और गुणवान रत्नाके योग्य है। पर अब इसकी परीक्षा करनी चाहिए। यदि यह राजा गुणवान होगा तो मैं इसे न मारूँगी। कारण कि उदार पुरुष भूमडल का चन्द्रमा है। ऐसे सन्तों की मत्सगति एवम् दशमसे मोक्ष लाभ होता है। किन्तु अब विलम्ब न कर प्रश्न पूछकर कुछ प्रश्नों द्वारा इसका परिचय जानना चाहिए।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उ पत्ति प्रकरण का तिसठवों सर्ग समाप्त ॥ ६३ ॥

चौसठवाँ सर्ग

राक्षसी और किरातराज का समागम

हे रामजी ! ऐसा निश्चय कर वह राक्षसी महाघोर चिम्घाट करती हुई किरातराजके निकट पहुँच कर बोली,—तू कौन है ? बुद्धिमान है या मूर्ख है ? कहाँ से आया है, कहाँ जायगा और तेरा क्या आचार है ? अब तू मेरे भोजन का मामगी बन चुका। क्या मैं तुम्हें भक्षण कर जाऊँ ? राक्षसी का ऐसा प्रश्न सुनकर राजा ने कहा,—क्यों ? यह भौतिक शरीरधारी तू कौन है और कहाँ रहती है ? तेरा यह घोर गर्जन तो मुझे मच्छरों की भिनभिनाहट के समान मालूम हुआ है। मैं तुझसे तनिक भी भयभीत नहीं डरता। पर तू अपने अभिप्राय को बतला कि क्या चाहती है ? मैं तेरा अर्थ अवश्य पूर्ण करूँगा। हे रामजी ! राजाका यह कहना था कि, राक्षसी ने उसे भयभीत करने के लिए और भी उच्चस्वर से घोर गर्जन किया। उस भयानक गर्जना से पहाड़ थर्रा उठे और वनचोरी जीव भयके वशीभूत हो गए। राजा के साथ जो सिपाही थे, वे भी डरके मारे काँपने लगे। परन्तु निर्भीक राजाके मन्त्रीने कहा,—क्योंरी राक्षसी ! तू व्यर्थके लिए, इतना घोर शब्द क्यों कर रही है ? अपने आरम्भिक विचार को क्यों नहीं प्रकट करती। क्या नहीं जानती कि, बुद्धिमान जन केवल अपने प्रयोजन की बात को ही ग्रहण करते हैं

और जिस विषय से सम्बन्ध नहीं रहता, उसके लिए यत्नवान नहीं होते ? अतः हम तेरे विषय के व्यक्ति नहीं । तेरे सरीखे कितनों को हमने मार डाला है । हमारे धैर्यके आगे तेरे समान हजारों मक्खियाँ कुञ्ज नहीं हैं । इससे तू अपने प्रयोजन को कह—हम उसे अवश्य पूर्ण करेंगे । मंत्री की ऐसी निर्भीक और निर्मल वाणी सुनकर विपूचिका जान गई कि, यह कोई उदार आत्मा और सत्यनिष्ठ आचार के व्यक्ति हैं । अस्तु यह ज्ञानी हैं और इनके धैर्य की सीमा नहीं है । इससे मैं इनका नाश नहीं कर सकती । क्योंकि यह अविनाशी सत्ता और ब्रह्म में स्थित मालूम होते हैं । परन्तु यह अज्ञानी हों तो इनसे फिर थोड़ा प्रश्न कर सन्देह मिटा लेना चाहिए । क्योंकि सन्देह वालों को ज्ञानियों से अवश्य पूछना चाहिए । नहीं तो बड़ा दोष लगता है । यह विचार दृढ़ कर उसने फिर राजासे प्रश्न कर वैसाही परिचय पूछा । तब राजा के मंत्री ने कहा,—यह किरात देश के महाराज हैं और मैं इनका मंत्री हूँ । दुष्टों का वध करनेके लिए ही इसरात्रि में उठे हैं । दिन रात हमारा यही आचरण है कि, जितने भी दुष्ट मिलें उनका वध करें । मंत्री की ऐसी बात सुनकर राज्ञमी ने राजा से कहा,—तुम्हारे मंत्री का विचार अच्छा नहीं है । यह महा दुष्ट है । इसकी दुष्टता से तुम्हारी प्रजा सुखी नहीं रहेगी । क्योंकि नीति कहती है कि, मंत्री न्यायी और विवेकी हो । ऐसा होने पर राजा भी विवेकी और शान्तात्मा होगा । गुणोंका उत्तम गुण आत्मज्ञान है । राजा होने का वही अधिकारी है—जो आत्मा को जाने । और मंत्री वही हो सकता है, जिसमें प्रभुता और समदृष्टि हो । मेरा परिचय यह है कि मैं अज्ञानियों का भक्षण करती हूँ । इससे अब तुम मेरे पास से तभी मुक्त हो सकते हो कि, मैं जो प्रश्न करती हूँ उसका ठीक २ उत्तर दो । उत्तर मिलने पर ही मैं अपने अर्थ को बतलाऊँगी और तुम उसे पूरा करना ।

उत्तर पर मैं तुम्हें भक्षण कर जाऊँगी ।

पैंसठवाँ सर्ग ।

किरातराज मे राजमी कं अद्भुत प्रश्न

वशिष्ठजी बोले,—हे रामजी ! राजसीकी ऐसी बात सुनकर राजा ने कहा,—तू प्रश्न कर, हम उत्तर देंगे । तव राजमी प्रश्न करने लगी, कि हे राजन ! ऐमा कौन एक अणु है कि, जिससे अनेक अणु उत्पन्न हुए हैं और एक के अनेक नाम हैं और वह कौन अणु है जिसमें अनेक ब्रह्माडोंकी रचना होती है और वह उसीमे लीन हो जाते हैं ? फिर ऐसा कौनमा आकाश है कि जिसमे शब्द नहीं है और ऐसा कौन अणु है कि जो किंचित और अकिञ्चित नहीं है ? ऐसा कौन अणु है जिसमें अह फुरता है ? ऐसा कौन है जो चलता भी है और नहीं भी चलता ? वह तिष्ठित भी है और प्रतिष्ठित भी है । ऐसा कौन है जो पापाणवत होते हुए भी आकाश में चित्रित है ? ऐसी कौन सी अग्नि है, जिसमें दाह शक्ति भी नहीं है पर अग्निका ही रूप है और ऐसी कौन अग्नि है जिससे अग्नि उत्पन्न हुई ? उस अणुका क्या नाम है जो सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि और तारों के प्रकाश से रहित किन्तु अविनाशी है पर वह नेत्रों से भी देखा नहीं जाता और उमीसे समस्त प्रकाश उत्पन्न होते हैं ? ऐसी कौन सी ज्योति है जो फूल फलादिको को प्रकाशित करती है और अन्धेको भी प्रकाश देती है । उस अणुका क्या नाम है कि जिससे आकाशादिक ममस्तभूत उत्पन्न हुए हैं और जो स्वभावतः प्रकाशमान है ? उस ब्रह्माड का नाम क्या है कि जिससे ब्रह्माडरूपी रत्न उत्पन्न होते हैं ? प्रकाश और अन्धकार, सत्य और असत्य किस अणुमें इफट्टा रहता है । जो दूर से भी दूर और दूर भी नहीं है । ऐसा कौन अणु है कि, उसमे सुमेरु आदिक पर्वत भी छिपे रहते हैं । उस अणु का क्या नाम है कि जो एक निमिपमे कल्प और कल्पको निमिपमात्र जानता हुआ प्रत्यक्ष और अमदरूप है ? फिर सत्य और अप्रत्यक्ष रूप । नहै ? ऐसी कौन चेतना है जो अचेत्य और वायु और अवायुरूप है ?

ऐसे अणु का क्या नाम है जिसमें अहं, त्व नहीं है। ऐसा कौन है जो अनक यत्न करने पर मिलता हुआ भी कुछ नहीं मिलता और सब कुछ मिल जाता है ? ऐसा कौन अणु है जिसे देख लेनेपर जगत फुरता हुआ दृष्टिगत होता है और जिम अणुको बिना त्यागेही सुमेरु आदिकु पर्वत स्थूलाकार हो जाते हैं ! उस अणुका क्या नाम है जो तालकेअग्रभागसे भी छोटा और पर्वतसे भी ऊँचा है ? वह ऐसा कौन अणु है जो अपनेको नहीं ढाँपता पर सबको ढाँपता हुआ समस्त जीवों को जीवनदान देता है। हे रामजी ! इस प्रकार के बहुत से प्रश्न करके राज्ञसी ने राजा से कहा,—हे राजन ! यदि आपने ऐसे अणु को देखा हो तो मुझे बतलाइए। केवल इन्हीं प्रश्नों की शंका मुझे है। यदि आप ज्ञानी हैं तो आपका धर्म है कि ऐसे प्रश्नोंका उत्तर दें। ज्ञानी पुरुष संशयोंका नाश कर देते हैं। अपने प्रश्नों का उत्तर पा जाने पर मैं तुमको पूजा करनेके योग्य समझूँगी। पर यदि उत्तर न मिला तो मैं तुम्हारे मन्त्री सहित तुमको मार कर भक्षण कर जाऊँगी। यही नहीं, तुम्हारी मूर्खतावश समस्त प्रजां को भी चबा डालूँगी। कारण कि मृखोंका वध करना ही मेरा उद्देश्य है। हे रामजी ! ऐसा कह कर राज्ञसी चुप हो गई।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का पँसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६५ ॥

छाँछठवाँ सर्ग ।

राज्ञसी के प्रश्न का उत्तर

वशिष्ठ जी कहने लगे,—हे रामजी ! जब उस अर्द्धरात्रि में राज्ञसी ने किरातराज से इतना अधिक प्रश्न किया तब राजा के मन्त्री ने कहा,—रे राज्ञसी ! तेरे जितने प्रश्न हैं। सब अत्यन्त सरल हैं। मैं कम पूर्वक इन सबका उत्तर देता हूँ, सुन। ये प्रश्न केवल एक परमात्मा के सम्बन्ध में हैं, जिसको तुमने बहुत प्रकारसे पूछा है। ऐसा तो ब्रह्मज्ञानी के लिए उचित ही है। हे राज्ञसी ! ऐसी सत्ता जो मन

और इन्द्रियों तथा चिन्तना से भी रहित और अगम है, वही सूक्ष्म है। इसी से वह अणु सज्ञा है। उसी अणु में सत्, असत् जगत स्थित होकर सवेदना से फुरता है। भासित होने के सम्बन्ध से ही वह चित्त कहलाता है। सृष्टि के पहले उसमें कुछ नहीं था, इसीसे वह निष्क्रिञ्चन भी है और इन्द्रियों का विषय न होने से वह किञ्चित भी नहीं है। इससे केवल उसी एकचिद् अणु से सबकी आत्मा है, यही कारण है कि, अनन्त भोक्ता पुरुष किञ्चन है। पर जो किञ्चन नहीं है, उसका यह कारण है कि, उससे कुछ भिन्न नहीं है। वही चिद् अणु सबकी आत्मा है और वही एक आभाससे अनेक रूपमें भासित होता है। वही परमाकाश और मन वाणी से परे आकाश से भी सूक्ष्म है। वही सर्वात्मा है। फिर वह शून्य कैसे? सत्को शून्य कहना पागलपन है? क्योंकि सत्य के बिना असत्य भी मिद्ध नहीं होता। वही सत् है कि जिसके आश्रयसे असत् मिद्ध होता है। वही अनुभव रूप है, वही चिन्मात्रसर्व रूपसे किञ्चित है। वही अचेतन है, इससे अकिञ्चित है। वह इन्द्रियोंसे रहित और निर्मल है। उसी चिद् अणु में फुरणावश अनेको जगत स्थित रह कर उत्पन्न होते और लीन होते हैं। वह मन और इन्द्रियों से अतीत है। इससे वह चिद् अणु शून्य है। वही स्वतः प्रकाशता है, इसी से अशून्य है। उसी एक आत्मा से अहं, त्व की उत्पत्ति हुई है। उसी ज्ञानमें अह त्व लीन होते हैं। वह सर्वत्र आपही है। त्रिदुटी रूप भी वही है और वही चिद् अणु अनेक योजनो पर्यंत जाता हुआ भी जलायमान नहीं होता, क्योंकि उसका सचित अनन्त है।

भी समूह है। वहाँ कोई जा, ल में स्थित है। उसमें सब कुछ । यह कि कुछ जगत है । अतः वह शरीर की त है, उसी

प्रकार उस चिद्ब्रह्म में देश, काल भी स्थित है। जैसे वादलकी घटा ही एक देशसे दूसरे देश को जाती है न कि आकाश को। पर मालूम होता है कि आकाशही जा रहा है, कारण कि आकाश में सब देश स्थित हैं। इससे वह कहीं नहीं जाता, वैसे ही जाते हुए भी आत्मा नहीं जाता। उसी चिन्मात्र परमात्मा में सबेदना का आकार रचा है। उमी आदि अत रहित में यह विचित्र जगत रचा है। वही चिद्ब्रह्म अग्नि की भाँति प्रकाश्य है और वही ताप से रहित है। वही ज्ञान है और वही अग्निसे प्रकाशित है। उसीसे अग्निकी उत्पत्ति होती है। वही सर्वगत है। वही द्रव्यो का पाचक है। उसी में प्रलय के सब जीव लीन होते हैं। यदि पुष्कल मेघ भी एकत्रित हो जाँय तो भी उसको नहीं ढाँप सकते। वह सदैव प्रकाशरूप और ज्ञानरूप है। वह आकाश से भी निर्मल प्रकाशरूप है। उसीसे अग्नि उत्पन्न होता है और वही सबको सत्ता देने वाला है। उसी के प्रकाश से सूर्यादि भी प्रकाशते हैं। वही अनुभव रूप विना नेत्र के भासित होता है और वही परम प्रकाशक है। वही ऐसा है कि फल, फूल और लताओं युक्त आत्मतत्त्वसे प्रकाशकरता है। वही ऐसा चिद्ब्रह्म है जो देशकाल और क्रिया को सत्ता देता है। अतः वही सबका स्वामी, कर्ता, पिता और भोक्ता है। यही कारण है कि, वह किंचन रूप और जगत का धारण करने वाला है। वही अलखभाव से दूर से भी दूर और निकट से भी निकट रहता है। वही चिद्रूपी भाव एव ज्ञान से निकट और अज्ञान से दूरानिदूर है। वही अज्ञानतावश तमरूप और ज्ञानवश प्रकाशरूप है। उसी चिद्ब्रह्म में सबेदना से सुमेरु आदिक पर्वत स्थित हैं। हे राज्ञमी ! यह सब जगत सबेदन रूप है, सुमेरु आदिक पर्वत उत्पन्न नहीं हुए हैं। चिद्सत्ता स्वतः स्थित है। सबेदन के अनुसार ही भासता है। निमेष का सबेदन होने पर निमेष और कल्प का सबेदन होने पर कल्प फुरता है। जिस प्रकार छोटे से दर्पण में विस्तार युक्त नगर भी प्रतिविम्बित

होता है, उसी प्रकार उस निमेष की फुरणा में ही सब जगत फुरता है। पर उसमें दूसरा कोई भ्रम नहीं है। वह ब्रह्मसत्ता चारों ओर से शांत-स्वरूप, अज, एक और आदि अंत से रहित है। उसमें एक और दो की कोई कल्पना नहीं है। बिना उदय हुए ही वह उदय है। वही निर्मल और स्वतः प्रकाश करनेवाला आत्मा है।

श्री योगगशिष्ट भाषा उत्पत्ति प्रकरण का छौंछठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६१ ॥

सरसठवाँ सर्ग ।

किरातराज द्वारा परमार्थ निरूपण

मन्त्रीके ऐसा कह चुकने पर राजा किरात ने राज्ञसी से कहा,—हे राज्ञसी ! इस जाग्रत जगतके विश्वासका अभाव होने पर ही आत्मा में विश्वास होता है और सकल्पों की चेतना का नाश होने पर ही आत्मा का साक्षात्कार होता है। उसी आत्मसत्ता में सवेदन के फुरने से जगत होकर भासता है और उसके संकोच करने से सृष्टि का प्रलय हो जाता है। आत्मसत्ता ही उसका अधिष्ठान रूप है। वह वाणी से भी अतीत है। अतः उसको जतलाने के लिए, तुझसे कुछ वेदान्त का वाक्य कहता हूँ। ध्यान देकर सुन। हे राज्ञसी ! द्रष्टा, दर्शन, दृश्य के अन्तर जो अनुभवपूर्ण सत्ता है, वही परमात्मा है और वही द्रष्टा, दर्शन और दृश्य रूप होकर भासित होता है। उसमें ही जगतकी सब लीला है। पर ऐसे नानात्व भावसे भी वह खडित नहीं अखण्ड ही है। उसी चिन्मात्र सत्ता को ब्रह्म कहते हैं। वही चिद्ब्रह्म सवेदना से वायु रूप है और उसमें वायु भी भ्रममात्र है। क्योंकि वह शुद्ध चिन्मात्र है। जब उसमें शब्द का सवेदन फुरता है, तब शब्द रूप होकर भासता है। पर वह ही है। उसमें अह, त्व का लेश नहीं है। वह सर्वशक्तिरूपी आत्मा है। तदृष से भासता है। अस्तु ॥

अनेक यत्नो से प्राप्त करने योग्य है ! उसको प्राप्त कर लेने पर भी मालूम होता है कि कुछ नहीं पाया और सब कुछ मिल गया । कारण कि उस आत्माकी प्राप्ति होने पर कुछ पाना शेष नहीं रहता । जन्मो की परम्परा अज्ञानरूपी वसन्तऋतु की वेलि है और उसको ज्ञानरूपी खड्ग से काटना चाहिए । जब तक ज्ञानरूपी खड्ग न हो वह नहीं कटनी । हे राक्षसी ! चिद्ब्रह्म सवेदन द्वारा अपने को दृश्य रूप में पाता है और वह शुद्ध ही सवेदनके सहारे अपने को फुरता हुआ देखता है । इसी प्रकार चिद्ब्रह्म के सहारे जगत होकर त्रिभुवन में स्थित है । पर वस्तुतः वह माया मात्र है । भ्रमसे भासित है । स्वप्न में स्त्री का आर्लिगन करनेके समान ही यह जगत मनके फुरनेमें पड़ा भासित होता है । इससे भ्रममात्र है । हे राक्षसी ! जैसे वह सर्वशक्तिरूपी आत्मा आदिसे फुरता है, वैसाहीरूप होकर भासता है । अर्थात् संकल्पके अनुसार ही स्थित होता है । इस लिए समस्त जगत संकल्प मात्र है । हे राक्षसी ! वह चिद्ब्रह्म से भी सूक्ष्म है और उसी से सब जगत परिपूर्ण है । वह सब जगतका अनन्तरूप आत्मा है और उसी के सवेदन से जगत की रचना हुई है । देश, काल और वस्तु से आत्मसत्ता रहित है । यहाँ कारण है कि वह सुमेरु पर्वत से भी स्थूल है और उसके लिए बड़े-बड़े पर्वत भी तृण के सदृश और बाल के अग्रभागके सहस्रो भागसे भी सूक्ष्म है । हे राक्षसी ! रात, दिन, नदियाँ, पहाड, और भीतर-बाहर सब लोको में आत्मसत्ता का ही प्रकाश है । उसी से नील कमल और श्वेतकमल दोनो ही प्रकाशते हैं । तात्पर्य यह कि तम और प्रकाश दोनोका प्रकाशक वही चिदात्मा है । वह उदय अस्त से रहित सर्वदा उदयरूप है । उसके बिना सभी सिद्धियाँ अपूर्ण हैं । क्योंकि वही सर्व प्रकाशक चिद्ब्रह्म है । उस अणु में भा एक विचित्र अनुभव-अणु है । जैसे वसन्तऋतु में पत्र, फूल, फल और टास होते हैं, वैसे ही चिद्ब्रह्म में अनुभव अणु विद्यमान हैं । जैसे एक बीज से अनेक वृक्ष क्रमपूर्वक होते हैं,

वैसे ही एक चिदग्रण से अनेक अनुभव ग्रण होते हैं। उन चिदग्रणोंसे आत्मा तटस्थ है और आसौनझीनाई स्थित है। वही सबका कर्ता और भोक्ता है। पर किसी से स्पर्शित नहीं है। उमी से जगत की सत्यता भी है। अतः यह सबका कर्ता, सबका भोक्ता और सबमें है। पर वास्तव में न कुछ उत्पन्न होता है और न लीन होता है। केवल चिन्मात्रसत्ता ही स्वतः अपनेमें अखण्ड और सूक्ष्मरूपसे स्थित स्थित है। यही कारण है कि किसीसे स्पर्श नहीं किया जा सकता। हे राक्षसी ! यह जितना जगत दिखलाई पडता है, सब आत्माका रूप है, उसमें और जगत में कोई अन्तर नहीं। नाम मात्रके लिए दो है। इस पर जितना भी विचार प्रकट किया जाय, केवल नाममात्र का उपदेश है। वास्तव में कुछ दूसरी वस्तु बनी नहीं है। तीनों जगत चिदाकाश रूप हैं। हे राक्षसी ! द्रष्टा दृश्यभाव को प्राप्त होने पर अपने स्वाभाविक भाव को नहीं देख पाता। वह देखी जानेवाली वस्तु में पड कर अपने को भूल जाता है। जब दृश्य नष्ट होता है, तब द्रष्टा भी नहीं रहता। क्योंकि द्रष्टा का दृश्य से सम्बन्ध है। जिस प्रकार भोगने वाले के बिना भोग नहीं, वैसे ही द्रष्टा के बिना दृश्य नहीं रहता। हे राक्षसी ! द्रष्टाही दृश्यको एकसे अनेक करता है न कि दृश्य द्रष्टाको। कारणकि, दृश्य जड है। बिना द्रष्टाके दृश्य नहीं भासता। जिस प्रकार भूषण-बुद्धि वालेको सुवर्ण नहीं भासता भूषणही भासता है और ज्ञान होने पर सुवर्ण ही भासित होता है, भूषण नहीं, उसी प्रकार एक सत्तामें दोनोकी सिद्धि नहीं। इसी भाँति जब द्रष्टा दृश्य को देखने लगेगा, तब वहभी दृश्य भाव ही हो जाता है, द्रष्टा भाव नहीं रहता। जैसे ज्ञान होने पर रस्सी का सर्प नहीं रहता, वैसे ही बोध द्वारा दृश्य का अभाव होकर एक परमात्म सत्ता ही भासित होती है और द्रष्टाकी सख्या भी नहीं रहती। पर वह दर्शन और दृश्य को ऐसे ही प्रकाशता है, जैसे दीपक पदार्थों को प्रकाशता है। हे राक्षसी ! वह अत्यन्त निस्वाद रूपी जो परमाणु है, वही सब स्वादों

❀ योगवाशिष्ठ-भाषा ❀

को उत्पन्न करता है। निरस वस्तुओं में भी वही रहता है। अतः कोई भी स्वाद चिद्राणु के रस देनेवाला और आत्मभाव से सबका अधिष्ठान सुक्ष्म है, इसी से बिना स्वाद है। उसी ने रखा है और वह स्वयम् किसी से ढाँपा नहीं कि, वह सबको सत्ता देनेवाला और अंग पदार्थ से नहीं छिप सकता। वही सबका प्राण आश्रय है कि मूर्ख उसे नहीं जानते। वह है और उमी सर्वात्मामे सब उत्पन्न हुये हैं। चित्राणु में अनेक कल्पों का अनुभव स्वप्न में अमोक्ता मोक्ता का अनुभव निमित्त में कल्पका अनुभव करता है। हेरा भास रहे हैं सब भ्रममात्र है। आकाश आत्मामें यह विश्व भासित हो रहा है। और सब का अनुभव है। उसमें व्याप्य मात्र भी नहीं है। शुद्ध चित्त सचित से ही पृथक् २ भाव होता है। क्योंकि उममे व्याप्य और व्यापक भाव ही पदार्थ है। जिस प्रकार समुद्र है, उसी प्रकार इच्छा मे उत्पन्न वह भी आत्म स्वरूप ही है। मे चिन्मात्ररूपसे स्थित है। कैसे हो सकती है? पर जहाँ दो तब एक भी नहीं। जैसे आया है, वैसेही एकके बाद से परे है, वही नाना प्रकार की दृष्टि

9
 होती
 द्विप
 डमसे
 य मे
 इधर
 ते हैं
 हे।
 त्रिमे
 म पर
 कृपा
 नसी
 जीव
 हो
 यह
 र्ण न
 हे।
 ब्रह्मा
 चिन्ता
 मंत्र वत-
 की के किनारे
 जए। आपके
 विसा ही किया।
 ते देखकर राजा
 और तुम्हारा
 हैं कि अब तुम
 का ऐसा रूप
 मारे

होने पर द्वैत भी अद्वैत जान पड़ता है। कारण कि द्वैत कल्पना की जड़ अज्ञानता है। यदि ज्ञान हो जावे तो ब्रह्म और जगतमें भेद कुछ नहीं। द्वैत-अद्वैतका जानना तो दुःखका कारण है। इससे रहित होने ही का नाम परमपद है। अतएव द्रष्टा रूपी जो यह जगत है, वह चिद् परमाणु में स्थित है। पर वडा अचम्भा है कि, केवल माया से ही चिद्परमाणु में त्रैलोक्य की कल्पना स्थित है। यही कारण है कि मायामय हैं। बीज और वृक्ष के अनुसार ही यह जगत चिद्भागु में विद्यमान है। जिस प्रकार वृक्षाभाव का परिणामी बीज है उसी प्रकार परिणामी चिद्भागु से जगतका रूप है। अन्यथा द्वैत, अद्वैत, बीज, अंकुर, स्थूल, सूक्ष्म, उत्पन्न हुआ, नष्ट हुआ, अस्ति, नास्ति और सम तथा असम जगत, अजगत कुछ नहीं हैं। चिदानन्द आत्मसत्ता ही भावनानुसार स्वतः स्थित है। और बिना उदय ही सवेदनवश उदय भासता है। इसमें न तो कुछ उदय हुआ है और न अस्त होगा। वह तांत से भी सूक्ष्म है और उसी चिद्भागुमें अनंत सुमेरु आदिक स्थित है। उसमें सुमेरु आदिक का स्थिरता आकाश की सूक्ष्मताके ही समान है। ऐसे ही जगत भी आत्मामें स्थित है। आत्मज्ञानियों के लिये सुषुप्तिकी नाई भासता है। अस्तु, अत्मसत्ता सदैव अद्वैत रूप और परिणाम से रहित है। उसमें मुक्त प्राणीजन सदैव स्थित हैं। उनके लिए जगत ब्रम्हरूप है। भिन्नता कुछ नहीं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का सरसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६७ ॥

अड़सठवाँ सर्ग

राक्षसी की सुहृदयता

वशिष्ठ जी बोले,—हे रामजी। राजा किरात के एमे बोधमय और अमृत तुल्य उपदेशों को सुनकर राक्षसी ने आश्चर्यित होकर कहा,—हे राजन् ! आपके विचार बहुत उच्च है। आप विवेकीजनो से पूजने योग्य हैं। क्यों न हो ? सत्सगति का प्रभाव ही ऐसा है कि, संतों

के साथ से 'मिटइ दोष, दुख, दारिद्र दावा की बात चरितार्थ होती है। हे राजन् ! मैं आपके वचनों से बहुत प्रसन्न हूँ। मेरा रागद्वेष सब नष्ट हो गया है और अब मैं शांत स्वरूप हो गई हूँ। इससे निवेदन है कि, अब आप अपने प्रयोजनको बतलाईये। यथासाध्य मैं उसे अवश्य पूर्ण कर सकूँगी। राजा किरात ने कहा,—हे देवी ! इधर थोड़े समयसे हमारे नगरमें विपूचिकाका रोग फैला हुआ है। सुनते हैं कि, एक कोई देवी है कि जिसकी मायासे यह रोग विस्तार पा रहा है। क्या उमके निवारणका भी कोई मंत्र है ? आज हम इस निशा रात्रिमें उस देवी (राक्षसी) की खोज में निकले हैं। पर देखते हैं तो तुम पर ही हमारी शंका दृढ़ होती है। यदि तुम्ही हो तो अब मुझ पर कृपा कर अपना कोप समेट लो। प्रजा अत्यन्त उत्पीड़ित है। राक्षसी ने कहा, बहुत अच्छा, आज से मैं जीवों को न मारूँगी। जीव शब्द सुनते ही राजा ने राक्षसी को रोक कर कहा, यह कैसे हो सकता है कि, तू जीव-हिमा न करे। ऐसा करने पर तो तेरा यह विशाल शरीर नहीं रह सकता। राक्षसी ने कहा, आप आश्चर्य न करे, मुझमें सूक्ष्म शरीर धारण करने की भी शक्ति वर्तमान है। यह कहकर उसने अपनी पूर्व तपस्याओंका उल्लेख करते हुए ब्रह्मा जी के वरदानकी बात कह सुनायी। उसने कहा, आप इसकी चिन्ता न करे। मेरे निवारण के लिये उसी समय ब्रह्माजीने 'ॐ' मंत्र बतलाया है। आप इसी मंत्र को ले लीजिए और श्री गङ्गाजी के किनारे जाकर स्नान ध्यानसे निर्मल होकर प्रेम पूर्वक जप कीजिए। आपके राज्यसे रोग शीघ्रही हट जायगा। फिर तो राजाने वैसा ही किया। बाद में राक्षसी राजा से विदा हुई। तब उसको जाते देखकर राजा ने कहा, हे कल्याण ! तुम हमारे गुरु के समान हो और तुम्हारा दर्शन कर हम कृतकार्य हुए निवेदन करता हूँ कि अब तुम इस भयावनी सूरत को किसी सुन्दर स्त्री का ऐसा रूप धारण करो कि जिसे दे

हो जाय। फिर आप हमारे

ही नगर में रहा करें। कर्कटाने कहा, यह तो ठीक है, मुझमें सूक्ष्म शरीर धारण करने की शक्ति वर्तमान है। पर राक्षसी स्वभाव तो ऐसा है कि, मानव शरीरमें भी लुधा ऐसी ही रहेंगी। आप इस लुधा को तृप्तन कर पाइएगा। क्योंकि जो स्वभाव है वह सृष्टि पर्यन्तभी नहीं बदलता। राजाने कहा, हाँ। वह बात तो ठीक है, पर कोई चिन्ता नहीं, आप मानव शरीर धारण कर अभी हमारे साथ चलिए, हम सब प्रबंध कर लेंगे। राज्य में जितने चोर, दुष्ट मिलेंगे उनको पकड़ा कर मैं आपके हवाले कर दूँगा। आप कन्दरा में ले जाकर उनको भक्षण कर डालिएगा और वहीं समाधि भी लगाइयेगा। जब समाधिसे उतरिएगा तब आजाया करिएगा। फिर तो राक्षसीने वैसा ही किया और भूट सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर स्त्री भेष में राजा के साथ चली। मार्ग में एक स्थान पर बैठ कर तीनों ने रात्रि को व्यतीत किया और प्रातः काल होने पर राक्षसी सहित राजा महल में पहुँचे। जब सात दिन व्यतीत हुआ तब राजा ने अपने बंदीगृह से तीन हजार चोरों को राक्षसी के हवाले कर दिया। वह उन मनों को अपने राक्षसी बल से उड़ा कर हिमालय की कन्दर में जाकर थोड़ी ही देर में सबको खाकर सो गई। दो दिन बाद निद्रा से जागी भी तो समाधि लगा कर बैठ गई और पाँच वर्ष तक बैठी ही रही। जगने पर फिर राजा के पास आई। राजा ने उसकी बड़ी पूजा की। इसी भाँति वह राजा के वहाँ अनेक वर्ष तक राक्षसी स्वभाव करती रही। पश्चात् वह राजा विदेह मुक्त हो गया।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का अठसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६८ ॥

अठसठवाँ सर्ग ।

॥ मनाकुर की उत्पत्ति ॥

इस प्रकार शुद्ध चेतनका निरूपण हो चुकने पर वशिष्ठजी कहने लगे,—हे रामजी! वास्तवमें ब्रह्मा आश्चर्य है कि, यह इस असत् रूप जगत

के पदार्थ सत्यसे जान पड़ते हैं। पर यह ऐसा नहीं है। आत्मसत्ता सदैव सम्पन्नरूप है और वही अविद्यमान की नाईं भासित होता है। उस एक अनादि परमकारण आत्मसत्ता में ही भावना के लिए जगतरूप भासता है। उस ब्रह्म और जगत में कोई अन्तर नहीं है। अह आत्मसत्ता सदैव अपने आपमें स्थित है। चित्तस्पन्दताके अनुसार रूप होकर जान पड़ता है। जैसे स्तम्भ की पुतलियाँ शिल्पी के मन मन्दिर में उत्पन्न होती हैं, फिर प्रत्यक्ष चित्रित हो जाती हैं, वैसेही भावना से जगत होकर भासता है। जिस प्रकल्प वृत्तोंकी जड़ से लेकर फल, फूलादि तक सब बीज केही अनन्यरूप हैं, उसी प्रकार ब्रह्म में जगत अनन्य रूप है। जो ऐसा विचार नहीं रखते उनके लिए तो सर्वमें भेद है, पर विचार करने से जगत और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। हे रामजी ! अब इसके सम्बन्ध में बहुत विचार न करो। यह जगत चाहे जैसा हो, इसकी निवृत्ति का यत्न कीजिए। यत्न से जड़-ग्रन्थि छूट जायगी और शब्दार्थ सहित जितनी भी कल्पनाये उठती हैं, वह मेरे उपदेशोंसे नष्ट हो जायेंगी। हे राघव ! यह चित्त बड़ा ही अनर्थकारी है। सारा जगत इसीसे उत्पन्न हुआ है। यदि ध्यान पूर्वक मेरा उपदेश ग्रहण करोगे तो शांत हो जावोगे। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि, समस्त जगत ब्रह्म सेही उत्पन्न हुआ है। इस सम्बन्ध में शास्त्रों ने जो कुछ कहा है, दृश्य-मात्र है। केवल उपदेश बनलाने के लिए कहा है। अन्यथा वे शब्द कुछ नहीं हैं। ब्रह्मसे जगत हुआ, यह बात बहुत ही पुष्ट है। पर इस सम्बन्ध में भिन्न, अभिन्न, कारण, परिणाम, भाव, विकार, विद्या, अविद्या, और दुःखकी जो मिथ्या कल्पना उठती है, वह केवल अज्ञान से उठती है। यदि ज्ञान किया जाय तो सब कल्पनाये शांत हो जाती हैं और केवल ब्रह्मपद ही शेष रहता है। ज्ञान होने पर ठीक ज्ञात होता है कि, से रहित अखण्ड सत्ता ही स्वतः स्थित है। उपदेश तो के लिए द्रैतवाद की एक

कल्पना मात्र है। बोधदर्शियोंके लिए नहीं। अच्छा तो, यह जितनी कुछ भेद कल्पनाये मन ने रची है, उनकी निवृत्तिके लिए उपदेश सुनिए। हे रामजी। इस मन ने गन्धर्व नगर के समान ही जगत की रचना की है। मने जैसा कुछ देखा है, उसके अनुसार तुम्हारे बोधके लिए उदाहरण कहता हूँ। इसको जानने से तुमको जगत भ्रान्तिमात्र ही भासित होगा। फिर तो निश्चयात्मक होकर तुम जगतकी वासनाको ह्रस्सेही त्याग दोगे और बोध होनेसे जगत मनका रूप जान पड़ेगा। इससे सावधान होकर मेरा उपदेश सुनो। हे रामजी। यह मनरूपी बृहत्तरोग विवेक रूपी औषधसे ही शांत होता है। जगत की कल्पना चित्तने की है। उसमें शरीर आदि कुछ नहीं है। रेत से तेल का निकलना और जगतसे कुछ न निकलना एक ही समान है। केवल चित्तसे भासता है। अतः यह चित्तरूपी संसार स्वप्नके समान है और राग द्वेषादि सकल्पो से युक्त है। इससे रहित होना, समुद्र को पार करना है। अतः जो विवेकी पुरुष है, वह शुभ गुणों द्वारा चित्त को शुद्ध कर शुभ कार्य करते हैं। उनका आहार व्यवहार बड़े विचार से होता है। उन्हीं की भाँति तुम भी शास्त्रानुसार कार्य करो। ऐसा अभ्यास करनेसे तुम्हें शीघ्र ज्ञान प्राप्त होजायगा और सभी कल्पनाये नष्ट हो जायँगी। और तुम आत्मस्थिति को प्राप्तहोगे। मनने ही इस जगतरूपी चित्रकी रचा है। वह मन जड़, अजड़ रूप है। मन की चेतना ही सब अर्थोंका बीज रूप है। अर्थात् सबका उपादान है। हे रामजी। सृष्टि के आदि में जब पृथ्वी आदिक तत्व अविद्यमान थे तब ब्रह्माने इस जगतको विद्यानके समान ही देखा। जैसे स्वप्न भासता है, वैसेही ब्रह्माने प्रमादवश जड़ सवेदना से पहाड़ आदिक जगत को देखा और चेतन सवेदना से जंगमरूप जगत को देखा। इससे सब जगत दीर्घ वेदना है। नहीं तो सब देहादिक शून्य रूप है। आत्मा ने सबको व्याप रखा है। उसका कोई शरीर नहीं है। स्वतः जिसने दृश्यरूपी मनको चेतता है, वही मन आत्माका शरीर,

आत्मा का विस्तरण और निर्मल स्थिति है। मन उसका आभास रूप है। सूर्य-किरणों से जलाभास होनेके समान ही यह मन आत्मा का आभास मात्र है। वह मनरूपी बालक जगतरूपी पिशाचको अज्ञानसे देखता है और ज्ञानसे परमात्मपद शांत और निरामयको देखता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरणका उनसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६९ ॥

सत्तरहवाँ सर्ग ।

आदित्य समागम

वशिष्ठ जी बोले,—हे रामजी ! अब मैं तुम्हारे बोध के लिए इन्दुब्राह्मण का एक आख्यान सुना रहा हूँ। यह आख्यान मैंने ब्रह्मा जी से सुना है। मेरे पूछने पर ब्रह्मा जी ने कहा था कि, यह समस्त जगत मन से उत्पन्न हुआ है और मन से ही जान पड़ता है। जिस प्रकार जल की द्रवता से नाना प्रकार के तरङ्ग फुरते हैं, उसी प्रकार मनके फुरनेसे ही जगत फुरता है और वह मनका ही रूप है। ब्रह्मा जी ने यह भी कहा कि, एक समय जब दिन का क्षय हो गया तब सम्पूर्ण सृष्टि का सहार कर मैं एकभाव स्वस्थ चित्त होकर बैठ गया। फिर जब मेरी रात्रि व्यतीत हुई और मैं जागा तब उठकर नित्य नैमित्तिक कर्म करके आकाश की ओर देखने लगा। उस समय मैंने देखा कि, आकाश तम और प्रकाश से रहित शून्य रूप चारों ओर से व्याप्त है। तब मैंने चिदाकाश में चित्तको मिलाकर सर्गको उत्पन्न करने का ज्योही संकल्प चित्त में किया कि, त्योंही मुझको सृष्टि दृष्टि आई। उस सृष्टि में ब्रह्मा विष्णु और रुद्र तीनों देवता देख पड़े। इसके अतिरिक्त अन्य देवगण, गन्धर्व, किन्नर, मनुष्य, सुमेरुआदिक पर्वत, पृथ्वी, नदियाँ और सातों समुद्र भी उस सृष्टि के विस्तार दिखलाई पड़े। वह सृष्टि भा दश है और उनमें मेरे ही अनुरूप दश ब्रह्मा भी कमल डोंडी से उत्पन्न और आरूढ़ दिखलाई पड़े। उनको भी भिन्न-३ सृष्टियाँ थी और सभी वस्तुयें अपना २ कार्य करती थीं। ल

वासनाके शुभाशुभ स्वर्ग और

गान्ध प्राप्न करने थे। प्रत्येक सृष्टिमें मानद्वीप हैं। उनमें उत्पत्ति, प्रलय और कृप भी दिगलाई पड़े वहाँ मने देगा कि गङ्गाजी का प्रवाह जगतके गर्लमें यज्ञोपवीत है। विजली की नाईं सृष्टि उत्पन्न होती और मिटती है। हे मुनीश्वर ! वहाँ मने एक २ ब्रह्माण्डमें स्थावर जंगम ऐसी प्रजा देखी, जेमें गृहफलमें अनेक मन्त्ररहाने हैं। इन सब सृष्टियों को मने अन्त वादक दृष्टि मे देगा। पर जब चर्म दृष्टि से देखूँ तब कुछ न जान पड़े। इगमे मुके बड़ा आश्चर्य हुआ। मे डम भ्रम को दूर करने के लिए बहुत दिन तक बैठा देखता रहा। तब एक सृष्टिके सूर्यको आवाहन कर मने अपने पाम बुलाया और पूछा कि, हे भुवन भास्कर ! आप कुशल से तो हैं ? कहिए, अब सृष्टि कहाँ से उत्पन्न करना चाहिये। यह एक जगत है या अनेक जगत है ?

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का सत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७० ॥

इकहत्तरवाँ सर्ग ।

ऐन्दव समाधि वर्णन

अब सूर्य ब्रह्मा जी कहने लगे,—हे भगवान् ! अभी जो आपके एक कल्प की अवधि समाप्त हुई है, उसमें एक जम्बूद्वीप था। उसके एक कोनेमें आपका जो सुवर्णशीव पुत्र रहता था उसकी कुटीमे कश्यप कुलावतंस इन्दुनामक ब्राह्मण भी अपनी भार्या सहित रहता था। वह भार्या से बहुत प्रेग करता था। पर जिस प्रकार मरुस्थल मे घास नहीं उत्पन्न होती, उसी प्रकार उसकी काया से सन्तान न उत्पन्न हुई। तब वह पुत्रोत्पत्ति के लिए कैलाश के समीपवर्ती स्थानमे किसी वृक्ष पर चढ़ कर घोर तपस्या करने लगा। तपस्या करते-करते जब उसको द्वापर और त्रेतायुग बीत गया तब शशिकला धारी भवानी-शंकर प्रसन्न होकर वर देने निकट पहुँचकर उन्होंने देखा कि

पर ब्राह्मण, न
कहा, हे ५

। तब शंकर जी ने जोर
हुए प्रसन्न हैं, वर माँगो।

विप्रदेव बोले, हे भगवन् । यदि आप प्रसन्न हैं तो मुझे दश पुत्र ऐसा दीजिए कि, जिनसे किसी प्रकारका शोक दुःख न हो । शिवजी ने कहा, एवमस्तु । ऐसा कहकर शिवजी अन्तर्धान हुए और ब्राह्मणी सहित ब्राह्मण देव अपनी कुटी में चले गए । उसी दिन से ब्राह्मणी को गर्भ रहा और समय पर अत्यंत तेजस्वी दश पुत्र उत्पन्न हुए । बालक अत्यंत होनहार थे इससे केवल सातहो वर्ष की अवस्था में वे सब के आचार्य हो गए । पश्चात् ब्राह्मण ब्राह्मणी ने शरीर छोड़ दिया और वह दशो परमार्थचर्या एवम् ब्रह्मा को जानने की युक्तिमें कैलाश पर्वत पर जाकर तपस्या करने लगे । एक दिन दशो भाई एक साथ बैठ कर विचार करने लगे कि, ईश्वर क्या है ? उसका क्या रूप है और वह ईश्वरीय पद क्या है कि, जिसको पा जाने से दुःख भी न हो और नाश भी न हो और वही सबका ईश्वर भी हो । इस विषय पर विवाद होने लगा । सब लोग अपनी-अपनी सम्मति देने लगे । तब सबसे बड़े भाई ने कहा,—हे भाइयो ! यह समस्त विभक्तियाँ ब्रह्माजी के कल्प में नष्ट होती हैं । इस कारण ब्रह्मा जी के समान और कोई नहीं है । बड़े भाई की ऐसी वाणी सुनकर सबने कहा, बहुत ठीक ! बहुत ठीक ! आपने अच्छा कहा है । पर अब यह बतलाइए कि, उस ब्रह्मपद को कि जिसे जगत भी पूजता है, हम लोग कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? बड़े भाई ने उत्तर दिया, अन्य सभी भावनाओं को त्याग दो और ऐसा निश्चय करो कि, हमो ब्रह्मा हैं और पद्म-पत्र पर बैठे हैं । हमी सबका पालन और संहार करते हैं । जगत का आश्रय भूत भी हमी हैं । पर जगज्जाल के आश्रय-भूत हम नहीं हैं, किन्तु सृष्टि हमारे ही अंगमें स्थित है । ऐसा निश्चय और भावना कर लेने पर हम ब्रह्मपद को प्राप्त हो जायेंगे । तब छोटे भाई ने कहा, आपका यह भी कहना ठीक है, और हम ऐसा करते भी हैं । फिर तब भाइयोंकी वाणी सुनकर, सब ध्यानावस्थित हो गए । तब लगे कि, मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं ही

कमल पत्र पर बैठा हूँ, मैं ही सृष्टिकर्ता और मोक्षदा हूँ तथा मैं ही परमेश्वर हूँ। सूर्य मेरी ही आज्ञा से तपता है। लोकपालों को मैंने ही बनाया है। जीवों की रक्षा मेरे हाथ है। जगत मैंने ही रचा है। मरुस्वती और गायत्री सहित वेद मेरे ही आगे खड़े हैं। जगत मुझसे ही उत्पन्न होकर मुझही में लीन होता है। मैंने ही देशकाल की रचना की है और मैं ही दिन रात को उत्पन्न करता हुआ आत्म-पद में स्थित हूँ। मैं ही पूर्ण परमात्मा हूँ। हे ब्रह्मा जी ! ऐसी भावना करके वे दशो भाई बैठकर विचारने लगे। उनको देखकर ऐसा मालूम होता था कि, मानों कागज पर मूर्ति बैठी है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का इकत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७१ ॥

वहत्तरवाँ सर्ग ।

जगतरचना निर्वाण

ऐसा विचार करते हुए, इन्द्रके दशों पुत्रबैठे थे कि, जैसे सूखा हुआ कमल-पत्र गिर पड़ता है वैसे ही उन दशोंका शरीर धूप और पवन से सूख कर गिर पड़ा। वन के मांसाहारी जीव उनकी शरीरों को चिचोड़ने लगे। पर वे ध्यान में ऐसे मग्न थे कि, उनको वृत्तियाँ ध्यान से न छूटीं और ब्रह्मा की भावना हीमें लगी रही। जब चारों युग का अन्त हो गया और द्वादश सूर्य तपने लगे, पुष्पल मेघ गरजने व बरसने लगे, भूचालन हुआ, वायु चली, समुद्र खलभला उठा और चारों ओर जल ही जल होकर समत भूतों का क्षय होकर—आपके कल्प का भी दिन क्षय हो गया तब उनका शरीर छूटा। फिर तो पुर्यष्टकाश में आकाश रूप होकर ब्रह्म सकल्प की तीव्र भावना से वे दशों सृष्टि सहित भिन्न-भिन्न अपनी सृष्टि के दश ब्रह्मा हुये। हे ब्रह्माजी ! ऐसा होकर वे ही आकाशमें फुर रहे हैं। उन्हीं दशों ब्राह्मणों के चित्ताकाश में सृष्टि स्थित है। मैं उन सृष्टियों की एक सृष्टि का सूर्य हूँ। मुझमें ही चाण, दिन, मास और युग है। यही दशों ब्रह्मा

और उनकी सृष्टियाँ हैं। अब आपको जो अच्छा लगे कीजिए। अन्यथा जगत की जो कुछ कल्पनायें हैं, सब भ्रममात्र हैं।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का बहचरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७२ ॥

तिहत्तरवाँ सर्ग

ऐन्दवनिश्चय

यह कहकर जब सूर्यदेव चुप हो गये। तब उनके वचनोंको विचार कर ब्रह्मा जी ने कहा,—हे सूर्य! आपने तो दश सृष्टियाँ बतलाई हैं। अब कहिए, मैं क्या बनाऊँ। जब दशों सृष्टि और दशों ब्रह्मा भी स्थित हैं तब मेरी रचनासे क्या लाभ? सूर्य ने कहा,—नहीं, आपके लिए सृष्टि रचना मे कोई श्रम नहीं है। आप इच्छा रहित हैं। आप के लिए सृष्टि रचना तो केवल विनोद मात्र है। किसी कामनावश तो आप सृष्टि रचते नहीं। केवल निष्कामरूप संवेदन द्वारा सृष्टि को रचते हैं। इसी से अज्ञानी आप को सृष्टि कर्ता समझते हैं। और नहीं जानते कि, आप निष्क्रियरूप सर्वदा स्वतः स्थित हैं। आप को शरीरादि की प्राप्ति और त्याग मे कुछ भी रागद्वेष नहीं है, उत्पत्ति और संहार की भी कोई कल्पना आपमे नहीं है। आपसे सृष्टि केवल लीला मात्र होती है। आप सर्वदा असंसक्त हैं और जगत की रचना ही आप का नित्य कर्म है। अतः आप अपने नित्य कर्म को अवश्य कीजिए। क्योंकि आप सुषुप्ति रूप हैं। आप का किसी प्रकार उत्थान नहीं है। इससे आप सुषुप्ति प्रबोध होकर अपने प्राकृत आचार को अवश्य कीजिए। यदि इन्द्रके दशो पुत्रों की सृष्टि को भी देखे तो भी बुरा कुछ नहीं, ज्ञान दृष्टि से देखिए तो एक ही ब्रह्म अद्वैत है। केवल संकल्पसे अनेक सृष्टियाँ फुर रही हैं। इनमे आस्था क्यों कीजिए। चर्म दृष्टिसे देखने पर अपनी सृष्टि नहीं भासती। फिर आपका उनसे सम्बन्ध ही क्यों है? वह सृष्टियाँ तो उन्हीं केचित्त में स्थित हैं। फिर आप उनका नाश भी कर सकते। क्योंकि, नाश उस कर्मका होता

हे किजिसका सम्बन्ध इन्द्रियोंसे होता है, पर मनके निश्चय का नाश नहीं हो सकता। जिसका जो निश्चय होता है, वही नाश कर सकता है, दूसरा नहीं। शरीर भलेही नष्ट हो जाय, पर चिरकाल का दृढ़ किया निश्चय नाश नहीं हो सकता।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७३ ॥

चौहत्तरवाँ सर्ग

कृत्रिम इन्द्र वाक्य वर्णन

सूर्य ने ब्रह्माजीसे कहा,—हे देवेश। इस सम्बन्धमें राजा इन्द्रद्रुम रानी अहल्या और एक ब्राह्मण पुत्र, 'इन्द्र' का इतिहास सुनने ही योग्य है। यह तीनों एक ही नगर के निवासी थे। इनको किमी कथा वार्ताके प्रसङ्गमें गौतम ऋषिकी पत्नी अहल्या और इन्द्रभगवान की कथा सुननेका अवसर मिला। तब उसकी एक सखी ने कहा,—रानी जी। पहली अहल्या के समान ही आप हैं और उस इन्द्र के समान आपही के नगर में एक इन्द्र नाम का ब्राह्मण दर्शनीय है। आप उसका एक बार अवश्य दर्शन कीजिए। रानीको उस ब्राह्मण के प्रति अनुराग हो गया। पर उससे साक्षात्कार न होने से रानी का शरीर कृशित होकर पीला पड़ गया। इससे राजाने समझा कि रानी को कोई रोग हो गया है। वह औषधि कराने लगा। किन्तु रानी इन्द्र के वियोग में दिन रात तड़पा करती और चारपाई पर पड़े २ हाथ इन्द्र। २ हाथ इन्द्र। 'पुकारा करती' थी। तब उसकी एक सखीने विचार कर कहा, रानी जी। आज मैं इन्द्र ब्राह्मण का आपसे साक्षात्कार करा दूंगी। ऐसा कह कर वह सखी अपने घर आई और जब रात हुई तब इन्द्र ब्राह्मण को समझा बुझाकर रानी के पास ले गई। इन्द्र को देखते ही रानी ने प्रेम पूर्वक उसका स्वागत किया और एकान्त पा कर दोनों प्रसन्न हुए। उसी दिन से उन दोनों का प्रेम दर्शन होता रहा। प्रद्युम्न, रानी का पति बड़ा

ही गुणज्ञ था तथापि रानी ने उसका परित्याग न करके अपना प्रेम स्थिर रखा । पर अधिक दिन भी न व्यतीत हुआ था कि, राजा को इसका पता चल गया । तब वह दोनो को अनेक प्रकार से दंड देने लगा । पर वे दोनों अपने प्रेममें ऐसे मग्न थे कि, उस दण्ड से तनिक भी दुखी न होते । इस पर राजाने कारण पूछा तो इन्द्र ब्राह्मण ने कहा,—हे राजन् ! हम तो अपने को जानते ही नहीं कि हम क्या हैं । हमको तो सर्वत्र अहल्या ही भासती है । रानी ने कहा, हमको भी सर्वत्र इन्द्र ही भासता है, फिर दूसरा दुख कैसे होगा । आप चाहे कितना भी दण्ड क्यों न दे पर हमको रंच मात्र भी कष्ट नहीं पहुँचता । यह सुनकर राजा को और भी क्रोध आया और उसने रानी को बंधवाकर अग्नि में छोड़वा दिया । फिर हाथी के पैरो तले डाल दिया । पर न तो वह अग्निसे जली और न हाथीके पाँव सेही कुचली जासकी । इस प्रकार जब उसे तनिक भी कष्ट न पहुँचा तब राजा ने फिर 'पूछा' तो इन्द्र ब्राह्मण ने कहा,—हे राजन ! जितना कुछ जगज्जाल है, सब मन में ही स्थित है और मन के अनुसार ही पुरुपरूप है । फिर हमको दण्ड से दुःख क्यों होगा ? हमारे हृदय में तो परस्पर की प्रतिमा है । हमको अनिष्ट कुछ नहीं है, यदि अनिष्ट होता तो दुःख भी अवश्य होता । हे राजन ! मन के निश्चय को कोई दूर नहीं कर सकता । शरीर भले ही नष्ट हो जाय, पर मन का निश्चय अटल है । मन की तीव्र संवेदना तो वर और शाप से भी नहीं दूर होती । रानी की मूर्ति मेरे हृदय में स्थिरीभूत है और मेरी मूर्ति रानी के हृदय में स्थिर है । रानी को चारो ओर जगत में मैं ही मैं भासता हूँ और मुझे रानी ही भासती है । यदि दूसरा कुछ भासित होता तो दुःख भी होता । पर जैसे लोहकोटमें कोई दुःख नहीं हो सकता, वैसे ही मुझको कोई दुःख नहीं दे सकता । मैं जहाँ भी जाता हूँ, वहाँ मुझे अहल्या ही दीखती है । इससे अहल्या ही मेरा मन है और यह सारा जगत मनसे ही उत्पन्न हुआ है । मनके दृढ़ निश्चयके

अनुसार ही सब कुछ भासता है। मन ही सुमेरु पर्वतके समान स्थिर होकर कदापि नष्ट नहीं होता। जिस प्रकार फूल, फल और पत्तों के नाश होने से वृक्ष का नाश नहीं होता, उसी प्रकार शरीर के नष्ट होनेसे मनका दृढ निश्चय नष्ट नहीं होता। क्योंकि सबका बीज और सब पदार्थों का कारण मन ही है। यह जिघ्र जाता है सब और मुझे रानी ही रानी भासती है। फिर मुझे दुःख किस बातका होगा ?

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७४ ॥

पचहत्तरवाँ सर्ग ।

अहल्यानुराग की समाप्ति वणन

इन्द्र की ऐसी बात सुनकर राजाको बड़ा क्रोध आया। उन्होंने महर्षि भरत से जो वहाँ उपस्थित थे कहा, कि आप इस पापीको ऐसा शाप दे दीजिए कि, यह अभी मर जाय और आज से इसका नाम मिट जाय। क्योंकि यह बड़ा ही धृष्ट है। पापीको न मारना दोष है, इससे आप इन्द्र और रानी दोनों पापियोंको अपने शाप बलसे भस्म कर दीजिए। फिर तो राजा की ऐसी बात सुनकर मुनि ने शाप दे दिया। 'उस शाप को सुनकर इन्द्र ब्राह्मण ने कहा, मूर्खों ! तुम्हारे शाप से क्या होगा ? मेरा शरीर भले ही नष्ट हो जाय, पर मन तो ऐसा ही रहेगा ? तुम्हारे सभी यत्न विफल होंगे और हम अपने इस मन से पुनः नवीन शरीरधारण कर लेंगे। यह कहकर इन्द्र और रानी दोनों ही वृक्षकी भाँति पृथ्वी पर गिर पड़े और उनके प्राण पखेरू उड़ गये। पर वासना के सयोग से वे दोनों फिर सृग और सृगी होकर जन्म लिये। जब वह शरीर छूटा तब पत्नी हुए और अब वही दोनों ब्राह्मण कुलमें जन्म लेकर हमारी सृष्टि में तप कर रहे हैं। हे वशिष्ठ जी ! आप देखिए कि भरत मुनि के शाप से केवल उनका शरीर ही नष्ट हुआ और मनका निश्चय नहीं नष्ट हुआ। यही कारण है कि वे दोनों साथ २ जन्म लेकर प्रेम से रहते आए।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७५ ॥

छिहत्तरवाँ सर्ग ।

जीवक्रमोपदेश वर्णन

हे वशिष्ठजी ! इस प्रकार आप देखिए कि, मन के अनुसार ही आगे भासता है। इससे मन ही जगतका कर्ता है और शरीरका कर्ता नहीं है। इस मन के निश्चय को मिटाने के लिए कोई भी औपधि उपयुक्त नहीं है। जैसे मणि की परछाईं दूर करने के लिये मणि को ही उठा लिया जाय, ऐसे ही मनके दृढ निश्चयको दूर करनेके लिये मनको ही पलट देना चाहिये। हे वशिष्ठजी ! इतना कहकर सूर्य ने मुझसे कहा कि, इसी प्रकार अब आप भी चिदाकाश में सृष्टिकी रचना कीजिये। चिदाकाश अनन्त रूप है। उसमें अधिक से अधिक इच्छानुसार सृष्टि आप कर सकते हैं। तब मैंने कहा, हे सूर्य ! तुम्हारे विचार से ज्ञात होता है कि, भूताकाश, चित्ताकाश और चिदाकाश यह तीन आकाश हैं। अच्छा, अब मैं अपना नित्यनेमित्तिक कर्म करता हूँ, पर तुम भी मेरी एक बात मानो। हमारी सृष्टिके तुम्हीं मनु प्रजापति हो जावो और तुम्हीं इच्छानुसार सृष्टिकी रचना भी करो। हे वशिष्ठजी ! फिर तो सूर्य ने अपने शरीर का दो भाग कर, एक को पूर्णकी सृष्टि का सूर्य और दूसरे को स्वायंभुव मनु बना दिया। फिर उन्होंने समस्त सृष्टि को उत्पन्न किया। हे वशिष्ठजी ! इसीसे मैं कहता हूँ कि, इस जगत की रचना मनने ही की है। मनके दृढ निश्चयके अनुसार ही सफलता होती है। इन्द्र ब्राह्मण की सृष्टि भी ऐसी ही थी। यह चित्त आत्मा का किञ्चन रूप है और अपनी स्फूर्ति के अनुसार ही भासता है। आदि शुद्ध सवितमें जो उत्थान हुआ है, वही अन्तवाहक शरीर है। उसका दृढाभ्यास एवं स्वरूप का प्रमाद होना ही आधिभौतिक शरीरका होना है। अभिमानी होने ही जीव कहते हैं। शरीराभिमान, वासना से ही उसीके अनुसार जीव आत्मा तो

शरीरादि सहित सब दृश्य स्वयम् ही शान्त हो जायेंगे। अतएव हे मुनि! यह सब तो केवल दृश्यभ्रम से है। अन्यथा न कोई उत्पन्न हुआ है और न कोई जगत है। यह सब चित्तका रचा हुआ भ्रम है। आत्मा का सूच्चा बोध हो जाये तो शरीरादि से लेकर सभी प्रपंच स्वयम नष्ट हो जायेंगे। केवल चित्तके फुरनेसे अहं त्वं भ्रमसे भासते हैं। हे वशिष्ठ जी। जिस माँति इन्द्र ब्राह्मणके दशो पुत्र मनके दृढ निश्चयसे ब्रह्मा रूप हो गए, उसी प्रकार मैं भी ब्रह्मा हूँ। इस मनके जड़ और चेतन दो प्रकार के रूप हैं। जड़ का रूप दृश्य और मन का रूप चेतन ब्रह्म है। यही दृश्य की ओर फुरनेसे दृश्य रूप और चेतनकी ओर फुरने से जड़भाव नष्ट होकर चेतन ब्रह्म हो जाता है। जड़भावमें फुरने ही से नाना प्रकार का जगत दीखता है। अन्यथा ब्रह्मादितृण पर्यंत सब चेतन रूप ही है। जड़ में चित्त का अभाव है। जिस प्रकार काष्ठ में चित्त नहीं जान पड़ता और प्राणधारियोंमें जान पड़ता है। और स्वरूप दोनों का ही समान है, वैसे ही सब परमात्मा द्वारा ही प्रकाशित है और चेतन रूप है। यदि चेतनरूप न होते तो भासित ही न होते अतः ब्रह्मामें जो चेतना हुई, वही मन है और उसका चेतन भाव ही ब्रह्मा है। जड़भाव अवोध है। इसी से दृश्यभ्रम होता है और चेतन भावमें स्थित होने पर शुद्ध रूप होता है। चेतनमात्र में अहंकारका उत्थान ही दृश्य है। अल्प या परमार्थ में कोई भेद नहीं। जल और तरंग के समान ही अहं व चेतन मात्रमें भिन्नता नहीं है। ब्रह्मामें ही सबकी प्रतीति है। वही परमात्मा है, वही सब दुःखोंसे परे है। फिर जब वही शुद्ध चित्त जीव, चेत्यभाव को चेतता है तभी उसे जड़भाव दिखलाई पड़ता है। स्वप्न में मरणके समान ही वह चित्त जड़भाव को देखता है। अतः आत्मा ही सर्व शक्तिमान है। सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करता, पर उसके समान और कोई नहीं है। उसमें जब तक अज्ञानता है तभी तक नाना प्रकार का जगत भासित होता है। आत्म ज्ञान होने ही जगत भ्रम नष्ट हो जाता है। क्योंकि यह

भ्रम तो केवल चित्त ही से है। चित्त के निश्चयानुसार होकर भासता है। जिसको शरीर की भावना रहती है, वह शरीर ही के लिए नित्यशः चेषित रहता हुआ चिरकाल पर्यंत कष्ट पाता है। पर जो शरीर से निवृत्त होकर शुद्ध चैतन्य भाव को प्राप्त करता है, उसको शरीरादिक जगत भ्रम नहीं रहता।

धी योगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का छिद्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७६ ॥

सतहत्तरवाँ सर्ग

ब्रह्माजी द्वारा मन माहात्म्य वर्णन

वशिष्ठजीने कहा,—हे रामजी ! ब्रह्माजी के ऐसा कहने पर मैंने उनसे फिर पूछा कि, हे भगवन् ! यह कैसे हो सकता है कि देह को तो शाप हो और मन को न हो ? मन और देह तो अनन्य रूप हैं यदि आप कहे कि, देह कुछ वस्तु नहीं, चैतन्य ही चित्त है तो एक के नष्ट होने से दोनों ही क्यों नहीं नष्ट हो जाते। मेरे विचारसे तो जब शरीर को शाप लगा तब मन को भी लगना चाहिये। पर आप कहते हैं कि शरीर का कर्म मन को नहीं लगता। यह कैसे ? ब्रह्माजी ने उत्तर दिया कि, हे महा मुने ! जगतमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो समस्त कर्मों को छोड़कर पुण्ड्यरूप पुरुषार्थ करने से सिद्ध हो। क्योंकि पुरुषार्थ ही से सब कुछ होता है। जितने भी रूप हैं, सब भावना से ही भासते हैं। हे मुनीश्वर—इस जगत के दो शरीर हैं। एक का नाम अत्यंत चञ्चल 'मन' है और दूसरे का आधिभौतिक मांसमय शरीर है। इसमें शरीर का फल निष्फल है और मन की चेष्टा सुफल है। शाप उस पुरुष को लगता है जो मांसमय शरीर में अहंकार रखता जो गूंगे दीन और हैं वे दीन रहते हैं। यह और महा चंचल है मे करना बड़ा कठिन है। मैं दृढ-म्य वश हो सकता है। १, २ इसमें (

होता है वैसे-ही-वैसा भासता है। पर मांसमय शरीर कुछ नहीं कर सकता और मन का निश्चय भी दूर नहीं होता। यदि चित्त आत्मपद में स्थिर हो जाय तो अग्निमें जलनेपर भी कुछ दुःख नहीं हो सकता। क्योंकि चित्तको शरीरादि का भाव ग्राह्य तो रहता नहीं। वह केवल आत्मा में ही स्थित रहता है। इससे समस्त भावनाओंका त्यागकर मन जिसमें निश्चय हो, वही भासता है। दृढ़ निश्चयीको अन्य दुःख कैसे होगा ? यदि किसी शापसे मनको कष्ट पहुँचे तो समझना चाहिए कि वह दृढ़त. नहीं लगा था। अभ्यास में शिथिलता थी। क्योंकि सृष्टि दास मानसी है और मनको हिलाने में किसी पदार्थ की शक्ति पर्याप्त नहीं है। अतः मनमें मन को लेजाकर चित्त को परमपद में ही लगाना चाहिए। यदि चित्त आत्मा में दृढ़ हो जाय तो जगतके पदार्थ उसे चलायमान नहीं कर सकते। यही तो बात थी कि, माण्डव्य ऋषि को सूलीपर लटकनेपर भी खेद न हुआ। क्योंकि उनका मन तो और कहीं था। इसी प्रकार मनकी स्थिरतासे ही इन्द्रवाह्यण को भी कष्ट न हुआ। हे महामुने। दीर्घतपा नामके एक ऋषि थे। एक दिन अन्धकार में वे किसी कूयें में गिर पड़े और उसमें मन को दृढ़ कर यज्ञ करने लगे। उस यज्ञ का ऐसा प्रभाव हुआ कि वह मन में देवता होकर इन्द्रपुरी में फल भोगने लगे। ऐसे ही इन्द्रवाह्यण के दशों पुत्र जो मनुष्य ही थे, मनमें ब्रम्हाकी भावना से दश ब्रम्हा हो गये और उन्होंने दश सृष्टिको रच डाला। अब वह सृष्टि मुझसे खण्डित नहीं हो पाती। अस्तु दृढ़ अभ्यास नष्ट नहीं हो सकता। भावना ही सब कुछ है। उल्लूको सूर्यमें भी अन्धकार ही दिखलाता है और कितनों को चन्द्रमा की किरणें भी अग्निरूप भासती हैं। किसी २ को अमृत में विष की भावना होती है और किसी को विष में भी अमृत टपकता है। ऐसे ही कटु, आम्ल और लवण भी भावना के ही अनुसार भासित हैं। पर मन रूपी बाजीगर जैसा चाहता है वैसे रच लेता है। इससे मनका रचा हुआ जगत न तो सत्य है और

न असत्य है। प्रत्यक्ष सुननेसे तो सत्य है पर नष्ट भावसे असत्य है। किन्तु यह सत्य असत्य भी केवल मन से भासता है। इसकी कोई वास्तविकता नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्तः ॥७७॥

अठहत्तरवाँ सर्ग

वासना का त्याग

हे राम जी ! सर्व प्रथम अहं शब्द में जो ब्रह्म स्थित था, उसमें यह अस्मि चेतना के लक्षणो संयुक्त चित्त उत्पन्न हुआ। फिर जब दृढ हो गया तब वही मन हुआ। वही मन पञ्चतन्मात्रा की कल्पना कर ज्योतिस्वरूप ब्रह्मा कहलाने लगा। वही ब्रह्मा मन का रूप है और मन ही ब्रह्मारूप है। पर वह संकल्परूप ही है। क्योंकि उसने विद्या अविद्या शक्ति की कल्पना किया। अभिमान अविद्या है और इसकी निवृत्ति ही विद्या है। पहाड़, तृण, समुद्र और जल इत्यादिक स्थावरजगम समस्त जगत को उसीने उत्पन्न किया है। हे राम जी ! अब जगत की उत्पत्ति और नष्टता की बात सुनो। समुद्र में तरंग के समान ही यह सब जगत ब्रह्मा में उत्पन्न और लीन होता है। शुद्ध आत्मसत्ता में जो अहंभाव है, वही मन और वही ब्रह्मा है। उसीने सर्व चित्त संयुक्त विस्तारित शक्ति वाले नाना प्रकार के जगत को रचा है। चित्त के फुरने से ही नानात्व भासता है। अन्यथा समस्त जीवों में आत्मसत्ता स्थित है। स्वरूपके प्रमाद से भटकते हैं। पर यदि सत्संग की प्राप्ति हो तो मुक्ति हो जाय। तात्पर्य यह कि ज्ञान की प्राप्ति होने पर ही दृश्य भ्रम से छुटकारा मिल सकता है, अन्यथा नहीं। हे राम जी ! वासना अनन्त सकटोका कारण है। यही नाना प्रकार का भ्रम दिखला रही है। इसको ज्ञान कुठार से काटकर इसका क्षोभ मिटा दिया जाय तो शरीर रूपी अंकुर मनरूपी बीज से उत्पन्न ही न हो वे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥७७॥

उन्यासीवाँ सर्ग ।

सर्व ब्रह्म प्रतिपादन

वशिष्ठजी बोले,—हे रामजी । समस्त भूतोसेही ब्रह्मकी उत्पत्ति होती है । जैसे छोटे, बड़े और मध्य आकारके बुद्बुदेमे ही जल उत्पन्न होता है और वह जल रूप ही है, वैसेही यह समस्त जीव ब्रह्म से उत्पन्न हुये हैं और ब्रह्मरूप ही हैं । जैसे अग्नि से चिन्गारियाँ उत्पन्न होनी हैं वैसेही ब्रह्म से जीव उत्पन्न होते हैं । जैसे कल्पवृक्ष की लता नाना प्रकार का रूप धारण करती है, वैसेही ब्रह्म से जीव हुये हैं । जैसे चन्द्रमा से ही क्रिणो का विस्तार होता है और पत्र, फल, फूल आदिक वृक्ष से ही उत्पन्न होते हैं, वैसेही ब्रह्म से जीव उत्पन्न हुआ है । केवल सवेदन के फुरने में जीव की कल्पना होती है । जैसे द्रवना से जल ही तरंग रूप जान पडता है, वैसे ही ब्रह्मही सवेदनमे जगतरूप भासित होता है । द्रष्टा, दर्शन, दृश्य, ब्रह्म से ही उत्पन्न हुये हैं । जैसे सूर्य के तेजमें मृगतृष्णा की नदी भासती है । वैसेही सवेदन से ब्रह्म में द्रष्टा, दर्शन, दृश्य-त्रिपुटी भासती है । पर वास्तवमे इनकी कोई कल्पना नहीं है । जैसे चन्द्रमा और शीतलता मे और सूर्य व प्रकाश मे कोई अन्तर नहीं है, वैसेही ब्रह्म और जगत मे कोई अन्तर नहीं है । वह समस्त जीव ब्रह्म से ही उत्पन्न होकर ब्रह्म हीमें लीन हो जाते हैं । अतः यह जगत परमात्मा से हुआ है और उसी की इच्छानुसार सब व्यवहरते हैं ।

श्री योगवशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का उन्यासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७३ ॥

अरसीवाँ सर्ग ।

मन और कम

वशिष्ठ जी बोले,—हे रामजी । यह जो मेने कहा है कि सब जीव ब्रह्म से उत्पन्न हुये हैं, वह अज्ञानियों को बोध होने के लिए है । पर इसमे सात्विक, रजसु, तामस गुण से अनेक

भेद स्थित है। इसी से ज्ञानियों के प्रति यह कहते नहीं बनना कि, जीव ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं। परन्तु दूसरा भी कुछ नहीं है। ब्रह्म मत्ता में कोई कल्पना नहीं है। वह सर्वदा अपने स्वभाव में स्थित है। ज्ञानियों को सर्वदा ऐसा ही जान पड़ता है। पर अज्ञानी तो बहुत दूर चला जाता है। वह नहीं जानता कि, जैसे वसन्त ऋतु में नवीन अंकुर उत्पन्न होते हैं, वैसे ही चित्त की स्फूर्ति से जीव उत्पन्न होते हैं। हे रामजी ! मन और कर्म में कोई भेद नहीं है। यह दोनों इकट्ठे ही आत्मा में उत्पन्न हुये हैं और इकट्ठे ही आत्मामें लीन हो जाते हैं। देव, दानव, नाग, मनुष्य इत्यादिक जितने जीव हैं, सब आत्मा से ही उत्पन्न हुये हैं और आत्मा ही में लीन हो जाते हैं। इनके उत्पन्न होने का कारण अज्ञान है। यह सुन कर राम जी ने पूछा,—हे भगवन् ! इससे तो यह जान पड़ता है कि, शास्त्र प्रमाणों से सिद्ध किये हुये सभी पदार्थ सत्य हैं और शास्त्र प्रमाण भी वह है जो राग-द्वेष से रहित निर्णय करता हो और जिसने दम्भ रहित गुणों का प्रतिपादन किया हो। उसके अनुसार विचरनेवाले जीव सद्गति को प्राप्त होते हैं और विपरीत आचरण करने वाले अशुभ गतिको प्राप्त होते हैं। लोकमें भी यह कहावत है कि, कर्मानुसार ही जीव उत्पन्न होते हैं और जेसा बीज होता है वैसे ही अंकुर उत्पन्न होते हैं। ऐसे ही कर्मानुसार जीव अपनी गतिको प्राप्त करता है। कर्तासे ही कर्म है, इससे यह दोनों अभिन्न हैं। फिर यह दोनों इकट्ठा कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि कर्तासे कर्म है और कर्मसे गति है। आपका कहना है कि, मन और कर्म ब्रह्म से उत्पन्न हुये हैं। पर यह मान लेने से तो शास्त्रकारों का बचन अप्रमाणित हो जाता है। अतः आप मेरे इस संदेहको दूर कीजिए और जो सत्य हो वैसे ही कहिए। वशिष्ठजी कहने लगे,—हे रामजी ! आपने यह अञ्छा प्रश्न किया है। अब मैं इसका वह उत्तर देता हूँ। कि जिसके सुननेसे तुमको पूरा ज्ञान हो जायगा। हे रामजी ! उस सवितमात्र आत्मतत्त्व में जो

संवेदन कुरा है, वही कर्म का बीज मन हुआ है और वही सबका कर्म रूप है और उसी बीज से सब फल होते हैं। इससे कर्म और मन में कोई भेद नहीं है। क्योंकि प्रथम वाला शरीर मनही है और उस मनरूपी शरीर से ही कर्म होते हैं। मनकी स्फूर्ति ही क्रिया और कर्म है और मन से ही इन दोनोंकी मिद्धि होती है, अन्यथा नहीं। कर्मों से छूटने के लिए कोई स्थान नहीं है। मन का संकल्प अवश्य सिद्ध होगा और पूर्व पुरुषार्थ भी निष्फल नहीं होगा। वह अवश्य मिलता है। हे रामजी ! ब्रह्म से चेत्यभाव ही मन और कर्म रूप है और वही समस्त लोको का बीज है। प्राणी एक देश से दूसरे देश में जाते हैं, वह क्या है ? वह भी तो मनका ही संकल्प है और संकल्पही उसे ले जाता है ? वहाँ जाना ही कर्म है। इससे कर्म स्फूर्तिरूप है और मन भी स्फूर्तिरूप है। मन और कर्म में कोई अन्तर नहीं है। मन जैसे फुरता है और जो कुछ मनमें कार्य करता है, वही सिद्ध होता है, न कि शरीर की चेष्टा। अतः मन और कर्म में कोई भेद नहीं है। परन्तु जो भिन्नता जान पड़ती है, वह एक मिथ्या कल्पना मात्र है। ऐसी कल्पना मूर्ख करते हैं। बुद्धिमान नहीं। क्योंकि प्रथम परमात्मा में मन और कर्म इकट्ठे ही उत्पन्न हुये हैं और समुद्र में तरंग की लीनता के समान ही मन और कर्म परमात्मा में लीन हो जाते हैं। इससे यह दोनों परस्पर अकिंचन रूप हैं।)

श्री योगेशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का अस्तीर्वाँ सर्ग समाप्त ॥ ८० ॥

इक्कीसवाँ सर्ग ।

मन-सज्ञा-विचार वर्णन

हे रामजी ! यह मन भावना मात्र है। भावना कहते हैं फुरने को और फुरना क्रिया का रूप है। उम फुरने की क्रिया से समस्त फल प्राप्त होते हैं। रामजीने कहा,—हे विप्रवर ! अब इस जड़ अजड़ रूपी मनका विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिए । वशिष्ठजी कहने लगे,—हे राम !

आत्मतत्त्व अनंत रूप और वह सर्व शक्तिमान है । उसमें संकल्प का फुरना ही मन है । जड़ अजड़के बीचमें जो थोड़ा-थोड़ा हिलता है, उस मिले हुये रूप का नाम ही मन है । हे रामजी । जो भावरूपी पदार्थों के मध्य में सत्य असत्य का निश्चय करता है उसे मन कहते हैं । मन कल्पना से रहित नहीं हो सकता । जैसे गुणोंके बिना गुणी नहीं रहता, वैसे ही कर्म कल्पना बिना मन नहीं रहता । कर्मों की सत्ता मन से भिन्न नहीं है । इससे मन और आत्मा में कुछ भेद नहीं है । मन बीज है और उसमें संकल्प रूपी बहुत प्रकार के पुष्प हैं । मन की वासना के अनुसार फल प्राप्त होता है । अतः मन का फुरना ही कर्मों का बीज है और भिन्न-भिन्न क्रियाये, उस वृत्त की शाखा और बहुत प्रकार के फल हैं । मन का निश्चय जहाँ-जहाँ जायगा वही-वही इन्द्रियाँ भी प्रवृत्त होगी और जो कर्म है वही मन का फुरना है । इससे मन ही स्फूर्तिरूप है और यही कारण है कि, मन कर्म रूप है । उस मन की कई सजाये हैं । मन, बुद्धि, अहंकार, कर्म कल्पना, स्मृति, वासना, अविद्या, माया और प्रकृति इत्यादिक यह सब मनकी ही संज्ञा है । अतः संसारका कारण मनकी कल्पना ही है । चित्त को चेत्य का संयोग होनेपर ही संसार भ्रम होता है । अन्यथा जितनी सजाये कही हैं, सब चित्त के फुरने से अकस्मात् फुरती हैं । यह सुनकर रामजी ने कहा, हे भगवन् । उस अद्वैत संवित् आकाश में इतनी कल्पना कैसे हो गई और वह अर्थ संयुक्त दृढ कैसे है ? वाशिष्ठजी ने उत्तर दिया कि, हे राघव । वह शुद्ध सत्ता जो केवल फुरने से ही स्थित है, उसी को मन कहते हैं । जब वह मनाभाव हो जाती है, तब पदार्थों का निश्चय करती है । तब उसीको बुद्धि कहते हैं । जब अनात्मा में आत्मभाव परिखिन्नरूप से मिथ्या अभिमान करता है, तब वह अहंकार जाता है । इससे वही अहंबुद्धि संसार के बन्धन का वही पदार्थों को ग्रहण करती और वही त्याग करती है । धर्म है फुरना और उस

फुरनेमें ही वह फलकी और दौडती है। इसीसे उसको कर्तव्य का अभिमान हुआ और वह फुरना कर्म हुआ। फिर स्मृति उसको कहते हैं कि जो पूर्वकर्मों का स्मरण चित्त में आवे या पूर्वमें जिसका अनुभव न हुआ हो और हृदय में यह आवे कि, पहले मैंने अमुक कर्म किये हैं, इसीको स्मृति कहते हैं। जिस अनुभव किये पदार्थका सस्कार हृदयमें दृढ हो और उसके अनुसार चित्त में स्फूर्ति हो, उसको वासना कहते हैं। हे राघव। यद्यपि आत्ममत्ता अद्वैत और अविद्यमान है किन्तु विद्यमान हुआ जान पड़ता है, इसीमें उमको अविद्या कहते हैं। और निज स्वरूप को मुलाकर जो शुद्धात्मा अपने नाशके लिए चेष्टा करता है या उसमें जो विकल्प होता है उसको अविद्या कहते हैं। यही पाँचो इन्द्रियों को दिखलाने वाला परमात्मा है। हे रामजी। आत्मा में जो दृढ जाल को रचती है उस स्पन्दकला को प्रकृति कहते हैं। और जो सत्य अमत्य को और जो अमत्य सत्य को दिखाती है, उसका नाम माया है। अस्तु इन्द्रियों का अनुभव करना ही कर्म है और उसी को कर्ता कार्य और कारण भी कहना चाहिए। क्योंकि जो चेतना-शक्ति शुद्ध चेतन कलना की नाई प्राप्त होती है, उस फुरणावृत्ति का नाम विपर्यय है। जब उसमें सकल्प का जाल उठता है, तभी वह जीव होता है। उसी को मन कहते हैं और उमी को चित्त कहते हैं और उसी को बन्ध कहते हैं। रामजी ने पूछा कि, हे मुनिनाथ। मन जड है या चेतन? वशिष्ठजीने उत्तर दिया,—हे रामजी। मन चेतन, जड कुछ नहीं है। जड और चेतन की गोंठ के मध्यको मन कहते हैं और सकल्प विकल्प की फल्पना ही मन है। यह जगत उसी मन से उत्पन्न हुआ है और जड तथा चेतन दोनों भावों में चलायमान है। कभी तो वह जडभाव की ओर जाता है और कभी चेतन की ओर चला जाता है। इससे शुद्ध चेतनमात्र में जो स्फूर्ति हुई है उसी को मन कहते हैं। इस मन की अनेक संज्ञायें हैं। जैसे कोई नट अनेक स्वाँग रचनेसे अनेक संज्ञा पाता है, वैसेही संकल्पसे मन अनेक

संज्ञा प्राप्त करता है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और जीव इत्यादिक मनकी ही संज्ञा है। इसके अतिरिक्त सिद्धांतवादियों ने अपने-अपने सिद्धांतानुसार मनकी और भी अनेक संज्ञायें की हैं। पर यह केवल थोथी कल्पनायें हैं अन्यथा सबका सिद्धांत एक ब्रह्म आत्मतत्त्व से ही है। हे रामजी ! नैयायिक या मांख्यमतावलम्बी अथवा चार्वाक, आर्हत, बौद्ध और पञ्च-रात्रिक सिद्धांतवादी जितने हैं, सब अपने ही मत को उत्तम समझ कर अन्य मतावलम्बियों का अपमा करते हैं। वे अपने-अपने मार्ग को ही पुष्ट बनाते हैं और दूसरे का नहीं मानते। इसी प्रकार मन के भिन्न २ रूप से अनेक प्रकार का जगत है। एक मन को अनेक संज्ञा और अनेक शक्ति है। मन को ही जीव, वासना और कर्म कहते हैं। यह समस्त जगत मनके ही फुरने से हुआ है और जान पड़ता है। यदि फुरना से रहित हो जाय तो कुछ नहीं है। यह साधारण सी बात है कि इन्द्रियोंके विषय का ही नाम जीव है और सबकी सिद्धि मन से है। अतः अर्थों का कारण केवल मन है। चैत्यभाव से छूटने वाला पुरुष ही मुक्त होता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति प्रकरण का इकरासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८१ ॥

बयासीवाँ सर्ग ।

विदाकाश माहात्म्य वर्णन

इतनी कथा सुन कर रामजी ने वशिष्ठ जी से पूछा कि, हे सर्व विद्याओं के आचार्य ! अब कृपापूर्वक यह बतलाइए कि, मन का अनुभव कैसे किया जाय ? वशिष्ठ जी कहने लगे,—हे रामजी ! मन केवल भावना मात्र है। मरुस्थल में जल के समान ही आत्मा का आभास रूप मन है। मन से ही सब जगत भासित होता है। इससे सब मनका ही रूप है। मनुष्य, देवता, पक्षी, गन्धर्व और नागपुर आदिक जो कुछ भासते हैं, सब मन से ही विस्तार पाते हैं। किन्तु वे तृण और काष्ठ के समान हैं। अतः उनका विचार ही क्या है ? सब तो मन की ही रचना है और वह मन भी अविचार से है। विचार

करनेसे नष्ट हो जाता है। मन का नाश होनेपर तो परमेश्वर ही शेष रहता है, और सबका आश्रयदाता वही है। उसीके प्रमाद वश मन जगत की रचना करता है। इसीलिए मैंने कहा है कि, मन और कर्म एक ही रूप हैं और यही शरीर का कारण है। जन्म मरण आदिक विकार मन से ही जान पड़ते हैं। और मन की सिद्धि अविचार से है। विचार करने से नष्ट हो जाता है। मन के नष्ट होने पर कर्म आदि के सभी भ्रम नष्ट हो जाते हैं। भ्रम से छूटना ही मुक्त होना है। जो पुरुष मुक्त है, वह जन्म मरण के बन्धन में नहीं फँसता। उसका सब भ्रम नष्ट हो जाता है। रामजी बोले,—हे भगवन् ! सात्त्विक, राजसी और तामसी तीन प्रकारके जीव हैं। उनका प्रथम कारण सत्य असत्य रूपी मन है। वह मन अशुद्ध रूप शुद्ध चिन्मात्र तत्व से उपजाकर बड़े विस्तार युक्त इस विचित्र जगत को कैसे प्राप्त हुआ ? वशिष्ठजी ने कहा, हे रामजी ! यह मैं पहले कई बार बतला चुका हूँ कि आकाश तीन है। वह आकाश भाव से समान रूप है और सब में अपनी अपनी सत्ता ही है। उसमें चिदाकाश बोधरूप और सब भूतों में सर्वव्यापी है और सर्व भूतों का कारण रूप है। पर इन सबको जो विस्तार दे चुका है, वह चित्ताकाश है। भूताकाश वह है जो दशों दिशाओं को विस्तार कर स्वतः शून्य है और जिसका स्वरूप पवन आदि भूतोंका आश्रयीभूत है। हे रामजी ! चिदाकाश और भूताकाश दोनों ही चिदाकाश से उत्पन्न हुये हैं। पर इन तीनों आकाशों का विषय अज्ञानियों के लिए है, ज्ञानी के लिये नहीं। ज्ञानी को तो केवल एक परब्रह्म पूर्ण सब कलनासे रहित भासित होता है। द्रौत अद्रौत शब्द केवल उपदेश करने के लिए है। प्रसोधके लिए नहीं। हे रामजी ! जब तक शुद्धात्मा न हो जावे तब तक के लिए ही मैं तीन आकाश कहता हूँ। वास्तवमें कोई कल्पना नहीं है। जैसे दावाग्नि लगने से बन जलकर शून्य जान पड़ता है, वैसे ही ज्ञान से जले हुये चित्ताकाश और भूताकाश शून्य भासते हैं।

तीरासीवाँ सर्ग ।

चित्तकी व्यग्रता

हे रामजी ! यह जितनी उत्पत्तियाँ हैं, सब मनने ही उत्पन्न किया है। पर यह चाहे जैसे उत्पन्न हुआ हो, अब तुम इससे निवृत्त होने का यत्न करो। जब आत्मपदमे चित्तको मिला दोगे तब जगत-भ्रम स्वयम् ही नष्ट हो जायगा। हे रामजी ! इम चित्त के सम्बन्ध मे एक प्राचीन आख्यान है, सुनो। जैसा मैंने देखा है, वैसा कहता हूँ। एक शून्य वन के किसी कोने मे यह आकाश स्थित है। एक दिन उसमे मैंने देखा कि एक अत्यन्त चंचल और व्याकुल पुरुष सहश्र भुजधारी और विशाल शरीर वाला बैठा हुआ अपने शरीर को ही ताड़ित कर रहा था। ताड़ित होकर वह स्वयम् ही बहुत योजनो पर्यत भागता और दौड़ता हुआ जाता था परन्तु थक जाने से गिर पड़ता और अग चूर्णित हो जाते थे। कभी-कभी वह दौड़ता हुआ किसी अंधेरे में जा गिरता और बहुत काल बीतने पर करंजुवे के वन मे पहुँचता और वहाँ पार्वी मे काँटों के चुमने से बहुत कष्ट पाता था। वहाँ से निकलने पर भी वह अपने हाथो से अपने शरीर पर प्रहार करके कष्टमान होता था। निदान कही भी वह जाता शांति न मिलती। तब कदली वन में जाकर शांति पाता था। इम भाँति जब मैंने देखा कि, वह स्वयम् ही कष्ट पा रहा है, तब मैंने उसको पकड़कर पूछा कि, तू कौन है और यह क्या करता है ? तेरा क्या नाम है और यह तू किस लिये करता है। उसने कहा, न कुछ मैं हूँ, न कुछ यह है, न मे कुछ करता हूँ। पर तू मेरी शत्रु है। क्योंकि मैं तेरे देखने से नाश को प्राप्त होता हूँ। हे रामजी ! ऐसा कह कर वह अपने अंगों को देखते हुये रोने लगा। फिर तो क्षण मात्र में उसके शरीर के प्रत्येक अवयव कट-कट कर स्वतः पृथ्वी पर गिर पडे और उस महापुरुष ने अपने शरीर को त्याग दिया। तब वहाँ से आगे

वह कर मैंने देखा कि एक और पुरुष उसी पुरुष के समान दौड़ता हुआ अपने शरीरको ताड़ित कर रहा है। कुयेंमें गिरता और कदली वनमें जाकर प्रसन्न होता था। वहाँमें खड़ा हुआ देव रहा था कि वह मुझे देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और ठहाका मारकर हँसने लगा। तब उमको रोक कर मैंने उसी भौंति उमका परिचय पूछा। पर उसने भी उसीके समान अपना शरीर त्याग दिया। यह देख कर मैं फिर आगे बढ़ा तो क्या देखता हूँ कि एक और पुरुष ऐसा ही कर रहा है। जब वह अंधेरे कुयें में गिर कर बहुत दिन बाद उससे बाहर निकला तब मैंने प्रसन्न होकर उमी प्रकार उससे पूछा पर उस मूर्ख ने मुझे न पहचाना और चुप रहकर अपना व्यवहार काता ही रहा। इसी प्रकार वहाँ मैंने और भी पुरुषों को देखा कि वह सब भी ऐसा ही व्यवहार करते थे। उनमें से जो मेरे पास आते थे, उनको मैं कष्ट से युक्त कर देता था पर जो मेरे निकट ही नहीं आवें वह ऐसे ही कष्ट भोगा करे। हे रामजी ! जिस अटवी में वे सब कष्ट भोगते थे वह तुमने भी देखा है। पर उमका व्यवहार तुमने नहीं किया। करते भी कैसे, तुम अभी बालक हो और वह अटवी महा भयानक है। उसका प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का तिरासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८३ ॥

चौरासीवाँ सर्ग ।

चित्त-निवृत्ति

यह सुन कर रामजी ने पूछा कि, हे मुनि शार्दूल ! वह कौन अटवी है और मैंने उसे कब देखा है। वह पुरुष कौन थे जो अपने नष्ट होने के लिए ऐसा करते थे ? व शष्ठ जी कहने लगे,—हे रामजी ! न तो वह अटवी दूर है और न वे पुरुष ही दूर हैं। यह बृहदाकार रूपी ससार ही अटवी है और यह आत्मा से मिद्ध होता है। इसमें जितने पुरुष रहते हैं, सब मग्न हैं। इसी अटवी में सब दुस्वरूपी

चेष्टा करते थे और विवेक व ज्ञानरूपी मेरे उनको पकड़ता था। मेरे निकट आनेवाले मेरे प्रकाश से प्रफुल्लित होते थे अर्थात् परमपदको पाते थे पर जो अविवेकी मोहवश मेरा निरादर करते थे वे कष्टमे ही रहते थे। अब उनके अंग और प्रहार व क्रूप और करंजुवे के वन की उपमा सुनो। हे रामजी। विषय की अभिलाषा मन के अंग है और हाथों का प्रहार करना सकाम कर्म करना है। वह जो दूर से दूर दौड़ते थे वही मृतक होना है। वही विवेक का त्याग कर कुयेमे गिरना है। ऐसे ही वे पुरुष अपने से आप प्रहार कर भटकते फिरते हैं और अभिलाषारूपी महश्र अंगीकृत कर बावला और मृतक होकर नरक रूपी क्रूप में पड़े हुये जब बाहर से निकले तब पुण्य कर्मों से स्वर्गमें जा प्राप्त होवे। वही कदली वनके समान है। स्त्री पुत्रकलत्र आदि कौटुम्बिक भ्रंशमें पडना ही करंजुवेका वन है। हे रामजी। यह गृहस्थाश्रम करंजुवे के वन की नाई बडो ही दुःख रूप है। पर मनुष्य ऐसे मूर्ख हैं कि, अपने नाश के लिए ही यत्न करते हैं और अनेक दुःख रूप कर्म वारम्बार किया करते हैं। किन्तु जो उन्हे विहित करके विवेकके निकट पहुँचते हैं वे शुभाशुभ कर्मोंके बन्धन से मुक्त होकर परमपद को प्राप्त होते हैं। पर जो अपने हित के लिए विवेक का साथ नहीं करते वे दूरातिदूर भटका करते हैं। हे रामजी। जो प्राणी भोगके लिए यत्नवान हैं और तपश्चर्यादिक पुण्य कर्म भी करते हैं वे उत्तम शरीर धारण कर स्वर्ग सुख भोगते हैं। हे रामजी। वह पुरुष जिसने देखकर कहा था कि, तुम हमारा शत्रु है, तुमसे हम नष्ट होते हैं इत्यादि, वह विषय भोग त्यागने के लिए मूर्ख 'चित्त' है जो कष्ट पाता है। मूर्ख को विषय में प्रीति होती है इससे वह उसको त्यागने मे कष्टवान होता है। जब वह मूर्ख (चित्त) विवेक को देखता है तब रुदन करता है। क्योंकि वह अधज्ञानी है। उसको परमपद की प्राप्ति नहीं है, इसी से भोगो को छोड़ने मे उसे कष्ट होता है। किन्तु जब मूर्खचित्त विवेकको प्राप्त होता है, तब संतुष्ट

हो जाता है, ऐसाही वह हँसने वाला व्यक्ति था। इससे हे रामजी ! तुम भी विवेक को प्राप्त कर सांसारिक वासनाओं को त्याग दो। तभी सच्चा आनन्द प्राप्त होगा।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का चौरासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८४ ॥

पचासीवाँ सर्ग ।

जीव चिक्वित्सा

वशिष्ठ जी बोले,—हे रामजी ! इस चित्तकी उत्पत्ति, ब्रह्म से है। यह आत्मरूप भी है और नहीं भी है। ज्ञानी के लिए चित्त ब्रह्मरूप ही है, भिन्न कुछ नहीं। पर जो अज्ञानी हैं, उनके लिये तो मनही ससार के भ्रमका कारण है। ज्ञानियों ने आत्म सम्बन्धी जितने भेद कल्पे हैं, केवल अज्ञानियों को समझाने के लिए। अन्यथा उनके लिये तो सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म है। क्योंकि वह सर्व शक्तिमान् परब्रह्म, नित्य, और चारो ओरसे पूर्ण सब कुछ ब्रह्मसत्ता ही विद्यमान है। उसी को सर्वशक्तिमान् आत्मा कहते हैं। वही शक्ति अपनी रुचिके अनुसार प्रयत्न हांती है और वही सभस्त शक्तिरूप होकर विस्तरता है। ज्ञान और चेतनाशक्ति से जीवों में, स्पन्दता से वायुमें, जड़ता से पाषाण में, द्रवता से जल में और आकाश में शून्यता से तथा स्वर्ग, काल, शोक, प्रसन्नता, सर्ग की उत्पत्ति कल्पान्त और वीरों में भावाभाव की जो कुछ भी शक्ति होती है वह सब ब्रह्म से ही होती है। इससे जीव, चित्त और मन इत्यादि की स्थिति ब्रह्म ही में है। उस ब्रह्म का रूप बहुत बृहद् है। उसमें चित्तही मनका रूप है और वही मन ब्रह्म की शक्ति का एक रूप है। अतएव ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। भिन्न की कल्पना करना बड़ी मूर्खता है। हे रामजी ! जैसे तरङ्गचक्र समुद्र की द्रवता से ही भासता है, वैसे ही यह नाना प्रकार का जगत शुद्ध चिन्मात्र मत्ता में जीव के स्फुरित होने से भासित होता है। पर वास्तव में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। केवल ब्रह्मसे स्वतः स्थित

हे । जिस प्रकार तरङ्गों के उठने और लय होने पर भी जल एक रस रहता है । उसी प्रकार जगतोत्पत्ति और प्रलय में भी ब्रह्म ज्यों का त्यों रहता है । अनेक विचित्रतायें उम आत्मतत्त्व में भासित हुआ करती हैं, पर वह सर्वदा अपने आपमें स्थित है । कारण, कर्म, कर्ता और जन्म, मरण इत्यादि जो कुछ है सब ब्रह्म रूप ही है । उससे भिन्न कुछ नहीं है । क्योंकि शुद्ध-स्वरूप आत्मा में न लोभ है, न मोह है और न तृष्णा है । वह अद्वैतरूप सर्वात्मा है । जैसे अनेक प्रकार के भूषणों का जन्मदाता सुवर्ण है, वैसेही नाना प्रकार का जगत ब्रह्म से ही है । ज्ञानी पुरुष को सर्वदा ऐसा ही भासित होता है । पर अज्ञानियों के लिये तो भिन्न-भिन्न कल्पनाही भासती है । जिस प्रकार कोई प्राणी अपने बन्धुओं से पृथक् होकर विदेश जाता है और बहुत दिन बाद लौटने पर देशकाल के बान्धवों को अबान्धव जानता है, उमी प्रकार अज्ञान के व्यवधान से जीव अभिन्न रूप आत्माको भिन्न रूप जानता है । जिस प्रकार भ्रमवश आकाश में दो चन्द्रमा भासित होता है, उसी प्रकार मत्स्य और असत्य रूप होकर मन आत्मा में भासता है । मन ने ही शब्द अर्थ की भिन्न कल्पनायें रची हैं । किन्तु वह आत्मतत्त्वमदेवस्वतः स्थित है । उसमें बन्ध और मोक्षकी कोई कल्पना नहीं है । यह सुनकर रामजीने प्रश्न किया कि, हे गुरु जी । जब मन के निश्चयानुसार ही सब कुछ होता है, तब यदि मन में बन्ध का ही निश्चय हो तो वह बन्ध कैसे सत्य माना जाय । वशिष्ठ जी ने उत्तर दिया कि, हे रामजी । ऐसी कल्पना मूर्ख करते हैं और वह मिथ्या है । और जब वह मिथ्या है तब बन्ध की अपेक्षा से मोक्ष भी मिथ्या है । इससे न तो बन्ध है और न मोक्ष है । केवल अज्ञानसे अवस्तु भी वस्तु जान पड़ती है । उदाहरण के लिये रस्सी का सर्प पर्याप्त जानो । ऐसे ही बन्ध और मोक्षकी कल्पना मूर्खों को भासित होती है । पर ज्ञानीके लिये ऐसा नहीं है । हे राघव ! इस मन की उत्पत्ति आदि परमात्मा है । उसी

ने वन्ध और मोक्ष को मोहके वश होकर कल्पा है। इस दृश्य-प्रपञ्च को भी उसी ने रचा है। अतः वह प्रपञ्च कल्पना मात्र है। और वही बालको को दत्तकथा के समान मूर्खों को रुचिकर होती है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का पचासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ -५ ॥

छियासीवाँ सर्ग ।

बालक की कथा ।

बालक की कथा का नाम सुनकर रघुकुल शिरोमणि रामजी ने पूछा कि,—हे मुनीश्वर ! बालक की कथा कैसे है ? कृपाकर मुझे सुनाइए। वशिष्ठ जी कहने लगे,—हे रामजी ! एक अबोध बालक ने अपनी दासी से कहा कि, मुझे कोई कथा (कहानी) सुना। दासी कहने लगी कि, हे बेटा ! एक राजा के तीन पुत्र थे। तीनों ही बड़े पराक्रमी और उत्साही थे। कारण कि दो पुत्र तो उत्पन्न न हुये थे और एक का गर्भाधान भी न हुआ था। एक दिन उन तीनों ने द्रव्य प्राप्त करने का निश्चय कर किसी निर्जन नगर की ओर विना मार्ग ही के शोकातुर हो बुध, शुक्र और शनैश्वर की भाँति चल दिये। धूप कड़ी थी, इससे वे कोमल बालक राई-पुष्प को भाँति कुम्हिला गए। पावों में छाले पड़ गए। मुखाकृति मलीन हो गई। फिर भी वे साहस के साथ आगे बढ़ते ही गए। कुछ दूर चलकर उन्हें तीन वृक्ष दिखलाई पड़े। तब वे तीनों उमकी घनी छाया में जा बैठे। और उसके फल फूलों को खाकर विश्राम करने लगे। कुछ पुष्पों को उठाकर उन्होंने माला बनाई और गले में पहन लिया। इतने में दोपहर का समय हुआ और उनको कड़ी गर्मी मालूम हुई। इससे घबराकर वे फिर आगे उठ चले। आगे चलकर उन्होंने देखा कि, तीन नदियाँ अपने कल कल ध्वनि से निनाद करती हुई प्रवाहित हो रही हैं। तब दूर ही से नदीकी धारको देखकर वे तीनों उसके निकट पहुँचे तो क्या देखते हैं कि,

नदी सूख रही है और जल केवल एक ही में है। फिर तो उन्होंने उम नदी से इच्छा पूर्वक जल लेकर पान किया और चिरकाल पर्यन्त उसमें क्रीडा करते रहे। इस भौति अधिक समय व्यतीत कर वे वहाँ से निकले तो सुवर्ण जटित विशाल, ध्वजाओं सहित सुमेरु पर्वतके समान एक विशाल भविष्य नगर में जा पहुँचे। वहाँ पहुँच कर उन्होंने भोजन बनाकर ब्राह्मणों को जिमाने का विचार किया। तब उन्होंने सोने की तीन ऐसी बटलोइयाँ जिसमें दो को किसीने रचा भी न था और एक फूटी थी, मँगाई। ऐसी बटलोइयों को पाकर—उन्होंने १६ सेर का भोजन बनाया और विदेह ब्रह्मादि देवों ने व विना मुखवाले तपस्वियों ने भोजन किया। बाद में बहुत से ब्राह्मणों को भोजन कराकर उन तीनों ने भी विधिपूर्वक भोजन किया। हे देवा ! आज तक वे तीनों राज-पुत्र बड़े सुख से जीवन व्यतीत कर रहे हैं। यदि तू इस महत्व पूर्ण कथा को अपने हृदय में स्थान देगा तो बड़ा ज्ञानी होगा। हे रामचन्द्र ! दामी के मुँह से ऐसी कथा सुनकर बालक बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने समझा कि यह कथा बहुत सत्य है। परन्तु जिस प्रकार वह कथा केवल संकल्प मात्र थी, वैसे ही यह जगत संकल्प के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। केवल शब्द बोधवाला आत्मा ही किंचनता वश भासित होती है। और यह पत्र भौतिक सृष्टि केवल संकल्प मात्र है। जिस प्रकार स्वप्नावस्थामें नाना प्रकार की सृष्टि दिखलाई पड़ती है और उसकी कोई वास्तविक उत्पत्ति नहीं है, उसी प्रकार इस जगतको भी जानना चाहिये। जिस प्रकार उन तीनों राजपुत्रोंने भविष्य नगरमें प्रवेश किया और उनकी कोई वास्तविकता नहीं थी, उसी प्रकार इस जगत की भी कोई वास्तविकता नहीं है। जिस प्रकार जलके द्रवी भूत होनेसे उसमें भाग उत्पन्न होते हैं पर उनका रूप जल ही में स्थित है, उसी प्रकार अनात्मा में आत्मा स्थित है। हे राम जी ! इस जगत की उत्पत्ति केवल संकल्प से है और इसीसे यह बृहद् रूप में विस्तरित हुआ है। जिस

प्रकार सूर्योदय के पश्चात् दिनका व्यवहार विरतार होता है वैसेही यह संकल्प पूर्ण जगत विस्तरित होता है। तात्पर्य कि, यह केवल चित्त की विलासिता से स्फुरित होने ही से जान पड़ता है। हे रामजी ! इसी कारण हम कहते हैं कि इस सङ्कल्प रूपी मैलको त्यागकर निःसंकल्प केवल आत्म-सत्ता का चिन्तन करो। उस पदको प्राप्त कर तुम्हें अमोघ शान्ति प्राप्त होगी।

श्री योगवाशिष्ठभाषा उत्पत्ति प्रकरण का द्वितीयासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८६ ॥

सत्तासीवाँ सर्ग।

मन की निर्वाणता

इतनी कथा सुनकर रामजीने वशिष्ठजीसे पूछा कि हे भगवन् ! आपने संकल्पको बहुत बार कहा है। पर वह संकल्प क्या है। और वह आया क्या है कि जो असत्य ही सत्य रूप, पिशाचवत् दिखलाई पड़ता है ? वशिष्ठ जी ने उत्तर दिया कि हे रामजी ! यह पंचभौतिक शरीर ही प्रतिबिम्ब के समान है। कारण कि निज कल्पना से रचित है। इसी से यह ग्रहकाररूपी पिशाच है। इस ग्रहकार को देख कर अत्यन्त ही खेद होता है। हे रामजी ! जब परमात्मा सब में व्यापित है, तब ग्रहकार होना कैसे ? परमात्मा के सम्बन्ध में ग्रहकार नहीं हो सकता। वह तो अभेदरूप है। उसमें जो अहबुद्धी है वह भ्रम से है। मरुस्थल में जल के समान ही और मिथ्या ज्ञान में ही ग्रहकार की कल्पना होती है। जिम भौति मणिका तेज मणि से पृथक नहीं है और वह मणिरूप ही है, उमी भौति यह जगत आत्मामे भासित होता है। और आत्माही में सदैव स्थिति रहता है। केवल अज्ञानतायश उसमें नाना प्रकार भासित होता है। इम लिये अज्ञान दृष्टि को छोड़कर और मोहके आरम्भ को त्यागकर उस आनन्द स्वरूपको आश्रय करना चाहिये। और विचारपूर्वक मत्स्य को ग्रहण कर असत्य का परित्याग कर देना चाहिये। हे रामजी ! मोह को महिमा बड़ी

कठिन है। यह नाशवान शरीर को रखनेका यत्न करता है; किन्तु वह रहता नहीं। रहे भी तो कैसे? वह तो मोहराग द्वारा मिथ्या भ्रम से दृढ़ हुआ है। अन्यथा आत्मतत्त्व में कल्पना का नाम भी नहीं है। केवल स्वतः स्थित है। वह नित्य शुद्ध बोध और अविनाशी है। उसमें किसी प्रकार का विकार, बन्धन और मोक्ष नहीं है। कारण कि उस आत्मसत्ता के रूपका अन्त नहीं, वह विकार रहित, अछेद्य, निराकार और अद्रव्य रूप है। उसको बन्ध और मोक्ष की कल्पना कैसे हो सकती है। हे राघव! शरीरके नाश होने से आत्मा का नाश नहीं हो सकता—क्योंकि सबका शरीर मन है, वह मन भी आत्मशक्ति है। उस मनमें ही सर्व प्रथम इस शरीर आदि की रचना हुई है। इससे बिना ज्ञान हुये शरीरका नाश नहीं हो सकता। तो फिर शरीरके नाश होनेसे आत्माका नाश कैसे हो? हे रामजी! शरीरका नाश होने से तुम्हारा नाश नहीं होता। तुम व्यर्थ के लिये शोक क्यों करते हो। तुम तो स्वयं ज्ञानरूपी आत्मा हो। फिर कब सम्भव है कि वादलों के नष्ट होने से पवन भी नष्ट हो जावे और उसी प्रकार शरीर के नाश होये पर आत्मा भी नष्ट हो जावे। भला जब ससारके क्रीड़ा कर्ता मनका नाश नहीं हो सकता तब शरीरका नाश कैसे होगा? कहीं घडे के नाश होने से वादलो का भी नाश हो सकता है? यह कब सम्भव है कि वारिधारा के लोप हो जाने से सूर्य की परछाई भी लोप हो जावे। भलेही वारिधारा अन्यत्र प्रवाहित हो तो प्रतिबिम्ब भी अन्यत्र ही प्रतिबिम्बित होगा। पर यह तो हो नहीं सकता कि प्रतिबिम्ब का ही नाश हो जाये। जिस प्रकार घट के फूटनेसे घटाकाश महाकाश में स्थित होता है, उसी प्रकार शरीर के नाश होने पर आत्मा निरामय पदमे स्थित हो जाता है। हे रामजी! सब जीवों का शरीर मन रूप है। मरणोपरान्त उसके लिये देश, काल और पदार्थों का अभाव हो जाता है। उस मूर्च्छाका नामही मरण है। आत्माका नाश नहीं होता।

हे रामजी ! इम मनने ही संसार-भ्रमको रचा है । ज्ञानरूपी अग्निसे ही उसका नाश होता है । आत्म तत्वका नाश नहीं होता । हे रामजी ! तुम तो स्वयं नित्य शुद्ध और अविनाशी पुरुष हो । तुम में संकल्प की वासना से ही भ्रम वश जन्म मरण इत्यादिक भास रहे हैं । इससे तुम वासनाको त्याग कर चिदाकाश में स्थित हो जावो । हे रामजी ! मन वह है जो शुद्ध आत्मा में मनन की स्फूर्ति है । वही स्फूर्ति इष्ट अनिष्ट और बन्धनका कारण है । ऐसा मनही असत्य रूपी भ्रांति उदय हुआ है । जैसे स्वप्न की सृष्टि भ्रांति मात्र होती है, वैसेही जाग्रत सृष्टि भी भ्रांति मात्र है । हे रामजी ! अविद्या से ही यह जगत बन्धनमय, और दुःखका कारण है । ऐसी अविद्या को पार करना बड़ा ही कठिन है । बहुत विचार करने से ही इसका नाश हो सकता है । इमी अविद्या ने जगत का विस्तार किया है । ज्ञानरूपी अग्नि ही इसे भस्म कर सकती है । हे रामजी ! यह जगत भ्रम मात्र है । इसकी कोई उत्पत्ति नहीं है । विचार पूर्वक देखा जाय तो यह लोप हो जायगा । क्योंकि यह जगत अविद्या से ही बँधा हुआ अनेक अनर्थों का कारण है । चित्तके फुरनेसे भासता है । मन जितनी कुछ चेटायें करता है, सब अपने नाश का कारण है । जिम प्रकार नट अपनी क्रिया से अनेक प्रकारका रूप धारण करता है, उसी प्रकार मन अपने सकल्प विकल्प का रूप देकर अनेक प्रकार का भावा-भावरूप धारण करता है । पर जब वही मन सकल्प विकल्पों को त्याग कर आत्मा की ओर अग्रसर होता है, तब चित्त नष्ट हो जाता है । आत्मा की ओर न देखने में तो अनेक दुःखों का कारणरूप जगत को प्रसरित करता है । हे रामजी ! जब तुम सकल्प और दृश्य को त्याग दोगे तब स्वतः आत्मबोध का प्रकाश हो जायेगा । हे राम जी ! मन के नाश होने में बड़ा ही आनन्द उत्पन्न होता है । इससे जहाँ तक हो सके मन के नाश करने का यत्न करना चाहिये, बढ़ाने का नहीं । हे राम जी ! मनरूपी किमान है और जगत रूपी वन है ।

इस वन में सुख दुःख रूपी वृक्ष हैं। और मन रूपी सर्प रहता है। उसको अविवेकी पुरुष भोजन करते हैं। इससे इस परम दुःख के कारण रूप मन को वैराग्य और अभ्यास रूपी खड्ग से काट देना चाहिये। फिर तो आत्मपद का ही दर्शन होगा। वाल्मीकि जी बोले कि जब इस प्रकार वशिष्ठ जी ने कहा तब सायकाल का समय हो गया था, इससे समस्त श्रोतागण एक दूमरे को नमस्कार कर स्नान करने चले गये। दूमरे दिन सूर्य भगवान के उदय होते ही अपने २ स्थानों पर आ विराजे।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का सत्तासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८७ ॥

अट्ठासीवाँ सर्ग ।

चित्त-माहात्म्य

जब समस्त श्रोता मण्डली यथा स्थान शान्ति पूर्वक बैठ गई तब मुनि शादूल वशिष्ठ जी ने कथा कहना आरम्भ किया। वशिष्ठ जी बोले,—हे राम जी। चित्त भी परमात्मा से ही उठा है। जिस प्रकार समुद्र से तरंगें उठती हैं, उसी प्रकार परमात्मा से मन उठा है। तब मन ने जगत की रचना की। वही जगत बृहदरूप में विस्तरित हुआ है। वह छोटा और बड़ा जैसा चाहता है बना लेता है। पर वह मन भ्रम रूप है। क्योंकि निकटवर्ती वस्तुओं को दूर और दूरवर्ती वस्तुओं को निकट जैसा चाहता है, देखता है। वह इतना प्रबल है कि, क्षण मात्र में ससार को उत्पन्न कर क्षण ही में नष्ट कर देता है। जितना कुछ जगत जान पड़ता है, सब मन ने ही उत्पन्न किया है। यह जो भाव, अभाव और देश, कालादिक क्रियायें और द्रव्यादि सम्बन्धी शक्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं, सबको मन ही दिखलाता है। निज स्फूर्तिसे ही अनेक प्रकारका भाव अभावको मन प्राप्त होता, रहता है। जिस प्रकार वाजीगर अपने मंत्र तन्त्रों द्वारा खेलमें असत् वस्तुओं को भी सत्य करके दिखलाता हुआ अपने स्वांगों

को प्राप्त होता है, उसी प्रकार मन में जैसी स्फूर्ति होती है, उसी प्रकार वह भासित होता है। उसके अनुसार ही और उसीकी चचलता से इन्द्रियाँ भी विचरण करती हैं, अन्यथा नहीं। हे राम जी। मन की जैसी चेष्टा होती है, वैसी ही सफलता प्राप्त होती है। शारीरिक चेष्टायें मन के बिना सफल नहीं होती। बीज के अनुसार ही फल होता है। दूसरे प्रकार का नहीं। अतः निश्चय है कि, मन के निश्चयानुसार ही सफलता मिलेगी। हे राम जी। इस जगत की रचना बालको की बनाई हुई मिट्टी की सेना के समान है। यद्यपि मिट्टी की सेना बनाकर बालक उसका पृथक २ नाम धरते हैं पर क्या वह सिवा मिट्टी के कुछ अन्य है? नहीं, आत्मा में ही अनेक प्रकार का जगत कल्पित है। कुछ आत्मा से पृथक नहीं है। जैसे मन निज सकल्पों में नाना प्रकार की अनिष्टता को कल्पता है, वैसे ही उस मनने इस जाग्रत जगत को भी भ्रमसे कल्प लिया है। वह इतना प्रबल है कि गौ की खुर में भी अनेक योजनों की रचना कर लेता है। कौमी भी गूढ रचना हो, उसको रचने में विलम्ब नहीं होता। इससे हम कहते हैं कि जितना कुछ देश कालादिक वस्तुयें हैं, मन से ही उत्पन्न हुई हैं। हे राम जी। द्रष्टा, दर्शन, दृश्य और कर्ता, कर्म, क्रिया सबको मन ने ही प्रसरित किया है। पर यह सब आत्मा के सम्बन्ध की अज्ञानता वश ऐमा जान पड़ रहा है, अन्यथा आत्मज्ञान होने पर इन भ्रमों का लोप हो जायगा अर्थात् सभी भ्रम दूर हो जायेंगे।

श्री योगशास्त्रिण मापा, उत्पत्ति प्रकरण का अठ्ठासीवाँ सर्ग समाप्तः ॥८८॥

नवासीवाँ सर्गः ।

नृप मोह वर्णन

चित्त माहात्म्य का ऐमा विशद विवेचन करके वशिष्ठ जी ने रामजी से कहा कि, हे रामजी। अब मैं तुमको एक राजाका आख्यान

सुना रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो। हे राघव ! प्राचीन काल में उत्तर पाद नामक नगर में एक अत्यंत प्रतापी धर्म निष्ठ, साधु सेवी और प्रजा-वत्सल, खल संहारक 'लवण' नाम का राजा महाराज हरि-श्चन्द्र के कुल में उत्पन्न हुआ। वह ऐसा प्रतापी था कि, उसने अपनी थोड़ी ही आयुमें शत्रुओं और अनेक राजाओं को पराजित कर सागराम्बरा पृथ्वी को विजय कर लिया। वह शत्रुओं का हृदय वीदीर्ण करने वाला ऐसा तेजपुंज और पुण्यशाली निकला कि, स्वर्गमें देवगण और विद्याधरी आदिक अप्सरायें भी उसका यश गाया करती थीं। जिसको सुन २ कर लोकपालादिक आश्चर्य चकित हो जाते थे। समग्र संसार उसके यश का गान करता था। उसके समान तेजस्वी, पराक्रमी स्वप्न में भी नहीं दिखलाई पड़ते थे। अपनी उदारता में भी वह अद्वितीय था। एक समय जब दो घड़ी दिन रहे वह धर्मात्मा अपनी सभामें सिंहासन पर बैठा था कि वन्दीजन स्तुति कर रहे थे, अप्सरायें नाच रही थी कि उसी समय एक महा आढ-म्बरी इन्द्रजालिक महा दुर्भिक्ष मनुष्य आकर कहने लगा,—हे राजन् ! इम मेरे कौतुक को देखने की कृपा करें। राजा ने कहा, दिखलाओ। तब वह अपने खेल का पिटारा खोल कर अनेक रंग विरगे खेल दिखलाने लगा। फिर उसने एक मोर पुच्छको हाथमें लेकर घुमाया। इससे राजा को अनेक प्रकार की रचना जान पड़ने लगी। राजाको ऐसा ज्ञात हुआ मानों वह सब परमात्मा की ही माया है। उसी समय महलेश्वर से हाथ में एक घोड़ा पकड़े हुए एक दूत ने आकर कहा, महाराज ! यह घोड़ा मे आप की सवारीके लिये लाया हूँ। इस घोड़े की समानतामें दैत्यराज इन्द्र का घोड़ा उच्चैःश्रवा भी जो समुद्रमन्थन में प्राप्त हुआ, नहीं है, चाल में यह पवन की वरावरी क्या करता है—मानो पवन की साक्षात् मूर्ति है। मेरे मालिकने चाहा है कि आपको दें। अतः आप इसको अवश्य रख लीजिए। हे रामजी ! दूत के ऐसा कहने पर उस इन्द्रजालिक ने बड़े गम्भीर स्वर में कहा, महाराज ! आप

इस घोड़े को अग्रवश्य रखले और इसी पर नित्य सवारी करें। इस पर सवार होने से आप सूर्य के समान सुशोभित होंगे। इन्द्रजालिक की बात सुनकर राजा ने घोड़े की ओर देखा तो देखते ही वह ऐसे मूर्च्छित हो गए मानो कागज पर बनी हुई मूर्ति पड़ी है। इस भाँति मूर्च्छा में पड़े राजा को दोगड़ी व्यतीत हो गया। तब उनको अत्यंत अचेत देखकर टहलुवे दौड़े और होश में लाने के लिए अनेक उपचार करने लगे। पर राजा ऐसा मूर्च्छित हुआ कि, कोटि यत्न करने पर भी मूर्च्छा न टूटी और मृतवत पड़ा ही रहा। फिर तो सभाका नृत्य गान वन्द हुआ और सबके सब अचम्बित हो गए।

श्री योगेशिष्ठ माया उत्पत्ति-प्रकरण का नवासीवाँ सर्ग समाप्तः ॥ ८९ ॥

नब्बे का सर्ग ।

वशिष्ठ जी बोले,—हे रामजी ! दो घड़ी पश्चात् राजा की मूर्च्छा टूटी तो वह अपने को सँभाल कर हिलते काँपते सिंहासन पर जा बैठा। फिर तो मंत्री और टहलुवे दौड़कर उसे भलीभाँति सँभालने लगे। तब इधर उधर चारों ओर दृष्टि दौड़ाकर राजा ने आश्चर्य भाव से कहा,—हे, यह क्या है, मैं कहाँ बैठा हूँ और यह राज्य किसका है। यहाँ का राजा कौन है और यह राजसदन किसने बनवाया है। हे रामजी ! राजा की ऐसी व्यग्र वाणी सुनकर मंत्री व टहलुओं ने कहा, महाराज ! आपको क्या हो गया है और इतनी व्याकुलता क्यों हो गई है ? आप तो पवित्रात्मा पुरुष हैं। हे उदारात्मन् ! जिन प्राणियों की स्थिति सांसारिक पदार्थों में है और जो अपने को विषय भोगों में लगाये हुए हैं वह भलेही मोह पास में बँध जायें किन्तु जो सन्तजन उदार चित्त हैं उनका मन तो स्वच्छ होता है। फिर वे मोह जाल में कैसे फँस सकते हैं ? ऐसे सत्पुरुष और विवेकी जन शरीर की चिन्ता नहीं करते। चाहे शरीर रहे अथवा नष्ट हो जावे। पर जो अज्ञानी पुरुष हैं वे आत्मा को न जानकर दिन रात

सांसारिक पापों में लिप्त रहते हैं। उनके लिए ज्ञान चर्या और उच्च विचार तथा उदारता स्मरण करना अत्यंत असम्भव है। हे रघुकुल शिरोमणि रामचन्द्र ! मंत्री और टहलुओंकी वार्ता सुनकर राजा सावधान हो गया और उसकी मुखाकृति ऐसे प्रफुल्लित हो गई जैसे वसंत ऋतु के आनेपर वन उपवन प्रफुल्लित हो जाते हैं। तब राजा उस इन्द्रजालिक पुरुष से बोला, रे दुष्ट ! तूने यह क्या किया ? भला, राजाओं के समक्ष भी कोई ऐसा भ्रमजाल उपस्थित करता है ? पर अच्छा, अब ता मैं अपने होश में आया। फिर भी बड़े आश्चर्य की बात है कि वह अनन्त शक्तिशाली परमात्मा अपने में अनेकों पदार्थों की स्फूर्ति किया करता है। तभी तो मैं दो घड़ी तक अनेक भ्रमजालों को देखता रहा। अन्यथा मेरे जैसे ज्ञानीकेलिए इतना प्रबल मोह आश्चर्य है। हे मंत्री ! यह आडम्बरी बड़ा ही इन्द्रजालिक है। इसीने मुझे दो घड़ी तक अनेक देश, काल, और पदार्थ दिखलाये हैं। जिस प्रकार वेदमुख ब्रह्माजी एक निमिष मे ही सारी सृष्टिकी रचना कर देते हैं, उसी प्रकार इस आडम्बरी ने भी अपने पिटारे से समस्त वस्तुओं को निकाल कर मुझे दिखलाया है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का नव्ये का सर्ग समाप्त ॥ ९० ॥

इक्यानवे का सर्ग ।

इतनी कथा सुनाकर वशिष्ठ जी बोले हे राम जी ! जब उस आडम्बरी ने अपने पिटारेसे मोरपंख निकाल कर घुमाया तब वह कुछ सूर्य किरणों की भाँति चमकने लगी। उसकी चमचमाहट देखकर आश्चर्य हुआ। ऐसा मालूम हुआ मानो सूर्य उगा हुआ है। राजा यह देख ही रहा था कि उसी समय एक दूत एक अत्यन्त शीघ्रगामी घोड़ा लेकर आ-पहुँचा। उस घोड़े पर सवार होकर चित्त ही से राजा अत्यन्त दूरवती स्थानोंमें विचरने लगा। भावार्थ यह कि राजा वहाँ बैठा रह गया और उसका चित्त निज भावना को लेकर

भगवानक और निर्जन ग्रामोंमें विचरने लगा । उस विचरण में राजा दूसरे आकाश को और सप्त सागर, पञ्च सागर, महा, अष्ट सागर तथा भगवानक स्थानों एवं गहन वनों को देखने लगा । वहाँ से वह ऐसे स्थानोंमें पहुँचा जहाँ घास, जीव, वृक्ष, मनुष्य, कोई दृष्टि गोचर नहीं होते थे । इसी भाँति पूरा दिन व्यतीत हो गया और राजा अत्यन्त कष्ट को प्राप्त हुआ । उस दिन राजा को न तो भोजन मिला और न शयन करनेके लिये सुन्दर स्थान । किन्तु जब निद्रा देवी आ गई तब सभी स्थान सुख कर हो गये । एक निर्जन स्थान में माता पृथ्वी को ही शय्या मान कर रात्रि बिता दी । प्रातः काल सूर्य भगवान उदय भी न हुये थे कि राजा वहाँ से उठकर आगे बढ़ा । आगे बढ़कर उसने बहुतसे सुन्दर स्थान और वृक्ष जिन पर अनेक प्रकार के पक्षीगण अपने कोकिल कण्ठों द्वारा प्रकृति की छटा दिखला रहे थे बैठे हुये सन्तप्त हृदयों को प्रफुल्लित कर रहे थे । ऐसे दृश्य को देखकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई । जैसे मृत्युसे मुक्त हुआ प्राणी प्रसन्न हो जाता है राजा वैसेही प्रसन्न हो गया । हे रामजी ! यह कह कर राजाने अपने मन्त्री व टहलुओं से कहा, हे मन्त्रीवर ! इन समग्र भ्रमजालों को देखकर मैं बहुत दीन हो गया हूँ । कारण कि उस समयके भूख प्यास में मेरी शरीर शिथिल हो गई है । जिस समय मैं पक्षियों के निवास-स्थल के समीप पहुँचा था उस समय सूर्यास्त होने में केवल दो घड़ी का अरमा था । मैं अपनी चिन्ता में डूबता था कि एक कन्या मिट्टी के बर्तनों में पके पकाये चावल और जम्बुरस लिये मेरे सामने आ खड़ी हुई । उस चंद्रमुखी को देखकर मैंने पूछा हे बालिका ! मैं भूख प्यास से अत्यन्त पीड़ित हूँ, क्या मुझे भोजन लेकर आई है । दुःखी और आर्त को अन्न देना परम धर्म है । मेरे ऐसे वचन को सुन कर उस कन्या ने कहा आप में राज-लक्षण दिखाई पड़ते हैं । फिर आप भोजन के अधिकारी कैसे ? यह कर कर वह मेरे सामने से हट कर आगे बढ़ी । तब

उसके पीछे यह कहता हुआ कि मुझे भोजन दे, मेरी क्षुधा शान्तिकर। मैं भी चला। यह यह कहकर उस कन्याने कहा,—कि हमलोग नीच हैं, निष्प्रयोजन भोजन किसी को नहीं देते—मेरी प्रार्थना को ठुकरा दिया। उसी समय कन्या ने यह भी कहा कि यह भोजन मेरे पिता के भाग का है। वह श्मशान पर बैठे हैं, इससे यह भोजन आप को नहीं दे सकती। हाँ एक बात है, यदि आप मेरी पति होना स्वीकार करे तो अवश्य दे सकूँगी। कारण कि पति प्राणोंसे प्यारा होता है। मैंने कहा अच्छा, मुझे-भोजन दो, व्याह कर लूँगा। तब कन्या ने भोजन दे दिया और उसे पाकर मैं बहुत, सन्तुष्ट हुआ। पर मोह तो छूटा न था। इससे कन्या ने मुझे यमदूत के समान पकड़ लिया और अपने पिता के पास खँचती हुई ले गई। पिता को देख कर बोली हे पिता जी ! यह मेरे प्राणपती है। अभी घर आते समय मार्गमें पाई हूँ। पिताने कहा, अच्छा किया। अब इनको अपने घर ले जा। तब वह मुझे लिवा गई। वहाँ पर पहुँच कर उसने अपने माता से भी वही परिचय दिया और विश्राम के लिये प्रबन्ध किया। वहाँ मुझे जो भ्रष्ट भोजन मिला वह वर्णन के परे है। इसके पश्चात् उस चाण्डाली का विवाह हुआ। उस अवसर पर चाण्डाली का हँसना व नृत्य करना मुझे ऐसा ही मालूम हो रहा था, मानों मेरे ही पाप नृत्य कर रहे हैं।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का इक्याने के कासर्ग समाप्त ॥९१॥

वानवे का सर्ग ।

चाण्डाली विवाह

हे मन्त्रीवर ! विशेष क्या कहूँ, मेरे उम्र विवाह का उत्सव बड़े धूम धाम से सात दिन तक होता रहा। फिर तो वहाँ के बहुत बड़े चाण्डालों में मेरी गणना होने लगी। मैं वहाँ निरन्तर आठ महीने तक रहा। इसके बाद चाण्डाली का मुझसे गर्भ रहा। और क्रमशः एक बालक और एक कन्या उत्पन्न हुई। आगे चलकर राज्ञमी

चाण्डाली को तीन पुत्र और तीन कन्यायें उत्पन्न हुईं । फिर, क्या कहना था—मैं एक बृहत् कुटुम्ब वाला हो गया । इस भाँति वहाँ रहकर विचरकाल पर्यन्त कष्ट भोगता और भ्रमता रहा । न भोजन के लिये पवित्र अन्न और न पीने को जल । शयन करने के लिये कोई गृह और शय्या की व्यवस्था भी न थी । नगरे शरीर और नंगे पाँव इधर उधर घूमता था । रात्रि होने पर भाड़ियों के निकट जहाँ काँटों के ढेर रहा करते थे, उसी पर सो जाया करते थे । श्वान, हस्ती आदिक अपवित्र जीवोंका मांस मज्जाका भक्षणसे चुधा की तृप्ती कर लेता था । कभी २ इसके लिये विद्रोह भी हुआ करता था । इतने पर भी प्रचण्ड लूह और निदाघ वर्षा तथा शरत्काल के प्रचण्ड शीले महन करने की स्वाभाविक वान सी पड गई थी । इससे मेरा शरीर बहुत कृपित हो गया । धीरे २ अवस्था परिवर्तित हुई और मैं उस श्मशान पर बहुत दिन तक बना रहा वहाँ अधिक रात्रि वास करना पडता था । एक समय बड़ा उपद्रव मचा, ऐसा जान पडा कि प्रलय काल आ पहुँचा । तब भूख व प्यास से कितने ही जीव मर गये । हमे भी विशेष कष्ट हुआ । तब मैं अपने तीनों पुत्रों, तीनों कन्याओं, व स्त्री सहित धनाव्य देशकी ओर अन्न जल की खोजमें स्थानित हुआ । पर खेद है कि वहाँ पहुँचने पर भी वही वीभत्स दृश्य उपस्थित हो गया । आवाल, वृद्ध नर, नारी चुधा से कराह रहे थे । उनका कराहना देख कर मेरी स्थिति डवाँ-डोल हो गई । फिर तो हम लोग चुधा से इतने व्यग्र हुये कि कोई किसी को सँभाल न सका ।

श्री यागनाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का वानरे का सर्ग समाप्त ॥ ९२ ॥

तिरानवे का सर्ग ।

इन्द्रजालिक उपाख्यान

इम प्रकार बहुत दिनों तक विचरण करते हुये, शरीर वृद्ध हो गया, केश श्वेत हो गया और नित्य चाण्डाल भाव में दृढ रहने

से मुझमें जो राजा का अभिमान था वह भी भूल गया। एक दिन मैं वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहा था कि एक बहुत छोटे बालक ने आकर कहा—पिता जी। मुझे मांस दीजिये। बड़ी भूख लगी है। प्राण निकलना चाहता है। मैंने कहा बेटा। मांस तो नहीं है। उसने कहा नहीं है तो कहीं से ला दे। यह नियम है कि सबसे छोटा पुत्र बहुत प्रिय होता है। मैंने कहा—बेटा। बहुत भूख लगी है, तो ले, मेरा मांस खा ले। तब उस बुद्धि हीन बालकने कहा, दे। तब मैंने वन में से बहुत सी लकड़ियाँ एकत्रित की और उममें आग जलाकर कहा हे पुत्र। अब मैं अग्नि में प्रविष्ट होता हूँ, जब मेरी मांस पक जाये तब भोजन कर लेना। यह मैंने इस लिये कहा कि किसी प्रकार यह बालक जीवित रहे। ऐसा कहकर मैं उस जलती हुई अग्निमें कूद पड़ा। जब मुझको उष्णता मालूम हुई। तब मैं कम्पित हुआ। तब तुम मुझे दृष्टगत हुये। हे मन्त्रीवर। वहाँ मैंने ऐसे अनेक चरित्रोंको देखा। जिस प्रकार मार्कण्डेय ऋषिने प्रलय को देखकर देवताओंसे कहा उभी प्रकार हमने सब अपना वृत्तान्त तुम लोगों से कहा। पर हे साधो। यह परम आश्चर्य है कि मुझ जैसा विवेकी राजा भी मोह के बश हो गया। फिर अन्य जीवोंकी तो बात ही क्या है? वशिष्ठ जीने कहा हे राम जी। राजाकी ऐसी वार्त्ता ज्योही समाप्त हुई थी कि त्योही वह इन्द्रजालिक अन्तरध्यान हो गया। और सभा में जितने मन्त्री आदिक बैठे थे, सभी आश्चर्य चकित होकर दूसरेका मुँह देखते रह गये। फिर क्षण भर बाद लोग कहने लगे, ईश्वर की माया बड़ी विचित्र है। इससे मुक्त होना अत्यन्त कठिन है। हे राम जी। मैंने अपने नेत्रों से देखा था कि राजा ऐसा आश्चर्यान्वित होकर बैठा था। हे राम जी। यह निर्गुण मन महा मोह शाली है। उसके फुरने ही में अनेक प्रकार का मोह दिखलाई पड़ता है। कल्याण तो तभी हो जब यह मन उपशम हो जाये। अतएव इसमें जितनी कल्पनाये उठती हैं, उनको त्याग कर आत्मपद में स्थिति रहो।

चौरानवे का सर्ग

चित्त-व्याख्या

वशिष्ठ जी ने कहा हे रामजी ! उस शुद्ध सच्चिदानन्द से आरम्भ में जो चित्त की संवेदना स्फूर्तित हुई है, वही कलना रूप होकर स्थित हुई है। उसी से दृश्य की सत्यता भासती है। आत्मा के प्रमाद से ही मोह की उत्पत्ति है। और चित्त की स्फूर्ति से ही चिरकाल पर्यन्त जगत में मग्न हो रहा है। वह मन असत्य रूप है। उसीने जगत को फैला रक्खा है। इसीसे अनेक दुःख प्राप्त होते हैं। पर जब वही मन ससार की वासनाओं का परित्याग कर आत्मपद में स्थित हो जाय तब क्षण मात्र में समस्त दुःखों का नाश हो जाता है। हे रामजी ! ऐसी वस्तु कोई नहीं है जो अभ्यास करने से न प्राप्त हो। अतः अभ्यास करनेसे आत्मपदकी प्राप्ति अवश्य होती है। आत्मपद का अभ्यास करने से आत्मा निकट जान पड़ता है। और संसार भी दूर भासित होता है। पर जब जगत का अभ्यास दृढ़ होता है, तब ही जगत निकट जान पड़ता है और आत्मा ही दूर जान पड़ता है। हे महामते राम जी ! मूर्ख मनुष्य को अभय भी भयावह मालूम होता है। जैसे यात्रा करने वाले को दूर के वृक्षों में भा वैतालकी कल्पना होती है और भयभीत होता है, उसी प्रकार चित्त की विभ्रान्तियों से जीव भय को प्राप्त होता है। हे रामजी ! वासना से युक्त यह मलीन मन संसार में नाना प्रकार के भ्रम उठा रहा है। आत्म पदमे स्थित होनेसे यह भ्रम मिट जाता है। निश्चय के अनुसार ही यह जान पड़ता है। यह देश कालादिक जितनी क्रियायें हैं, सब मन से ही भासित होता है। इससे संसार का कारण मोह है और इसीसे जीव भटकता है। अस्तु वासनारूपी मलीनता को ज्ञान-खड्ग से काटकर आत्मपद में ही स्थित होना चाहिये। क्योंकि वासना ही आत्मावरण है। इसी के जाल में मनुष्य रूपी मृग

संसारूपी बनमे भटकता है। विना वासना नष्ट किये परमात्मा का साक्षात् होना असम्भव है। हे रामजी। मनही मनुष्य है, शरीर मनुष्य नहीं। कारण कि शरीर जड़ वस्तु है। पर मन तो जड़ नहीं है और न चेतन है, यह दोनोहीसे विलक्षण है। मनका नष्टकरना ही सफल है। लेना देना जो कुछ है, सब मन से ही है। शरीर भी जा कुछ करता है मन से ही करता है। तात्पर्य यह कि समस्त जगत मनका ही रूप है। आकाश, पर्वत, वायु, जल, पृथ्वी, नक्षत्रादि सब का प्रकाश मन से ही है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध सब कुछ मन से ही ग्रहण होते हैं और अनेक प्रकार की भावनाओं से ही मन अनेक प्रकार-का-रूप धारण करता है। सत्यको असत्य और लघु को दीर्घ करना मन का ही कार्य है। मनही शत्रु को मित्र और मित्र को शत्रु बनाता है। हे रामजी। मनकी वृत्ति जैसी दृढ होती है वही सत्य भासती है। इसी से तो हरिश्चन्द्र को और इन्द्र को क्रमशः एक ही रात्रिमें बारह वर्षका और एक घड़ी मेही पूरे युगका अनुभव हुआ था। इन्द्र ब्राह्मण के दशों पुत्र जो ब्रह्मभाव को प्राप्त हुये थे वह भी तो मनके निश्चयानुसार ही वैसा हुये थे। हे रामजी। सुख पूर्वक बैठा रहे पर मनमे कोई चिन्ता आ जाय तो वह रौरव नरक से कम नहीं है। इसी भाँति दुःखो से आहत हो पर मनमें शान्त हो तो वह दुःख नहीं मालूम होता। अतः मनका जैसा निश्चय होता है वैसाही भासता है। इन्द्रियों उसी ओर जाती हैं कि जिधर मनका झुकाव होता है। इससे इन्द्रियों का आधारभूत मन है। यदि मन टूट पड़े तो माले के दाने के समान ही इन्द्रियाँ भिन्न हो जाती हैं। पर इन सबका अधिष्ठान् आत्मतत्त्व है और वह अत्यन्त सूक्ष्म स्वच्छ और निर्विकार समभाव से नित्य सब मे स्थित है। वही सब पदार्थों का ज्ञाता है। उसमे अहं भाव का लेश मात्र भी उत्थान नहीं है। उसीमे मन के स्फुरण से संसार भासित होता है। वह दैतध्रमसे रहित है। उसी आत्माने . . . सब जगत की रचना की है

और चैतन्य शक्ति से सबमे व्याप्य है। पृथ्वी, आकाश, सूर्य, अग्नि, जल और वायु इत्यादिक सबमें उसी की चेतना शक्ति का प्रकाश है। पर वास्तव में उसमें अनेकता का भाव नहीं है। अनेकता तो मन से जान पड़ती है। देश, काल, पदार्थ क्रिया और द्रव्य को मनही उलटा करता है। मनके विना किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं होता। जिह्वा से हर प्रकार का भोजन करना, नेत्रों से देखना—यह जो कुछ भी इन्द्रिय विषयक सिद्धियाँ हैं सब मनसे हैं। मनके विना कोई इन्द्रिय सिद्धता को नहीं प्राप्त हो सकती। अन्धकार और प्रकाश भी मनके विना नहीं भासित होता। इससे मन की उत्पत्ति मन से है। इन्द्रियों ने जितने विषय जालों को फैला रखा है सब मनसे ही उत्पन्न हुए हैं। ऐसे मन को वश में करना महा कठिन है। महात्मा और पण्डित जन ही इसको वश में कर सकते हैं। हमारा उनको वारम्बार नमस्कार है। हे रामजी। यदि मन वश में हो जाय तो ससार में कोई कष्ट न हो। क्योंकि मनके स्थित होने ही में सब कुछ है। सुख दुःख तो सब मनके फुरने से होता है। जैसा स्फुरण मन में होता है वही फुरता है और वही भासित होता है। हे रामजी। यह मन वासना से अनेक प्रकार का रूप धारण करता है और स्पन्दता में जैसा दृढ होता है वैसा ही अनुभव होता है। जगत का अनुभव होना क्या है, केवल मनोमात्र और चित्त-भ्रम मात्र है। मन में जैसी प्रतिमा उदय होती है, वैसा ही अनुभव होता है। इससे यह समस्त जगत केवल मन मात्र है। मन का फुरना ही देवता से दैत्य और दैत्य से देवता कर देता है। जन्म, मरण भी मनके फुरने से ही होता है और स्त्री से पुरुष व पुरुष से स्त्री होना भी मन के ही संकल्प से होता है। जिस प्रकार नट पल मात्र में अपने स्वांग से अनेक रूप धारण करता है, उसी प्रकार मन भी अपने संकल्प से अनेक रूप धारण कर लेता है। हे राम जी। यह निराकर जीव मन से ही आकार की नाई भासता है। उसका मनन ही मृदता है। उस

मृदता से वासना और वासना रूपी पवन से यह जीव रूपी पत्र भटकता है और संकल्प के वश मे हो कर सुख दुःख और भय को प्राप्त होता है । जिस भाँति तिलो मे तेल रहता है और कोल्हू मे पेरने से निकलता है, उसी प्रकार मन मे सुख दुःख रहते हैं और मन को मन के संयोग से प्रगट होकर भासित होते हैं । मनके फुरने ही से नाना प्रकार का शोभवान जगत भासता है । पर यदि मन की चंचलता वैराग्य से मिट जाये तो यह वश मे हो जाता है । हे राम जी । यदि प्राणी का मन बँधे हुये हस्ती के समान संसार से निवृत्त होकर आत्मपद मे स्थित हो जाय तो वह निसन्देह मुक्त होगा । क्योंकि मनसे मनन का न होना ही शान्ति प्राप्त करना है । इससे हम कहते है कि तुम अपने मन को स्थित कर शान्त बनो ।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का चौरानने का सर्ग समाप्त ॥६४॥

पंचानवे का सर्ग ।

चित्त कैसे उपशम हो ?

हे रामजी । यह चित्तरूपी महा व्याधि है । उसकी निवृत्तिके लिये मैं तुमको एक ऐसी उत्तम औषधि बतलाता हूँ कि जिसमें यत्न साध्य औषधि अपने आप ही हो जावे । इस उपचार से चित्तरूपी वैताल नष्ट हो सकता है । हे राम जी । रस युक्त जितने भी पदार्थ तुमको दृष्टिगोचर होते हैं, सबको त्याग करो । इसका परिणाम यह होगा कि, तुम मन को जीत कर मोक्ष पद को प्राप्त हो जावोगे । जिस प्रकार लोहे को लोहाही काटता है, उसी प्रकार मन को मन से ही काटो और यत्न करके चित्तरूपी वैताल को भगा दो । साथ ही आत्म सत्ता मे जो शरीरादि की भावना दृढ हो रही है, उसको भी त्याग कर आत्मभावमें लग जाओ ऐसा करनेसे वासनाओं का लोप होकर चित्त एकाग्र हो जायगा और अक्षय पद की प्राप्ति होगी । पर ३०७

करना अत्यन्त कठिन है । कारण

कि अशुभ पदार्थोंमें रमणीयता होती है, जिससे विपयी पुरुष उसे शुभ करके जानते हैं। पर जो शुभ अशुभ का ज्ञान रखते हैं, वही बड़े पुरुषार्थी हैं। शुभ और अशुभ यह दोनों बड़े वीर हैं। इसमें जो बली है, वही वीर है और जो वीर है उसी की विजय है। अतः जितना शीघ्र हो सके प्रयत्न करके अपने चित्तको जीत लो। चित्त को जीत लेने पर बिना यत्न ही आत्मपद की प्राप्ति हो जायेगी। किन्तु जो चित्तको वश करने की शक्ति नहीं रखता, उसको लाखों बार धिक्कार है। वह मनुष्य होकर भी गर्दभ के समान है। निज पौरुष से मन को अपने वश में रखना, अपने साथ परममयत्री करना है। नहीं तो अपना आपही शत्रु होकर बड़ी यन्त्र की भाँति संसार चक्र में भटका करता है। मन को वश में रखने से प्रचुर लाभ होता है। हे राम जी ! मन को मारने के लिये यह महा मन्त्र है कि दृश्यो की ओरसे चित्त को समेट ले और आत्म चेतन में लग जावे। हे राम जी ! इच्छा से मन पुष्ट होता है और उपशम होने से निवृत्त होता है। उपशम होने पर तो गुरु और शास्त्रों के उपदेश और मन्त्रोंकी अपेक्षा नहीं रहती। हे राघव ! जब संकल्प रूपी औषधि से चित्त रूपी रोग कटे तब उस सर्वगत शान्ति रूपी पद की प्राप्ति होती है। इसके लिये यह परम आवश्यक है कि मनको यत्न पूर्वक उस शुद्ध चित्त आकाशमें लगा दो। इस भाँति लगाये रहने से जब चिरकाल पर्यन्त मन की तीव्र संवेदना आत्मा की ओर होगी, तब चिन्तना की निवृत्ति होकर केवल चेतन मात्र में ही चित्त लगेगा। फिर तो बुद्धि स्वतः परमार्थ सत्ता में लगकर, बोधरूप हो जावेगी। अतएव चित्तको चित्त से ही ग्रस लो। इस प्रकार चित्तको चित्तसे अचित्त करने से तुम महा अद्वैत पद को निस्सन्देह प्राप्त कर लोगे। हे राम जी ! मन को जीत लेने में तुम्हें और कुछ यत्न नहीं करना है, केवल संवेदन का प्रवाह उलटना है। अर्थात् दृश्य की ओरसे मोडकर-आत्मा की ओर लगाना है। इसीसे चित्त अचित्त होगा और इस प्रकार

मनको जीत लेने पर त्रिलोकीको भी जीतना तृणवत् है । हे रामजी ! कितने ऐसे वीर हैं जो शस्त्रों का प्रहार, अग्नि का ताप सहन करते हैं और शत्रु को भी मारते हैं । फिर स्वाभाविक फुरने का दमन करनेमें क्या दरिद्रता है ? हे महामते राम जी ! जो अपने चित्त तक को उलटने की सामर्थ्य नहीं रखता वह मनुष्यों में महा अधम है । जो यह अनुभव करता है कि मैंने जन्म लिया, मैं मरूँगा, और मैं ही जीव हूँ, वह असत्यरूप और चपल है । क्योंकि मनरूपी मनुष्य शरीर से यह लोक और परलोकमें मोक्ष होने के बाद चित्त में भटका करता है । जब यह निश्चय है कि मोक्ष होने पर भी चित्त का नाश नहीं होता, तब तुमको मृत्यु का भय कैसे है । तुम तो नित्य शुद्ध स्वरूप और सब विकारों से रहित हो । लोकादिके जितने भ्रम चित्त में मन के फुरने से उत्पन्न हुये हैं वे मने से भिन्न चित्त का कोई रूप नहीं हैं । पुत्र, भाई, नौकर आदि के जो स्नेह-स्थान हैं वह भी केवल चित्त से माने जाते हैं, अन्यथा नहीं । यदि चित्त अनुचित्त हो जाय तो निश्चय जानो की प्राणी सब बन्धनों से मुक्त हो गया । हे राम जी मैंने सब स्थान और सब शास्त्र भी देखे, एकान्त वास कर बार-बार विचार भी किया पर शान्ति होने के सिवा चित्त उपशम करने के और कोई उपाय न सूझा । जब तक चित्त दृश्यों की ओर से उदासीन न हो, तब तक शान्ति नहीं मिल सकती । उपशम होने पर तो उस नित्य शुद्ध सर्वात्मा शान्त स्वरूप के पद में अवश्य ही विश्राम होगा । हे राम जी ! हृदयाकाश में चेतन चक्र (ब्रह्माकार की वृत्ति) है, उसकी ओर जब मन अत्यन्त शीघ्रगामी होता है तब समस्त दुःखों का अभाव हो जाता है । वही ब्रह्माकार वृत्ति रूपी चक्र मनको नष्ट कर सकता है । अहं, त्वं इत्यादि अर्थ संयुक्त जितने भी शब्द भासित होते हैं, सब मनोमात्र हैं । दृढ़ विचार से इनको क्षीण करना चाहिये । फिर तो मन की वासना स्वतः नष्ट हो जायेगी और वासना के नष्ट होने से परम तत्त्व शुद्ध भासित होगा । हे राम जी !

इच्छित संकल्पों द्वारा पुष्ट किया हुआ यह मन जीव का परम शत्रु है, इच्छा न हो तो यह स्वयम् ही निवृत्त हो जाता है । अतएव मन में उठने वाली समस्त कल्पनाओं को त्याग दो । फिर देखो कि यह मन स्वयम् ही नष्ट हो जायेगा । हे राम जी ! यह तो बालक भी जानते हैं कि मन को फैलाने से अनर्थ होता है और बटोरने से कल्याण होता है । जिस प्रकार पिता बालक पर कृपा किये रहता है, उसी प्रकार मैं भी तुमको समझा रहा हूँ कि मन रूपी शत्रु ने जो भय दिया है और संकल्प कलना से जितनी भी आपदायें हैं सब मन से उत्पन्न होती हैं । मृतगुणों के जन्मवत् सब अपदायें मन से ही दीखती हैं । मन के स्थिर होने पर तो कोई चोभ नहीं रहता । हे राम जी ! जो पुरुष मन से रहित है, उसको कोई विघ्न नहीं हो सकता—कारण कि वह तो स्वयम् शान्त स्वरूप है । हे रामजी ! यह मन रूपी एक बीज है, जिससे संसार रूपी वृक्ष उत्पन्न होता है । सातो लोक इसके पत्र हैं और शुभाशुभ सुख, दुःख फल हैं । इसी से यह मन सकल्प से रहित होने पर नष्ट हो जाता है । और सकल्प के उठने पर अनर्थों का कारण होता है । यदि तुम सन्तोष द्वारा मन वश में कर लो तो यह निश्चय है कि उस नित्य उदय रूप निरोह परमपावन, निर्मल, समय, अनन्त और सब विकारों व विकल्पों से परे जो आत्मपद शेष है उसको प्राप्त अवश्य करोगे ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का पचानव का सर्ग समाप्त ॥ ९ ॥

छियानवे का सर्ग ।

मन निरूपण

वाशिष्ठ जी ने कहा,—हे राम जी ! जिसके मन में तीव्र संवेग होता है, मन उसी को देखता है । अज्ञानता से जो दृश्य का तीव्र संवेग हुआ है, उससे चित्त जन्म मरण आदि का विचार देखता है और निश्चय के अनुसार ही अनुभव करता है । उसमें जैसी स्फूर्ति होती

हे, वह वैसाही रूप हो जाता है। अस्तु, यह अत्यन्त ही चंचल रूप है। यह सुन कर राम जी ने प्रश्न किया कि, हे गुरु जी ! क्या इस वेग आवेग का कारण स्वरूप ऐसे चंचल मन की निवृत्ति किसी प्रकार हो सकती है ? वशिष्ठ जी ने उत्तर दिया,— हे राम जी ! जब यह चंचल ही है तब उससे रहित कैसे होगा ? हमने तो कहीं नहीं देखा कि, मन भी चञ्चलता से रहित हो। यदि यह चञ्चलता से रहित हो जायगा तो इसमें जो स्फुरना की मानसिक शक्ति जगताडम्बर का कारण रूप है, वह कहाँ जायगी। तब तो वह मृतक ही है न ! ऐसे लोग जो मन की चपलता से दूर हैं वे मृतक के ही समान हैं। शास्त्रवेत्ताओं ने मन के मृतक रूप को ही मोक्ष कहा है। क्योंकि मन के नष्ट होने पर सभी दुःखों का नाश हो जाता है। फिर तो आनन्द स्वरूप आत्मपद की ही प्राप्ति होती है। हे राम जी ! मन की चपलता से रहित होने के लिए, आवश्यक है कि, वासनाओं का त्याग किया जाय। यदि वासना का त्याग सफल हो सके तो मन का शान्त होना निश्चय है। पर यह अभ्यास के बिना संभव नहीं। अभ्यास भी साधारण नहीं होना चाहिए। पूर्ण विवेक पूर्वक विचाराभ्यास से ही यह जड़ता नाश होगी। फिर तो चेतन आत्म-सत्ता ही भासित होगी। हे राम जी ! भाव और अभाव रूपमें संसारके जितने भी पदार्थ हैं, सबको मन ने ही उत्पन्न किया है। इस कारण मन को ही उपशम करना चाहिए। बिना इसको उपशम किये बन्धन से मुक्त होना असम्भव है। इस मनको मन ही उपशम कर सकता है, अन्य कोई नहीं। जिस भाँति नृपति के साथ नृपति ही युद्ध कर सकता है, उसी भाँति मन के साथ मन ही युद्ध कर सकता है, अन्य नहीं। अस्तु शांति के लिए तुम मन से ही मन को मारो। हे राम जी ! संसार सागर को पार करने के लिए, मन ही नौका रूप है। शुद्ध मन रूपी नौका पर बैठ कर इसे पार करना चाहिए। हे राम जी ! यह जो बन्धन का कारण रूप और दृश्यों की और

दौड़ने वाला अपना मन है, इसको मन से ही छेद कर वैराग्य लो । तभी उससे मुक्त होवोगे अन्यथा नहीं । भोग वासना का त्याग करने पर तो बिना यत्न ही जगत की वासना छूट जायेगी । इसके छूट जाने पर तो अक्षय सुख की ही प्राप्ति होगी और अनेक प्रकार की भावना करनेवाला मन भी नष्ट हो जायगा ।

श्री योगवशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण छियानवे का, सर्ग समाप्त ॥ ९६ ॥

सत्त्वानवे का सर्ग ।

हे रामजी । वासना का उठना भ्रान्ति से है और आत्मा में जगत भी भ्रान्ति से ही भासता है । इससे भ्रान्तिरूपी वासना को ही त्यागो । ज्ञानियों को जगत नहीं भासता । पर जो अज्ञानी हैं वे ससारके नाम से ही संसार को अद्भूत करके हैं । किन्तु ज्ञानी व समदर्शी के लिए तो आत्मतत्त्व से भिन्न सब अवस्तु रूप ही जान पड़ता है । और वास्तव में असत्यरूप है भी, कारण कि, आत्मतत्त्व ही अपने रूप में स्थित है । हे राम जी । नित्य, शुद्ध सम और अद्वैत रूप तुम अपने आप ही हो । न तो तुम कर्ता हो और न अकर्ता हो । कर्ता, अकर्ता, ग्रहण और त्याग भेद को ही लेकर कहाता है । इससे तुम अपने को कर्ता और भोक्ता न मानो । क्योंकि कर्तव्य इत्यादि तो तब होता है, जब कुछ ग्रहण व त्याग होता है । और ग्रहण व त्याग भी तब होता है जब पदार्थ सत्य भासते हैं । पर यह सभी पदार्थ मिथ्या इन्द्रजाल की माया के समान हैं । फिर ऐसे मिथ्या पदार्थों में विश्वास कर उसका ग्रहण व त्याग करना क्या है ? हे रामजी । चित्त में चैत्यन्व वासना कुरती है । वही मोह का कारण है । वही वासना ससार के पदार्थों को उत्पन्न करती है । यह संसार देखने में तो बड़ा सुन्दर मालूम पड़ता है, पर जैसे बाँस बड़े विस्तार को पाता है और भीतर से शून्य है वैसे ही यह भी भीतर से शून्य है । इससे कुछ नहीं है । इसी से यह संसार अपार रूप व नाशरूप

है। यह सृगतृष्णा के समान असत्य है। ऐसी अविद्या माया निम्न
 इस जगत की उत्पत्ति हुई है, कहीं विकार, कहीं स्पष्ट और कहीं
 दीर्घरूप भासती है। यद्यपि यह जड़ है तथापि आत्मसत्ता को पकड़
 चेतन होकर तद्रूप से भासित होती है। फिर भी असत्य रूप ही है
 निमित्तमात्र के भूलने से बहुत भ्रम दिखाती हुई प्रकाशरूप आत्मा
 तम दिखाती है कि, मैं आत्मा को नहीं जानता। हे रामजी
 जिस प्रकार उल्लू को सूर्य में अन्धकार जान पड़ता है, उसी प्रकार
 मूर्खों को अनुभव रूप आत्मा नहीं जान पड़ता। उनको अविद्या
 असत्य रूप जगत ही भासता है। यह अविद्या अनंगरंग विविध
 विकारता, सूक्ष्मता, कोमलता और कठिनता का ही रूप है।
 स्त्री की भाँति चञ्चल चोभरूपी सर्पिणी है और तृष्णा रूप
 मार डालती है। हे रामजी। भोगों में प्रीति करना
 बढ़ाना है। यह तृष्णा की चिर संगिनी है और भोगरूप
 विजुली की भाँति चमत्कार करती है। इसके आश्रय में जो
 जायगा, कदापि न होगा। क्योंकि यह क्षणभंगुर रूप है।
 बहुत यत्न करने से मिलता है, इससे जब यह मिल जाता है
 अनर्थ भी करता है। पर जितना ही यह विस्मरण होता है
 अधिक सुख भी मिलता है। इसलिए सुख के हेतु
 ही ठीक है। स्मरण तो दुःख का कारण है। जैसे
 स्मरण करने से कष्ट होता है, वैसे ही अविद्या-ज्ञान
 होता है। क्षणमात्र में यह अविद्या त्रैलोक्य की
 और क्षण में ही ग्रास लेती है। हे रामजी।
 वियोगी पुरुष के लिए एक रात्रि कटना कर
 वही रात्रि सुखी प्राणी को एक क्षण के समान
 कोई भी पदार्थ नहीं। जो अविद्या से
 जितना जाल है, सब अविद्या
 पदार्थों को दिखाती है।

र
 अन-
 कोध
 बढ़ाती
 रखा
 ७॥

आहम्बरोवाली मृग तृष्णा की नदी असत्यरूप है, उसी प्रकार यह आहम्बरी जगत भी असत्यरूप है। जिस प्रकार मृग तृष्णा के जल को देखकर मृग दौड़ जाते हैं और कण्टवान होते हैं, उसी प्रकार अज्ञानी इस जगत के पदार्थों को देख कर दौड़ते हैं और कण्टवान होते हैं। ज्ञानी तृष्णा के पीछे नहीं दौड़ते। वे शांति के इच्छुक हैं। पर अज्ञानी कहाँ ? जगत में कोई सार वस्तु ऐसा नहीं जो शान्तिरूपी हो। यह जडरूपी अविद्या पिंडाकार और चेतन से अभिन्न किन्तु भिन्न की नाई ही स्थित है। जिस प्रकार मकड़ी अपनी तन्तु फैलाकर अपने में लीन कर लेती है किन्तु वह उससे अभिन्न रूप होते हुए भिन्न की नाई जान-पड़ती है और जैसे अग्नि से धुआँ निकल कर बादलाकार हो ख खींचता है और वही मेघ होकर बरसता है, उसी प्रकार अविद्या आत्मा से उत्पन्न होकर और आत्मसत्ता पाकर जगत की रचना करती है। इसी जगत में यह जीव घट-यन्त्र के समान त्रैगुणी वासना से बंध कर भटका करता है। यह जगत अविद्यारूपी कीचड़ से उत्पन्न कमलदण्ड के छिद्रों के समान अनेक विकाररूपी दृश्यों को लेकर उत्पन्न हुआ है। इसमें सार वस्तु कोई नहीं है। यह अविद्या विषयों की तृष्णा से बढ़ती है। रहित होने से शान्त होती है। तृष्णा ही इसको तेल रूप होकर दीपशिखा की नाई प्रकाशमान करती है। यदि तृष्णारूपी तेल न रहे और विवेकरूपी पवन चले तो यह दीपशिखा न मालूम कहाँ चली जाय। यह अविद्या कुहिले की भाँति ढके है। पर इसको पकड़ा जाय तो कुछ हाथ न लगे। केवल देखने मात्रसे ही दृष्टि आती है, विचार करने से तो नाम मात्र को भी नहीं रहती। जिस प्रकार स्वप्न सृष्टि व मृगतृष्णा का जल और रस्सी में सर्प तथा आकाश में दूसरा चन्द्रमा भ्रम से भासित होता है, उसी प्रकार यह अविद्यारूपी जगत अज्ञानी को सत्य जान पड़ता है। पर यह दीर्घकाल का सुपना है। इसकी सत्यता केवल मूर्खों के ही चित्त में रहती है और भोगों की

तृष्णा दुःख दिया करती है। यह भोग पहले तो अमृतके समान सुख-
दायी जान पड़ते हैं परन्तु परिणामतः विष के समान होते हैं। इसी
को अज्ञानी सुन्दर जानते हैं। जिस प्रकार मूर्ख फतिङ्गे दीपक को
सुख की खानि जान कर उसकी वाञ्छा करते हैं परन्तु स्पर्श करते ही
नाश को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार भोगों को स्पर्श कर यह जीव
भी नाश हो जाता है। अस्तु आकाशकी लालिमा के समान ही अविद्या
से यह जगत जान पड़ रहा है। इस अविद्या को नष्ट करने के लिए
केवल आत्मज्ञान ही सुन्दर उपाय है। यत्न पूर्वक मन के प्रवाह
को रोको। हे रामजी ! यह जितना कुछ दृश्यरूपी जगत है, सब
तुच्छरूप है। फिर भी बड़ा आश्चर्य है कि, मिथ्याभावना को लेकर
संसार ग्रन्धा हुआ है। नहीं तो यह अविद्या निराकार और शून्य
है। इसी ने सत्य होकर संसार को ग्रन्ध बना रक्खा है और संसार
के लोग इन्हीं असत्य पदार्थों को सत्य जानकर यत्नवान हो रहे हैं।
वह चिदानन्द आत्मा सर्वदा अनुभव से प्रकाशित होता रहता है।
पर अविद्यावश नहीं जान पड़ता। इसी असत्य रूप अविद्याने जगत
को ग्रन्धा बनाया है। यही कुकर्मा को करा रही है। पर विचार
किया जाय तो नष्ट हो जायगी। यह इतनी प्रबला है कि, बड़े धैर्य-
वान और धर्मात्मा को भी अपने वश में कर समर्थवान नहीं होने
देती। यह अविचारों से सिद्ध की हुई अविद्यारूपी स्त्रा पुरुषों को
ग्रन्धा कर दुःखों को विस्मृत कर रही है। यही उत्पत्ति, नाश और
सुख दुःखको प्रकट करती है और आत्मा को भ्रममें डाले हुए अज्ञान-
वश अनेक दुःखोंको दिखलाती हुई बोधसे हीन करती हुई काम क्रोध
को उत्पन्न करती और हृदय में वासना के सहारे भावना को बढ़ाती
है। हे रामजी ! इसी निराकाररूप अविद्याने ही जीव को बाँध रक्खा
है। स्वरूप के प्रसाद को ही अविद्या कहते हैं, अन्य को नहीं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति-प्रकरण का सत्तानव का सर्ग समाप्तः ॥१७॥

अज्ञानवे का सर्ग ।

अविद्या का है ?

इस प्रकार—मुनि शार्दूल वशिष्ठ जी के यह निश्चय, पूर्वक बतलाने पर कि, अविद्या से ही जगत उत्पन्न हुआ है, राम जी ने पूछा कि, हे भगवन् । जब अविद्या, से ही जगत की उत्पत्ति है तब इससे किस प्रकार निवृत्त हो सकते हैं ? वशिष्ठ जी कहने लगे,—हे रामजी ! इस अविद्या को नाश करनेके लिए आत्म प्रकाश की आवश्यकता है । आत्म-दर्शन से ही यह नष्ट होगी, अन्यथा नहीं । जब आत्मा के दर्शन की इच्छा होती है, तब वही इच्छा मोह को नाश करती है । आत्म पद की इच्छा से धूप से छाया नाश हो जाने के समान ही अविद्या नाश हो जायगी । दृश्य पदार्थों में इच्छा उत्पन्न होना ही अविद्या है । और उस इच्छा का नाश ही विद्या है । विद्या ही को मोक्ष कहते हैं । अविद्या को नाश करने के लिए यह सरल मुक्ति है कि, इच्छा न हो और चित्त की वृत्ति चिन्मात्र में स्थित हो । इस भाँति जब वासना नष्ट हो जायगी तब आत्म प्रकाश स्वयम् हो जायगा । इससे विवेक को उत्पन्न कर अविद्या को नाश करना चाहिए । हे राम जी ! यह मनुष्यसंसार की दृढ़ वासना में बंधा हुआ है और मूर्ख बालकके समान परछाही में गैताल के सदृश कल्पना का उदय होता हुआ निज वासना से पा रहा है । राम जी ने पूछा,—हे भगवन् । वह आत्मा कैसा है कि जिससे अविद्या नाश होती है ? वशिष्ठ जी बोले,—हे रामजी ! जो अशब्दरूप, चेतन, सर्वगत समभाव अनुभव रूप और जो चेतन तत्व है, वही आत्मा परमात्मा है । हे राघव ! इस जगत में ब्रह्मा से तृष्ण पर्यन्त जो कुछ जगत है, सब आत्मा है, अविद्या कोई नहीं और आत्म तत्व से भिन्न कुछ नहीं है । हे राम जी ! समस्त शरीरधारियों में वही अविनाशी पुरुष स्थित है । निज कल्पना से अन्य के समान भासित होता है, किन्तु वह

आत्मत्व के परे अन्य नहीं है। न कोई जन्म लेता है, न मरता है। कारण कि आत्मत्व समान भाव से नित्य प्रकाश-स्वरूप व चेतना से रहित अपने आपमें स्वतः स्थित है। वही नित्य शुद्ध निर्विकार अद्वैत और चिन्मात्र सत्ता, आत्मा है। उसी सर्वशक्तिमान आत्मामें कलनावश जब शक्तिका उदय होता है, तब उसी का नाम मन होता है। वह मन भी कैसा है, जैसे समुद्र की लहरें। वही अपनी चेतनावश मन होता है। वही मन संकल्पवश दृश्य भासता है और वही अविद्या है। यह अविद्या से ही उत्पन्न व नाश होता है। चित्त-विवृत्ति के स्फुरण से अविद्या भी बढ़ती है। विवृत्ति का नाश हो-नो अविद्या भी नाश हो जावे। हे रामजी। मैं ब्रह्म नहीं हूँ—ऐसे निश्चय से तो मन दृढ बन्धनमय होता है, पर 'सब ब्रह्म है' ऐसे निश्चय से मुक्त होता है। आशय कि दृश्योंका सकल्प करना ही बन्धन और निःसंकल्प ही मोक्ष है। अविद्याके बन्धन में यही यथार्थ निर्णय है। आगे तुम्हारी जैसी इच्छा हो करो। मेरे विचारसे तो अविद्या भावना मात्र ही है। जन्म, मरण, अस्थि मांस वाला और दुःखी तथा तृपित होने का भाव ही बन्धन का कारण है। जो ऐसा न जाने वह प्राणी मुक्त है। अज्ञानी ही आत्मा में अविद्या की कल्पना करते हैं ॥ अन्यथा अविद्या ही नहीं। इतना सुनकर रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! सुमेरु पर्वत की छाया और आकाशमें नीलताका होना सत्य है वा नहीं। वशिष्ठ जी ने उत्तर दिया, नहीं आकाश में छाया कहाँ? आकाश तो पोल मात्र और गुण में शून्य है। वह शून्यता ऐसी दृढ़ है कि उसमें नीलता भासती है। नहीं तो कुछ नहीं है। मन्द दृष्टिवाले नीलता देखते हैं, दिव्य दृष्टि वाले नहीं। उनको तो पोलमात्र भासता है। जिस प्रकार मन्द दृष्टि वालों को नीलता जान पड़ती है, उसी प्रकार अज्ञानियों को अविद्या सत्य ही जान पड़ती है। मन्द दृष्टि वाले को जहाँ तक दृष्टि पहुँचती है, वहाँ तक तो उन्हें आकाश स्वच्छ और निर्मल जान पड़ता है, पर जहाँ उनकी दृष्टि नहीं पहुँचती कुठित हो

जाती है, वहाँ उनको नीलता ही जान, पड़ती है। जिस भाँति अन्धे को हरियाली ही सूझती है, उभी भाँति आत्म दृष्टिके ज्ञय होनेवाले को दुःख रूपी अविद्यामय सृष्टि ही भासती है। हे रामजी! चेतनके अतिरिक्त जो भी स्मरण किया जाय, सब अविद्या है। हाय, आकाश कुसुम के समान यह अविद्या मूर्खों को सत्य प्रतीत होती है, पर इसकी कोई वास्तविकता नहीं है। यह भावनामयी अविद्या महा दुःखका कारण है। जब यह भावना आत्मा को ओर खिचे तब अविद्या का लोप होवे। भावना का अर्थ है, बारम्बार चिन्तवन करना। जब यह आत्मा की ओर चिन्तवन करे तब अविद्या भी नाश होवे। हे रामजी! मन तो राजा है। इन्द्रियों उसके टहलुवे का कार्य करती हैं। यदि तुम वास्तविक विषयो की भावना त्यागकर आत्म चिन्तवन करो तो निश्चय ही आत्मपद को प्राप्त करोगे। जिन महा पुरुषोंने ऐसा किया है, वे मोक्ष को प्राप्त हो गये हैं। हे रामजी! जिसका कोई आदि नहीं, उसका अन्त भी नहीं है। इसमें आदि अन्त कुछ नहीं, सब ब्रह्म की ही सत्ता है। पर जो भिन्न जान पड़ता है, वह केवल मन है। अन्यथा तुम्हारा स्वरूप तो ब्रह्मतत्त्वमय और आदि अन्त से रहित है। फिर शोक क्यों करते हो। पुरुषार्थ बलसे सासारिक विषयों को चित्तसे हटा दो और आत्मपद का अभ्यास करो। दृढ़ अभ्याससे दृश्य भ्रम को भस्म कर दो। क्योंकि सांसारिक वासनाओं का उदय होना ही जरा मरण आदिक मोह को उत्पन्न करना है। तब पुत्र, बन्धु, बान्धव, धन, अपने और परायेकी भावना होकर महा मोहरूपी फाँसीमें लटका देता है। अन्यथा जिस शरीर से यह सब उदय होता है, वह मिथ्या और शून्य रूप है। अविद्यारूपी वासनामें पडकर वायुगोलेके समान तृष्णामत् यह शरीर उडता है। उसी में अह, त्व रूपी जगत को अज्ञानी देखता है। पर ज्ञानी को तो सर्वत्र ही सत्य जान पड़ता है। उस सम्पकदर्शी के लिए जगत का भ्रम नहीं है। अतएव तुम भी आत्मा का चिन्तवन करो। जेवरी के प्रति दो विकल्प होता है।

एक तो रस्सी का दूसरा सर्प का । यह-दोनों ही अज्ञानी के लिए हैं । ज्ञानी के लिए नहीं । इससे हे रामजी ! तुम भी ज्ञानी बनो । जगतकी जो वासनायें हैं उनको त्याग देनेसे तुम परम शान्तिको प्राप्त होवोगे । हे रामजी ! यह अस्थि मांस की थैली रूपी शरीर मृकवत् जड़ है । पर तुम ऐसा क्यों होते हो । इस शरीर का अभिमान करना महा दुःख का कारण नाशवान है । पर आत्मा का कभी नाश नहीं होता । इससे तुम आत्मसत्ता में ही स्थित होवो । हाय ! महान आश्चर्य है कि मनुष्य सत्य स्वरूप ब्रह्म-सत्ता को भूलकर असत्य और अविद्या का बार-बार स्मरण करते हैं । पर तुम इसको न प्राप्त करो । हे रामजी ! मन के फुरने में ही सब कुछ है । मरुस्थल की नदी और जेवरी में सर्प और सुख दुःख का अनुभव सब कुछ मन ही से है । मन के प्रमाद से ही आत्मा में दुःख का अनुभव होता है । ऐसे ही प्रमादी व अज्ञानी को उस शून्य अणु में भी संसार के सब भ्रम दृष्टिगत होते हैं । अतः सब से पहिले तुम संसार की वासनाओं का त्याग करो । यह संसार वासना व बन्धन का मुख्य स्तम्भ है । सब भावों में रहो, पर राग किसी में न रखो । जो प्राणी ऐसा है उसको शास्त्रोपदेश की आवश्यकता नहीं है । अस्तु लेन देन और बोल चाल सब कुछ प्राकृत आचार करो, पर अभ्यांतर से उसका कुछ भी गर्व न करो । यही सबसे सच्चा और उत्तम ज्ञान है ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति प्रकरण का अष्टादशोऽध्यायः समाप्त ॥ ९८ ॥

निन्यानवे का सर्ग ।

सुख-दुःख भोक्तव्यो पदेश वर्णन

यह कह कर वात्मीकि जी बोले कि जब वशिष्ठ जी ने ऐसा कहा तब रामचन्द्रजी उन महर्षि की ओर मग्न हृदय से देखने लगे और बोले कि, महान् आश्चर्य है जो पद्म तंतु के साथ पर्वत बंधा है । अविद्या भी कैसी अविद्यमान न रहते हुए भी वज्र से भी कठिन बन्धन में बंधी है और असत्य रूप

जगत को सत्य के समान स्थित किये है। हे भगवन ! ऐसे संसार की माया का क्या रूप है कि जिससे महापुण्यशाली राजा लवण भी महान् विपत्ति को प्राप्त हुआ और इन्द्रजाली ने भी भ्रम दिखलाया। सो वह दोनों कौन थे कि, जिनको स्वतः कोई लाभ न था ? फिर वह दोनों कहाँ चले गए और देही व देहका कैसे सम्बन्ध हुआ ? प्राणी शुभ और अशुभ कर्मों का फल कैसे भोगते हैं ? हे भगवन ! कृपाकर मेरे ज्ञान के लिए इन सब प्रश्नों का उत्तर दीजिए।

वशिष्ठ जी ने उत्तर दिया,—हे रामजी ! यह शरीर काष्ठ व मिट्टी के समान और चित्त से कल्पित है। चेत्यसम्बन्ध से जीव-पद को प्राप्त हुआ है। जीव चित्तसत्ता से सुशोभित है। यह महा चञ्चल संसार चित्त के फुरने से ही उत्पन्न हुआ है। फुरने ही से अनेक देह धारण करता है। अहंकार, मन और जीव इस चित्त के नाम हैं। चित्त ही अज्ञानवश सुख और दुःख भोगता है, शरीर नहीं भोगता। पर जो प्रबुद्ध चित्त है वह तो शान्तरूप है, मन की अप्रबुद्धता ही अविद्यारूपी निद्रा में शयन करना है। मनके प्रबुद्धवान् एव ज्ञानवान् होने पर तो संसार-भ्रम निवृत्त हो जाता है। अतः अज्ञान ही दुःख का कारण है। यह पञ्च भौतिक शरीर शास्त्र अभिमानी होकर शुभा शुभ जैसा कर्म करता है, वैसा भोगता है। जितना कुछ इष्ट-अनिष्ट सुख, दुःख है केवल मनके फुरने में है। शरीरमें स्थिर होकर मन ही सबकुछ करता है। जिस प्रकार वृत्तों को वायु चञ्चल करता है, उसी प्रकार सुख दुःख की जो भी क्रिया है, सब मन ही करता है। मनही भोगता और मनही मनुष्य है।

हे रामजी ! लवण राजा का वृत्तान्त ऐसा है कि, वह मनके मूढने से ही चाण्डाल हुआ। क्योंकि मनसे जो भी किया जाय, वही सफल होता है। एक समय राजा लवण अपने उपवन में बैठा था कि, पूर्वजों का स्मरण करके, उसने, राजसूय यज्ञ करने का निश्चय किया। तब चिन्तवन करके मानसी यज्ञ आरम्भ किया।

ऋषि, मुनि, देवता और अग्नि, पवन जिनका भी पूजन करना चाहिए था किया। दान दक्षिणा देना जो भी आवश्यक था, मनसे दिया। निरन्तर सवावर्ष उसने ऐसा मानसी यज्ञ किया और मानसी फल भोग किया। अतएव हे रामजी। समस्त कर्म मनसे होते हैं। मन ही भोक्ता है। जैसा चित्त है, वैसा ही पुरुष है। पूर्ण चित्त से पूर्णता और नष्ट चित्त से नष्टता होती है। मैं शरीर हूँ, ऐसा निश्चय करना बड़ी नीचता है। इससे अनेक दुःख मिलता है। अस्तु विवेक (ज्ञान) का आश्रय ग्रहण करो। विवेकी पुरुषो को दुःख नहीं प्राप्त होता। वे संसार के दुःखों को सहज ही मेतर जाते हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति प्रकरणे कानिन्यानने का सर्ग समाप्त ॥ ९९ ॥

सौ का सर्ग ।

तत्त्व विवेचन

रामजी ने प्रश्न किया—हे भगवन् । राजा लवण के राजसूय यज्ञ करने और फल भोगने की कथा तो हम सुन चुके पर अब उस शाम्बर का परिचय दीजिए कि, जिसने राजाको भ्रम दिखलाया। वाशिष्ठ जी ने कहा,—वह इन्द्र का भेजा दूत था। शाम्बर के रूप में राजा लवण को भ्रम दिखलाने आया था। हे रामजी। यह नियम है कि जो राजसूय यज्ञ करता है उसको वारहवर्ष तक कठिन आपदा भोगनी पड़ती है। वह आपदा उसके मनसे ही उत्पन्न होती है। आपदा भोगवानेके लिए ही इन्द्रने उसको भेजा था। उसने पहुँच कर राजा लवण को भ्रम दिखला दिया और उन्होंने भोग किया। यह मैंने प्रत्यक्ष देखा है। लवणने मनसे ही राजसूय यज्ञ किया था। इससे आपदाको भी उसने मनसे ही भोग किया। अस्तु यही करता और यही भोक्ता है। निज सकल्पों के अनुसार सुख दुःख का अनुभव होता है। यदि मन स्फुरित न हो तो वह स्थिर कहा जायगा और स्थिर होने से आपदायें स्वतः

इस पर रामजी ने

किया कि, हे भगवन् । जब

जगत को सत्य के समान स्थित किये है। हे भगवन ! ऐसे संसार की माया का क्या रूप है कि जिससे महापुण्यशाली राजा लवण भी महान् विपत्ति को प्राप्त हुआ और इन्द्रजाली ने भी भ्रम दिखलाया। सो वह दोनों कौन थे कि, जिनको स्वतः कोई लाभ था ? फिर वह दोनों कहाँ चले गए और देही व देहका कैसे सम्बन्ध हुआ ? प्राणी शुभ और अशुभ कर्मों का फल कैसे भोगते हैं ? हे भगवन ! कृपाकर मेरे ज्ञान के लिए इन सब प्रश्नों का उत्तर दीजिए ।

वशिष्ठ जी ने उत्तर दिया,—हे रामजी ! यह शरीर काष्ठ व मिट्टी के समान और चित्त से कल्पित है । चेत्यसम्बन्ध से जीव-पद को प्राप्त हुआ है। जीव चित्तसत्ता से सुशोभित है। यह महाचञ्चल संसार चित्त के फुरने से ही उत्पन्न हुआ है। फुरने ही से अनेक देह धारण करता है। अहंकार, मन और जीव इस चित्त के नाम हैं। चित्त ही अज्ञानवश सुख और दुःख भोगता है, शरीर नहीं भोगता। पर जो प्रबुद्ध चित्त है वह तो शान्तरूप है, मन की अप्रबुद्धता ही अविद्यारूपी निद्रा में शयन करना है। मनके प्रबुद्धवान एव ज्ञानवान होने पर तो संसार-भ्रम निवृत्त हो जाता है। अतः अज्ञान ही दुःख का कारण है। यह पञ्च भौतिक शरीर शास्त्र अभिमानी होकर शुभा-शुभ जैसा कर्म करता है, वैसा भोगता है। जितना कुछ इष्ट-अनिष्ट सुख, दुःख है केवल मनके फुरने में ही। शरीरमें स्थिर होकर मन ही सब कुछ करता है। जिस प्रकार वृत्तों को वायु चञ्चल करता है, उसी प्रकार सुख दुःख की जो भी क्रिया है, सब मन ही करता है। मनही भोगता और मनही मनुष्य है।

हे रामजी ! लवण राजा का वृत्तांत ऐसा है कि, वह मनके भ्रमने से ही चाण्डाल हुआ। क्योंकि मनसे जो भी किया जाय वही मफल होता है। एक समय राजा लवण अपने उपवन में बैठा था कि, पर्वजों का स्मरण करके, उसने राजसूय यज्ञ करने का निश्चय किया। तब चिन्तवन करके मानमी यज्ञ आरम्भ किया।

ऋषि, मुनि, देवता और अग्नि, पवन जिनका भी पूजन करना चाहिए था किया। दान दक्षिणा देना जो भी आवश्यक था, मनसे दिया। निरन्तर सवावर्ष उसने ऐसा मानसी यज्ञ किया और मानसी फल भोग किया। अतएव हे रामजी !—समस्त कर्म मनसे होते हैं। मनही भोक्ता है। जैसा चित्त है, वैसा ही पुरुष है। पूर्ण चित्त से पूर्णता और नष्ट चित्त से नष्टता होती है। मैं शरीर हूँ, ऐसा निश्चय करना बड़ी नीचता है। इससे अनेक दुःख मिलता है। अस्तु विवेक (ज्ञान) का आश्रय ग्रहण करो। विवेकी पुरुषो को दुःख नहीं प्राप्त होता। वे संसार के दुःखों को सहज ही मे तर जाते हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति प्रकरणे कानिन्यानने का सर्गः समाप्त ॥ ९९ ॥

सौ का सर्ग ।

तत्त्व विवेचन

रामजी ने प्रश्न किया—हे भगवन् ! राजा लवण के राजसूय यज्ञ करने और फल भोगने की कथा तो हम सुन चुके पर अब उसे शाम्बर का परिचय दीजिए कि, जिसने राजाको भ्रम दिखलाया। वशिष्ठ जी ने कहा,—वह इन्द्र का भेजा दूत था। शाम्बर के रूप में राजा लवण को भ्रम दिखलाने आया था। हे रामजी ! यह नियम है कि जो राजसूय यज्ञ करता है उसको बारहवर्ष तक कठिन आपदा भोगनी पडती है। वह आपदा उसके मनसेही उत्पन्न होती है। आपदा भोगवानेके लिए ही इन्द्रने उसको भेजा था। उसने पहुँच कर राजा लवण को भ्रम दिखला दिया और उन्होंने भोग किया। यह मने प्रकृत देखा है। लवणने मनसे ही राजसूय यज्ञ किया था इससे आपदा भी उसने मनसे ही भोग किया। अस्तु यही करता करे भोक्ता है। निज संकल्पों के अनुसार सुख दुःख का अनुभव होता है। यदि मन स्फुरित न हो तो वह स्थिर कहा जा सकता है। होने से आपदाये स्वतः मिट जाती हैं।

इस पर रामजी ने फिर प्रश्न किया कि

हेतना चंचल और सुख दुःख की खानि, हे तब इसकी चपलता कैसे नष्ट होगी ? वशिष्ठ जी ने कहा,— हे रघुकुल शिरोमणि रामचन्द्रजी ! एक युक्ति सुनो । समस्त भूतों की उत्पत्ति ब्रह्मसे है । यह सात्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की उत्पत्तियाँ होती है । सर्व प्रथम शुद्ध चिन्मात्र ब्रह्म मे जो कलना उठती है, उसके बाह्य सुधी स्फुरण को मन कहते हैं । वही ब्रह्मा का रूप है । उसीने सुख दुःख जरा-मरण मोह इत्यादि ससार की कल्पना किया है । कल्पना करके वह निर्वाण हो गया है । संकल्प वश उत्पन्न होना और—लीन होना ही उसका मुख्य कार्य है । इस भाँति अनेक कोटि ब्रह्माण्ड ब्रह्मा से उत्पन्न हो २ कर लीन हो गए हैं । अभी कितने होंगे और कितने वर्तमान हैं । हे रामजी ! उस शुद्ध ब्रह्मतन्व से पहिले मन सत्ता उत्पन्न हुई है । उसने चेत किया तो आकाश हुआ । फिर वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी क्रमश उत्पन्न हुये । पुनः त्रिदशक्तिपञ्च-भूतों को प्राप्त हुई और सूक्ष्म प्रकृति रूपी अन्तःकरण पृथ्वी, तेज और वायु से मिलकर धान्य में प्राप्त हुआ । जब धान्य को प्राणी भोजन करते हैं तब वह रुधिर वीर्य रूप होकर गर्भ मे जाता है । तब पुरुष उत्पन्न होता है । उत्पन्न होते ही वह वेद पढने लगता है, गरु के समीप जाता है और क्रमशः उसकी विवेक बुद्धि होकर चमत्कार दिखलाती है । पश्चात् उसको ग्रहण, त्याग और शुभाशुभ का विचार उत्पन्न होता है । फिर तो उमीके अनुसार वह निर्मल अन्तःकरण सहित स्थित होता है ।

श्री योगवशिष्ठ भाषा उत्पत्तिप्रकरण का सौवाँ सर्ग समाप्त ॥ १०० ॥

एक सौ एक का सर्ग ।

सप्तभूमिकोपदेश वर्णन

इस प्रकार सात्विक ज्ञान का विशद विवेचन हो चुकने पर राम जी ने सप्तभूमिका सम्बन्धी प्रश्न उपस्थित किया तब वशिष्ठजी

कहने लगे,—हे रामजी ! ज्ञान की सप्त भूमिका एक बड़े महत्त्व का विषय है। यह प्रश्न उपस्थित कर आपने बड़ा अच्छा किया। क्योंकि इसको जान लेने पर प्राणा मोह पंक में नहीं फँसता। इसका वर्णन बहुत प्रकार से हो सकता है। पर मेरा निश्चय मत है कि, यह ज्ञान की सप्तभूमिका सात प्रकारकी है। शुभेच्छा विचारना, तनुमानसा सत्त्वापत्ति, असंशक्ति, पदार्थ भावनी और तुरीया यही क्रम पूर्वक सातों नाम हैं। जो इनके तत्वों को प्राप्त करे वह कभी शोक नहीं कर सकता। पहले 'शुभेच्छा' को सुनो। हे रामजी ! सत्संगति और सच्छास्त्रों का वैराग्य पूर्वक अध्ययन करने का नाम शुभेच्छा है। विचार उमको कहने हैं जो वैराग्य और सत्मार्गका अभ्यास करते हुए सत्याचार में प्रवृत्त रहा जाय और सत्यामत्य को जानकर उनका त्याग किया जाय। तनुमानसा वह है जो विचार व शुभेच्छा सहित तत्व का अभ्यास कर इन्द्रिय निग्रह किया जाय। चौथी भूमिका सत्त्वापत्ति है। सत्त्वापत्ति वह है जिसमें इन तीनों भूमिका शुभेच्छा विचारना और तनुमानसा का अभ्यास कर इन्द्रिय निग्रह और जगतसे अलग किया जाय तथा श्रवण मनन और निदिध्यासन से सत्य अज्ञान स्थित हुआ जाय। असंशक्ति नामी भूमिका वह है जिसमें इन तीनों से असंशक्त रहा जाय। छठवीं पदार्थाभावनी भूमिका वह है जिसमें कि दृश्य का विस्मरण और भीतर बाहर से सभी पदार्थों का भ्रम हो। हे रामजी ! तुरीया भूमिका ऐसी है जिसमें इन तीनों की प्रतीति हो। इस अवस्था को जीवनमुक्त अवस्था कहते हैं। सातों प्रकार की भूमिकाओं का संचित वर्णन है। इन सब के अभ्यास जगत की जाग्रत अवस्था की है और चौथी तत्वज्ञान और जगत्की व छठी जीवनमुक्त अवस्था की हैं। सातवीं तुर्गात्मनः इति मुक्तस्थित होता है। जो बड़ा भाग्यशाली है वह इस अवस्था में स्थित होता है और वही महा पुरुष इति नाम्ना प्रसिद्ध है। ऐसे जीवनमुक्त पुरुष

महा पुरुष इति नाम्ना प्रसिद्ध है।
इति आर

होकर अपने प्राकृत आचारको करते हैं। वह कुछ न भी करें तो भी उनको कोई बन्धन नहीं। उनको क्रिया का ज्ञान नहीं रहता। कारण कि सप्तभूमिका में सब का अभाव हो जाता है। हे रामजी। इस भूमिका का मुख और पापियों के चित्त में समावेश नहीं होता। यह तो ज्ञानियों का विषय है। पशु और राजसो को इसमें अधिकार नहीं। हे रामजी। जो ससार में विरक्त होकर इन भूमिकाओं में आए हैं वे मोहरूपी सागर में गोते नहीं खाते और आत्मपदको पाकर पूर्ण आत्मा हो जाते हैं। हे रामजी। सभी पुरुष सातो भूमिकाओं तक नहीं पहुँचते। कोई पहली कोई दूसरी और कोई तीसरी को ही पाते हैं। सातो को तो बहुत कम लोग प्राप्त करते हैं। कोई अर्द्ध भूमिका तक ही पहुँचते हैं पर वे सभी जन धन्यवाद के पात्र हैं। जिसने जो पाया है उसके सहारे कोई गृहमें और कोई वनमें बैठे तपसो और अतीत बना है। उन सभी जनों ने इन्द्रिय रूपी शत्रु को जीता है। इससे वे सभी जन वन्दनीय हैं। उनके समस्त चक्रवर्ती राज्य भी तुच्छ है।

श्री योगशास्त्रिण भाषा उत्पत्ति प्रकरणे का एकसौ एकसर्ग समाप्त ॥१०१॥

एक सौ दो का सर्ग

उदाहरणोपदेश-वर्णन

यह सुनकर रामजी ने प्रश्न किया कि हे भगवन! आत्म संबंधो उपदेश करते समय आपने 'सुवर्ण' में 'भूषण' की बहुत उपमा दी है। सो सुवर्णमें भूषण तो हम समझ गए। पर उसी प्रकार आत्मा अहं भाव कैसे होती है, कृपा कर इसे भी बतलाइए। वशिष्ठजी कहने लगे, हे रामजी। असत्य का कोई भिन्न रूप नहीं है। यह तो आत्मों का चिन्तक है। उसमें द्वैतभाव और विभाग की कल्पना कहाँ, वह शातस्वरूप है। जगत के भ्रम समुद्र की तरङ्गों के समान है। और भ्रम से भासते हैं। ऐसे ही आत्मा में नाना भाव अथवा जगत भ्रम से भास रहा है। पर वह सुवर्ण में भूषण जलमें द्रवता और वायु में स्पन्दता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह

केवल परम पद एव शांत रूप है। वही पूर्ण रूप से अपने आपमें स्थित है। यह हमारी विपर्यय दृष्टि है कि, आत्मा में जगत् भास रहा है। किन्तु दर्पणमें प्रतिबिम्ब और स्वप्नके पदार्थ सदृश ही उसमें कुछ वास्तविकता नहीं है। निज भ्रमसे ही यह असत्य जगत् सत्यसा जान पड़ता है। जिस प्रकार मृगतुष्णा का जल और आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है, उसी प्रकार आत्मामें यह जगत् भास रहा है किन्तु सब अज्ञान है। हे रामजी! जब तक आत्म-विचार रूपी अग्नि से अविद्या रूपी बल्ली को जलाकर तुम भस्म न कर दोगे, तब तक इस जगत् रूपी वृक्ष का नाश न होगा और तब तक यह उत्तरोत्तर सुख दुःख दिखाती जायगी और जला दोगे तो शान्त पद को प्राप्त होगे। हे रामजी! आत्मामें अहं, त्वं इत्यादिक अविद्या रूप हैं। राजा लवण तो इसी अविद्या रूपी पिशाचिनी के फेर में पड़कर नाना प्रकार के कष्टों को प्राप्त हुआ। यह अविद्या ऐसी है कि, शीघ्र ही सत्य को असत्य और असत्य को सत्य करके अनेक भ्रम दिखलाती है। इस पर रामजी ने पूछा कि, हे भगवन! अविद्या सत्य को असत्य और असत्य को सत्य कैसे दिखलाती है। कृपा करके मेरा यह भ्रम भी दूर कीजिए। वशिष्ठ जी ने कहा,—यह कौन सा आश्चर्य है। अविद्या तो सब कुछ कर सकती है। स्वप्नमें तुम प्रत्यक्ष देखते हो कि, घर का वन हो जाता है। तुम यह भी जानते हो कि, मूर्च्छा के अनन्तर बुद्धि विपर्यय हो जाती है। फिर क्या स्वरूप से गिरने वाले को अविद्या अनेक भ्रम नहीं दिखला सकती? जिस भाँति मदिरा व विष पान करने वाले को भ्रम प्राप्त होता है, उसी भाँति अविद्या से जीव भ्रमको प्राप्त होता है। राजा लवणके समान ही एक और राजा था जिसको चित्तके फुरनेसे अविद्याने स्वप्नवत् अनेक भ्रम दिखलाया था। तब मैंने उस को शान्त किया। हे रामजी! समस्त पदार्थों में सत्तारूप सवेदन है। जैसा दृढ़ सकल्प होना है, वैसा होकर भासता है। यदि सत्यरूप होकर भासे तो सत्य और असत्य तो असत्य भासता है।

इससे सभी पदार्थ संवेदन रूप हैं और तीनों काल भी संवेदन से ही उत्पन्न हुये हैं। संवेदन ही उनका बीज है। इससे समस्त पदार्थ अविद्यारूप है। इसका आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है। यही कारण है कि अविद्यारूपी शरीर का आत्मा से सम्बन्ध नहीं रहता। यदि जड़ शरीर से इसका सम्बन्ध हो तो यह आत्मा भी जड़ हो जाये। अस्तु आत्मा सदैव चैतन्य स्वरूप है, जड़ नहीं। यह तो साधारणसी बात है कि, सजातीय पदार्थोंसे एकता होती है, विजातीय से नहीं। फिर यह कैसे सम्भव है कि जड़ रूपी शरीर से आत्मा का सम्बन्ध होये। जिस प्रकार सुवर्ण बुद्धि के न होने में अनेक प्रकार के भ्रूषण ही जान पड़ते हैं, उसी प्रकार जब आत्मा में अहं की संवेदना होती है, तब अनेक रूप होकर विश्व भ्रामता है। पर यदि सुवर्ण की ओर देखा जाय तो सुवर्ण ही जान पड़ेगा। वैसे ही ब्रह्म सत्ता की ओर देखने से समस्त जगत ब्रह्मरूप ही जान पड़ता है। पर यह जो कुछ जान पड़ता है, अज्ञानियों के लिए है ज्ञानी को तो एक ही सत्ता भासती है। भला वह भी कोई ब्रह्म है कि जिसमें द्रष्टा, दर्शन और दृश्यों का स्फुरण हो ? नहीं, इनके मध्य और उनसे रहित जा सत्ता हो, वह ब्रह्म सत्ता है। असम समाधि लगाने पर तुमको वह सत्ता और उमी का रूप भासित होगा। हे रामजी। ऐसे प्राणियों को शरीर के दृष्ट अनिष्ट में हर्ष शोक नहीं होता। कारण कि वह निर्मल रूप होकर स्थित होते हैं। तुमको भी ऐसा ही होना चाहिए। क्योंकि आत्मसत्ता नित्य, शुद्ध, परमानन्द स्वरूप अपने आप में अनुभव रूप स्थित है। यदि उसको भूल जावोगे तो दुःख अवश्य प्राप्त होगा। अतः सावधान हो जावो। स्फुरण होना ही वित्त है। जितने शीघ्र हो सके तुम इसको त्यागदो। क्योंकि यह अमत्य रूपी विरा ही संसार है। ऐसे वित्त को असत्य मानकर न त्यागना बड़ी मूर्खता है।

एक सौ तीन का सर्ग ।

इस प्रकार चित्त भाव का विवेचन कर चुकने पर वशिष्ठ जी ने सप्तभूमिका सम्बन्धी आख्यान को क्रम पूर्वक वर्णन किया । उन्होंने कहा हे राम जी । जन्म लेते ही पुरुष को कुछ बोध होता है । फिर क्रम से बड़ा होकर सन्तजनों की संगति करता है । तब उसे सत् शास्त्रों के विचार का अवसर प्राप्त होता है । शास्त्र विचार से उसको ग्रहण व त्याग की बुद्धि उत्पन्न होती है । उसीको शुभेच्छा कहते हैं । ऐसी शुभेच्छा जिसमें शुभा-शुभ ग्रहण व त्याग शक्ति हो उसीका नाम विचार है । ऐसे सम्यक ज्ञान विचार की ही दृढता से मिथ्या रूप सांसारिक वासनाओं का त्याग होता है और तब प्राणी सत्य में स्थित होता है । इसी को तनुमानसा कहते हैं । ऐसा दृढ अभ्यास होने एवं वासनाओं के नष्ट होने पर वैराग्य उत्पन्न होता है । फिर वैराग्य से सम्यक ज्ञान और आत्म-दर्शन होता है । इसी का नाम सत्त्वापत्ति है । इस भाँति मन की वासनाओं के नष्ट होने पर सिद्धि प्राप्त होती है और तब प्राणी स्वरूप में सदैव सतर्क रहता है तथा कर्म-फल के बन्धन में नहीं रहता । यही असंसक्त नाम्नी भूमिका है । इस भूमिका में मन की तनुता होने पर चित्त स्वरूप की ओर परिणत रहता है और ऐसे परिणाम से व्यवहारों का अभाव हो जाता है । यहाँ तक कि उसके चित्त में फुरना भी नहीं होती और मन की क्षीण हो जाता है । आशय कि, उसके कर्तव्य की भावना नहीं फुरती । वह कर्ता होते हुए भी कुछ नहीं करता और देखते हुए भी नहीं देखता । यही पदार्थ भावनी योग भूमिका है । ऐसे अभ्यास में कुछ समय व्यतीत होने पर समस्त पदार्थों का अभाव हो जाता है और तुरीय रूप होकर जीवन्मुक्त कहलाता है । फिर तो इष्ट-अनिष्ट के चिन्तन शोक न करके उत्तम पद को प्राप्त होता है । हे राम जी

भी ऐसा ही ज्ञात-ज्ञेय हो गये हो ।

इससे अब तुम्हारे साथ शरीर रहे या न रहे, तुम शोक से रहित होकर अद्वैतरूप अपने आप में स्थित होवो । शरीर तो उदय भी होता है और क्षीण भी होजाता है । पर देशकालादिक भेदोंसे रहित आत्मा का उदय अस्त नहीं होता । तुम भी वही अविनाशीरूप आत्मा हो । फिर अपने को नाशरूप समझ कर शोक क्यों करते हो ? हे राम जी ! ससार की जितनी वस्तुयें हैं, सब तुम्हारी छाया मात्र है । उनकी वासना भ्रम वश होती है । पर तुम अद्वैत रूप हो फिर किसकी वाञ्छा करते हो ? सम्पूर्ण दृश्य तो तुम्हारा ही स्वरूप है । तुमसे भिन्न नहीं है । फिर भ्रम क्या है ? आत्मा तो सर्वशक्ति मान है । आभास करके अनेक रूप हो भासता है । हे राम जी ! चित्त से दृढ हुआ सात्विक, राजस तुमसे यह तीन प्रकार का जगत उत्पन्न हुआ है । जब इन तीनोंसे उपशम (इन्द्रिय विग्रह) हो तब कल्याण होवे । वासनाओं के नाश होने पर कर्म भी नाश हो जाते हैं । हे राम जी ! चित्त का संसरण ही वासना है और कर्म-संसार माया मात्र है । यह नष्ट हो तो सब शान्त हो जाये । इसी के शान्त न होने से वासना से बँधे हुए जीव भ्रमा करते हैं । अतः तुम यत्न पूर्वक विचार रूपी शस्त्र से उसे काट दो । इस अविद्या की वास्तविकता को जब तक जीव नहीं जान लेता, अनेक दुःख भोगा करता है और ससार सत्य सा जान पड़ता है । पर जान लेने पर अत्यन्त सुख प्राप्त होता है । इसका सच्चा रूप जाना नहीं कि, ससार अमार व असत्य प्रतीत हो जाता है । ऐसा प्रतीत होने पर सत्स्वरूप स्वतः प्राप्त हो जाता है । हे रामचन्द्र ! शिव तत्त्व अनन्त रूप और निर्दुःख रूप है, सब उसी भूततत्त्व से उत्पन्न होते हैं । जिस प्रकार जल से तरंग और अग्नि से उष्णता होती है, उसी प्रकार ब्रह्म से जगत होता है । उस ब्रह्मने ही सबको आत्मा इत्यादिक नामों की कल्पना की है । पर वास्तवमें न तो कोई नाम है और न सज्ञा है । हे राम जी ! वह पुरुष रागद्वेष से

परे है। इन्द्रियों के संयोग वियोग में नहीं रहता। वह अविनाशी शुद्ध चैतन्य और अत्यन्त निर्मल है। उसमें दर्पणके प्रतिबिम्ब समान ही जगत स्थित है और कुछ नहीं। तुम भी शरीरसे रहित निर्विकल्प हो और तुम्हारा आकार पतन आदिरूप है। इससे तुम्हारे निकट लज्जा, हर्ष और भय इत्यादिक सभी असत्यरूप हैं फिर तुम किस लिए मुखों की भाँति विकल्प को प्राप्त होते हो। तुम तो चैतन्य स्वरूप और अखण्ड हो। फिर शरीर के खण्डित होने से आत्मा कैसे खण्डित हो सकता है। असम्पकदर्शी भी ऐसा ही मानते हैं, फिर ज्ञानवानों का कहना ही क्या है? हे रामजी! चाहे शरीर सत्य हो या असत्य। किन्तु पुरुष तो शरीर नहीं हो सकता, इससे आत्मा ज्यो का त्यो है। इन्द्रियों का सुख दुःख आत्मा को नहीं ग्रहण कर सकता। अज्ञानियों के लिए सुख दुःख अभिमान है, ज्ञानी के लिए नहीं। जो आत्मा मनके सर्ग से अतांत शून्य के समान स्थित है, उसको दुःख कैसे? शरीर भलेही नाश हो जाय, पर आत्मा का नाश नहीं हो सकता। फिर तुम व्यर्थ के लिए क्यों शोकित होते हो। जगत को असत्य जान कर उसका अभाव करो। हे राम जी! असंकल्प रूप चित्त में ही जगत स्थित है। सकल्पों का क्षय हो तो चित्त भी नष्ट हो जावे। चित्त के नष्ट होने पर संसाररूपी कुहरा अवश्य ही नष्ट हो जावेगा।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति-प्रकरण का एक सौ तीन का सर्ग समाप्त ॥१०३॥

तृतीय उत्पत्ति-प्रकरण समाप्त।



श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा

चौथा-

स्थिति-प्रकरण

पहला सर्ग ।

जगन्निराकरण वणन

वशिष्ठजी बोले,—हे रामजी ! अब स्थिति प्रकरण सुनिए । इसके श्रवण करने से जगत निर्वाणता प्राप्त होती है । यह जगत अदृशता, भ्रान्तिमात्र और दृश्यरूप है । भ्रमवश चित्तमे स्थित हुआ है । इससे यह भावना मात्र भी है । जैसे गन्धर्व नगर और मृगतृणा का जल सत्यसा भासता है और असत्यरूप है, वैसे ही यह संकल्पमय दृढ़ अनुभवतिक जगत सत्यसा प्रतीत होता है-प्रद्यपि असत् रूप है । इसमे वास्तविकता कुछ नहीं है । यह अर्थ से रहित है । जैसे लिखित चित्र की कमलिनी सुगंध रहित होती है, वैसे ही यह जगत शून्य रूप है । जैसे देखने में कदली खम्भ कितना सुन्दर जान पड़ता है, पर उसमे सार कुछ नहीं, वैसे ही यह जगत देखनेमें तो रमणीय भासता है पर नितान्तही सार रहित है । यह सुनकर रामजी ने पूछा कि, हे भगवन् ! जब महाकल्पका, क्षय होता है तब यह दृश्यमान जगत आत्मारूप बीज में जैसे बीज मे अंकुर रहता है, जाकर लीन हो जाता है और फिर उत्पन्न तथा स्थित होता हुआ उसीमें लीन होता है तो क्या यह सत्य है ? और जो यह बुद्धि है, वह या अज्ञान की । कृपया मेरे-

इन सब सशयो को दूर करने के लिए स्पष्ट कहिए । वशिष्ठ जी बोले, हे रामजी ! जो ऐसा कहे, वह बड़ा मूर्ख है । बीज तो दृश्यरूप इन्द्रिय का विषय होता है और वह आकाशसे भी निर्मल है। फिर उसे जगत का बीज कैसे कह सकते हैं । बीज तो आकाश से भी अधिक सूक्ष्म, अत्यन्त उच्च और अनुभवोपलब्ध, नित्य प्राप्त है । इस कारण उसको बीज भाव कहते नहीं बनता । क्योंकि वह तो शांत, सूक्ष्म और सदैव प्रकाश करनेवाली सत्ता है । उसमें दृश्य रूप जगत असत्य रूप है । तब उसको बीज रूप कैसे कहा जाय ? अस्तु, जब वह बीजरूप नहीं है, तब उसको जगत भी कैसे कहें, । उसका रूप अत्यंत ही सूक्ष्म है । उसमें दृश्य का विरोध है । जैसे सूर्य में अधकार नहीं, अग्नि में शीतलता नहीं और अणु में सुमेरु नहीं होता, - वैसे ही आत्मा में जगत नहीं होता । क्योंकि आत्मा सत्य स्वरूप है । उसमें असत् रूप, जगत कैसे हो ? वह निराकार है । और, उसमें साकार रूप जगत का प्रवेश नहीं है । वह आत्मा है, अद्वैत है । उसके निकट अन्य वस्तु नहीं हो सकती । वह सदैव मन और इन्द्रियो से परे अविकृत रूप और निराकार है । उसका कर्ता, कारण कोई नहीं । वह आभा-च्युत है, उसका कोई परिणाम नहीं । फिर वह जगत का कारण कैसे हो सकता है ? इससे यह जगत अकारण भ्रान्ति करके भासता है और विना स्वरूपमें जागे इसका भ्रम नहीं मिट सकता । अतः कार्य और कारण आदिक भ्रमों का परित्यागकर तुम अपने स्वरूपमें स्थि होवो । सकल्पों की रचना तो दुर्बोधता से हुई है । उसको त्याग कर, आदि, मध्य और अंत से रहितवाली सत्ता में स्थि होवो । तब जगद्भ्रम स्वयं ही मिट जायगा ।

श्री योगेश्वरिणो भाषा, स्थिति प्रकरण का पहला सर्ग समाप्त ॥ १ ॥

दूसरा सर्ग ।

स्मृति-बीज-वर्णन

हे रामजी! यदि यह कहा जाय कि बीजांकुर के समान आत्मासे ही जगत् उत्पन्न हुआ तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि आत्मा तो समस्त कल्पनाओं से रहित चेतन्य रूप-आकाशवत्, निर्मल है । फिर उसमें जगत्का बीज कैसे माना जाय, बीजांकुर तो किसी परिणामसे और समवायिकारण से होता है । आत्मा में समवायि या निमित्त कोई कारण नहीं, जो उसका सहायक हो । जैसे वन्ध्या-पुत्र का होना सम्भव नहीं, वैसे ही जगत् का होना सम्भव नहीं । यदि आत्मा में उपरोक्त दोनो कारण भासित हो तो यह जानना चाहिए कि यह भ्रान्ति मात्र भास रहा है । सृष्टि से प्रलय पर्यन्त ब्रह्मसत्ता ही स्वतः स्थित है । जब ऐसा ही स्थित है तब कारण व कार्य का क्रम कैसे होगा । और जब यही नहीं होगा तब पृथिव्यादिक भूत कहाँ से उत्पन्न होंगे । अस्तु न तो कोई कारण है और न कार्य है । यह जगत् न कभी था, न वर्तमान में है और न भविष्य में होगा । केवल विकाश-सत्ता ही अपने आपमें स्थित है । जब ऐसे जगत् का अभाव हो जाता है तब ब्रह्मा दिखलाता है । पर जिसके हृदय में प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अन्योन्याभाव ऐसी त्रिगुणात्मिका भावना विद्यमान है, उसका शान्ति नहीं मिल सकती । क्योंकि इन तीनों भावनाओंसे तो जगत् दृढ़ हो रहा है । यदि इसका अत्यन्त अभाव होवे तो शान्ति भी मिले । पर बिना युक्ति किये अभाव होना कठिन है । और जब तक इसका अभाव न होगा, तब तक मुक्ति नहीं हो सकती । सूर्यादि से लेकर जितना, कुछ प्रकाशमय पृथिव्यादिक तत्व और क्षण, वर्ष, कल्प इत्यादि जितने काल है, सब मैं हूँ, जगत् तो केवल संकल्प मात्र है । ब्रह्माण्ड, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र और कीट पतङ्ग सहित जितना भी जगत् जन्म है, वह बारंबार, उपज कर अन्तर्ध्यान हो जाता है और केवल आकाश में

अनन्त वृत्तयोंही उठा करती हैं। जगत के आदि में यह शांत-सत्ता जैसे थी वैसेही अब भी जानो। हे रामजी! इस चित्तकी कला परमाणु के सहस्रांश के समान अत्यंत सूक्ष्म है। उसमें सृष्टियाँ स्थित हैं और वही चित्त-सत्ता निज-स्फुरण से जगत रूप भासती है। अस्तु इस जगत को आत्मा ही में स्थित जानो और यह भी जानो कि यह निराकार, निर्विकार सत्ता अपने आपही में स्थित है। उसका रूप उदय अस्तसे रहित अत्यंत विस्तृत है। इससे शून्यरूप भी है। जब ऐसा जानोगे तो समस्त कलंक कलना शांत हो जावेगी। अतएव इसके अभाव के लिए हे रामजी! तुम ज्ञान भूमिका को प्राप्त होवो। ऐसा जागरण करने से शोक रहित पद को अवश्य ही प्राप्त होवोगे।

श्री योगवाणिष्ठ भाषा, स्थिति प्रकरण का दूसरा सर्ग समाप्त ॥ २ ॥

तीसरा सर्ग ।

जगत की अनन्तता

इतनी कथा सुनकर रामजीने पूछा कि, हे भगवन् ! यहाँ प्रलय के पश्चात् एव श्रष्टिके आदिमें जब प्रजापति उत्पन्न होकर फिर सृष्टिकी रचना करते ही हैं तब क्या यह जगत स्मृति का रूप नहीं हुआ ? वशिष्ठजीने उत्तर दिया,—हे रामजी ! यह मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि महाप्रलय में प्रजापति तो रहते ही नहीं, तब जब वह स्वयम् ही नहीं हैं तब उनकी स्मृति कहाँ ? रामजी ने कहा,—हे मुने ! जगत के आदि में जिस ब्रह्मने इस जगत की रचना की थी उसकी स्मृति का नाश नहीं होता, सुपुष्टि से उठे की नाईं वही फिर स्मृति करके जगत को रचता है तभी यह बनता है। फिर आप कैसे कहते हैं कि, नहीं बनता ? वशिष्ठजी बोले, हे महामते रामजी ! महाप्रलय में तो सभी ब्रह्मादिक निर्वाण हो जाते हैं। फिर उनकी स्मृति कहाँ ? जब स्मृति ही निर्मूल है तब वह जगत का कारण

कैसे ? महाप्रलय उसका नाम है कि जहाँ अर्थों सहित समस्त शब्द निर्मूल हो जाये और जहाँ सब निर्मूल हो गया, वहाँ स्मृति किसकी ? जब इस प्रकार स्मृति का अभाव हो गया तब कारण किसका होगा । इससे सब जगत चित्त का स्फुरण मात्र है । महा-प्रलय में विना यत्न ही सब मोक्षभागी होते हैं । यदि ज्ञान हो तो जगत के रहते भी मोक्ष प्राप्त होता है । ज्ञान न होने से जगत दृढ़ होता है । निवृत्त होने से जगत का अभाव हो जाता है और स्वच्छ चैतन्य-सत्ता प्रकाशित होती है । वही आदि अंतसे रहित है और वही जगत आदि सब रूप होकर भासती है । अनादि सिद्ध ब्रह्मतत्वही प्रकाशता है । उसमें जो आदि संवेदन का फुरना है वही ब्रह्मरूप है । अंतवाहक शरीर ही विराट जगत होकर भासता है, उसका एक परमाणु ही यह तीनों जगत है । उसी अणु में देश, काल, क्रिया, द्रव्य, और दिन रात्रि का क्रमरूपी जगत पडा फुरता है । यह क्या है, सब सकल्प रूप ब्रह्मसत्ता का प्रकाश है । प्रबुद्ध एवं आत्मज्ञानीजनों को समस्त जगत ब्रह्माकृति ही जान पड़ता है । पर जो अज्ञानी है, उसके चित्त में तो जगत की अनेक भावनायें होती हैं और वह द्वैताभाव में पड़ा भ्रमा करता है । किन्तु यह उसकी बड़ी भूल है । केवल ब्रह्माण्ड में परमाणु सदृश अनंत सृष्टियाँ ही अनन्त सृष्टि और अनन्त सृष्टामे अनंत सृष्टियाँ ही फुरा करती हैं । वह सब ब्रह्मतत्व का प्रकाश है । उसी परमाणु में अभिन्नरूप त्रिलोकी स्थित है । हे रामजी ! जैसे सूर्य की किरणों की संख्या करनी सामर्थ्य के बाहर है, वैसे ही आदि अंत से रहित जो आत्मरूपी सूर्य है और जिसमें त्रिलोकी रूप परमाणु की संख्यायें हैं, उनकी संख्या करनी सामर्थ्य के बाहर है । अस्तु आत्मा में असंख्य परमाणु सृष्टियाँ हैं और वह सृष्टियों को रखते हुए भी आकाशवत् शून्य रूप है । वही आत्मा चिदाकाश जगत रूप है । हे रामजी ! मैंने जो उन सृष्टियों का वर्णन किया है यदि तुम उनका अर्थ जगत शब्द से लगावोगे तो बड़े अज्ञानी कहलावोगे । पर

उनका अर्थ ब्रह्म-शब्द से जानोगे तो ऐसी बुद्धि से परमसार को प्राप्त होवोगे ।

श्री योगवाणिष्ठ-भाषा, स्थिति प्रकरण का तीसरा सर्ग समाप्त ॥ ३ ॥

चौथा सर्ग ।

बीजाङ्कुर वर्णन

वशिष्ठजी बोले,--हे रामजी । इन्द्रियो को जीतना ही, मोक्ष का कारण है। अन्यथा किसी भी उपायसे इस ससार सागरको पार नहीं किया जा सकता । सत्सग व सच्चास्र के विचार से जब आत्मज्ञान हो तभी इन्द्रियों पर विजय मिलती है और तभी जगत का अभाव होता है । जगत का अभाव न हो तो आत्मबोध नहीं होता । इसी क्रम से संसार सागर से तरा जा सकता है । विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है । समस्त कर्मों का बीज मन है । मनके नष्ट होने से ही जगत नष्ट होता है । क्योंकि यह सर्वजगत मनका ही रूप है । इससे मनाभाव का ही यत्न करना चाहिए । मलिन मन जन्म समूहों को उत्पन्न करता है । इस पर विजय मिले तो जानों समस्त लोकों पर विजय मिल गई । कारण कि जगत तो मनसे ही है । मनसे ही शरीर उत्पन्न हुआ है । दृश्यों का अभाव होने से मन मृतक हो जाता है । इसमें अन्य यत्न कुछ नहीं है । इस भवरूपी पिशाच को नष्ट करनेके लिए दृश्यों का ही अभाव करना चाहिए । इसके लिए जगत की अभावता का चिंतवन करना और आत्माभ्यास करना ही परम औषध है । इस उपाय से द्रष्टा नष्ट हो जायगा । अन्यथा मन के बिना नष्ट हुये जन्म-मरण और मोह प्राप्त होता ही रहेगा ॥ पर यदि मन बन्धनों से मुक्त हो जाय तो समझना चाहिए कि, ईश्वर बड़ा प्रसन्न है । जिस प्रकार तिलो में तेल है, पुष्प में सुगन्ध है, और धर्मात्माओं में कर्म है, उसी प्रकार सत्, असत्, स्थूल, सूक्ष्म, और कारण कार्यरूपी जगत मन में ही विद्यमान है । जगत

ही मन है और मनही जगत है । दोनों ही परस्पर एक रूप हैं । जब इन दोनों में एक नष्ट हो तो जगत भी नष्ट हो जायगा ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, स्थिति प्रकरण का चौथा सर्ग समाप्त ॥ ४ ॥

पाँचवाँ सर्ग ।

भार्गव संविद्गमन

इतनी कथा सुनकर रामजीने,—‘मनके फुरने से जगत कैसे फुरता है—यह प्रश्न वशिष्ठजी से किया । तब वशिष्ठ जी कहने लगे कि, हे हे रामजी । जैसे इन्द्र ब्राह्मणके दशो पुत्र दश ब्रह्मा हुये और राजा लवणकी इन्द्र जालिक माया से मनके स्फुरण द्वारा चाण्डाल की प्रतिमा दृढ़ होकर भासित हुई, वैसे ही यह जगत मनके फुरने से ही स्थित हुआ है । भार्गव शुक्र भी तो मनके स्फुरण से ही चिरकाल पर्यन्त स्वर्ग भोगते हुये दूसरे अनेक भ्रमों को देखते रहे । वह भी तो मनके दृढ़-भ्रम से ही भासित हुआ । ऐसे ही मन की भ्रमता से यह जगत स्थित हुआ है । वशिष्ठजी के ऐसा कहने पर रामजीने भृगु ऋषि और उनके पुत्रोका वृतांत सुनने की इच्छा प्रकट की । तब वशिष्ठ जी ने कहा, भृगु और शुक्रजी दोनों मंदराचल पर्वत पर घोर तपस्या किये थे । एक समय ऐसा हुआ कि भृगु जी अपनी तपस्या-मे लीन थे और शुक्र जी वहीं-टहल रहे थे कि भृगुजी को देखकर शुक्र जी भी एकांत-में जा बैठे । उस समय शुक्रजी विद्या और अविद्या के मध्य में विचर रहे थे कि, राजा त्रिशंकु, विश्वामित्रके वरदान से स्वर्ग में जा पहुँचा । तब उसको चाण्डाल समझ कर देवताओं ने निरादर कर स्वर्ग से गिरा दिया । पर विश्वामित्र ने अपने योगबल से उसे आकाश और पृथ्वी के बीच में ही रोक दिया और गिरने न दिया । तब वह आकाशके मध्यमें ही स्थित हो गया । इतने में एक अप्सरा भी स्वर्ग गमन । शुक्र जी उसको बड़े ध्यान से मानो विष्णु लक्ष्मी को उसकी ओर देखने लगे ।

उनका ग्रंथ ब्रह्म-शब्द से जानोगे तो ऐसी बुद्धि से परमसार को प्राप्त होवोगे ।

श्री योगवाणिष्ठ भाषा, स्थिति-प्रकरण का तीसरा सर्ग समाप्त ॥ ३ ॥

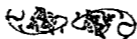
चौथा सर्ग ।

बीजांकुर वर्णन

वशिष्ठजी बोले,--हे रामजी । इन्द्रियो को जीतना ही, मोह का कारण है। अन्यथा किसी भी उपायसे इस संसार सागरको पार नहीं किया जा सकता । सत्संग व सच्चास्त्र के विचार से जब आत्मज्ञान हो तभी इन्द्रियों पर विजय मिलती है और तभी जगत का अभाव होता है । जगत का अभाव न हो तो आत्मबोध नहीं होता । इसी क्रम से संसार सागर से तरा जा सकता है । विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है । समस्त कर्मों का बीज मन है । मनके नष्ट होने से ही जगत नष्ट होता है । क्योंकि यह सर्वजगत मनका ही रूप है । इससे मनाभाव का ही यत्न करना चाहिए । मलिन मन जन्म समूहों को उत्पन्न करता है । इस पर विजय मिले तो जानों समस्त लोको पर विजय मिल गई । कारण कि जगत तो मनसे ही है । मनसे ही शरीर उत्पन्न हुआ है । दृश्यों का अभाव होने से मन मृतक हो जाता है । इसमें अन्य यत्न कुछ नहीं है । इस भवरूपी पिशाच को नष्ट करनेके लिए दृश्यों का ही अभाव करना चाहिए । इसके लिए, जगत की अभावता का चिंतवन करना और आत्माभ्यास करना ही परम औषध है । इस उपाय से द्रष्टा नष्ट हो जायगा । अन्यथा मन के बिना नष्ट हुये जन्म-मरण और मोह प्राप्त होता ही रहेगा । पर यदि मन बन्धनों से मुक्त हो जाय तो समझना चाहिए कि, ईश्वर बड़ा प्रसन्न है । जिस प्रकार तिलो में तेल है, पुष्प में सुगन्ध है, और धर्मात्माओं में कर्म है; उसी प्रकार सत, असत, स्थूल, सूक्ष्म, और कारण कार्यरूपी जगत मन में ही विद्यमान है । जगत

उस महासुन्दरी, सुगन्धराशि अप्सरा को देख कर शुक जी अत्यन्त मोहित हो गए और कामदेव के वाण से विध गये। उनका नेत्र मुँद गया। वह विचारने लगे कि इस मृगनयनी का मेरा साथ हो जावे तो बड़ा अच्छा हो। ऐसा विचार वह कर उसके पीछे २ चले तो स्वर्ग में पहुँच कर उन्होंने कल्पतरु, सुवर्ण मय देवताओं तथा मृगनयनी स्त्रियों के स्वरूप और मणियों के ढेर का ढेर देखा। विश्वकी जैसी उपमा है स्वर्ग में भी दिखलाई पड़ी। वहाँ मंदार-वृक्ष की मजरिया प्रफुल्लित थी। मंद-मद पवन चल रहा था और अप्सरायें नृत्यकर रही थीं। यह देखते हुए इन्द्र-भवनमें गए तो क्या देखा कि मदमस्त ऐगवत हस्ती भूम रहा है, सोनेके कमलोंका वृक्ष लगा हुआ है, गंगा का प्रवाह चल रहा है, देवगण विचर रहे हैं, लोकपाल यथास्थान विराजमान हैं। यम, चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, वायु, अग्नि, लोकपाल महा ज्वालवत प्रकाश युक्त यथास्थान बैठे मँडरा रहे हैं। विमानों की पक्षियाँ विचर रही हैं, नन्दन वन में अप्सरायें आलाप रही हैं। अप्सरायें इन्द्र की सेवा में तत्पर हैं इत्यादि—ऐसी स्वर्ग-रचना को शुकजी ने मनसे देखा। इतनेमें शुकको पहुँचा हुआ देख-कर इन्द्र ऐसे उठ खड़े हुए मानो दूसरे भृगु मुनि जा पहुँचे हो। तब इन्द्र ने नम्रतापूर्वक प्रणाम कर शुक जी को अपने पास बैठा कर कुशल पूछा और कहा, महाराज। आपका आगमन हमारे अहोभाग्य का शुभ सूचक है। अब कृपाकर चिर पर्यंत आप यहीं स्थित होइए। इतने में देवताओं ने भी पहुँच कर भृगु-पुत्र शुक जी को प्रणाम किया और शुकजी निज मन से इन्द्र के पास जा बैठे।

श्री योगवाशिष्ठ—भाषा, स्थिति प्रकरणका पाँचवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५ ॥



छठाँ सर्ग ।

भार्गव संगम विविध जन वर्णन

इस प्रकार इन्द्र के पास बैठे एक घड़ी का समय व्यतीत हुआ तब अप्सरा के ध्यान में मग्न शुक्र-मुनि व्याकुल होकर उठ खड़े हुए और स्वर्गको देखने चले । देवगण उनके साथ हो लिए । उस समय मुनि को पर्वत वाली शरीर का विस्मरण हो गया था और वासना युक्त मनोराज का शरीर साथ था । स्वर्ग स्थानों को देखते २ मुनि शुक्र वहाँ पहुँचे जहाँ परम सुन्दरी अप्सराये वास करती थीं । वहाँ की रचना और उन चन्द्रमुखियों को देखते ही महामुनि शुक्र काम वाण से व्यथित होकर हृदय व्याकुल हो गया । वह अप्सरा भी वहाँ बैठी थी । मुनिको देखते ही वह भी स्नेह युक्त कातर हो गई । तब मुनिने मनसे तम रचा जिससे समस्त स्थानों में अंधकार छा गया । सूर्यका नितांत अभाव होगया । समस्त भूत व पशु पक्षी तक अपने २ स्थानों में चले गए । तब वस्त्रा भूषणों से सुसज्जित अप्सरा शुक्र मुनिके पास पहुँची । मुनि तो उसकी वाट देखही रहे थे कि आते ही अपने श्वेत आसन और चरणोंके निकट बिठालिया । यद्यपि काम वाण से दोनों ही व्यथित हो रहे थे कि, अप्सरा ने मुनि से कहा, हे नाथ । मुझको कामदेव महा दारुण कष्ट दे रहा है । मैं निर्बल होकर आपकी शरण में आई हूँ, मेरी रक्षा कीजिए । हे साधो । स्नेह रूपी रस को सब नहीं जानते, वही जान सकता है जिसे प्राप्त हुआ हो । दो स्नेहियों के सुख के समान तीनों लोक के सभी सुख व्यर्थ हैं । सो हे मुने । मैं आपको पाकर परम आनन्द वान हुई हूँ । आप भी मुझे पाकर आनन्दित होंगे । अप्सरा के ऐसा कहते ही मुनि काम के वशीभूत होकर क्रीड़ा करने और अनेक प्रकार से अमृत पान करने लगे । कभी नन्दन वन, कभी मन्दार व कल्प वृक्ष के नीचे और कभी कैलाश पर्वत तथा विद्याधरों के स्थान में

जा-जाकर मुनि क्रीड़ा करते थे। इस भाँति बत्तीस युग पर्यन्त जब तक पुण्य बना रहा मुनिने वहाँ निवास कर आनन्द किया। पुण्डप क्षीण होने पर वे दोनों भू-लोक को गिरा दिए गए। गिरते ही उनका शरीर टूट गया और अन्तर्धान हो गया। तब वामना संयुक्त दोनों चन्द्रमा की किरणोंमें जा स्थित हुए। फिर शुक्र ने किरणों के द्वारा धान्य में आकर निवास किया। उस धान्य को दशारण्य नामक ब्राह्मण ने भोजन किया जिससे वीर्य बनकर उसकी ब्राह्मणी को गर्भ रहा और समय पर उसकी शुक्र-पुत्र उत्पन्न हुआ। उमी धान्य को मालव देशके राजाने ग्रहण किया। जिससे रानी गर्भवती हुई और उसके गर्भसे अप्सरा कन्या होकर उत्पन्न हुई। बाल्यावस्था से ही उसे अपने पूर्व पति को प्राप्त करने की लालसा लगी। वह नित्य पूजाकर यही वर माँगे कि एकवार मेरा पूर्व पति मुझे मिले। समय पर राजाने उसके व्याहके लिए स्वयंवर किया। देश-देश के राजा अपि मुनि ब्राह्मण एकत्रित हुए। दशारण्य ब्राह्मण भी अपने पुत्र सहित पहुँचा था। स्वयंवर भूमि में पहुँचने पर कन्या ने उसके पुत्रको देखा। देखते ही वह मोहित हो गई और पूर्व प्रेमके स्मरण से कातर हो उसके नेत्र अश्रुमय हो गए। फिर तो उसने भट ब्राह्मण-पुत्र के गलेमें जयमाल डालकर अपना पति बना लिया। तब राजा ने उसी के साथ कन्या का व्याह कर स्वयम् बनको चला गया। दोनों मालव देश का राज्य करने लगे। जब दोनों वृद्ध हुए तब उनको वैराग्य हुआ। पर शरीर जर्जर होने पर तृष्णा लगी रही। मरणो-परान्त ज्ञानहीन होने से दोनों नरक में पड़े। फिर कर्मानुसार सुख दुःख भोगकर अङ्गवङ्ग देश में धीवर होकर धीवर कर्म करता रहा। वृद्ध होने पर वैराग्य हुआ और सूर्य भगवान् का तप करने लगा। तब वेद पढ़ते और योग करते उसकी शरीर छूटी तो वह एक बड़ा गुरु हुआ और सबको मन्त्रोपदेश करने लगा। फिर विद्याधर हुआ। कल्प का अन्त होने पर उसका शरीर अन्तर्धान हो गया और उसकी पवन

रूपी शरीर वासना युक्त हुई। फिर ब्रह्मा की रात्रि क्षय होने पर दिन हुआ अर्थात् ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना की। तब वह एक मुनि के वहाँ उत्पन्न हुआ और बड़ा तप किया और एक मनवत्तर तक सुमेरु पर्वत पर तप करता रहा। फिर इकहत्तर चौयुगी व्यतीत होने पर भोगवश वह हरिणी का पुत्र हुआ और मनुष्य के आकार में रहा। फिर पुत्र-स्नेह में पड़ धन, गुण और आर्युवल की चिन्ता करने लगा। तपक्षीण होने से निज धर्म से गिर गया जिससे आयु भी क्षीण हो गई और सर्प के काटने से शरीर छूट गया। तब भोग की अभिलाषा से मद्र देशके राजा के घर जन्म लिया और राज्य करने लगा। बहुत दिनों तक राज्य करने पर शरीर जर्जर हो गया और तपकी अभिलाषा में शरीर छूट गई। अभिलाषा वश तपेश्वर के गृह में उत्पन्न हुआ और तब गङ्गा जी के तट पर जाकर तप करने लगा। इस भाँति मन के फुरने से शुक ने अनेक शरीरों का भोग किया।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उत्पत्ति प्रकरण का छठाँ सर्ग समाप्त ॥ ६ ॥

सातवाँ सर्ग ।

काल-वाक्य

इस प्रकार मनकी भ्रमना से शुक मुनि अनेक जन्मों में भ्रमते रहे। पर जब मुनीश्वर के गृह में जन्म लिए तब उनको विश्राम मिला और तप करने लगे। तप से उनका शरीर सूख गया और वे परम आनन्दित हो गये। फिर तो उनकी शरीर को कोई नष्ट नहीं कर सकता था। इस भाँति जब उनका सहस्र वर्ष और भूलोक का तीन लाख साठ सहस्र वर्ष व्यतीत हुआ तब भृगु मुनि समाधि से जागे तो क्या देखते हैं कि पुत्र-शुक नहीं हैं। उन्होंने ध्यान करके देखा तो ज्ञात हुआ कि उसका शरीर कृश होकर गिर पड़ा है, काल ने भक्षण कर लिया है और अब तपस्या से जर्जरीभूत होने के पश्चात् नेत्रों में गढ़े पड़ गए हैं, शरीर में कीड़े रोग रहे हैं और ऐसे अन्य जीवों ने उसमें अपना घर बना लिया है।

मन्त्रियों आती जाती हैं। श्वेत दाँत ऐसे निकले हैं, मानों उसकी शरीर को देख कर हँस रहे हैं। पुत्र के शरीर की ऐसी दशा जान भृगु मुनि को बड़ा क्रोध आया। वह आसने पर खड़े हो गए और क्रोधित होकर बोले,—मेरा पुत्र महातपस्वी था। वह सृष्टि पर्यन्त मेरे पास रहने वाला था। काल ने विना समय आये ही उसे कैमे मार डाला। हे काल! अब मैं शाप देकर तुझे भस्म कर दूँगा। मुनिके ऐसा क्रोध करने पर काल शरीर धारण कर पटमुख, पटभुज, खड्ग, त्रिशूल ज्वाल्लयमान मुख व कानों में मोती पहने, फाँसी लिए, श्याम शरीर अग्नि की लपेटों संयुक्त मुनि के समीप चला। जहाँ वह चरण रखता था वनों व पर्वतों सहित पृथ्वी काँपने लगती थी। तब मुनि के निकट पहुँच उसने कहा,— हे मुने! परमात्मवेत्ता जन क्रोध नहीं करते। फिर आप विना कारण ही क्रोध और मोहके वशीभूत क्यों होते हैं। यदि आप ब्रह्म-पुत्र और तपस्वी हैं तो मैनीति का पालन हूँ। इससे आप हमारे पूज्य हैं। तप के बल से क्षोभ न करें। फिर आप मुझे भस्म भी नहीं कर सकते। यही नहीं, प्रलयाग्नि भी मुझे दग्ध नहीं कर सकती। फिर आप के शाप से मैं कैसे भस्म होऊँगा। हे मुनि जी! मैं तो अनेक ब्रह्माडों को भक्षण कर चुका हूँ और न जाने कितने ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र को भी मैंने प्रसलिया है। फिर आपका शाप मेरा क्या कर सकता है? ईश्वरीय नियम टल नहीं सकता। हम सबके भोक्ता हैं। आप ऐसे कितनेही ऋषि हमारे भोगे हैं। हे मुने! भोक्ता ही को भोग प्राप्त होता है। यही विधि का विधान है। पर निष्कलङ्क ज्ञान-दृष्टि से देखिए तो भोक्ता, कारण और कार्य कुञ्च नहीं है। केवल अद्वैत सत्ता ही वर्तमान है। कर्ता, भोक्ता तो अज्ञान से भामते हैं। सम्यक ज्ञान होवे तो कोई नहीं रहता। समस्त भूतों की नष्टता और स्फुरता स्वभाव से ही है। ब्रह्मा भी फुरने से ही सृष्टि की रचना करता है। इसी प्रकार मन के फुरने से आत्मा में

कर्ताव्य और मोक्तव्य भासता है। अन्यथा कुछ नहीं। सब मिथ्या है। अतः आप क्रोध न कीजिए। समस्त आपदाओं का कारण यह दुष्ट कर्म है। यह मैं अपने अभिमान से नहीं कह रहा हूँ, बल्कि यही ईश्वरीय नीति है। हम उसी नीति में स्थित हैं। बोधवान् पुरुष अभिमान में नहीं विचरते। बाहर से प्राकृत आचार करते हैं, पर भीतर से सुपुष्टि की नाईं स्थित रहते हैं। फिर आप ग्रन्थों की भाँति मोह मार्ग में क्यो जाने हैं। आप तो त्रिकालदर्शी हैं। फिर अविचारी और मूर्खों की भाँति जगत यन्त्र में क्यो जा रहे हैं। आप का पुत्र तो अपने कर्मानुसार फल को प्राप्त हुआ है। तिस पर आप मूर्खों की भाँति मुझे शाप देना चाहते हैं। हे मुने! इस लोक में जीवों का शरीर दो प्रकार का होता है। एक मन रूप, दूसरा अधिभूत रूप। अधिभूत शरीर जड़ और अविनाशी है। मन इसका प्रेरक है। बिना मन के यह स्वयं कुछ नहीं कर सकता। जैसे सारथी अच्छा हो तो रथ अच्छे मार्ग से जाय और सारथी न अच्छा हो तो रथ को अच्छा मार्ग न मिले, वैसे ही मन को भी जानना चाहिए। मन शरीर का सारथी है। मन जिसको सत करे, वह सत् है जिसको असत् करे वह असत् है। हे साधो! यह चित्त पुरुष है। इसी के करने से सब कुछ होता है। देह, नेत्र और अंग इत्यादि जो कुछ फुरना है, सब मन का ही रूप है। जीव को ही मन कहते हैं। उसी मन के निश्चयात्मक वृत्ति का नाम बुद्धि है। वही बुद्धि जब अहकार कर शरीर का स्मरण करती है, तब उसको चित्त कहते हैं। इसका कोई अन्य शरीर नहीं है। भावनाओं की दृढता से मन ही शरीर का रूप होकर आधिभौतिक शरीर होता है। शरीर की भावनाओं का त्याग करने पर परम पद मिलता है। समस्त जगत केवल मन के फुरने में ही है। यह जैसा फुरता है, वैसा ही जान पड़ता है। आपके पुत्र शुक्र ने भी मन के फुरने से अनेक स्थान देखा है।

यह कह कर काल ने शुक का विश्वायी अप्सरा के मोह में पड कर स्वर्ग में जाने और अनेक स्थानों में विचरने का समस्त वृत्तान्त कह सुनाया । उसे सुन कर भृगु मुनि चुप हो गए ।

श्री योगवशिष्ठ भाषा, स्थिति-प्रकरण का सातवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७ ॥

आठवाँ सर्ग ।

ससारावर्त वर्णन

वशिष्ठ जी बोले,—हे राम जी । काल के ऐसा कहने पर भृगु मुनि ने ध्यान धर कर देखा तो अपने पुत्र का आद्योपान्त वृत्तान्त ज्ञात होकर यह प्रतीत हो गया कि, वह इस समय गंगा के तट पर तपस्या कर रहा है । फिर तो भृगु मुनि का वह प्रचंड क्रोध शान्त हो गया और वह काल भगवान से बाल रूप होकर नम्र वाणी में बोले,—हे भगवान् । आप समस्त जीवों की वार्ता को जानने वाले हैं । मैंने भ्रमवश पुत्र के लिए ऐसा क्रोध किया था । पर मेरा क्रोध किसी आपदा का कारण नहीं था । मैंने पुत्र की शरीर को निर्जीव देखकर कहा था । उसके मृतक होने का कोई कारण न था । हे भगवान् । क्रोध भी नीति रूप है । क्रोध-स्थान में क्रोध करना पर आवश्यक है । फिर मैंने संसारिक गति एव पुत्र की अस्वस्था से तो क्रोध किया नहीं था, मैंने तो उसके निर्जीव शरीर को देख कर क्रोध किया था । इसीसे मेरा यह क्रोध आपद्जनक नहीं है । क्रोध दो प्रकार का होता है । अयुक्ति और युक्ति । अयुक्ति कारण का क्रोध आपदा का कारण है और युक्ति कारणका क्रोध संपदा मय है । यह कर्तव्य ससार की सत्ता में स्थित है । यह नीति है कि, जब तक जीव है तब तक जगत का भी क्रम रहेगा । जैसे जय तक अग्नि है, तब तक जगत-क्रम है । जो कर्तव्य है वह करना है और जो त्यागने योग्य है वह त्यागना है । यही नीति जगत में स्थित है । इसी कारण पुत्र की अकाल मृत्यु देखकर मैंने

क्रोध किया था, परन्तु जब आप ने विचार करके स्मरण कराया तब मैंने विचार करके देखा तो मेरा पुत्र गंगा के किनारे तपस्या करता हुआ मुझे दिखाई पड़ा । हे भगवन् ! अभी आपने यह कहा है कि मन के दो शरीर हैं । पर मुझे तो एक ही दिखलाई पड़ता है । मन ही जो कुछ करता है सफल होता है, शरीर का किया नहीं सफल होता । काल ने कहा, हे मुने । आपने ठीक कहा है कि मन का ही किया सफल होता है, शरीर का नहीं । यद्यपि मन शरीर से रहित और निराकार है तथापि क्षणमे आकार को रच लेता है । मन मे जो स्फुरण सत्ता है, वही भ्रम दिखलाती है और उसी मे बड़े आकार युक्त गन्धर्व नगर भास आता है । पर वह मन की ही सत्ता है । स्थूल दृष्टि से जीवों को दो शरीर भासते हैं । बोधवानों को तो तीनों जगत मन की रचना से ही मन का रूप भासते हैं । भेद वासनाओं से ही असत्यरूप जगत नाना प्रकार से भासता है । जैसे अज्ञानी को आकाश मे दो चन्द्रमा भासते हैं वैसे ही ज्ञानी को एक चन्द्रमा के समान शान्तरूप आत्मा ही भासता है । और भेद भावना से घर वन इत्यादि अनेक पदार्थ भासते हैं । पर सब वासना मात्र है । मन शरीर की वासना को त्याग कर प्रमार्थ की ओर आवे तो भ्रम को न प्राप्त हो । हे मुने ! समुद्र से उठ कर तरंग ऊपर को जाते हैं यदि ऐसा जाने तो बड़ी मूर्खता है । यही अज्ञान दृष्टि है । इसमे वास्तविकता नहीं है । जल रूप जानना ही वास्तविकता है । आत्मा में अनेक आकार से जगत भासता है पर वास्तव में दूमरा कुछ नहीं, ब्रह्म सत्ता ही समस्त शक्तियों का रूप है । उसीसे विचित्रता व चञ्चलता भासती है । पर वह सदैव एक रूप से अपने आप मे स्थित है । यह जगत ब्रह्म मे ही फुरता है और ब्रह्म ही मे लीन होता है । एक आत्मा अनेक शक्तियों को धारण करता है । जैसे एक रग भेघ मे अनेक रग का इन्द्रधनुष भासता है, वैसे ही यह अनेक भ्रम पाता है ।

समस्त ब्रह्मा से फुरा है। जड़ पदार्थ भी उसी चैतन्य सत्ता से स्फुरित हुये हैं। जैसे मकड़ी अपने मुख से जाला निकाल कर अपने को ग्रस लेती है, वैसे ही चैतन्य से जड़ होकर उसीमें लीन हो जाते हैं। अखिर चैतन्य जीव से ही तो सुपुष्टि रूपी जड़ता उत्पन्न होती और फिर उसी में लीन हो जाती है। फिर यह पुरुष अपनी इच्छा से बन्धनवान और मुक्त हो तो क्या आश्चर्य? ईश्वर की शक्ति बड़ी विचित्र है। जैसी शक्ति फुरती है, वैसा ही रूप देख पड़ती है। इससे जीव को बन्ध और मोक्ष कुछ नहीं है। यह तो दानों ही भ्रान्ति मात्र है। मैं तो जानता ही नहीं कि बन्ध और मोक्ष भी लोक में कहीं से आए हैं। खेद है कि सत् रूप आत्मा को असत्य ने ग्रस लिया है। यह क्या कम आश्चर्य है कि, दुःख-सुख और मोटा दुबला होना ही जगत को मोहित किये है? हे मुनीश्वर! बन्ध और मोक्ष दोनों ही मन की शक्ति है। मन जैसा फुरता है, वैसा ही रूप भासता है। आत्मा ही से अनेक शक्तियाँ और अनन्तरूप हैं। सब की उत्पत्ति आत्मा से है और सब आत्मा ही में स्थित हैं। वह परमात्मा महा समुद्र का रूप है। चेतना उसका जल है। उसीसे जीवरूपी अनेक तरंग उत्पन्न और स्थित होते हुए उसीमें लीन हो जाते हैं। उसीमें कोई २ तरंग ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र होकर प्रकाशते हैं और कई तरंग प्रमाद से रहित धूम, कुबेर, इन्द्र, सूर्य, अग्नि, मनुष्य, देवता, गन्धर्व, विद्याधर, यक्ष और किन्नर आदिक रूप होकर उत्पन्न होते और लीन हो जाते हैं। अस्तु यह संसार म्वप्नारम्भ है, पर दृढ़ होकर भास रहा है।

श्रीयोगवाशिष्ठ माया स्थिति प्रकरण का आठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८ ॥

नवाँ सर्ग

उत्पत्ति विस्तार वर्णन

इस भाँति संसारावर्त का विशद वर्णन कर चुकने पर काल ने भृगु मुनि से कहा,— हे मुनीश्वर! देव, दानव और मनुष्य जितने

हैं सब से ब्रह्म भिन्नरूप और मत् हे । 'मैं ब्रह्म नहीं'—ऐसा जानना तो जीव के संकल्प का क्लक है । ऐसा हा निश्चय तो मोहित करने वाला और अधोगति को पहुँचाने वाला है । उस शब्द ब्रह्म का संवित एवं कम्पायमान होना ही कलंकित रूप कर्म का बीज है । जैसा २ बीज मिलता है वैसे २ रम को प्राप्त होता है । पर यह मंरूप से कलंकित होना ही अनेक दुःखों का कारण है । फिर ऐसे प्रमादरूप कर्मकब्ज के बीज को चोरर दुःख क्यों न प्राप्त हो । यह जगत् आत्मरूप समुद्र की तरंग है कोई ऊपर को उठती है और कोई नीचे की ओर जाती है और फिर लीन हो जाती है । ब्रह्म से तृण पर्यन्त सबका यही धर्म है । मन का स्पन्दित होना पवन का धर्म है । उस पवामें कोई निर्मल पूजनीय ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रादि हैं पर कुछ मोह संयुक्त देवता, मनुष्य और सूर्यादि भी अनन्त मोह में स्थित हैं । इम भाँति मत्संग और सत्शास्त्रों को पाकर भी कुछ माया के व्यवहार में वह जाते हैं और यमरूप सर्प उनको काटता है । तात्पर्य यह कि, प्रमाद वश जीव अनेक दुःखों को भोगता है । आत्मज्ञान हो तो आपदाओं से मुक्ति मिले और शान्ति प्राप्त हो ।

धायोगवाशिष्ठ भाषा स्थिति पकरण का नवाँ सर्ग समाप्त । ९॥

दशवाँ सर्ग ।

काल वाक्य

काल ने कहा,—हे मुने । संसार की समस्त भूत जातियाँ आत्म-समुद्र की लहरोंके समान हैं । एकसे ही अनेक विचित्र विस्तार को प्राप्त हुआ है । किन्तु जिन भूतों ने मन पर विजय लोभ कर ब्रह्मका दर्शन किया है वे विसन्देह जीवन्मुक्त हैं । हे मुनि जी ! जीवों की तीन श्रेणियाँ हैं । अज्ञानी, जिज्ञासु और ज्ञानवान । अज्ञानी को शास्त्र—श्रवणमें कुछ भी रुचि नहीं रहती । जिज्ञासुओं के लिए ज्ञानियों ने शास्त्र की रचना की है । ज्ञानी वह है जो उन पर विचार

कर मोहसे निवृत्त होता है । पर मूर्ख अज्ञानियों को तो मोह व तृष्णा ही अधिक प्रिय होती है । ऐसे ही मृदु अन्धकूप में गिरते हैं । समस्त भ्रत जातियों के सुख दुःख का कारण यह मन रूपी शरीर है । मन जैसा फुरता है वैसी गति को प्राप्त होता है, शरीर से नहीं । क्योंकि आधिभौतिक शरीर को मन रूपी सकल्प ने ही रचा है । अस्तु, हे मुने । आपके पुत्रने मनरूपी शरीरसे जो मिया उस गतिको प्राप्त हुआ, उसमें मेरा क्या अपराध है । अपनी वासना के अनुसार जो जैसा करता है, पाता है । आप का पुत्र जैसी २ तीव्र भावना में फुरा वैसी २ गति को प्राप्त हुआ । विशेष क्या कहूँ । यव उठिए आपका पुत्र जहाँ है वहाँ चलिए । यह कह कर वाल्मीकि जी बोले कि, हे भारद्वाज । जब काल ने ऐसा कहा तब दोनों जगत की गति को समझ हँस कर उठ खड़े हुये और एक दूसरे का हाथ पकड़ कर कहने लगे,— ईश्वर की नीति आश्चर्य रूप है जो जीवों को अनेक भ्रम दिखलाती है ।' ऐसा कह कर वहाँ से चल दिये । इतनी कथा सुनाकर वशिष्ठ जी ने सूर्य को अस्त होते देख कर सभा को विसर्जन किया और सब लोग अपने २ स्थान को उठ गए । दूसरे दिन सूर्य के उदय होते ही फिर निज आसनों पर आ बैठे ।

श्री योग वशिष्ठ भाष स्थिति प्रकरण का दशवाँ सर्ग समाप्त ॥ १० ॥

ग्यारहवाँ सर्ग ।

शुक जन्मान्तर वर्णन

भा इस भाँति काल और भृगु मुनि पर्वत से उतर कर गङ्गातट पर अपने पुत्र के निकट पहुँचे । वहाँ पहुँचकर मुनि ने क्या देखा कि पुत्र शुक समाधि लगाये पड़े हैं । तब कालने उनको जगाया । कलना में फुरने और बादल के शब्द से जैसे मोर जागें वैसे ही शुकजी आँखें मींचते हुये उठ बैठे तो क्या देखते हैं कि भृगुमुनि सामने ही खड़े हैं । प पिता को देखकर भी पहिचान न सके । पिता और

कालको उन्होंने समझा कि, यह दोनों विष्णु और शिवजी हैं। तब उनको एक शिला पर बैठकर शुक ने बड़ी वन्दना की और पूछा कि, हे ऋषीश्वरो ! आप कौन हैं। आपके आगमन से मेरा स्थान पुनीत हो गया। आप महा ऐश्वर्यमान सूर्य हैं या चन्द्रमा अथवा आप कौन हैं। पुत्र की ऐसी वार्ता सुनकर भृगु जी ने कहा,—हे साधो ! अपने को स्मरण कर कहो कि, तुम कौन हो ? अज्ञानी या प्रबुद्धात्मा ? तब शुक मुनि ने नेत्र मूँदकर ध्यान किया तो उन्हें अपना सब वृत्त ज्ञात हो गया। वह आश्चर्य होकर कहने लगे,— 'ईश्वर की गति बड़ी विचित्र है। सप्त वश मैंने अनेक जन्मों में भ्रमण किया। महान् आश्चर्य है कि, मैंने बहुत दुःख और अनेक अवस्थाओं का भोग किया। ऐसा कोई कार्य नहीं जो मैंने न किया हो। इष्ट, अनिष्ट, स्वर्ग, नर्क सब कुछ मुझे देखना पड़ा। यह सब देख लेनेपर ही मुझे विश्राम मिला और मेरा संकल्प भ्रम नष्ट हुआ।' हे पिता जी ! अब आप वहाँ चलिए जहाँ मन्दराचल पर्वत पर मेरा शरीर पड़ा है। यद्यपि मुझे अब कुछ इच्छा नहीं है। न हेय है, न उपादेय है। तथापि नीति रचना के अनुसार कहता हूँ। फिर आपकी जैसी इच्छा हो वैसा कीजिए। पर बुद्धिमान जनको प्रकृति आचार में अवश्य विचरना चाहिए।

श्री योग वाशिष्ठ भाषा स्थिति मकरण का ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त ॥११॥

बारहवाँ सर्ग

भृगु, काल समागम

वाशिष्ठ जी बोले,—हे राम जी ! पुत्र शुक की बात सुनकर भृगु मुनि काल और शुक को साथ लेकर—आकाश मार्ग से बढ़े २ मेघ मण्डलों को पार करते हुये मन्दराचल पर्वत पर अपनी स्वर्ण कन्दरा में जा पहुँचे। तब वहाँ शुकने जो अपनी पत्नी और मृगी शरीरसे स्वर्ग सुख का उपभोग था, कह सुनाया। शुकने कहा, हे पिता जी ! यह वही शरीर गङ्गनाओंसे मिला और अनेक

विलास किया, नन्दन वन और न जाने कहाँ रह कर आनन्द किया, पर आज वही रागवान होकर चिन्ताओं से सूख कर महा भयानक मालूम हो रहा है। जो शरीर आत्मरूप था, जो अहंकार का विनाशक था और जिसमें सुवर्ण के समान सुन्दर प्रकाश था वह अब धूप से सूखकर भयानक भास रहा है। अब इसको सब गुणों ने छोड़ दिया है, मानो यह विरक्त आत्मा और विषयोन्मुक्त हो निर्विकल्प समाधि में स्थित हो गया है। हे साधो ! यह चित्त सब अनर्थों का कारण है। जब तक यह शान्त न हो आनन्द नहीं मिल सकता। रामजी ने पूछा,—हे भगवन् ! भृगु-पुत्र शुक्र ने तो अपने पिता के आश्रित शरीर को छोड़कर अनेक शरीर धारण किया था फिर अपने पूर्व शरीर को देखकर इतना शोकित क्यों हुआ, अन्य शरीरों का चिन्तन क्यों न किया ? वशिष्ठ जी ने उत्तर दिया,—हे रामजी ! शुक्र की सवेदन कला जो जाव भाव को प्राप्त हुई थी, वह कर्मात्मक होकर भृगु से उत्पन्न हुई। फिर वही चित्तकला के फुरने से भूताकाश को प्राप्त हुई और वही वायुकला में स्थिर होकर प्राण अपान के मार्ग से भृगु के हृदय में प्रविष्ट हुई। वही वीर्य-स्थान को प्राप्त कर गर्भ मार्ग से उत्पन्न होकर क्रमशः बढ़ी। उसीसे विद्या और गुण सम्पन्न शुक्र का शरीर हुआ। उस शरीर को उसने बहुत दिन तक सेवन किया। इसीसे शुक्र ने उसका शोच किया था। वीतराग और निरिच्छित होने पर भी चिरकालाभ्यास से उसे वही फुर आया। हे रामजी ! चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी—दोनों का व्यवहार एक समान ही होता है। केवल शक्ति और अशक्ति का भेद है। अज्ञानी कियाओं में बन्धनवान रहता है और ज्ञानी नहीं। ज्ञानी मोक्ष रूप है, और अज्ञानी दरिद्र है। जाल में फँसे हुए पक्षी के समान अज्ञानी लोक व्यवहार में बन्धनवान् होता है। पर व्यवहार तो दोनों के समान है। केवल वासना-भेद है। शरीर के रहने ही में सुख दुःख है। पर ज्ञानी दोनों हा में शान्त है। अज्ञानी को सुख दुःख जान पड़ता है। पर स्वरूप

ज्यों का त्यों है । अज्ञानी बाहर से क्रियाओं को भले ही त्याग दे पर तिसपर भी वह बन्धन में ही रहता है, किन्तु क्रियाओं को रखते हुए भी ज्ञानी मोक्ष रूप है । उसको कर्म का बन्धन नहीं । क्योंकि बाहर से वह चाहे जैसा व्यवहार करे पर हृदय से अद्वैत ज्ञान युक्त है । हे राम जी । तुम भी बाहर से सब कार्य करो पर अन्तःकरण से शून्य रह कर सर्व ईषणाओं से रहित आत्मपद में स्थित हो जावो । इसी भाँति अपना प्राकृत व्यवहार करो । नहीं तो इस आधि व्याधि और अह ममता रूपी संसार सागर में गिर कर गाते खाओगे । अतएव संसार के भावों में स्थित होकर शुद्ध बुद्ध आत्मभाव में स्थित होवो । ऐसे ब्रह्म, शुद्ध, सर्वात्मा, निराकार-निर्विकार और आत्मपद में स्थित जनो को मेरा नमस्कार है ।

ॐ योगवाशिष्ठ-भाषा, स्थिति-प्रकरण का बारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १२-॥

तेरहवाँ सर्ग ।

भृगुदेह परिवर्त

वशिष्ठ जी बोले हे राम जी । शुक्र मुनि की ऐसी वार्ता और प्रथम शरीर में त्याग बुद्धि देख कर काल भगवानने शुकसे कहा,— हे मुने । हम आप की इस वार्ता को नहीं मानते । आप को भृगु-पुत्र की शरीर में प्रवेश करना चाहिए । जैसे कोई राजा अनेक देशों में भ्रमण कर अपने नगर में आ जाता है वैसे ही आप भी इस शरीर में प्रवेश करें । कारण कि भार्गवतन से आप को असुरों का गुरु होना है । परमात्मा के नियमानुसार अभी आपको इस शरीर से महाकल्प तक जीवित रहना होगा । इसके प्रथम आप भार्गव शरीर का परित्याग नहीं कर सकते । वह समय अभी बहुत दूर है जब प्रारब्ध वेगके पूर्ण होने पर आप का यह शरीर गिर पड़ेगा और जीवन मुक्त होकर आप प्राकृत आचारमें विचरिएगा । इससे यही अच्छा है कि आप इस शरीर के छोड़ कर भार्गव-शरीर में प्रवृष्ट कीजिए ।

यह कह कर काल भगवान ने पुष्प फेंक कर दोनों को आशीर्वाद दिया और अन्तर्ध्यान हो गए । तब महातपस्वी शुक्र ईश्वरीय नीति पर विचार करने लगे कि, अब क्या होगा । भट्ट उन्हें विश्वास हुआ कि, काल भगवान् ने जो कुछ कहा है वही होगा । ऐसा विचार कर वह उस महाकृश रूपी अपने पूर्व शरीर में प्रवृष्ट हुये और ब्राह्मण शरीर को छोड़ दिया । फिर तो वह शोभा रहित शरीर कम्पित होकर पृथ्वी पर गिर पडा और शुक्रदेह में जीवकला का संचार हुआ । तब उस सचरित शरीर को देख कर भृगु जी प्रसन्न होकर कमण्डल से जल लेकर पुष्टि-शक्ति के लिए मंत्र-पाठ करने लगे । पाठ करके मुनिने उस जल को उस शरीर पर छिड़क दिया । फिर तो शरीर की सब नाडियाँ पुष्ट हो गई और शरीर प्रफुल्लित हो कर श्वास आने जाने लगा । पश्चात् शुक्र ने उठकर पिता भृगु को प्रणाम किया और नेत्रों में जल भर आया । तब भृगु जी पुत्र को कण्ठ लगा कर बहुत प्रसन्न हुये । हे रामजी । यही भृगु मुनि का आख्यान है । इसी क्रम से महाज्ञानी भृगु को भ्रमता और स्नेह फुर आया था । फिर दूसरे की बात क्या है ? इस भाँति बहुत दिन तक पिता और पुत्र उदार आत्मा होकर वहाँ रहे । समय आने पर वही शुक्र जी दैत्यराज वृषपर्वा के गुरु हुये ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का तेरहवाँ सर्ग समाप्त ॥१३॥

चौदहवाँ सर्ग

ससारावर्त-वर्णन

इस कथा को सुन कर रामजी ने वशिष्ठ जी से प्रश्न किया कि,—हे भगवन् । जिस प्रकार भृगु-पुत्र को यह प्रतिमा फुर आई क्या ऐसे ही अन्ध जीवों को नहीं सिद्ध हो सकती ? वशिष्ठ जी ने उत्तर दिया,—हे रामजी । भार्गव शुक्र का जो सिद्धि मिली वह ब्रह्म तत्व के बल से मिली । वह जन्म से कलकित न हुए थे । वह सब ईषणाओं से रहित और शुद्ध चैतन्य स्वरूप थे । निर्मल हृदय को

सभी सिद्धियाँ हैं, पर मलिन हृदय वालों का संकल्प शीघ्र नहीं सिद्ध होता। फिर भृगु-पुत्र भी तो मनोराज से ही भ्रमते फिरते थे। वैसे ही सब लोग स्वरूप-प्रमाद से भ्रमते फिरते हैं। स्वरूप का साक्षात्कार 'हुये बिना' शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। इसी से तो समस्त भूत जातियाँ भ्रमवश अनेक भ्रमको प्राप्त होती हैं। समस्त जगत मन-का स्फुरण है। मिथ्या-प्रेम से नानात्व भासता है। एक एक करके जितना भ्रम है, सब संकल्प मात्र है। उदय और अस्त सब कुछ मिथ्या एवं माया मात्र है। अज्ञान वश यह जाग्रत-भ्रम दृष्टि में आ रहा है। भूत और पिशाच आदिक का शरीर भी संकल्प-मात्र है। हमारा तुम्हारा और उनका सुख दुःख एक समान है। हे रामजी! ऐसे मिथ्या जागत को सत् जानना अपने पुरुषार्थ को नष्ट करना है। जहाँ तक हो सम्यकज्ञान से इसका अभाव ही करना चाहिए। क्योंकि यह स्वप्नवत् है। चित्त रूपी हस्ती को बाँधे हुए है। जिससे जगत सत्य सा प्रतीत हो रहा है और जगत सत्ता से चित्त है। इनमें से एक नाश हो जाय तो दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। जगत की सत्यता नष्ट होने पर चित्त भी नष्ट हो जाता है और चित्त के (उपशम) होने पर जगत शान्त हो जायगा। पर यह बिना आत्मविचार के न होगा। क्रमशः इसका उद्योग करना चाहिए। सबसे प्रथम हृदय को निर्मल करने की आवश्यकता है। शास्त्रानुसार क्रिया करने से हृदय निर्मल होता है। हे रामजी! प्रत्येक जीव के हृदय में अपनी २ सृष्टि है तो भी मलिन चित्त वाले दूसरे को नहीं जानते। और सृष्टि को जानना तो तब होता है जब चित्त होवे। ऐसा अभ्यास दृढ हो तो चिरपर्यन्त सब कुछ भासने लगे। क्योंकि आत्मा सब का अधिष्ठान है। उसमें स्थित होने से सब का ज्ञान होता है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! केवल प्रतिमा के आभास से शुक्र मुनि को देश, काल और क्रिया द्रव्य कैसे दृढ़ हो कर भासित हुआ? वाशिष्ठ जी ने उत्तर दिया,—

हे राम जी । उन्होंने अपने अनुभव-भाण्डार में मन से जगत को देखा था । जैसे केवक बीज से पत्ते और फूल फल निकलते हैं वैसे ही जीव जीव को अपने २ अनुभव में संसार-खण्ड फुरते हैं ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा स्थिति प्रकरण का चौदहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १४ ॥

पन्द्रहवाँ सर्ग

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्था वर्णन

वाशिष्ठ जी बोले,—हे राम जी ! संसारखंड की समस्त वस्तुओं का बीज रूप आत्मा है । वही सबको आभास है । उस आभासके उदय और अस्त होने में आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है । उसी सत्ता में फुरने से जीव इस स्वप्न तुल्य जगत के भ्रम को देखते हैं । यों तो सभी जीव अपनी २ सृष्टियों में स्थित हैं । पर जो पुरुष उपशम होता है वह आत्म पद में प्राप्त होता है और आत्मब्रह्म से एकता होने पर उसको परस्पर की और सृष्टियाँ एक समान भासने लगती हैं । उसीमें सब सृष्टियाँ स्थित होती हैं । जैसे कपूर का पर्वत हो तो उसके अणु २ में सुगन्ध होती है और उन्हीं सब अणुओंकी एकता से सुगन्धपर्वत में एकता होती है वैसे ही समस्त जीवों का अधिष्ठान आत्मसत्ता है । जैसे सब नदियाँ समुद्र में जाकर मिलती हैं और उनका अधिष्ठान समुद्र है वैसे ही चित्त की वृत्तियाँ आत्मा में मिल जाती हैं और वही सबका अधिष्ठान है । पर मलिन चित्त वाला नहीं मिल सकता । एक-एक जीव में सहस्रों सृष्टियाँ गुप्त रूप से होती हैं और जहाँ जैसा फुरना होता है वहाँ वैसा भासती हैं । उममें कोमल मन का स्फुरण सफल नहीं होता । दृढ मन का सफल होता है । हे रामजी ! समस्त जीवों की तीन अवस्था होती है । जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति । यह तीनों अवस्था आत्मामें जीवित का लक्षण है । पर आत्मा में प्रमाद भी है । प्रमाद से ही प्राणी तीनों अवस्थाओं में भटकता है । एक अवस्था तुरीय नाम की है । जब चित्तकला तुरीयावस्था में हो तब प्राणी जीवन्मुक्त होता

है। ऐसा आत्मस्थित होने से आत्मऐक्य प्राप्त होकर वह सबसे सुहृदभाव हो जाता है। पर अज्ञानी सुषुप्ति अवस्था में रह कर संसार को देखता है। इससे वह संसार की ओर जाता प्रमादवश अनेक सृष्टियों को देखता है, पर उसे शांति कहीं नहीं मिलती। जब उपशम स्वभाव में स्थित हो तो नानात्व भाव मिट कर शान्तरूप होवे। हे राम जी ! यद्यपि जगत का समूह भासित होता है फिर भी आत्मा से द्रैत नहीं। जैसे केले के भीतर पत्र से भिन्न कुछ नहीं वैसे ही आत्मा से जगत भिन्न कुछ नहीं है। आत्मा में जीव भी नहीं। जीव का कारण तो रस है। आत्मा कार्य-कारण भाव से परे अद्रैत और अचिन्त्य रूप है। वही आकारण रूप परमात्मा विचारने योग्य है। फिर अन्य से क्या प्रयोजन ? बीज जब अपने भाव को त्यागता है, तब फूल भाव को प्राप्त होता है। पर ब्रह्मसत्ता अपने स्वभाव को नहीं त्यागती। बीज का परिणाम आकाशवत् है। पर आत्मा अकृत्रिम, निराकार और अच्युत रूप है। यही कारण है कि आत्मा को बीजके समान भी नहीं कह सकते। क्योंकि आकाश से आकाश नहीं उत्पन्न हो सकता। वह तो अभिन्न रूप है। अस्तु न तो कुछ उत्पन्न हुआ है और न किसी ने उत्पन्न किया है। केवल ब्रह्माकाश स्वतः स्थित है। द्रष्टा को देखने से अपने को नहीं देखा जा सकता। क्योंकि जब मनोराज की वस्तु देखी जायगी, तब विद्यमान वस्तु नहा दिखलाई पड़ेगी। आशय कि आत्मसत्ता को देखने वाला जगत की नहीं देख सकता और जगत के देखने वाले को आत्मसत्ता नहीं दिखलाई पड़ती। फिर अज्ञानी क्या जाने कि सर्वत्र ब्रह्मसत्ता ही है। हे राम जी ! स्थूल पदार्थों के आगे पटल आने से वह नहीं भासित होता फिर सूक्ष्म निराकार और द्रष्टारूपी पुरुष के आगे आवरण आनेपर कैसे भासित होगा। इससे जो द्रष्टालु पुरुष हैं उनके निकट दृश्य वस्तुयें कुछ

उनमें केवल द्रष्टा रूप एक मर-

मात्माही स्थित है, वही देव आत्मरूप और सर्व शक्तिमान है। फुरने के अनुसार शीघ्र भामता है। वही आत्ममत्ता अनेक जीवों में देह रूप होकर भास रहा है। उस एक आत्मा में अनेक चिद् अणु फुरते हैं और उनके भीतर सृष्टि होती है। उन्हीं सृष्टियों के भीतर चिद्अणु और चिद्अणु के भीतर अनेक सृष्टि व ब्रह्मांडों का निवास है जिनकी सख्या कही नहीं जा सकती। वह स्वयम् ही फुरता और स्वयम् ही स्वाद लेता है। वह आकाश, पवन और अग्नि आदिक ममस्त द्रव्यों में स्वयं स्थित है। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो चित्त मत्ता से परे हो। जहाँ चित्त होगा वहाँ उसका प्रतिम्बस्वरूप द्रष्टा भी अवश्य स्थित है। उसमें जैसा स्फुरण होता है, वैसाही स्थित होता है और आत्मा ही सबका अधिष्ठान रूप है। पर जगत तो दीर्घ स्वप्न तुल्य अपने ही अनुभव में उदय हुआ है। इसमें सृष्टियाँ भी स्वप्न के ही सदृश स्थित हैं। उसमें देश काल और क्रियादिक भी कुछ नहीं है। केवल आत्ममत्ता ही अपने आपमें स्थित है। ब्रह्मा से लेकर कीट पर्यन्त तक जो कुछ भी जगत भासित होता है, सब परमात्मा का किञ्चन मात्र है। वही रसमत्ता कहीं फल होकर भासती है और वही कहीं सुगन्ध चेतन्य है और कहीं ऋद्ध होकर जान पतडी है। किन्तु सबगत अविनाशी आत्मा ही सबका बीज रूप है और उसीके भीतर समस्त जगत स्थित है। उसी आत्मा के प्रमाद से नानारूप जगत भासता है। इसी प्रमाद से जीव नाना प्रकार का जगत-भ्रम देखता है। अन्यथा आत्मा और जगत में कोई भेद नहीं है। कारण कि जगत तो कुछ भी नहीं है। आत्मा ही जगत सा प्रतीत हो रहा है। विचार रहित वालों में ही इस जगत के पदार्थ भासते हैं। वही जानता है कि मैं हूँ यह जगत है, यह उत्पन्न हुआ है और यह लीन होगा इत्यादि। पर जो सरसग और शास्त्र के संयोग से विचारवान हैं, उनको प्रति दिन भोग की तृष्णा घटती जाती है और आत्म विचार दृढ़ होता जाता

है। उनके दो लक्षण हैं। तृषा निवृत्ति और तपन निवृत्ति। इस भाँति विवेक—दृढ़ी पुरुष इन्द्रिय दमन कर संतोष से हृदय में शीतलवान होता है और उसको सर्वत्र आत्मा ही भासती है। विवेक का फल ऐसा है। पर जिस प्रकार अग्नि लिखित चित्र व्यर्थ है, उसी प्रकार निश्चय रहित वचन दुःख को नाश नहीं कर सकता और उससे शांति भी नहीं मिलती। विवेकवान पुरुष लक्षणों से ही मालूम होते हैं, उनकी जिह्वा नहीं हिलती, कारण कि जिह्वा के हिलाने से वास्तविक ज्ञान दुर्लभ है। विवेक तो भोग की तृष्णा का नाश होने ही से मिलता है और तभी शान्ति मिलती है, वाग्विलास से नहीं। विवेकागमन का प्रथम लक्षण यह है कि राग-द्वेष से रहित हो जाय, विषय भोगों की तृष्णा और वैर भाव भी नष्ट हो जाय। जैसे सूर्यके उदय होने पर अन्धकार नष्ट होजाता है, वैसेही विवेक उदय होने पर अज्ञान नष्ट हो जाता है और जीव परमपद का भागी होता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा स्थिति प्रकरण का पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १५ ॥

सोलहवाँ सर्ग ।

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति वर्णन

वशिष्ठ जी बोले,—हे रामजी। परमात्मा ही समस्त जीवों का बीज है और वही सब ओर से आकाश की नाई स्थित है। उसके फुरने का ही नाम जीव है और उसी जीव में जगत है। पर वास्तव में सभी जीव चिद्बन स्वरूप हैं। जैसे कदली खम्भके भीतर पत्र होते हैं और जैसे शरीर के भीतर कीट होते हैं, वैसे ही आत्मा के भीतर जीवों की राशियाँ हैं और चित्तकलाके स्फुरण से जीव समूह स्फुरित हो आते हैं। वे जीव जैसी २ सिद्धियों के लिए यत्न और उपासना करते हैं, वैसे २ गति को प्राप्त होते हैं। देव उपासक देवों को, यज्ञोपासक यज्ञको पाते हैं। अतएव तुम भी महत्पदका उपासक बनो। जैसे दृश्यों की ओर लगकर शुकने अनेक दृश्यभ्रमको देखा

और शुद्ध बुद्धि से निर्मल ज्ञान को प्राप्त हुये, वैसे ही जो जिसका उपामक होगा वह उसको प्राप्त होगा, अन्य को नहीं।

इतनी कथा सुनकर रामजीने जाग्रत और स्वप्नके बारे में पूछा कि, यह क्या है ? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया कि स्थिर-विश्वास का नाम जाग्रत और अस्थिर विश्वास काम स्वप्न है। जो चिरकाल रहे वह स्थिर है और जो अल्प काल रहे वह अस्थिर है। भाव यह कि जो दीर्घकाल रहे उसका नाम जाग्रत और जो अल्पकाल रहे उसका नाम स्वप्न है। इसमें और कोई भेद नहीं। अनुभव दोनों का ही बराबर है। हे रामजी ! जीव वह है जो शरीर के भीतर रह कर शरीर को जीवित रखे। उसको तेज और बीजरूप भी कहा जाता है। जीवका नाम धातु भी है। जब जीव धातु स्पन्दित होकर जीवित रन्ध्रों में विस्तार करता है तब मन, वाणी और शरीर व्यवहार करने लगता है और रन्ध्र खुल जाते हैं—उसीका नाम जाग्रत है। इस भाँति चित्तकला के जाग्रत व्यवहार जब स्पष्ट रूप से होकर भीतर फुरते हैं तब उसके भीतर जगत-भ्रम जान पड़ने लगता है। वही स्वप्न कहलाता है। सुषुप्ति का क्रम ऐसा है कि, मन वाणी और शरीर से जहाँ चोभ न हो, स्वच्छ वृत्ति जीवधातु भीतर स्थिर हो, हृदयमें प्राण वायुका चोभ न हो, नाडियों रसपूर्ण हों और उस मार्ग से प्राण का आवागमन न हो, चोभ-रहित समवायु का गमन हो वह सुषुप्ति अवस्था है। क्योंकि वहाँ तो संवित सत्ताही स्वतः अपना अनुभव लेती है। संवित सत्ता वरुण में शीतलता और तिलों में तेल के समान ही स्थित होती है। जडरूप सुषुप्ति अवस्था जाग्रत-दृश्य भावको न प्राप्त हो निर्विकल्पप्रकाश में स्थित होने का ही नाम तुरीयावस्था है। ऐसी अवस्था यदि व्यवहरित भी हो तो भी वह जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के बाधक में नहीं। हे रामजी ! वह भी जाग्रत अवस्था है जिसमें आत्मसत्ता से फुरना होकर स्वरूप विस्मरण हो और फुरना दृढ़ होकर स्थिर होवे। स्वप्न वह है जिसमें

स्वरूप-प्रमाद, दोष द्वारा फुर, कर जगत भासे और उसीको सत्य स्वरूप जानकर ऐसा विश्वास हो कि, यह अल्पकालही रहकर फिर निवृत्त हो जावेगा। फिर सुषुप्ति अवस्था वह है कि जिसमें दृश्यों के फुरने का अभाव हो और अज्ञात वृत्ति, जड़ रूपसे हो। तुरीया वह अवस्था है जिसमें जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की व्यवहारी हो पर इनकी रञ्जमात्र भी सद्भावना न हो, केवल ज्ञान में अहं विश्वास हो। ऐसे स्थित प्राणी ही जीवन्मुक्त कहलाते हैं।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, स्थिति प्रकरण का सोलहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १६ ॥

सतरहवाँ सर्ग ।

भार्गवोपाख्यानसमाप्ति वर्णन ।

इस प्रकार मन निरूपण व अवस्थाओं का विशद विवेचन हो चुकने पर वशिष्ठजी ने कहा,— हे रामजी। चित्तमें जैसा निश्चय होता है वैसा ही रूप होकर भासता है। भाव, अभाव, ग्रहण, त्याग, सब कुछ मनसे ही होता है। न तो कोई सत् है न असत्। मनकी चपलता से ही सब फुर रहे हैं। मन-मोह से ही जगत भासता है। मन नष्ट हो जाय तो जाग्रत भी नष्ट हो जाय। मलिन मन, ही जगतको रचता है। और मनही पुरुष है। ऐसे मन को तुम अशुभ मार्ग में न लगाओ। यदि मनको तुम जीत लोगे तो मानो सब जगतको जीत लिया। मनको जीत कर, महान् विभूति प्राप्त होती है। शरीर पुरुष नहीं है। यदि शरीर पुरुष होता तो भार्गव शुक्रको अन्य शरीर रचनेकी क्या आवश्यकता थी? उनका शरीर तो वहाँ पड़ा ही था। अतएव शरीर पुरुष नहीं, मन पुरुष है। चित्तके करने से शरीर होता है, शरीर से चित्त नहीं। चित्त जिस वस्तुमें जा लगे वही वस्तु मिलती है। इसमें कोई संशय नहीं। चित्त का पद महान तुच्छ है। अस्तु तुम धम को त्याग कर सदव-चित्त में आत्माका अभ्यास करो। अन्यथा दृश्यों की ओर मनका संसरना तो महान दुःख का द्योतक है। जब यह आत्मा की

और प्रवाहित हो तो परमपद प्राप्त होता है। इससे दृश्य-भ्रम को त्याग कर तुम आत्मपद में ही स्थित होवो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, स्थिति-प्रकरण का सतरहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १७ ॥

अठारहवाँ सर्ग ।

विज्ञान-

रामजी ने पूछा,—हे भगवन् ! जो आत्मसत्ता निर्मलनिर्विकार और देश, काल और वस्तु से रहित है उसमें यह मलिन सवित् 'मन' कहाँ से आकर स्थित हुआ, कृपाकर मेरा यह महान् सशय निवृत्त कीजिए । वशिष्ठ जी ने कहा,—हे रामजी ! तुमने यह अच्छा प्रश्न किया । मालूम होता है, अब तुम्हारी बुद्धि पूर्व अपरके विचारों से जाग्रत होकर मोक्षभागी हुई है। इससे अब तुम शुक्र आदिके पद को प्राप्त होवोगे। तुम्हारा यह प्रश्न सिद्धांत काल से सम्बन्ध रखता है। उसका उत्तर सुनो। हे रामजी ! मैं तुमको अनेक प्रकार से और अनेक युक्तियों से इसका उत्तर कहूँगा। इस मन की शान्ति के लिए वेदों और शास्त्रों ने जो निर्णय दिये हैं, उनका लक्षण सुना रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो। हे रामजी ! यह मन बड़ा ही चञ्चल है। जैसा भाव अङ्गीकृत करता है, वैसा ही रूप होकर भासित होता है। किन्तु मनसे रहित जो शरीर से क्रिया करता है, उसका फल कुछ नहीं होता और जो मनसे करता है, उसका पूर्ण फल प्राप्त होता है। यह मन जिस ओर झुकता है शरीर भी उसी ओर झुकता है। बुद्धि अर्थात् इन्द्रिय जो मनकाही रूप है यदि चोभको प्राप्त हो और शारीरिक इन्द्रियाँ स्थिर हों तो भी कार्य होता है। किन्तु मन चोभित न हो और कर्मेन्द्रियाँ भी चोभित न हो तो कार्य नहीं हो सकता। जैसे धूल चोभित भी हो और पवन न चले तो वह आकाश को नहीं उड़ सकती पर यदि पवन चोभवान् हो और धूल न स्थिर तो भी वह उसको उड़ाले जायगा। वैसे ही शरीर पड़ा रहता है पर मन

अपने फुरने से स्वप्न में अनेक अवस्था को प्राप्त होता है। ऐसेही जाग्रतावस्था में भी मन जिस ओर फुरता है शरीर को भी उसी ओर जाना पड़ता है। अतएव सब कार्यों का बीज मन है। मनसे ही सब कार्य होते हैं। मन और कर्म में भेद नहीं। मनमें जैसे कर्म का दृढ़ अभ्यास होता है—शाखा फलकर वह उसी फल को प्राप्त होता है। वह उसी स्वाद का अनुभव करता है। तात्पर्य यह कि चित्त जिस भाव को ग्रहण करता है, उसी भाव को प्राप्त होता है। वही कल्पना रूप उसे मान्य है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिए भी वह जैसी भावना करता है उसको वैसाही सिद्ध करता है। महात्मा कपिल मुनिने जितने शास्त्र रचे वह केवल मनकी सत्ता ही से ही तो रचे थे। उन्होंने निर्णय किया है कि, प्रकृति माया है और उसका दो स्वभाव है। अनुलोम परिणाम, प्रतिलोम परिणाम। अनुलोम परिणाम से आत्मा की ओर आता है और प्रतिलोम से दृश्य भावको प्राप्त होता है। अनुलोम परिणाम मोक्ष प्रद है। वेदान्त वादियों का यह निश्चय है कि, सर्वत्र ब्रह्म ही है—शम, दम से जब मन सम्पन्न होता है तब यह निश्चय होता है कि सर्वत्र ब्रह्म है और ब्रह्मज्ञान बिना मोक्ष कठिन है। यह उनका निर्णय है। पर विज्ञानवादी कहते हैं कि, जब तक बुद्धि पड़ो फुरती है, तभी तक संसार है। जब यह अपने स्वभाव में फुरती है तब उसकाल में स्वरूप स्थित होता है। जब यह अपने स्वभाव में फुरती है। तब उसकाल में स्वरूप स्थित होता है। ऐसा काल आने ही पर मोक्ष प्राप्त होता है। मीमांसा और पातंजलि व वैशेषिक नामक आदि से लेकर जितने शास्त्रकार हैं सबने अपनी २ बुद्धि के अनुसार—जैसे २ निश्चय को उन्होंने धारण किया है—वैसाही उनको भासित हुआ है। पर स्वरूपतः न कोई मत है और न कोई शास्त्र है। केवल मन ही सबका कारण है। मन के अङ्गीकृत में सब मत दूबे हुये हैं। नीच न तो क्रुद्ध है और न मिष्ट है, अग्नि न जलता है और न चन्द्रमा

में शीतलता—मनके निश्चयानुसार ही उसको वैसा भासता है। यही कारण है कि, विरहिणी स्त्री को, चन्द्रमा अग्निवत्, भासता है और अग्नि को चकोर भक्षण कर लेता है। यह सब क्या है—भावना ही तो है। अतः सर्व जगत भावनां मात्र है। भावना ही समस्त दुःखों को दिखलाती है। पर शमदमामि साधनो से जिसको अकृत्रिम पद प्राप्त हो चुका है और मन उसके अनुसार हो गया है वह शान्ति पाता है। हे रामजी! तुम्हारे मन के स्मरण से ही यह जगत-दृश्य स्थित है। पर यह महा तुच्छ है; इसको मनसे त्याग दो। यह महानि सुख दुःखको देने वाला अपवित्र, असत्य मोहरूप महा भयका कारण है। यह आभास रूप, मायामय और अविद्यारूप भी है। इसकी भावना भयदायक है। जगत के साथ संवित को लगाव होता है। बुद्धिमान जन इसे कर्म कहते हैं। द्रष्टा के साथ दृश्य का संयोग महामोह को देनेवाला है। दृश्य के साथ मिलकर यह (द्रष्टा) आत्माभिमान करता है और महामोह रूप मद से उन्मत्त हो शरीरादि को अपना आप जानता है। स्वरूप की सम्हाल नहीं करता। दृश्य के साथ मिलने वाले ऐसे को कल्याण नहीं होता। कारण कि उसके आगे तो मन का अधिकार है। उसे स्वरूप का भास कैसे होगा? अस्तु मन रूपी आवरण को दूर कर सकल्पों का त्याग करो। सकल्पों के नष्ट होने पर मन स्वयं ही नष्ट हो जायगा। हे रामजी! जब तुम सब भावों से असग रहोगे तब द्रष्टा जो समस्त पदार्थों में पुरुष रूप से स्थित है वह प्रसन्न होगा और तुमको चिदात्माकी प्राप्ति होगी। उस चिदात्मा के निकट सुख, दुःख और जगत की कोई सत्ता नहीं है। वह अपने आपमें ही प्रकाशित है। सांसारिक भावनाओं को जब अपने हृदय से उठा दोगे तब तुम निर्मल स्वरूप में स्थित होवोगे, जैसे रस्सी के सम्पर्क ज्ञान से सर्प का भ्रम जाता रहता है, वैसे ही चिदात्माके सम्यक ज्ञान से जगत-भ्रम नष्ट हो जायगा। अतः दृश्य-भाव को त्यागकर चिदात्मा की भावना

करो। जैसी भावना करोगे वैसाही भासेगा। जैसे सूर्यके उदय होते ही अधिकार लोप हो जाता है, वैसे ही आत्मभावना में दृश्यभावना का लोप हो जायगा। लोहेको लोहा ही काटता है। अतः भावना को भावना ही काटेगी। इससे अतुच्छ पद निरुपाधि और निःशंसय रूप का ही आश्रय करो। जब उमकी भावना दृढ़ होगी तब भ्रम रहित सिद्ध-पदको प्राप्त होवोगे। हे रामजी ! तुम आत्म रूप हो। बुद्धि आदि की कल्पनाओंको क्यों करते हो। और सत्ता की भावनाओंको त्याग कर स्वरूप में स्थित क्यों नहीं होते हो? हे रामजी! मणि भलेही अपने प्रतिबिम्ब को न दूर कर सके क्योंकि वह जड़ है। पर-तुम जड़ तो नहीं हो। तुम तो चैतन्यरूप आत्मा हो। तुममें जो दृश्या प्रतिबिम्ब पड़ता हो, उमका त्याग करो। जब तुम्हारे हृदय में सकल्पों का दृश्य उठे तो उसको असत्यरूप जानकर वही त्यागदो और जो प्राकृत व्यवहार उपस्थित हो उसी को करो। उसे करते हुए भी मणि के समान भीतर से रस रहित रहो। जैसे परछाहीं वहिदृष्टि होती है और अंतर से रंग नहीं चढ़ता वैसे ही बाहर देखने में तुममें व्यवहार भासे पर अभ्यांतर से तुम राग-द्वेष को स्पर्श न करो।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, स्थिति प्रकरण का अठारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १८ ॥

उन्नीसवाँ सर्ग ।

परम विश्राम वर्णन
शशिष्ठ जी बोले,—हे राम जी! जब यह पुरुष-ज्ञान ज्ञेय होकर परमतत्व में जागता है, और संसारकी ओर से वैराग्य ज्ञान हो अभोग रस में बुद्धि निरस हो जाती है, तब मन अपनी सत्ता को त्याग कर आत्मरूप होता है। विवेक रूपी सूर्य के उदय होने पर मन गल कर आत्मरूप हो जाता है और सृगतृष्णा की नदी भी नष्ट हो जाती है। पर जब तक सत्यता रहेगी, नष्ट होगा। ज्ञान वर्षा हो तो होवे। हे राम

संसार रूपी वासना जाल में जीव रूपी पत्नी फँसे हुये हैं-वैराग्यरूपी चूहा इसको कतरे तो जीव को छुटकारा मिले । विना वैराग्य के जीवका स्वभाव निर्मल नहीं हो सकता । जब यह जीव राग-द्वेष और मोह से रहित हो तब संदेह की दुर्मति शान्त हो जगदक्षम नष्ट होगा अन्यथा नहीं । वैराग्य होने पर जीव ऐसे पूर्ण हो जाता है जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा पूर्ण होकर शोभायामन होता है । तभी उसको उत्तम सौन्दर्य की प्राप्ति होती है । उसके लिए उदय, अस्त, राग द्वेष कुछ नहीं । वह सबमें समभाव से वर्तता है । उसे न्यून और विशेष भाव भी नहीं रहता । वह मूक, जड़ और अन्धकर्म की वासना से रहित और अचल हो जाता है । वह सबमें चेतन का ही प्रकाश देखता है । विवेक से उसकी बुद्धि प्रफुल्लित हो जाती है । जैसे सूर्य के उदय होते ही कमल प्रफुल्लित हो जाते हैं, वैसे ही वह पुरुष परम लक्ष्मी को प्राप्त कर शोभायमान होता है । अधिक क्या कहें । ज्ञान ज्ञेय पुरुष पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान शोभायमान हो कर आकाशवत् निर्मल हो जाता है । वह न उदय होता है, न अस्त होता है । ऐसे आत्मतत्त्वदर्शी पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश सभी प्रसन्न होते और उसमें स्थित होते हैं । प्रकट रूपमें ही उसका आकार जान पड़ता है, पर वह भीतर, बाहर अहंकार से रहित है । विकल्प के समूह और मृगतृष्णा की नदी उसे खँच नहीं सकती । वह संसार से दुःखी नहीं होता । शरीर नाश में वह अपना नाश नहीं मानता । उपज में उत्पत्ति भी नहीं मानता । क्योंकि आत्मा शरीर से उत्पन्न नहीं हुआ है । इससे शरीर के नष्ट हुये वह नष्ट भी नहीं हो सकता । ऐसे ही विवेक से वासना-जाल नष्ट हो सकता है । फिर कोई भ्रम नहीं रहता । जीव को जब तक यह विचार न हो कि मैं कौन हूँ और जगत क्या है, तभी तक संसार का अन्धकार है । पर जब यह ज्ञान हो जाय कि आत्मा से । यह जगत भिन्न कुछ नहीं है, सब कुछ आत्म-सत्ता से ही स्थित है-तब वह यथार्थ

दर्शी है। जो ऐसा जानता है कि, चैतन्य सत्ता ही सर्वत्र है, मैं भी अनन्त चिदाकाशरूप, और देश, काल, वस्तु से पृथक हूँ, आधि, व्याधि, भय, उद्वेग, और जरा, मरण, जन्म आदि सहित-देह भी मैं नहीं हूँ—वही वास्तविक दर्शी है। मैं सर्व शक्ति, अनन्त आत्मा हूँ, सब पदार्थ मुझमें ही स्थित हैं, मैं ही अद्वैत चिदादित्य हूँ जो इम भाँति देखता है, वही देखता है। ऐसा वास्तविक दर्शी अर्ध, उर्ध, मध्य को अपने से पृथक नहीं जानता। जिस प्रकार मणि सूतके धागे में पिरोई रहती है उसी प्रकार, वह जानता है कि सब कुछ मुझमें ही पिरोये हैं। वह जानता है कि, न तो मैं हूँ न यह जगत है—केवल ब्रह्मसत्ता ही स्थित है। सत्य असत्य के मध्य में जो देव-प्रकाश है और जो त्रैलोक्य में भी एक ही है, वह मैं ही एक अविनाशी पुरुष हूँ और जैसे समुद्र में तरङ्ग फुरा करते व लीन होते हैं—ऐसा देखने वाला ही अर्थात् जो देखता है कि पहले अहं है फिर दृश्यरूप जगत है, पर वह भी न तो मैं हूँ और न जगत है केवल एक आत्म सत्ता ही है, उसमें अहं और भ्रम कुछ नहीं है। जो ऐसा देखता है, वास्तव में वही देखता है। हे राम जी। ऐसे महात्मा और आत्मासत्ता में स्थित पुरुषों को मेरा नमस्कार है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, स्थिति-प्रकरण का उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ १९ ॥

बीसवाँ सर्ग ।

शरीर-नगर-वर्णन

वशिष्ठ जी बोले,—हे राम जी। उस उत्तम पद का आश्रय करने वाले प्राणी ही जीवनमुक्त कहार्ते हैं। पर जिनके प्रारब्ध शेष रह गए हैं, ऐसे पुरुष अपने शरीर रूपी नगर में ही राज्य करते हैं। उनका लोप न होकर शरीर से ही भोग और मोक्ष दोनों सिद्ध होता है। वे शरीर रूपी नगर में ही नन्दन वन का अमोघ सुख भोगते हैं। वे सर्वदा ही शरीर से सुखी रहते हैं, दुःख तो जानते ही नहीं। और

निज स्वरूपमे ही स्थित रहते हैं। रामजीने पूछा,—हे महामुने । उस शरीर का नगर कैसा है और उससे सुख कैसे भोगते हैं । वशिष्ठजीने कहा,—हे रामजी ! ज्ञानीका शरीर रूपी नगर रमणीय होता है । वही सर्व गुण सम्पन्ना शरीर आनन्द विलास दिखलाता है । अब उसका स्वरूप और लक्षण सुनो । शरीर मे गाँठ और ईंटे भी हैं । रुधिर और माँस चिकड का स्थान है, अस्थिरूपी लकड़ी स्तम्भ है । रोमावली वनस्पति हैं । पेट खाई है । छाती चौक है, उसमे नेत्र भरोखा है और उसी द्वार से त्रिलोकी का प्रकाश है । उसमें लेन देन करने वाला हाथ गली है । ग्रीवा और शिर विशाल मन्दिर हैं । उसमें भिन्न २ रेखायें माला हैं और नाडियाँ विभाग स्थान हैं । उन्हीं नाडियों में वायु आदि द्वारा जीवविचरता है । उसी आत्मचितामणि में बुद्धिरूपी स्त्री निवाम करती है । पर जिसमे इन्द्रियरूपी स्त्री निवास करती है और जिसने इन्द्रियरूपी वन्दर को बाँध कर छोड दिया है और जिसमे हँसीरूपी सुन्दर पुष्प खिले हैं ऐसा शरीर रूपी नगर ज्ञानी के लिए सुख की खानि है । उससे ज्ञानी सुखी व दुखी नहीं होता । किन्तु अज्ञानी के लिए शरीर रूपी नगर परम दुःखमय प्रतीत होता है । इसी अज्ञान वशाः शरीर के नाशवान होने से वह जानता है कि आत्मा भी नाशवान है । पर ज्ञानी ऐसा नहीं जानता । वह जब तक रहता है, शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध सबको ग्रहण करता है और इष्टरूप हुआ रहता है । वह सदैव भ्रमसे दूर रह कर शरीर-नगर में निष्कण्टक राज्य करता हुआ लोभ से रहित है । इसीसे काम, क्रोध, मान और मोह रूपी शत्रु-उसका कुछ कर नहीं सकते और वह इन शत्रुओं को अपने निकट तक पहुँचने नहीं देता । वह जानता है कि यह सब मोहादिक अज्ञान-देश के हैं । इसीसे वह उनके देशों मे नहीं प्रवृष्ट करता और न अपने ज्ञान-देश में उन्हें आने ही देता । उदारता, धैर्य, सतोष, वैराग्य, समता, मुदिता और उपेक्षा यह ज्ञान-देश है । इन्हीं देशों में वह अज्ञान

देश वालों को नहीं घुसने देता और स्वयं ध्यान रूपी नगर में रहता है । वह सत्यता और एकता नामक दोनों स्त्रियों को सदैव अपने साथ रखता है और उन्हीं से सर्वदा सुशोभित रहता है । वह सदैव मनरूपी तुरङ्ग पर चढ़ तीर्थ स्नान करने जाता है । और मोक्ष दोनो ही से सम्पन्न रहता है । उम ज्ञानी को शरीर की नष्टता में कुछ हानि नहीं होती । यद्यपि वह देह ही है तथापि वह उमको स्पर्श नहीं करता । क्रिया, कर्ता और भोक्ता भी वही है, पर किसी से लेपायमान नहीं होता और सदैव एक रस भगवान् आत्मदेव में निवास करता है । जब वह विमानारूढ हो शरीर रूपी नगर में विचरण करता है तब उसके परम मित्र नेत्र उसे सब दिखलाते हैं । मित्रभाव से वह उसमें सदैव ही रहता है और सत्यता एकता उसके पास सदैव रह कर उसे शोभा देती हैं । अन्य जीवों को सदैव दुःखरूपी आरे से कटता देखता है । जैसे कोई पर्वत पर चढ़ा हुआ पृथ्वी में लोक को जलता देखे और स्वयं आनन्दित हो वैसेही ज्ञानी अन्य जीवों को दुःखी देखते हैं, पर स्वयं आनन्दित है । कारण कि वे मदैव अपनी दृष्टि में अद्वैत रूप को ही रखते हैं । उनके निश्चय में जगत और जीव कोई नहीं है । उनकी चारों आवश्यकतायें—धर्म अर्थ, काम और मोक्ष—पूर्णतया प्राप्त हैं । किसी ओर से उसे कमी नहीं रहती । वह सदैव सम्पदा सम्पन्न विराजता रहता है । उसे भोग दुःख नहीं दे सकते । कारण कि वह भोगों को तो कुछ जानता ही नहीं । भोग वस्तुयें तो तब दुःख देती हैं जब उनमें आसक्त रहे । हे रामजी ! जिस प्रकार यात्री मार्ग में स्त्री पुरुषों का समूह पाता है और आसक्त न होकर उनके साथ आगे पीछे चला जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी सांसारिक वस्तुओं से न आसक्त हो उनमें चित्तको नहीं लगाता और साथ में उठता बैठता भी यात्रा करता है पर किसी से राग द्वेष नहीं करता और किसी बन्धन में नहीं रहता । उसके सम्यक ज्ञानके आगे सभी सशय चूर्ण हो जाते हैं । उसे कोई वस्तु आश्चर्यित नहीं करती ।

उसकी वासनाओं का समूह नष्ट हो जाता है और वह चक्रवर्ती सम्राट् बना सुशोभित रहता है। पर हे रामजी। ऐसे सुन्दर जीवन को भोग की इच्छायें दीन कर देती हैं और आत्मपद से गिरा देती हैं। वे आनात्मा को प्राप्त हो कृपण हो जाते हैं और आत्मावलम्बी जन उन्हें देखकर हँसते हैं कि, यह व्यर्थ ही दीन भाव को प्राप्त हुये। जैसे स्त्री के वशीभूत होकर पति दीन हो जावे और लोग उसकी हँसी उड़ावें वैसे ही ज्ञानी पुरुष तृष्णाशक्त को देख कर हँसते हैं। अस्तु जीव को परम सिद्धान्त से गिराने वाला यह चंचल मन ही है। इससे मन रूपी हस्ती को विचार रूपी कुँये से वश में करो। तब सिद्धि-पद प्राप्त होगा। विना मनको ताडना दिये शान्त पद नहीं प्राप्त होता। मन बड़ा अभिमानी है। अभिमानीका कितना भी मान किया जाये पर वह उपकार न मानेगा। यदि प्रथम में ही इसको ताडना दी जाय तो यह थोड़े ही उपकार से प्रसन्न हो जाता है। जैसे जलसे भरा हुआ धानके खेत में जल दिया जाय तो वह उपकार नहीं मानता किन्तु यदि भरे रहने के पूर्व ही जल दिया जाय तो वह उसके लिए अमृत तुल्य होता है, वैसे ही प्रथम में यदि मन को ताडना देकर सम्मान किया जाय तो वह उपकार मान कर मित्र बना रहेगा। विषयो से सयम करना ही उसे ताडना देना है और सांसारिक पदार्थों में उसे वरतना ही सम्मान करना है। ऐसा करने ही से वह शत्रु भाव त्याग कर मित्र बना रहेगा। अस्तु पहले मन को ताडित कर पीछे उसका सम्मान करना ही सुख प्रद है। इससे हाथ को हाथ से मीचकर और नीचे ऊपर दाँतों को दबाकर और अंग से अंग को रोककर इन्द्रिय दमन कर उसपर विजय प्राप्त करो। फिर तो वह सर्वके नमस्कार करने ही योग्य हो जायगा।

इक्कीसवाँ सर्ग ।

मनकी सत्यता

वशिष्ठ जी बोले,—हे रामजी । जो अज्ञानी है, उसके पीछे आशारूपी शलाका लगी रहती है और वह महा नरक को प्राप्त होता है । दुष्ट इन्द्रिय रूपी शत्रु उसे मारा करते हैं । अतः तुम महा दुःख रूपी इन्द्रियों को अपने वश में करो । यह इन्द्रियाँ मनरूपी पत्नी हैं । जब इनको विषय नहीं प्राप्त होता तब यह ऊपर को उड़ती हैं और जब विषय प्राप्त हो जाता है तब नीचे को आ गिरती हैं । पर जिन प्राणियों ने विवेक रूपी जाल में इन्हें बाँध रखा है उन्हें यह भक्षण नहीं कर पाती । हे रामजी । यह जितनी भोग वस्तुएँ हैं, सब विरस है । इनमें रमण करना अपने को नरकमें ढकेलना है । पर जिस ज्ञानीके पास ज्ञान का प्रचुरधन एकत्रित है और जो देशरूपी शरीरमें निवास करता है, वह परम शोभा को पाकर महा आनन्दित होता है । कारण कि उसने ज्ञानरूपी परम ऐश्वर्य से इन्द्रिय रूपी शत्रुओं पर विजय पा ली है । इससे ज्ञानीके समान सुवर्णालय में निवास करने वाला भी सुखी नहीं है । वह इन्द्रियों का दमन कर शरीर नगर में रहना हुआ महा शोभायमान रहता है । हे रामजी ! यह वासनारूपी वैताल तब तक विचरण किया ही करेगा कि जब तक तुम इसे दृढाभ्यास से जीत न लोगे ! बिना विवेक रूपी सूर्य के उदय हुए अन्धकार का नाश नहीं होगा । विवेक द्वारा मनको वश कर लोगे तो यह इन्द्रियाँ स्वही टहलुआ बन जायँगी । फिर तो मन ऐसे सभी मित्र हो जायँगे और तुम स्वयं राजा होकर राज्य-सुख को भोग करोगे । तब यही इन्द्रियाँ पतिव्रता स्त्री हो जायँगी और मन सीता के समान तुम्हारी आज्ञा का पालन करने वाला हो जायगा । इसी से निश्चयवान् पुरुष सच्छास्त्रों का विचार कर परम सिद्धान्तको प्राप्त करते हैं । तब उनका मन अपने मनन भाव को

त्यागकर शांत रूप से पिता के समान उनका पालन करने लगता है। अस्तुविवेक द्वारा पहले मनको वश करो। फिर तो जिस प्रकार विधी और तागे में पिरोई हुई मणि को पहन कर प्राणी शोभायमान होता है उसी प्रकार इस मणिरूपी मनको अन्तिमविचार की शिला के साथ घिसो और वैराग्य जल से धोकर उज्वल कर विवेक रूपी तागे के साथ पिरोकर कठ में पहिन कर शोभायमान होजावो। यह विवेक जन्म रूपी वृक्ष के लिए कुल्हाड़ा है। इसीसे मनरूपी शत्रु मित्र बन कर सदैव शुभ कर्म करता रहता है। अतः मनको वश में करना ही आनन्द का कारण है। यदि मन वशमें न होगा तो अवश्य दुःख देगा। इसका वश होना ही सुख का मूल है। यह मन रूपी मणि भोगों की तृष्णा से कलकित हो गया है। जब विवेक रूपी जल से शुद्ध करोगे तभी शोभायमान होगा। अस्तु ससार महामयदायक है। जिनको कुछ ज्ञान है, वे भी इस मायारूपी संसार में गिरे पड़ते हैं। पर इतर लोगों के समान छले जाकर तुम इसमें न गिरो। यह संसार माया रूप अर्थ सयुक्त है। महामोह रूपी कुहरे से जोव आच्छादित है। इससे तुम विवेक पद का ही आश्रय कर ज्ञान द्वारा सत्यको देखो और इन्द्रियों से वैराग्यरूपी नौका पर चढ़ कर ससार सागरको पार कर जावो। हे रामजी। यह शरीर असत्य है। इसमें सुख और दुःख असत्य है। फिर तुम दाम व्याल-कटक की भाँति क्यों होते हो? भीम भास की दृढ़ स्थिति को ग्रहण कर शोक रहित होवो। मनका अह निश्चय भी व्यर्थ है। उसको त्यागकर तत्वपद का आश्रय करो और चलते, बैठते, खाते, पीते यही मनन किया करो।

धो योगराशिष्ठ-भाषा, स्थिति प्रकरण का इकीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २१ ॥

बाईसवाँ सर्ग।

दाम व्याल कटक परिचय

राम जी बोले,—हे भगवन्। आपने जो "दाम-व्याल-कटक की

नाई और "भीमभास दृढ़के समान स्थित" शब्द कहा, वह क्या है ? कृपाकर आप - इन शब्दों से मुझे जगाइए । वशिष्ठ जी बोले, - हे राम जी । पहले इन दोनों के समान स्थित होकर सुनो तब पीछे जो इष्ट हो उसमें विचारना । हे राम जी । पाताल में एक शम्बर नाम का दैत्य राज्य करता था । वह ऐसा आश्चर्य रूपी मायावी और मनमोहक था कि उसने आकाशमें भी एक नगरकी रचना कर दी थी । वहाँ उसने वाग दैत्यमन्दिर, सूर्य, चन्द्रमा और दैत्य सभी रच दिये थे । उसमें दैत्योकी स्त्रियाँ कोकिल कण्ठ से सदैव गान किया करती थीं । उस नगरमें उसने ऐसे वृक्ष लगाये थे कि जिनमें चन्द्रमा के समान फल-लगतते थे और श्वेत पीत रत्नों की कमलिनी और सुवर्ण हंस तथा सारस सुवर्ण कमल वृक्ष की डालियों पर बैठे हुए कलोल करते थे । रत्न जटित सुन्दर स्थान वरफ के समान शीतल लगतते थे । वनस्थान चन्दनो से रचा था जो सर्व ऋतु के पुष्पों से लदा हुआ था । वह वन इन्द्र के नन्दन वन से भी श्रेष्ठ था । उसमें दैत्यों की स्त्रियाँ क्रीड़ा करती थीं । उस नगर में दैत्यराज ने महान ऐश्वर्य रच दिया था । वह विष्णु व शिवपुरीसे भी अधिक महा प्रकाश युक्त रत्न के तारा गणों से सुशोभित हो रहा था । वहाँ के मायावी हाथी इन्द्र के ऐरावत को भी जीत लेने योग्य थे । सभी दैत्य मण्डलेश्वर बनकर उसकी वन्दना करते थे । इस भाँति का अनुपम नगर बनाकर वह दैत्यराज अपना शासन चला रहा था । पर जब देवताओंने उसके मायावी ऐश्वर्य को देखा तो उन्हें परास्त करने की सूझी और जब कभी अवसर मिलता कि देव उसके नगरको लूट लेते । इस आपत्ति से बचनेके लिए शम्बरने अपनी सेनामें सेनापतियोंकी रचना की । पर देवता उन्हें भी मार गए । तब शम्बरने क्रोध करके देवताओं को मारना चाहा और अमरपुरी को चढ़ गया । देवगण भयभीत हो कर तो कुछ शंकरजी के पास और कुछ कंदराओंमें जा छिपे । फिर तो प्रलयकाल के समान सर्गकी समस्त दिशाये शून्य हो गई । वह देख-

कर दैत्यराज और भी क्रुद्ध हुआ। तब अग्नि लगाकर उसने लोकपालोंके स्थान को भस्म कर दिया। देवताओं को दूँढा तो वे न मिले। फिर तो वह बड़ा क्रुद्ध हुआ और उसी समय उसने अपनी सेना की रक्षा के लिए दाम, व्याल और कटक नाम के तीन कालरूपी राक्षसों को रचा। उनको धर्म कर्मका ज्ञान नहीं था। यहाँ तक कि, पूर्व वासनाके कर्म भी उन्हें न थे। वह निर्विकल्प स्वरूप थे। वह शारीरिक स्वभाव मत्तमे भी स्थित न थे और केवल स्पन्दमात्रि कर्मरूप चेतना ही उनमें विद्यमान थी। मैंने उन्हीं तीनों का नाम तुमसे लिया है। वे ऐसे बली और मायावी थे कि मनमाने अस्त्र भी रच लेते थे। वे बिना वामना भी चेष्टा किया करते थे। वे जीत हारको क्रुद्ध भी न जानते थे। वे ऐसे वीर थे कि उनकी भीषण मारसे विशाल पर्वत भी चूर्ण हो जाते थे। फिर तो उन तीनों की वीरता से शम्बर बड़ा प्रसन्न हुआ। कारण कि वे वासना से रहित थे। वासना रहित होनेसे न तो वे मर सकते थे और न जीते थे, फिर वे देवताओं के भयसे भागते भी क्यों? लाख प्रयत्न करके हुए भी देवता उन्हें न मार सके।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, स्थिति प्रकरण का चाईसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २२ ॥

तेइसवाँ सर्ग ।

दाम-व्याल-कटक का अद्भुत पराक्रम और देव-ब्रह्म परामर्श ।

वशिष्ठ जी बोले,—हे राम जी ! जब ऐसे महाबली तीन वीरों को स्थापित कर शम्बर प्रसन्न हुआ तब देवताओं को बड़ी ईर्ष्या हुई। यद्यपि वह शम्बर के भय से भागते फिरते थे तथापि उसकी बृहद सेना का सामना करनेके लिए उन्होंने अपनी एक विशाल सेना का अयोजन किया और युद्धके लिये सन्नद्ध हो गये। फिर तो प्रलय काल के समान दोनों सेनायें युद्ध करने लगीं। महा घोर युद्ध हुआ। देवताओं की सेना कटती थी, पर दाम, व्याल कटक तिलभर भी पीछे न हटते थे। समस्त दिशायें शस्त्रों से ढँक गईं ॥ रुधिर की धारा

कटे हुए वीरों को अपने प्रवाह में वहाँ ले चली। महा भयदायक समय उपस्थित होगया। कोई २ शस्त्र ऐसे चले कि शस्त्रोंकी नदी बन जाती थी। फिर तो संग्राम-दिशाये अग्नि रूप, मेघरूप, तमरूप प्रकाश, निद्रा, प्रबोध, सर्प और गरुणरूप अस्त्रों से आच्छादित हो गईं। संग्राम भूमि में मांस के ढेर लग गए। देवता दैत्य कटे हुये वृक्षों के समान कट कर गिर रहे थे। महाघोर संग्राम हुआ। अनेक देवता, गन्धर्व और किन्नरों का संहार हो गया और दैत्यों का विजय हुई।

इसके पश्चात् फिर महादारुण संग्राम आरम्भ हुआ। उसमें देवता और राक्षसों का शरीर ऐसे गिर रहा था जैसे पंख टूटे पर्वत गिर पड़ते हैं। फिर रुधिर की धारा बहने लगी। महाभयानक शब्द उत्पन्न होकर आकाश और पृथ्वी परिपूर्ण हो गई। फिर तो दाम ने देवताओं के समूह को घेर लिया और व्यालने पकड़कर पहाड़ में पीस डाला। इससे 'कट' ने देवताओं के समूहको चूर्णकर उनके स्थानों को भी तोड़ डाला और महा दारुण संग्राम उपस्थित किया। तब महा मदमस्त ऐरोचत हस्ती भी उनकी मार से ताड़ित होकर भाग चला। मध्यान्ह के सूर्य के समान दैत्य तपने लगे। उनका वेग ऐसा बढ़ा कि मानों बाँध का पुल टूट गया है। फिर तो बड़ी तीक्ष्णता से देवगण भाग चले और दाम, व्याल कटक विजयी होकर प्रसन्नता पूर्वक अपने स्वामी शम्बर के पास लौट आए। इस भाँति दैत्यों से मारे देवता बड़ी चिन्ता में पड़े। तब शम्बर के भय से रक्षा न होते देखकर वे इन्द्र सहित ब्रह्मा जी के पास गए। उनको देखकर रक्ताम्बर धारी ब्रह्माजी उठ खड़े हुए और आगमन का कारण पूछा। देवताओं ने शम्बर दैत्य और दाम, व्याल, कटक से युद्ध का सारा वृत्तान्त बतला कर विनय किया कि, अब रक्षा आपके हाथ है। तब त्रिलोकी दयालु ब्रह्मा जी ने कहा,—हे अमरेश। इन दैत्यों के लिये आप लोगों का यत्न व्यर्थ है।

अभी ये मर नहीं सकते -। समय आवेगा कि, अहंकार होने पर यह तुम्हारे हाथ से मारे जावेंगे और तभी तुम विजयी होवोगे। मैंने इनके भविष्य को जाना है। यह तो मरना, मारना, भगना भागना जानते ही नहीं। इनको शम्बर दैत्य ने अपनी माया से रखा है। और इनको अह मम को अभिमान नहीं है। फिर यह नाश कैसे होंगे। बिना अहंकार उपजे नाश नहीं हो सकता। इससे अब आप लोग अहंकार उत्पन्न करने का यत्न कीजिए। यत्न यह कि, आप लोग युद्ध तो करते ही रहें पर छलके साथ। इस प्रकार सदैव के युद्धाभ्यास से उनमें अहंकार का बीज उत्पन्न होगा और वे उस अक्षर से अपना प्रतिविम्ब देखेंगे। फिर तो वासना स्वयं ही फुर आवेगी और ग्रहण त्याग तथा कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान होगा जिससे वे अपने को दाम, व्याल, और कटक जानेंगे। फिर तो उनको वश कर तुम अपनी विजय कर लोगे। क्योंकि वासना की ताँत में बंधे हुए जीवों को वश करना कठिन नहीं है। पर जो बुद्धिमान, दार्शनिक असंशक्त बुद्धिवाले समदर्शी हैं उन्हें कोई जीत नहीं सकता। वासना फाँस में पड़े हुए देहाभिमानी चाहे सर्वशास्त्र वेत्ता भी हो, पर उनको एक बालक भी जीत लेगा। क्योंकि वे सब अपराधों के पात्र हैं। ऐसे कृपणों में उदारता कहाँ? भला जिसने अपने स्वरूप अनन्तात्मा को देहादि के अभिमान में फँसा रखा हो वह क्यों न दीन होवेगा? संसार का कोई भी पदार्थ जब तक सत्य प्रतीत होगा तब तक बुद्धि उपादेय ही बनी रहेगी और वासना में बँधी रहेगी। यह भावना ही तो दुःख का कारण है। अतएव दाम, व्याल, और कटक को, तुम तब तक न मार सकोगे जब तक जगतके पदार्थों में उनकी आस्थान होगी। इससे तुम उनतीनोंमें अह का भाव उत्पन्न करो। तब तुम्हारी विजय होगी। तृष्णारूपी कल्लका बीज महान आपदा का कारण है। वासना रूपी ताँत में बंधे हुए जीव अनेक जन्म दुःख पावेंगे। चाहे बली हो, चाहे सर्वकुल श्रेष्ठ, वह भी तृष्णामें बँधा है।

तब भला जो शरीर का अभिमान करता है, जिसके हृदय में तृष्णा ही उठती है उसको एक बालक क्यों न जीत लेगा। हे देवगण ! तुम तो निर्वासनिक हो अस्तु शस्त्र युद्ध का त्यागकर जिस प्रकार हो उनमें वासना उत्पन्न करो। हे देवराज ! जिसमें अहं मम और इदं की वासना नहीं जो राग-द्वेष में नहीं है, उसको अस्त्र शस्त्र से कोई नहीं जीत सकता। अतः वे तीनों बिना इस युक्ति के और किसी प्रकार भी नहीं जीते जा सकते। उनमें वासना उत्पन्न करना ही वश करनेकी सरल युक्ति है। यह कहकर ब्रह्माजी अन्तर्ध्यान होगये।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा स्थिति प्रकरण का तेईसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २३ ॥

चौबीसवाँ सर्ग।

दाम, व्याल, पराजय वर्णन।

वशिष्ठ जी बोले,—हेरामजी ! ब्रह्माजी का ऐसा उपदेश सुनकर देवगण भी अपने २ स्थानों पर लौट आए और पुनः युद्ध करने की बात सोचने लगे। कई दिन पश्चात् जब घोर शंख-ध्वनि से आकाश पाताल शब्दित हो गया तब दैत्य गण पाताल से निकल युद्ध करने को फिर उद्यत हुये। युद्ध होने लगा। दोनों ओरसे वरुद्धी, गदा, प्राश, मुद्गर, वृक्ष और पर्वत आदिक शस्त्र अस्त्र चलने लगे। शस्त्रों का वेग ऐसा बढ़ा मानों गङ्गा आदिक नदियाँ बह रही हैं। फिर तो कितने ही देवता और दैत्यों के शिर कट गए। पृथ्वी रक्त रञ्जित हो गई। आकाश की दिशायें अग्नि से ऐसे पूर्ण हो गई मानों प्रलयकाल का द्वादश सूर्य तपने लगा। बड़े २ पर्वतों की वर्षा हो रही थी। रक्त-प्रवाह में विशाल पर्वत ऐसे घूम रहे थे, जैसे समुद्र में जल की तरङ्गे घूमती हैं। ऐसा दारुण संग्राम हुआ कि, शस्त्रों का प्रवाह सर्प और गरुण के समान दिखलाई पड़ने लगा। कभी प्रकाश हो जावे, तो कभी अन्धकार छा जाता था। जब युद्ध ने ऐसा भीषण रूप धारण किया तब दैत्य गण आकाश

देवनाशक और दैत्यराज शम्बर को अनेक निकृष्ट योनियों में क्यों भ्रमना पड़ता। हाय, उनके निरहकार चित्त, शांति और उदारता को वासना ने अहंकार वश नष्ट कर दिया। वह अनेक दुःख और आपदाओं को प्राप्त हुये। पर क्यों न हों, अहंकार ही तो संसार रूपी वृक्षका बीज है ? इसीसे तो अनेक दुःख और आपदाये प्राप्त होती हैं ? अतः तुम इस अहंकार को ही मारो। इम अहंवृत्ति को असत् रूप जानो कि, मैं कुछ नहीं हूँ। इसको मारकर ही तुम सुखी होयोगे। हे रामजी ! इस शान्त रूप आत्मा पर अहंकारा रूपी मेघने छा लिया है। विवेकरूपी पवन चले तो वह मेघ नष्ट हो अन्यथा नहीं ? अहंकार रूपी पिशाच ही दाम, व्याल, कट नामक मायारूपी दानवों को उत्पन्न कर अनेक दुःखों को भोगता है। रामजीने पूछा, हे भगवन ! जब सत् का अभाव और असत् का भाव नहीं होता तब दाम, व्याल, कट जो असत् हैं-सत् कैसे हुये ? वशिष्ठ जीने उत्तर दिया सत् को कुछ नहीं भासता और असत् सब कुछ प्राप्त सा दीखता है। वह नहीं देखता कि यह असत्य है। रामजीने पूछा, हे भगवन् ! हम आप तो सत् रूप ही हैं न, पर यह दामादिकी भूठी माया सत् कैसे हुई ? वशिष्ठ जी कहने लगे,—हे रामजी ! मैं तुम और यह दामादि माया जो कुछ जगत में भाम रहा है सब असत्य है। जैसे स्वप्नान्तर में अपना मरण भासे और जो असत्य रूप है। वैसे ही हम तुम और यह जगत भी असत्य रूप है। हे रामजी ! मेरे यह वचन मूर्खों के लिए नहीं है, उनको यह नहीं शोभित होगा। क्योंकि वह तो संसार सद्भाव में दृढ़ हो रहे हैं। संसारका अभाव विना दृढ़ अभ्यास के नहीं होता। भला वह मूर्ख कितना उन्मत्त है कि जिसको जगत का निश्चय है। ज्ञानी को जगत की सद्भावना नहीं होती। वह केवल ब्रह्मसत्ता के भाव में रहता है और अज्ञानी जगत को सत्य जानता है। ज्ञानी अज्ञानी में बड़ा अन्तर है। वह एक दूसरे को नहीं जानते। उनके विचार कभी एक नहीं हो सकते। जिसको

जैसा निश्चय है-वही चाहे तो दृढ़-अभ्यास-से दूर कर सकता है अन्यथा नहीं । ज्ञानी भी अज्ञानी के निश्चय को नहीं दूर कर सकता । अतएव जो ज्ञानी पुरुष हैं-उन्हीं को मेरा वचन अच्छा लगेगा । केवल आत्मा का ही अनुभव सर्वदा सत्यरूप है और अन्य सभी पदार्थ असत्य हैं । इससे प्रबुद्धो का विषय उन्हीं को शोभता है और अज्ञानी के लिए तो जगत ही सत् है । फिर उसे ब्रह्मवाक्य कैसे अच्छा लगे । ज्ञानी तो यह जानता है कि, जगत रंचमोत्रि भी सत्य नहीं है, केवल एक परमब्रह्म सत्ता का ही स्वरूप है । ऐसा विवेकी जनों का अनुभव है । उनके निश्चय को कोई दूर नहीं कर सकता कि परमात्मा से भी पृथक् और कुत्र है । पर अज्ञानी को तो पञ्चभूत ही भासते हैं । वह अपने को जानता भी है तो नाम मात्र । किन्तु समदर्शी को इसके विपरीत जान पड़ता है । अतः 'मै-तुम' इत्यादिक असत् रूप हैं, सत् तो केवल वही शुद्ध, सवितबोध, आकाश, निरंजन, सर्वगत, शान्तरूप, उदय व अस्त से रहित है । यह जगत अज्ञानी को ही सत् भासता है । आत्मा में जैसा निश्चय होता है, वैसा ही भासता है । हम तुम इत्यादिक जितना जगत है-सब उसी निराकार अनन्त चेतन की स्फूर्ति से शरीराकार हो भास रहा है । दामादिक भी ऐसे ही थे । सवित की किञ्चनता में निश्चयानुसार वह आकारवान होकर भासित हुये थे-ऐसे ही हम तुम भी सवेदन के फुग्ने से स्थित हुये हैं । स्वप्नपुर और मृगतृष्णा के जलवत ही हम तुम-इत्यादिक जगत-आत्मरूप से भास रहे हैं । किन्तु प्रबुद्धो को सर्व विदाकाश ही भासता है । ऐसे आत्म-जागृत और जगत-निद्रित पुरुष मोक्षरूप हैं । पर जो इसके प्रतिकूल है वह अज्ञानी और बन्धरूप है । अन्यथा न तो कोई सोया है न जागा है, न बन्ध है, न मोक्ष है, केवल विदाकाश ही जगत रूप होकर भासित है । वही ब्रह्म है, वही जगत है । एक

ही वस्तु के दो नाम हैं । अतः तुम अपनी समस्त कलनाथों को त्याग कर अपने आपमें स्थित हो जाओ ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का छठीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २६ ॥

सत्ताईसवाँ सर्ग ।

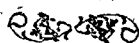
दाम, व्याल-उपाख्यान-देशान्तर वर्णन

यह सुनकर रामजी ने पूछा कि, हे भगवन् । तब दाम, व्याल, और कटके दुःखका अन्त कैसे हुआ ? वशिष्ठजी ने कहा,—हे रामजी । जब यमराज ने उन्हे नरक कुण्ड की अग्नि में भस्म कर दिया, तब उन किंकरो ने उनके उद्धार के लिए पूछा कि, इनका उद्धार कब होगा । तब यमराज ने कहा था कि जब इन तीनों का साथ नहीं रहेगा और ये अपनी सम्पूर्ण कथा को जानेंगे तब इनकी मुक्ति होगी । इस पर रामजी ने पूछा कि यह कैसे और कब होगा ? वशिष्ठजी ने कहा, काश्मीरके जिस तालाबमें यह तीनों रहते हैं उसमें फिरकल्प पर्यन्त बार बार मन्द होकर शरीर त्यागने पर सारस पक्षी होंगे और वहाँ के कमल वन में बहुत काल तक व्यतीत करेंगे । फिर ईश्वरीय कृपा से उनका पाप क्षीण होगा और बुद्धि निर्मल होगी । तब वह तीनों आपस में विडुड जायेंगे और युक्ति से मुक्ति को प्राप्त होंगे । फिर काश्मीर के पर्वत पर एक प्रद्युम्न नाम का नगर बसेगा और वहाँ कमलों से पूर्ण एक महा सुन्दर सरोवर होगा जहाँ एक राजा होगा जिसका मन्दिर नगर के ईशान कोणमें बनेगा । उस मन्दिर में व्याल नामक दैत्य पक्षीके रूप में अपना गृह बना कर रहेगा और निरर्थक बोला करेगा, तब शंकर नामक राजा राज्य करेगा । उसके मन्दिर की छत-छिद्र में 'दाम' नामक दैत्य मच्छर होकर भू-भू शब्द करता हुआ विचरेगा । और 'वट' नामका एक पक्षी वहाँ रत्न जडित पिंजड़े में झोडा करेगा । राजा के मंत्री का नाम नरसिंह होगा और वह बड़ा बुद्धिमान होगा । वह बन्ध और मोक्षको जानेगा । वही मंत्री श्लोकों

मे दाम 'व्याल' कटककी कथा राजा को सुनावेगा । तब कटक पत्नी अपना वृत्तान्त सुनकर विचरेगा और उसका अहंकार शांत होगा । वह निर्वाण सत्ता को प्राप्त होगा । तब यही सुनकर व्याल नामक दैत्य भी निर्वाण सत्ता को प्राप्त होगा और ऐसेही दम नामक दैत्य भी मुक्त होगा । हे रामजी । यह वृत्तान्त मैंने तुम से इसलिए कहा है कि, यह ससार मायामय और भ्रम मात्र है । यह महाशून्य और अविचार सिद्ध है । विचारपूर्ण ज्ञान से ही इसकी शान्ति होती है । केवल अज्ञानरूपी अहंकारसे जीव इतनी लघुता को प्राप्त हो रहे हैं और अपनी वासना से जगत को स्वरूप जानते हैं । पर यह सृगतृष्णाके जलवत कल्पना से भ्रमवश सत्य भासता है । ऐसे संसार को तरना बड़ा ही कठिन है । सच्छास्त्र व संसार निरूपण शास्त्र जो शब्द प्रकाशक हैं, उनका आश्रय करनेपर ही संसार के पदार्थ शुभरूप जान पड़ते हैं । हे रामजी । इस भाँति जो अनुभव के प्रसिद्ध पथगामी हैं वे नाश को नहीं प्राप्त होते और सुखसे स्वच्छन्द गमन करते हैं । ब्रह्म निरूपण शास्त्र सुखदायक और संसार निरूपणशास्त्र दुःखदायक है । जो अपनी बुद्धि में यह समझता है कि, अमुक पदार्थ मुझको मिले और उनसे मुझको सुख प्राप्त हो, वह बड़ा अभाग्य है । ज्ञानी पुरुष को यह जगत तृष्णाके ही समान तुच्छ भासता है । यही नहीं, वह ब्रह्माण्ड-खंड लोक और लोकपालोको भी तृष्णाके समान ही तुच्छ जानता है । वह ऐश्वर्यों को आपदा रूप समझ कर त्याग देता है । इस कारण तुम हृदय से निश्चयात्मक तत्व हो रहो और बाहर जैसा अपना आचरण हो वैसा करो । आचार न छोड़ना । आचार छोड़ देने से शुभ कार्य भी अशुभ हो जायेंगे । अतः शास्त्रानुसार चेष्टा करते रहना चाहिए । सत्संगति और सच्छास्त्रों के विचार से बड़ा प्रकाश मिलता है । जो यह सेवन करता है वह अंधकूपमें नहीं गिरता । हे रामजी । वही पुरुष सम्पदाशाली है जिसके हृदय में वैराग्य, धैर्य सन्तोष और उदारता आदिक गुण प्रवेश करते हैं और वास्तव में

ऐसे ही पुरुष पुरुष है अन्य पुरुष पशु हैं। यहाँ तक कि, वैराग्य, सन्तोष और धैर्य आदिक गुणोंको रखनेवाला पुरुष चौर। समुद्र है और उसीमें विष्णु भगवान् विराजते हैं। उसको कोई वस्तु भोगने और देखने की इच्छा नहीं है। उसकी तृष्णा नष्ट हुई रहती है। आकाश वासी देवता और अप्सरायें उसका गुणगान करती हैं। वह मृत्युसे तर जाता है। पर भोग को तृष्णा वाले नहीं तरते। वास्तव में ऐसे ही पुरुष जीवित है। शेष मरे हुये है। इसलिए तुम पुरुषार्थके आश्रयमें रहो तब मित्रिको प्राप्त होवोगे। ऐसी कोई वस्तु नहीं जो शास्त्रानुसार पुरुषार्थ करने से न मिले। यदि शीघ्र नहीं मिलती तो कभी न कभी अवश्य प्राप्त होती है। अतएव तुम मूर्खों की भाँति संसाररूपमें न गितो। ममार मिथ्या है। तुम उपशम होकर अपने पुरुषार्थ का आश्रय करो और शास्त्रों को विचारो। यह संसार एक रणक्षेत्र है। पुरुषार्थ रूपी शस्त्र से इसमें युद्ध करो और शास्त्रों से विचारो कि क्या करना चाहिए। विचार से रहित होकर तुम अभाग, दीन और अशुभ मत बनो। तुम उदारमना हो। निद्रा को त्याग कर उठो और पुरुषार्थ को स्वीकार करो, यही जरा-मरण की शान्ति के लिए परम कर्तव्य है। संसार के समस्त भोग रोग हैं। सम्पदा आपदा मय है। अस्तु; इन सबको त्यागो और सत्वमार्गको स्वीकार कर अपने प्राकृतिक आचार में विचरण कर शास्त्र व लोक-मर्यादा के अनुसार व्यवहार करो। तभी अक्षय सुख प्राप्त होगा। जो पुरुष ऐसा करते हैं, वे संसार के दुःखों में नहीं पड़ते। उनके आयु, यश और लक्ष्मी की वृद्धि होती है। ऐसे पुरुष वसन्त ऋतुकी मञ्जरी के समान प्रफुल्लित होते हैं।

श्री योगवासिष्ठ भाषा स्थिति प्रकरण का सचोदिसर्ग सर्ग समाप्त ॥२७॥



अष्टादशवाँ सर्ग

दाम, व्याल, कटोपाख्यान. समाप्ति वर्णन
 वशिष्ठ जी बोले,—हे रामजी ! चाहे जहाँ भी चला जाय, पर
 प्रत्येक समय में अपने कर्मों के अनुसार ही फल प्राप्त होता है । एक
 दिन, ऐसा हुआ कि नन्दीगण ने एक सरोवर पर, शिवजी की आर-
 धना की, तो शिवजी ने प्रसन्न होकर उसे मृत्यु को जीतने का वर
 दिया, जिससे उसका नदी नाम पड़ा । तब उसने अपने शुभ कर्मों
 द्वारा मित्र बान्धव और कुटुम्बवालों को बड़ा सुख दिया । शास्त्र के
 अनुसार—यत्न करना कभी व्यर्थ नहीं जाता । शास्त्रीय विचारों से ही
 राक्षसों ने सर्व श्रेष्ठ देवताओं को मारा है । जिसने भी यत्न किया है,
 कभी व्यर्थ नहीं गया । यत्न से ही तो सवृत ऋषि ने देव, दानव
 और मनुष्यों युक्त इस सृष्टि की रचना की और विश्वामित्र आदिक
 तपस्वी भी तो यत्न द्वारा ही राजर्षि हुये । उपन्यु जैसा भाग्यहीन
 ब्राह्मण भी कोई होगा, जिसे भोजन तक का ठिकाना न था । पर-
 जब एक दिन उसने अपने पिता के साथ किसी यजमान के घर
 खीर का भोजन किया और उस स्वाद के वश हो घर पहुँच कर
 अपने पिता से वही भोजन माँगा तो पिता ने यह कह कर कि मेरे
 पास ऐसा भोजन कहाँ है—शिवजी के पास भेज दिया । शिवजी के
 चरणों में पहुँच कर उसने बड़ा तप किया । शरीर को सुखा डाला ।
 तब शिवजी ने प्रसन्न होकर उसे दूध भात मिलने का वर दिया ।
 हे रामजी ! यह भी तो एक पुरुषार्थ है । भगवान् विष्णु तो सर्वश्रेष्ठ
 हैं न । पर यदि वह भी यत्न न करें तो काल उन्हें भी चबा डाले ।
 जानते हो, सावित्री ने यमदेव से झगड कर अपने पति को छुड़ा लिया
 था । अन्त में पतिदेव को लेकर वह परलोक में भी पहुँची । यह भा
 अपना पुरुषार्थ है । देवन ऋषि ने यत्न पूर्वक काल को भी जीतकर
 अपना मृत्युञ्जय नाम प्राप्त किया था । अतएव यथा शास्त्र यत्न करे

से सब कुछ प्राप्त हो जाता है। इस कारण पुरुष प्रयत्नका त्याग न करना चाहिए। क्योंकि यह सुख, फल और सर्व प्राप्ति का मूल है। यदि तुम सदा सुख और अविनाशी भावका सुखप्राप्त करना चाहते हो तो आत्मज्ञानका अभ्यास करो। सासारिक सुख तो दुःखसे सने है। दुःखों का नाश कर्ता तो आत्म सुख है। यद्यपि सम असम सब ब्रह्म ही है। पर सम परम कल्याण का करने वाला है। अस्तु अभिमान को छोड़कर सम का आश्रय करो और निरन्तर बुद्धिसे विचार करो। यदि यत्न पूर्वक सतोंका साथ करोगे तो अवश्य परमपद को प्राप्ति करोगे। इससे बढ़ कर और कोई युक्ति नहीं है। सन्त वही हैं जो मोह, क्रोध से परे और शास्त्राचारी हैं। ऐसे सन्त अवश्य ही आचार्य होने के योग्य हैं। यदि ऐसे आत्मवेत्ता पुरुषों का साथ हो तो बुद्धि में संसार का नितान्त अभाव हो जाये। फिर तो आत्मा ही शेष रहे और जीवका जीवन भाव निवृत्त होकर बोध तत्वकी प्राप्ति हो जावे। जगत न तो था, न होगा, न वर्तमान है—यही मैंने तुमको अनेक युक्तियों से कहा है और कहूँगा। ज्ञानी का मन सर्वदा ऐसा ही रहता है। अचल चिदात्मा में ही चञ्चल चित्त ने जगतका आभास रचा है और फुरने के अनुसार ही भासित होता है पर वास्तवमें कुछ है नहीं। अहंरूप आत्मा में आपको न जानना ही आत्माकाश में मेघरूपी मलीनता है। परमार्थ में अहभाव को जाने तो अनात्मा में अहभाव लीन हो जावे और तभी जीव एकाग्र हो जावे। विचार पूर्वक देखा जाय तो यह निश्चय है कि अह आदिक दृश्य कुछ हैं नहीं। बल्कि परछाई के समान यह जगत भ्रम मात्र सिद्ध हो रहा है। अपने संकल्प विकल्प ही दुःखदायक हैं। विचार से ही ये नष्ट होते हैं। क्यों कि आत्मरूपी चन्द्रमा तो सदैव प्रकाशित है और अह रूपी मेघ पहुँच कर परमार्थरूपी कमलिनीको विकाश नहीं करने देता। अतः विवेकरूपी पवन चलाकर उसे नष्ट करो। नरक, स्वर्ग, बंध, मोक्ष, तृष्णा, त्याग इत्यादि सब केवल अहकार से ही फुरते हैं। ये अहकार

रूपी मेघ जब हृदयरूपी, आकाशमे गरज कर वर्षा करते हैं तब तृष्णा-
रूपी कटक मंजरी बढ़ती है और वह अहंकार रूपी मेघ आत्मा पर
आक्रमण कर अंधकार कर देता है, प्रकाश नहीं होने पाता। इस अहंकार-
वृत्तकी, शाखायें अनन्त हैं। इस अहंकार ही से संसार के सब सुख
दुःख, प्राप्त होते हैं। संसाररूपी चक्रकी अहंकार नाभि है और अह-
मम, रूपी बीज से अनेक जन्मरूपी वृत्तकी परम्परा उदय-क्षय होती है
और कभी नष्ट नहीं होती। अतः यत्न पूर्वक इसको नाश करो। विना
इसको नाश किये कल्याण नहीं है। जब तक इस अहंकाररूपी पिशाच
ने घेर कर नीच बना रखा है, तब तक मत्र तत्र भी दीनता पाशसे
युक्त नहीं कर सकते। रामजी ने पूछा—हे भगवन ! चिन्मात्र आत्म
सत्ता मे अहंकाररूपी मलिनता कैसे प्रतिविम्बित हुई ? वशिष्ठजी ने
उत्तर दिया हे राम जी ! यह जो अहंकार का चमत्कार है धर्म (सत्य)
नहीं अमत्य है। क्योंकि यह वासनाओं के भ्रम से उत्पन्न हुआ है।
प्रयत्न करने से नष्ट हो सकता है। इस अहंमम मे कुछ सार नहीं।
न मैं किसीका हूँ, न कोई मेरा है। ऐसा अहंकार जब शान्त हो तब
कोई दुःख न रहेगा। आत्मा में अह कोई नहीं है, दृश्य-मे ही सब
कुछ भरा है। स्फुरणके शांत होने पर अहंकार नष्ट हो जाता है और अहंकार
के नष्ट होने पर हेयोपादेय बुद्धि भी शान्त हो जाती है और समभाव
की सुन्दर प्रसन्नता, का उदय होता है। इस अहंकार के प्रभृति ही
समस्त दुखों का-मूल है। रामजी ने पूछा,—हे भगवन ! अहंकार
का रूप क्या है और इसको कैसे लगाया जा सकता है। यह कब
शरीर से रहित होता है और इसके त्यागने से क्या फल मिलता है ?
वशिष्ठजी ने उत्तर दिया, हे राघव ! अहंकार तीन प्रकार का है।
जिममें दो अंगीकारके योग्य है और एक महा निकृष्ट त्यागनेके योग्य
है और शरीर से ही सब त्यागे जाते हैं। पहला अहंकार यह कि सब
दृश्य मैं ही हूँ और मैं ही परमात्मा अद्वैतरूप हूँ। मुझसे भिन्न कुछ नहीं
ऐसा निश्चय परम अहंकार का है और मोक्ष दायक है। यह बन्ध

नाम के वीतराग आत्म रूपी तीन श्रेष्ठ वीरों को उत्पन्न किया। वह तीनों वीर परम पवित्र हृदय के थे और संसारको तृणके समान जानते थे। जन्मते ही उन्होंने ऐसी गर्जना की कि, आकाश परिपूर्ण हो गया और देवता लोग डर गये। किन्तु पुनः सचेष्ट होकर अपनी बृहद् सेना लेते हुये युद्ध करने को उपस्थित हुए। फिर तो युद्ध आरम्भ हुआ। दोनों ओर से शस्त्र चलने लगे। किन्तु भीम, भास और दृढ अपने स्थान से तिल भर भी पीछे न हटे। बार-बार उन पर शस्त्रों का प्रहार होता, पर वे किंचित भी शरीर मोहमें पडकर भट सोचते कि, हम तो शरीर रहित, चैतन्यमय, निराकार, अद्वैत, निर्विकार और अच्युत रूप हैं, हमारा शरीर का सम्बन्ध नहीं है। ऐसा सोच कर वह निर्भय हो सम दृष्टिवान् बने भीषण युद्ध करने लगे। उनके भीषण दृढ सग्राम से देवताओंकी सारी सेना मारी गई, बचे हुए सैनिक भाग चले। तब देवता लोग अत्यन्त विकल होकर विष्णु भगवानकी शरण में गये। भगवान ने उनको दुःखी देख कर कहा, अब आप लोग यहाँ रहिए और मैं जाकर उन तीनों को मार आता हूँ। तब सुदर्शन चक्रवारी भगवान, शम्बर के निकट पहुँचे। शम्बर ने उनके साथ बड़ा भीषण युद्ध किया। ऐसा ज्ञात हुआ मानों प्रलय उपस्थित हो गया है। किन्तु भगवानने अपने सुदर्शन चक्रसे उनको मार दिया। वे शरीर छोड़ कर विष्णु लोक में पहुँचे। तब भगवान उनके (भीम-भास दृढ) के अन्तः पुष्पक में प्रविष्ट कर चित्तकला से मिश्रित उसके प्राण को असत् कर दिया। असत् करने से उनकी पुष्पका फुरने से निर्वाण हो गई। फिर तो वे जीवन्मुक्त से विदेह मुक्त हो गये। हे रामजी! भीम, भास और दृढ निर्वासनिक थे, इससे वे दीपक के समान निर्वाण हो गये। क्योंकि वासना युक्त ही बन्ध है और निर्वासनिक ही मुक्तरूप है। इससे तुम निर्वासनिक बनो। इसके लिए आवश्यकता है कि जगतको असत् रूप जानो, जिससे कि वासनायें न फुरें और जगत के पदार्थों में आसक्त बुद्धि न हो। जो वासना है

वही चित्त है। चित्त में सब पदार्थ, शब्द और अर्थ सहित स्थित रहते हैं। यदि सत् की ओर देखा जाय तो सम्यक ज्ञान होकर इमका नाश हो जावे और परम पद ही शेष रहेगा। अन्य चित्त में वासना युक्त अनेक पदार्थों की तृष्णा होती है। जो इससे मुक्त है, वही मुक्त है। हे राम जी। चित्त के फुरने में ही अनेकता है। क्योंकि परब्रह्मी में वैताल भ्रम के समान ही नाना प्रकार के भ्रम चित्त में भासते हैं। जैसी वासना को लेकर चित्त स्थित हो, वैसा ही स्वरूप होकर भासता है। हे राम जी। चित्त के परिणाम ने ही दाम, व्याल और कट के स्वरूप को विपर्यय कर दिया था। पर भीम, भास और दृढ़का निश्चय तुम सुन चुके। अब तुम भी इन्हीं के अनुसार-निश्चयी बनो। अन्यथा संसार में सभी दुखी हैं, विरला ही कोई सुखी है। यदि तुम संसार की भावना को त्याग दोगे तो शरीरादि में बन्धनवान होकर भी व्यवहार में आशक्त न रहोगे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, स्थिति-प्रकरण का उनतीसवां सर्ग समाप्त ॥ २९ ॥

तीसवाँ सर्ग ।

उपशमरूप वणन

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी। वही सच्चा सुखी है और वही सच्चा वीर है कि जिसने अविद्यासे संसार की ओर सम्मुख हुए मनको जीन लिया है। उसी की सच्ची विजय है। क्योंकि संसार ही सब उपद्रवों का केन्द्र है। इसको शांत करने के लिए अपने मनको वश करे और बार-बार विचारें कि, जगत क्या है ? ऐसा विचार करते हुए सत्-स्वरूप आत्माका आभास करना चाहिए और यह समझना चाहिए कि, जीवोकी इच्छा ही बन्धनका कारण है और इस इच्छाको त्यागना ही मोक्ष है। अन्यथा विषयभोग तो विष और अग्नि के समान नाशक कारण हैं। यह जानकर बार-बार विषयों से चित्तको हटाना चाहिए। फिर तो उनको सेवते हुए भी वे दुःखदायक नहीं होते। जैसे मंत्र शक्ति-

वाले को सर्प दुःख नहीं देते, वैसे ही त्याग करने वालेको भोग दुःख नहीं दे सकते। क्योंकि वासनाही ससारको सत्य फुरती है। इसमें वासना ही दुःख का मूल है। पृथ्वी में जो बीज बोया जायगा वही उगेगा। कटु बीज से कटु और मिष्ठ बीज से मिष्ठ पदार्थ उत्पन्न होते हैं। जो वामना रूपी बीज से संसार के भोगोंको भोगता है उसको तो दुःख की परम्परा उत्पन्न ही होगी। पर जिसकी बुद्धिमें शान्तिकी भावना गर्भित होगी वह शुभगुण, बेराग्य, धैर्य, उदारता और शान्ति का रूप प्राप्त करेगा। ऐसी शुभ भावना की खोज होने पर मन और बुद्धि विमल हो जाती है और मन, बुद्धिके विमल हो जाने से शनैः शनैः अज्ञान नष्ट होकर सज्जनता प्राप्त होती है। ऐसी सज्जनता के प्राप्त होने पर विवेक उत्पन्न होता है। और विवेक होनेपर हृदयका मोहरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है। अन्धकार नष्ट होनेपर धैर्य और उदारता की उन्नति होती है और तब सत्सग और सन्ध्यास्त्रके अभ्यास से शुभ गुण उदय होकर परमानन्द का कारण, शीतल, शान्त स्वरूप प्रकट होता है। हे रामजी ! जब उस सत्सग रूपी वृक्ष से विवेक रूपी फल उत्पन्न होता है, तब उस फल से समता रूपी अमृत खवता है। फिर तो निर्भय और सब कामनाओं से रहित होकर मन उपद्रव रहित हो जाता है। अन्यथा मनकी चचलता तो महान शोकदायक है। मन अचल रहे तो सब शान्त हो जावे। शास्त्रों का अर्थ जान लेने से भ्रम नाश हो जाते हैं और अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प भी शान्त हो जाते हैं। ऐसा जीवन मुक्त प्राणी अलेप है, उसको ममार के लोभ स्पर्शित नहीं करते। वह इच्छा रहित, निरुपस्थित निर्लेप और दुःख रहित होता है। वह चिदग्रन्थि से मुक्त परमानन्द रूप में मग्न रहता है। इससे हम कहते हैं कि जो पुरुष तृष्णारूपी सूत्रके जाल से निकल गया है वही सच्चा वीर है। पर जो तृष्णाओं को नहीं जला सकता है, वह जन्म मरण के चक्कर में भटकता है। तृष्णाओं के घटने से मन भी सूक्ष्म हो जाता है और तृष्णा नष्ट

होने पर मन भी नष्ट हो जाता है। जीवों में तृष्णा रूपी मन का उदय होना ही दुःख और मन का नष्ट होना ही सुख का कारण है। ज्ञानियों का मन नष्ट होता रहता है। अज्ञानियों का बढ़ता रहा है। पर्वत स्थावर मण्डल और जड़ स्वरूप जितना कुछ सम्पूर्ण जगत्-चक्र है, सब मनो मात्र है अर्थात् मनरूप है। हे रामजी ! चिन्मात्र शुद्धकला में जो चित्तकला फुरी है, वही संवेदन के सरूप, विकल्प से मलीन हो गई है, जिससे उसको स्वरूप का विस्मरण हो गया है और वही मन है। वही मन निज वासना से संसार का भागी हुआ है। जीव वह है कि जब चित्त कम्पित होकर दृश्य से मिलकर उसे तन्मय हो जावे, तब उस चित्त मंचित का नाम जीव है। वही जीव जब सांसारिक दृश्यों एवं संसार की गति में मिलकर चलने लगता है तब अनेक प्रकार का विस्तार पाता है। किन्तु वह आत्मा पुरुष परब्रह्म सांसारिक नहीं है। वह न तो रक्त है, न मांस है और न शरीर है। क्योंकि यह शरीरादिक तो जड़ हैं। आत्मा आकाशवत् निर्लेप और चैतन्य स्वरूप है। परीक्षा के लिए शरीरको काट कर अलग २ कर दिया जाय तो सिवा रक्त, मांस और हड्डियों के और कुछ नहीं मिलेगा। केले का बूझ खोल कर देखा जाय तो सिवा पत्र के और कुछ नहीं दीखता। वैसे ही मन जीव में कोई भेद नहीं है। दोनों ही एक है और सब विकार भाव को प्राप्त करने वाले हैं। क्योंकि यह जीव अपनी कल्पनाओं से बन्धन में पड़ा हुआ है। अतः मनुष्य अपनी वासना से ही संसार बन्धन में फँसता है। भोगों की वासना मन से दूर होती नहीं और वह फँस पड़ा रहता है। स्वप्न क्या है? वासना युक्त दिन में जैसा विचरे वैसा ही स्वप्न दीखता है। जैसी वासना होती है, वैसा ही पुण्य पाप के अनुसार परलोक भासता है। अतः जगत का भासित-होना अपनी वासना है। इसमें जैसा संसर्ग होता है, तदनुसार यह प्रखरित होती जाती है। उत्तम साथ से उत्तमता की और और निकृष्ट साथ से, निकृष्टता की

और अग्रसर होती है। निर्मल भाव स्थित होनेसे मनकी कल्पना और पापवासना अवश्य मिट जाती है पर विपरीत होने से मलिनता की वृद्धि होकर मलिनरूप (फल) प्राप्त होता है। इस कारण तुम कलङ्करूपी दुर्वासना को त्याग कर पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान विराजित हो जावो। क्योंकि ससार का कोई सच्चारूप नहीं है और सब भ्रममात्र है। अज्ञानता से भेद विकार भासते हैं—अन्यथा बन्ध और मोक्ष कुछ नहीं है। सब कुछ इन्द्रजालिक मिथ्या और भ्रम भास रहा है। अपनी अज्ञानता से जीवोंको ऐसा निश्चय हो रहा है कि मैं आत्मा नहीं, नीच हूँ। पर आत्मा का अभ्यास करे तो हृदय मे स्थित होवे। ऐसे भाव की स्थिति से अनिकृष्ट निश्चय का अभाव हो जायगा और सब जगत आत्मामय प्रतीत होगा। पर जिसको शरीरादि की भावना दृढ हो रही है उसको बन्धन होता है। तपस्वी के समान अपने ही सफलता से बन्धन मे आ जाता है। इसके विपरीत जिसे निज स्वरूप की भावना होती है उसको मोक्ष भासित होता है। पर आत्म-सत्ता बन्ध और मोक्ष से भी परे है। वह अद्वैत-ब्रह्म सत्ता अपने आप में ही स्थित है। पर यह तब भासता है जब मन निर्मल हो जाय और किसी पदार्थ मे न बँधे। ऐसा होने पर प्राणी को ब्रह्म सत्ता ही दीखती है और कुछ नहीं। किन्तु यह तभी सम्भव है जब मन वैराग्य और अभ्यासरूपी जल से निर्मल किया जाये। फिर तो ब्रह्मज्ञान का वह रङ्ग चद्रता है कि, सर्वत्र आत्मा ही भासता है और ग्रहण त्याग की वृत्ति नष्ट होकर बन्ध मोक्ष भी कुछ नहीं रहता। भोग की वासनाओं से जब युक्त हो जाता है तब सत्तास्त्र के विचार से क्रमश बुद्धि में वैराग्य उत्पन्न होकर परम बोध प्राप्त होता है। परम बोध प्राप्त होने पर हृदय कमल के समान बुद्धि खिल जाती है। ज्ञान दो प्रकार का है। सम्यक और असम्यक। सम्यक ज्ञान से मन सत् की भावना में स्थित होकर परमपद को प्राप्त हुआ कहा जाता है। असम्यक ज्ञान मन का है और यही सब पदार्थों की रचना कर, तन्मय

हो जाता है। हे राम, जी। द्रष्टा और दृश्य जो स्पष्ट भासते हैं वह असत्य हैं और इस असत्यमें तन्मय होना ही मन का रूप है। क्योंकि यह पदार्थों में समता रहता है और पदार्थ असत्य हैं जो आदि में न तो उत्पन्न हुए हैं और न अन्त में रहते हैं। इस से यह असत्य रूप हैं। अज्ञानता से जो इन्हे सत्य जानते हैं वे निःसन्देह दुःखको प्राप्त होते हैं। असत्य भावना के बिना इन दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता। यदि भाग्यवश दृश्यों में भी आत्मा की भावना होने लगे तो दृश्य भी मोक्षप्रद हो जायें। अन्यथा अज्ञानी को जल और उसकी तरङ्गों तो भिन्न ही प्रतीत होती हैं। पर ज्ञानी को एक ही रूप का निश्चय होता है। ऐसे ही अज्ञानी को यह जगत नाना रूप जान पड़ता है और वह ग्रहण त्यागकी अनिश्चयात्मक बुद्धिसे भटकता हुआ दुःख पाया करता है। किन्तु ज्ञानी को सर्वात्माका ही निश्चय रहता है। वह भेद भाव से रहित अन्तर्मुख हो सुखी रहता है। हे रामजी! मन एक संकल्पशक्ति और असत् रूप है। इसीसे यह त्रिंशती रूप से सत् जान कर क्लेशमात्र होता है। जैसे कोई अपना सम्बंधी विदेश में जाकर रहने लगे और जब उसकी भावना की जाय तब दुःख और राग होता है, पर जब आत्मा में अह प्रतीत होती है तब देहादिक सुख दुःख स्पर्श नहीं करते। हे रामजी! शिव तत्त्वका ज्ञान होने पर किञ्चित् भी दुःख नहीं रहता। क्योंकि शिव ही द्रष्टा और दृश्य के मध्य में व्यापक है, उसमें स्थित होकर मन शान्त हो जाता है। फिर तो जैसे वायुके बिना धूल नहीं उड़ती, वैसेही मनके शान्त होने पर शरीर धूल रूप हो जाती है और ससाररूपी कुहिरा नष्ट हो जाता है। वर्षा ऋतु रूपी वासना के नष्ट होने पर पता नहीं चलता कि जड़ता रूपी वेलि कहाँ गई। क्योंकि अज्ञानतारूपी मेघ शान्त होने पर तृष्णारूपी वेलि सूख जाती है और हृदयरूपी पवन मोह रूपी कुहिरा को नष्ट कर देता है। अज्ञान रूपी मेघके नष्ट हुए देह-अभिमान रूपी जड़ता का पता नहीं चलता कि कहाँ गई। पर

जब तक अज्ञानता का वादल गर्जता रहेगा तब संकल्प रूपी मोर नाचते ही रहेंगे। अहंकाररूपी मेघके नष्ट होते ही परम निर्मल आत्मा रूपी सूर्य का प्रकाश हो जाता है। मोह रूपी वर्षा का अभाव होनेपर ज्ञान रूपी शरद् ऋतु से दिशाये निर्मल हो जाती हैं और आत्मारूपी चन्द्रमा शीतल चाँदनी प्रकाशता हुआ सदैव सुख सम्पदाओंको प्रदान कर परमानन्द की प्राप्ति करता है। इस प्रकार पूर्व शुभगुणों के संचित विवेक रूपी बीज से शुभ मन समस्त सम्पदाओंको देनेवाला पूर्ण सफल भूमि को प्राप्त करता है। विचारशील पुरुष के लिए वन, पर्वत चतुर्दश भुवन सब आत्मा ही भागित होता है और वह निर्मल से भी निर्मल और शीतल से भी शीतल भावनामय भासित होता है। फिर तो उस स्वच्छ जल से पूर्ण हृदयरूपी तालाव में धैर्य और उदारता रूपी कमल विराजता है। तब उस कमल पर जो अहंकाररूपी भँवरा नित्य विचरा करता है वह नष्ट हो जाता है और फिर उत्पन्न नहीं होता। पश्चात् वह पुरुष वासना रहित होकर शान्त मन अपने शरीररूपी नगर में ईश्वर होकर विराजता है। ऐसा ज्ञानी पुरुष कि जिसको आत्मा को साक्षात्कार हो गया है उसका मन अत्यन्त नष्ट हो जाता है और इस प्रकार उसके भय आदिक सभी विकार नष्ट हो जाते हैं।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, स्थिति प्रकरण का तीसरा सर्ग समाप्त ॥ ३० ॥

इकतीसवाँ सर्ग ।

आत्म-स्वरूप वर्णन

रामजी ने प्रश्न किया,—हे भगवन् ! आत्मा तो चैतन्यस्वरूप और विश्व से परे है, फिर उसमें विश्व कैसे उत्पन्न हुआ, कृपा कर मेरे बोध वृद्धि के लिए इस विषय को फिर सुनाइये। विशिष्टजी बोले,—हे रामजी ! आत्मा अश रहित निराकार-सर्वगत और सर्व व्यापक है पर दिखलाई नहीं पडता क्योंकि वह अव्यक्त और अव्युत रूप है। आत्मा में जगत ऐसे ही है जैसे मणि स्तम्भ में शिल्पी

ने पुतलियों को कल्पा हो। किन्तु वह कुछ है नहीं, केवल शिल्पकार के मन का एक फुरना है। वैसे ही मनरूपी शिल्पकार ने आत्मा में ही इस जगत की कल्पना की है। वह आत्मा के आधार होकर आत्मा की चित्र छाया में रह कर आत्मा में ही स्थित है। पर आत्मा का और उसके स्पर्श नहीं है। जिस प्रकार बादल आकाश के आधीन रहकर आकाश में ही स्थित है परन्तु आकाश का और उसका स्पर्श नहीं है, वैसे ही आत्मा स्पर्शित होते हुए भी सर्वत्र पूर्ण होकर पुर्यष्टक रूप हृदय में भासित होता है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सर्वत्र व्यापक है पर जल में ही प्रतिबिम्बित होता हुआ काष्ठ और पृथ्वी आदि में प्रतिबिम्बित नहीं होता, वैसे ही आत्मा शरीर इन्द्रिय और प्राण में प्रतिबिम्बित न होता हुआ हृदय पुर्यष्टक में भासता है। आत्मा का वह स्वरूप सब संकल्पों और संगोसे रहित है। ज्ञानी पुरुष इसको चैतन्य अविनाशी और आत्मा तथा ब्रह्म आदि कह कर सम्बोधन करते हुए उपदेश करते हैं। पर वह आकाश से भी सूक्ष्म और निर्मल है। अतः आत्मा ही जगत का रूप है, जगत कोई अन्य वस्तु नहीं। जैसे जल द्रवने से तरंगरूप भासता है किन्तु तरंग कोई भिन्न वस्तु नहीं है, वैसे ही आत्मा से पृथक जगत नहीं है, केवल चेतन सत्ता ही चैतन्य शक्तिसे जगत रूप भासती है। और यही अज्ञानी को नाना प्रकारका जगत हो भासता है। अन्यथा जगत कोई वस्तु नहीं, केवल आत्म सत्ता ही अपने आपमें स्थित है। वह अनुभव स्वभाव से प्रकाशित होता है। वही सूर्य आदिको भी प्रकाश देता है। वही सब स्वादों का स्वाद है और सब भावोंसे सिद्धि है। वह सत्ता उदय और अस्त, चलने और न चलने से परे है। वह लेता देता कुछ नहीं। स्वतः स्थित है। जीव अनेक संकल्पों से विपरीत स्वरूप देखता है और कहता है यह पदार्थ है और यह मैं यह दूसरे हैं। किन्तु जब वह आत्मा को जान लेता है तब यह दूसरे ही जाता है। जैसे

बीज सत्ता वृक्षको आश्चर्य पूर्वक मात्रानुसार उसके आकारकी वृद्धि करता है वैसेही आत्मा की सत्तामे चित्त अपने संवेदन शक्ति द्वारा फुरता है। इस भाँति आत्म सत्ताके आश्रय मे जो उसका स्फुरण है और वह विस्तार करता है वही संकल्पका रूप है और वही जगत की दृढता है। संवेदन के फुरनानुसार वह स्थित होता है। यह उसकी नीति है कि जो पदार्थ जैसे हो वह वैसेही स्थित होता है। अन्न जल अग्नि सन्ध्या जितने पदार्थ हैं महाप्रलय पर्यन्त भी यह एमेही स्थित रहते हैं। इनमे कोई परिवर्तन नहीं होता। संसार में चौदह प्रकारकी भूत जानियाँ हैं। पर उन्हीको शान्ति मिलती है जिनको आत्मा का साक्षात्कार होता है। वही आत्मा को उपाकर आनन्दित होते हैं। शेष जिनको आलस्य है वे सदा भटकते हुये जन्म मरणके चक्कर मे पडे रहते हैं। और कर्मानुसार आवागमन मे भटकते हुये मुबमै यमके पड जाते हैं। अर्थात् बारबार जन्मते और मरते रहते हैं। ऐसे प्रमादी उन्मत्ताके समान सर्वदा ही भ्रमा करते है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, स्थिति प्रकरण का इकतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३१ ॥

बत्तीसवाँ सर्ग ।

शान्ति कैसे प्राप्त हो ?

इस प्रकार जगत की स्थिति को चञ्चल बतलाते हुए वशिष्ठजी ने कहा,— हे रामजी । जगत की उत्पत्ति किसी कारणसे नहीं होती यह आत्मा से स्वतः उत्पन्न होता है। कारण और कार्य भाव तो पीछे होता है और वही चित्त मे दृढ हो भासता है। किन्तु आत्मा से उसका कुछ सम्बन्ध नहीं। जिस प्रकार जल से तरंगे स्वभावतः उठकर स्वयम् ही लीन हो जाती हैं, वैसे ही आत्मा से स्वभावतः जगत् उठ कर लय हो जाता है। हे रामजी । आत्मा मे इस जगत की सत्यता और असत्या कुछ नहीं है। मूढ जीव अपने को स्वरूप मानते है। अतः तुम दृश्य को त्याग कर दृष्ट मे स्थित हो केवल

उस ब्रह्म को जानो, जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इत्यादि सबको जान लेता है। वह सब में पूर्ण स्थित स्वच्छ और निर्मल है। उस एक अद्वैत आत्मसत्ता में कोई कल्पना नहीं होती। उससे भिन्न जितनी वस्तुएँ जान पड़ती हैं, सब वासना हैं। हे रामजी। जब आत्मा के अतिरिक्त कुछ सिद्ध नहीं होता तब किसकी वाञ्छा करे और किसकी खोज करे। सर्वत्र इष्ट, अनिष्ट, विकार, विकल्प, आधार, आधेय, द्वैत कल्पना और अहं-त्व इत्यादि से परे ब्रह्मसत्ता ही तो स्थित है। ऐसा जानकर तुम सदैव स्थित निर्वन्द हो कर सब सन्तापों से रहित कार्य में लग जावो और अपने को हृदय से कर्ता भाव का त्याग कर बाहर से इन्द्रियों द्वारा जगत का कार्य करो जब स्थिरता के समुद्र में तुम्हारी वृत्ति धैर्यवान हो जायगी तब तुम शान्ति को प्राप्त करोगे। अन्यथा जब तक दृश्य जगत में पड़े रहोगे कहीं भी जावोगे हृदय में शान्ति न मिलेगी। जगत के दृश्यरूपी सब पदार्थों को त्यागने के बाद जो अपना स्वरूप शेष रहता है वही चिदात्मा है। उसमें स्थित होने ही पर शान्ति मिलती है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, स्थिति-प्रकरण का बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३२ ॥

तीसवाँ सर्ग

मोक्ष उपदेश

वशिष्ठ जी बोले, हे राम जी। मृद पुरुष जैसा कर्म करते हैं वह वैसाही फल भोगते हैं। पर जो ज्ञानी हैं और जिनको कर्तव्य भाव दृष्टि आता है वह स्वरूपको जाननेसे यदि तामसी कर्म (हिंसा आदिक कर्म) भी करें तो वे अकर्ता ही हैं। क्योंकि मनमें सत्य जानकर वह जिस पदार्थ की इच्छा करता है, वही वासना है और उसी सद्भावके फुरनेका नाम कर्तव्य है। उसीसे फल प्राप्त होता है। शरीर करे अथवा न करे पर मनमें जैसी वासना दृढ़ होती है चाहे, वह अशुभ, उसीके अनुसार भासित

होता है। शुभसे स्वर्ग और अशुभसे नरक भासता है। अज्ञानी पुरुष चाहे वह प्रपन्नमे अकर्ता ही क्यों न हो, किन्तु वह अनेक कर्मों के फलको अनुभव करता है। पर जो ज्ञानी है उसके हृदयमें पदार्थों का मद्भाव और बासना दोनोही नहीं रहती। कारण कि उसमें कर्तव्यका अभाव है, वह निष्काम कर्म करते हैं। ससार उनके लिए असत्य है और केवल शरीर का हिलाना मात्र ही उनका कर्म है। पूर्व कृत सुख दुःख का फल उनको प्राप्त भी होता है तो भी वे सब ब्रह्म भावही देखते हैं। किन्तु अज्ञानी पुरुष शरीरको अपकर्ता मान कर उसके अनुसार सुख दुःख भोगते और मोहको प्राप्त होते हैं। किन्तु जो मनसे अनात्मभावमें मग्न है वह अकर्ता होते हुये भी कर्ता होते हैं और मनसे रहित किया कर्म भी न करने के समान है। इससे शरीर कुछ नहीं करता मन ही करने वाला है। जगत की उत्पत्ति मनसे ही हुई है और मन रूप होकर मनहीमें स्थित है। जो मनको मार चुके हैं उनको सब कुछ शान्तरूप ही दिखलाता है। ऐसे आत्मज्ञानी को ससार का सुख दुःख, स्पर्श नहीं करता। उसको चंचलता हर जाती है, वह सत्यासत्य और सब विकारोंसे रहित होकर शान्तरूप हो जाता है। अज्ञानियों की भाँति वह सांसारिक वासनाओं में नहीं डूबता। हे राम जी! ज्ञानी और अज्ञानी में यही भेद है कि ज्ञानी का कर्तव्य अकर्तव्य है और अज्ञानी का अकर्तव्य भी कर्तव्य होता है। जैसे चारपाई पर सोया हुआ व्यक्ति स्वप्न देखे कि मैं चारपाई से गिर गया और दुःख पा रहा हूँ तो अकर्तव्यमें यही कर्तव्य हुआ। पर जैसे समाधिस्थ व्यक्ति गढ़मे गिर पड़े तो भी वह शान्तरूप है—कर्तव्य में अकर्तव्य कहने का यही आशय है। शय्या पर सोने वाले का मन चलता था जिससे अकर्तव्यमें भी उसको कर्तव्य हुआ और उमने दुःख का अनुभव किया। अस्तु निश्चय हुआ कि जैसा मन होता है वैसीही सिद्धता प्राप्त होती है। इसलिए तुम भी अमशक्त होकर कर्म करो। जगत आत्मासे भिन्न नहीं है जो ऐसा निश्चय

जानता है, उस ज्ञानी को सुख दुःख स्पर्श नहीं करते और द्रष्टा, दर्शन, दृश्य, इच्छा इत्यादि भी आत्मासे भिन्न नहीं भासित होता। इससे यह निश्चय हुआ कि मैं शरीर नहीं हूँ, सब पदार्थों से भिन्न और बालाग्र के सौवे भाग से भी सूक्ष्म हूँ और यह समस्त दृश्य-रूपी जगत भी मैं ही हूँ तथा मैं सबका प्रकाशक और सर्वव्यापी मैं ही हूँ—इस निश्चयसे उसे सुख दुःखका जोभ नहीं। यह भी मानना होगा कि ज्ञानी पुरुषको भी दुःख और सकट काल प्राप्त होता है। पर वह उसमें भी सुखी रहता हुआ केवल यही समझता है कि सब कुछ भगवान की लीला हो रही है। वह उसके लिए न तो चिन्तित होता है और दुःखी होता है। शान्ति पूर्वक कर्मकरता हुआ भी अकर्ता बना रहता है और मन से लिप्त नहीं रहता। हे रामजी ! हाथ, पाँव इत्यादिक इन्द्रियों से करने का नाम कर्म नहीं, बल्कि मनके करने का नाम कर्म है। सब कर्मों का कर्ता मन है। जब मन नष्ट हो जाता है, तब कोई दुःख नहीं रहता। मनको नष्ट करने वाले जेन परमार्थदर्शी हैं। उनको कर्म का स्पर्श नहीं होता। वह करते हुये भी कुछ नहीं करते। ऐसे ज्ञानी को बन्ध मोक्ष सुख दुःख कुछ नहीं भासता। कारण कि उनका मन असंशक्त है। इस कारण तुम भी बन्ध मोक्ष इत्यादि की कल्पनाओं से रहित होकर आत्मा में निश्चल कर धीरे बुद्धि हो प्राकृत आचार मात्र करो। इस भाँति तुम्हें कुछ भी स्पर्शन करेगा।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, स्थिति प्रकरण का तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३३ ॥

चौतीसवाँ सर्ग ।

सर्व एकता प्रतिपादन

यह सुन कर राम जी ने प्रश्न किया,—हे महासुने ! जगत तो अविद्यमान और अविद्यारूप है। फिर यह उस सत्-चित्-आनन्द अद्वैत और सब ऐश्वर्यों से जल में कैसे प्रकट हुआ ?

वशिष्ठ जी ने उत्तर दिया,—हे पुत्र । यह सारा जगत ब्रह्मकाहीरूप है और ब्रह्म-सत्ता सर्व शक्तिमान् है इससे सत्य असत्य और एव, अद्वैत आदिक दृश्य विश्वरूप हो भास रहा है । पर जल तरङ्ग के बुदबुदो के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । चिद्घन में चिद्घन की सर्वशक्ति सब रूप होकर फुर रही है, वही कहीं कर्मरूप कहीं वाणी-रूप, कहीं गुणरूप और कहीं भरण पोषण और नाशका कारण हो रही है । वही ब्रह्मसत्ता समस्त पदार्थों के उत्पन्न होनेमें बीजरूप है । किन्तु जिम प्रकार समुद्र की लहरें उठकर फिर समुद्र में लय हो जाती हैं उसी प्रकार ब्रह्म से उत्पन्न हो कर सब पदार्थ उसी में लय हो जाते हैं । राम जी ने कहा कि हे भगवन् । यद्यपि आपने स्पष्ट रीतिसे कहा है तथापि यह विषय इतना गम्भीर है कि, इसकी यथार्थता में पा नहीं सकता । क्योंकि मन संयुक्त पटेन्द्रियों की वृत्तियों से समस्त पदार्थों की रचना से रहित स्वरूप और जगतमें बड़ा अन्तर मालूम होता है । जब निर्विकार आत्मा ही से जगत उत्पन्न हुआ है तब वह भी तो निर्विकार होना चाहिए पर वह तो ऐसा नहीं है । वह तो (जगत) विकारमय और दुःखमय है । फिर यह आत्मा से कैसे उत्पन्न हुआ ?

यह कह कर वाल्मीकि जी बोले कि जब राम जी ने ऐसा कहा तब ब्रह्मर्षि वशिष्ठ कहने लगे कि, हे राम जी । जगत तो ब्रह्मकाहीरूप है । इसमें जो मलिनता जान पड़ती है वह मलिनता नहीं बल्कि समुद्र और तरङ्ग के समान उसीका रूप है । ऐसे ही आत्मा में जगत आत्मा काहीरूप है, क्लृप्तता नहीं । राम जी ने कहा, हे ब्रह्मन् । आप का वचन मुझे स्पष्ट नहीं भासता है और यही जान पड़ता है कि दुःख रहित और धर्म रहित जगत की उत्पत्ति क्लृप्तरूप ही है । आप का कथन आकाशवत् है । मैं इसको नहीं मानता । राम जी के इस कथन को सुनकर वशिष्ठजी ने जान लिया कि अभी इसकी बुद्धि परम प्रकाश को नहीं प्राप्त हुई । अभी यह अर्द्ध-

प्रबुद्ध है और इसकी बुद्धि चित्त के योग से विरक्त नहीं हुई है। अतः अब इमको ऐसा उपदेश करूँ कि विश्राम पावे। जब परम दृष्टि प्राप्त होगी तब भोग की इच्छा न उत्पन्न होगी और तब सर्व ब्रह्मका सिद्धांत इसे रुचिकर प्रतीत होगा। पहले पहल शिष्य को सर्व ब्राह्मका उपदेश देना ठीक नहीं। जब पहले शमदम इत्यादिक गुणों से शिष्य को शुद्ध करे। फिर ब्रह्म का उपदेश करे। तब वह उससे जाग जाता है। यदि अज्ञानी और अर्द्ध-प्रबुद्ध गुरु ऐसा उपदेश करता तो वह उसको घोर नर्क में ले जाता है। किन्तु ज्ञानी को भोगों की इच्छा नहीं रहती वह निष्काम रहता है इससे उसको उपदेश करने की आवश्यकता नहीं रहती। ऐसा विचारकर अज्ञानान्धकार को नाश करने वाले ज्ञानके सूर्य भगवान् वाशिष्ठ जी ने राम जी से कहा,—हे राघव ! ब्रह्ममे कलङ्क है या नहीं, यह मैं तुमसे फिर कहूँगा अथवा समय आनेपर इसे तुम आप ही आप जान जाओगे। किन्तु ब्रह्मसत्ता सर्व शक्तिमान, सर्वव्यापक और सर्वगत व्यापक और उसीमें सब कुछ रचा हुआ है। जिस प्रकार इन्द्रजालिक अपनी माया से अनेक प्रकारकी रचनायें करता हुआ भी अपने ही में स्थित रहता है उसी प्रकार यह जगतके विचित्ररूप दृश्य उस चेतन सत्ताने अपने लक्षणों से रचा है, उसीके चित्त संवेदनसे यह जगत रूप ही भासता है। उसमें सब प्रकार और सर्वरूप वही है जो अविद्यमान है। फिर हर्ष, शोक और आदर्श किसका माना जाय। सब कुछ तो एक रूपका है। यही कारण है कि, हमको सदैव सम भाव रहता है और हर्ष, शोक, मोह कुछ नहीं होता। हे रामजी ! यह जितना कुछ दृश्य प्रपञ्च है सब उसी सत्-चित्त के स्पन्दकला से फुरता हुआ नाना प्रकारसे देश काल क्रिया और द्रव्य होकर भासता है। इन सबको रचने में आत्म सत्ता को कोई यत्न नहीं करना पड़ता वह स्वाभाविक फुरनेसे फुरता है। जिस प्रकार समुद्र की तरंगे स्वभावतः फुरती हैं, वैसेही आत्मामे सृष्टि स्वभावतः फुरती और लय होती है।

जैसे समुद्र और उसकी तरङ्गों में कोई भेद नहीं है, वैसे ही आत्मा और जगत्में कोई भेद नहीं है। आत्मा ही जगत्-रूप होकर भासता है। आत्मामें कारण और कार्यका भाव नहीं है। इसमें न कोई कर्ता है, न भोक्ता है और न किसीका विनाश होता है। केवल आत्मत्व ही स्वयं अपने स्वभावसत्तामें स्थित है। जैसे पुष्पमें सुगन्ध स्वभावतः है, वैसे ही आत्मामें जगत् भी स्वभावतः है। इसमें कोई कार्य और कारण नहीं है। जिस प्रकार वायु गमनताके स्वभावसे ही वायु है और न गमन करने से नहीं है, ऐसे ही आत्मामें संवेदनके स्फुरणसे ही जगत् होकर भासता है अन्यथा नहीं भासता। इसीसे जगत् सत् और असत् कुछ नहीं है। प्रकट अप्रकट भासता हुआ विचित्ररूपसे जान पड़ता है। वास्तवमें इसको कोई उत्पत्ति नहीं है। आत्मा ही स्वतः स्थित है। असम्यक ज्ञान वश भासता हुआ जगत् अनेक शाखाओं युक्त विस्तार कर रहा है। इससे ज्ञानरूपी कुल्हाड़ी से इसको काटकर सुखी होवो। इस जगत् रूपी वृक्षका बीज असम्यक ज्ञान है। शुभ और अशुभ इस वृक्षके फूल हैं। आशारूपी वल्लियों से वेष्टित है। दुःख इसकी शाखायें हैं। भोग और जरारूपी इसके फल हैं। तृष्णारूपी लताओंसे यह घिरा है। तुम इस मसार रूपी वृक्षको आत्मविवेक रूपी कुल्हाड़ीसे यत्न पूर्वक काट डालो। फिर चिन्ता नहीं, चाहे जहाँ बन्धन रहित होकर विचर सकते हो।

श्री योगशास्त्रिण मापा, स्थिति-प्रकरण का चौतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३४ ॥

पैंतीसवाँ सर्ग ।

ब्रह्म-विवेचन

रामजी ने पूछा कि, हे भगवन ! अब कृपा कर मुझे यह विस्तार पूर्वक बतलाइये कि संसारमें कितने जीव हैं ? वशिष्ठ जी बोले,—हे रामजी ! शुद्ध चैतन्य ब्रह्म तत्त्व की दृष्टि वही निर्मल है जब वह

स्फुरित होती है तब अपनी कलनासे घन भावको प्राप्त होती है। तब संकल्प का रूप धारण कर तन्मय हो मनरूप हो जाती है। तब वह मन अपने संकल्पोंसे जगतको रचकर विस्तार भाव प्राप्त करता है। इसको आत्मसत्ताका चमत्कार कहते हैं। पर हमको तो सब कुछ आकाशरूप ही भासता है। किन्तु दूरदर्शीको जगत भासता है। पहले पहल ब्रह्ममें संकल्प पुरा जिससे उस चित्त शक्तिने अपने को ब्रह्मरूप देखा जिससे वह ब्रह्मरूप होकर उसमें जगत की कल्पना किया जिससे प्रजापतिने उत्पन्न होकर चौदहों प्रकारके भूत-जातियों को उत्पन्न किया। पर वास्तव में वह सब ज्ञातिरूप है। इसीसे यह सर्व जगत भी चित्त मात्र शून्य और आकाशरूप ही है। इसका शरीर भी कुछ नहीं, यह संकल्प मात्र है और स्वप्न नगरके समान भ्रान्ति से भासित हैं। इसमें जितने जीव हैं सबके प्रकार भिन्न है। कोई मोह युक्त है, कोई अज्ञानमें है, कोई मध्यमे है, और कोई ज्ञानी है—ऐसेही सब भूतजातियाँ आधिव्याधि दुःखोंसे दीन हैं। सात्विक राजस, ज्ञान में सब पडे हैं। शान्तात्मा पुरुष को संसारके यह दुःख स्पर्श नहीं करते, क्योंकि वह सदैव ब्रह्म में स्थित रहते हैं। हे रामजी, ब्रह्म में यह जितनी भूत जातियाँ हैं, सब पर ब्रह्मसत्ताके किसी एक स्थानमें प्रपञ्चवत जगतके रूपमें फुरी हुई है।

यह सुनकर रामजीने पूछा कि हे भगवन् । जब ब्रह्मतत्त्व निराकार रूप है, तब उसका एक अंश और एक स्थान कैसे हो सकता है ? वशिष्ठजीने उत्तर दिया,—हे रामजी । जो यह कहा जाता है कि, यह उससे उत्पन्न हुए है अथवा उसके द्वारा उत्पन्न हुये हैं यह शास्त्ररचना व्यवहारके लिए कही है। किन्तु परमार्थमें कुछ नहीं है। उदय और अस्त तक अवयव युक्त जो यह देशादिक की कल्पना दृष्टिमें भी आरही है, वह भी क्रमसे नहीं उत्पन्न हुई है, केवल कल्पना मात्र है। वह कल्पना भी आत्मरूप ही है। आत्म्य से परे कल्पना न कोई वस्तु है, न हुई है, न कुछ होगी। आत्मा में शब्द

वह पुरुष तो बन्ध का भागी है कि जिसको संसार के पदार्थों की भावना दृढ हो रही है। हेराम जी ! ममस्त जीव इस संसार की सत्य दृष्टि से बँधे हुये हैं। पर यह संसार स्वप्नवत् और भ्रान्तिरूप है। इसमें जो अशक्त है, एव जिसकी बुद्धि सत् ब्रह्म में है वह संसार-दुःख में नहीं डूबता। किन्तु जो अनात्मधर्मी है और देहादिक में जिसकी भावना है उसको स्वरूप में आत्मबोध नहीं होता। वह हर्ष शोक और आपत्ति को प्राप्त होता है। किन्तु जिसको स्वरूप का बोध है और जिसने आनन्द धर्म का परित्याग कर दिया है, उसको संसार की अविद्या नहीं सताती, दुःख आदिक विकार उसे स्पर्श नहीं कर सकते। इस विद्या और अविद्या को जानने वाला व्यक्ति संसार में ज्ञान सहित सब कुञ्ज वर्तता; हुआ मानसिक दुःखों में नहीं पडता। किन्तु अज्ञान सहित जो संसार में भटकता है, वह आत्मतत्त्व को नहीं प्राप्त कर सकता। विद्यमान भी उसके लिये अविद्यमान है। अविद्या नाशके लिये आत्मज्ञान की आवश्यकता है। आत्मज्ञान होने पर अविद्यारूपी नदी सहज ही में तरी जाती है। पर सासारिक पदार्थों की इच्छा करने वाले तो इस नदी की धार में वह जाते हैं। हे रामजी-! यह अविद्या महा मोह और भ्रम को उत्पन्न करनेवाली है-। इसके उत्पन्न होने पर तत्त्व पद ढँक जाता है, इससे अविद्या की उत्पत्ति और उसका कारण जानने का विचार तुम न करो-। यह नाश कैसे होगी, यह भी विचार छोड़ दो और उद्योग करो। उद्योग करने पर जब यह नष्ट हो जायगी, तब तुम्हें स्वतः ही दूसरी उत्पत्ति, कारण और कार्य का ज्ञान हो जायगा। तुम शक्ति लगा कर इसका नाश करो। बड़े बड़े वीरों को भी इस अविद्या पिशाचिनी ने नाश कर डाला है। ऐसा कोई नहीं जिसको अविद्या ने व्याकुल न किया हो। अविद्या समस्त रोगों की जड़ है। इस लिये यत्न कर के इसकी ऐसी औपधि करो कि जन्म-दुःखरूपी कुहिरा फिर न प्राप्त हो। यह

समस्त आपदाओं की अधिष्ठात्री सखी है। यही समस्त अनर्थों की उत्पादिक और अज्ञानरूपी वृत्त की बेलि है। हेराम जी ! तुम ऐसी मोह, आपदा और भय प्रदान करनेवाली अविद्यारूपी मलिनता को दूर करो। यह हृदय में मोह उत्पन्न कर जीवों को व्याकुल कर देती है। इस अविद्यारूपी संसार सागर से पार होने पर ही तुम्हें शान्ति प्राप्त होगी।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उत्पत्ति प्रकरण का अतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३६ ॥

सैंतीसवाँ सर्ग ।

वशिष्ठजी बोले,—हेरामजी ! सांसारिक जगजीवका विस्तार जिस प्रकार हो रहा है उस अविद्या रूपी विस्तृत व्याधिकी औपधि सुनो। सात्विक, राजस आदिक मनकी वृत्तियाँ तत्त्वतः अमृत और ब्रह्मस्वरूप हैं। इनका आदि और अन्त कोई नहीं। सर्वव्यापी, चैतन्य प्रकाश और अनन्त है। वह जब चैतन्य प्रकाश वृत्तियाँ फुरती हैं तब उसके तेजका प्रकाश एव वह चैतन्यरूप चित्तकला जगत को चेतता है। वह चित्तकला आत्मासे भिन्न नहीं है। उसका कोई रूप नहीं। जैसे आकाशमें आकाश स्थिति है, वैसेही आत्मामें चित्तकला (चित्तशक्ति) स्थिति है। उस चित्तकलाका दृश्यही जगत है। अथवा यों कहिए कि, आत्मा अद्वैत है, उसमें चित्तकला स्वतः हो आती है। जैसे वायुमें स्पन्दता और निस्पन्दता स्वतः और स्वभावतः होती है और दोनों ही उसके रूप हैं, वैसे ही चित्तकला स्वतः फुरती है। वहाँ शब्द की गति नहीं। वह स्पन्दतासे ही जगत भावको प्राप्त होती है पर वास्तवमें आत्मामें कुछ है नहीं, स्पन्दभावसे ही भूपित दूषित हो भासती है। आत्मासे कुछ भिन्न नहीं है और अभिन्न भी नहीं है और भिन्नकी नाईं भासिन भी होती है। देश, काला-

दिक क्रिया और द्रव्यको वह जैसे चेतती है, वैसेही होकर भासती है। तब उसीका नाम सज्ञा होकर स्वस्वरूपको भूल दृश्यमें तन्मय हो जाती है। किन्तु स्वरूपसे व्यतिरेक नहीं होती और व्यतिरेक के समान भावना होती है। जिस प्रकार समुद्र से तरङ्ग और सुवर्ण से भूषण भिन्न नहीं, उसी प्रकार आत्मासे चित्तशक्ति भिन्न नहीं, परन्तु अपने अनन्त स्वभावको विस्मरण करके देना, काल, क्रिया और द्रव्यको नहीं मानती, सकल्प धारणसे कल्पना भावको प्राप्त हो विकल्प कलनासे क्षेत्रका रूप हो जाती है। शरीर को क्षेत्र कहते हैं और शरीरके भीतर बाहर जानने से क्षेत्रज्ञ नाम होता है। जब वह क्षेत्रज्ञ (चिन्तकला) अहंभाव की वासना करती है, तब उस अहंकारसे आत्मा दूसरा रूप धारण करता है और जब उस अहंकार में संकल्प कलना दृढ हो जाती है तब उमका नाम मन होता है। उस मनमें जब घन विकल्प उठते हैं, तब शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धकी भावनासे इन्द्रियाँ फुर आती हैं। पश्चात् हाथ पाँव, प्राण सहित देह भास आता है। इस भाँति जगत से शरीरको प्राप्त कर जीव जन्म मरणके चक्रमें पड़ता है और वासनाओं में भटकता हुआ दुःख समुद्र को पा कर्मसे चिन्तामे दीन रहता है। फिर तो जैसा २ कर्म करता है, वैसा २ आकार धारण करता है। इस प्रकार स्वरूप के प्रमाद से जीव दृश्यभावको प्राप्त हो अपने को कार्य-कारण मानकर अहंभाव को प्राप्त होता है और उसमें निश्चय वृत्तिहो बुद्धिभावको प्राप्त होता है। फिर सकल्पोंसे मन भाव को प्राप्त होता है। तब वही मन फिर इन्द्रिय रूप होकर स्थित होता है और अपना जो अनन्तरूप है उसको भूल जाता है। फिर परिच्छिन्नाभाव को ग्रहण कर प्रतियोग और व्यवच्छेद भाव से इच्छा और मोहादिक शक्ति को प्राप्त होता है। फिर तो जैसे समुद्रमें सब नदियाँ आकर प्रवेश करती हैं, वैसेही सब आपदायें और दुःख आकर प्राप्त होते हैं। महान् खेद है कि मन अपने आप सकल्पसे दृश्यको रच उसी देहमें विश्वास करता है

जिससे आपही दुःखी होकर तपता है और अपने को वन्ध्यायमान होकर संसार-बनमे आपदारूप आशाको लेकर फिरता है। स्वरूप एक ही है। अपने फुरनेके वशसे नानाभाव को प्राप्त हो कही मन बुद्धि अहंकार, कहीं ज्ञान और कहीं, प्रकृति, माया, कर्म, विद्या अविद्या और कहीं इच्छा कहलाता है। हे रामजी ! इसीभाँति जीव अपने चित्तसे भ्रममे पड़ा हुआ तृष्णा रूपी शोकसागरसे दुःख पाता है। तुम यत्न करके इससे पार होवो। अन्यथा जरामरण आदिक विकार और संसारकी भावना जीवको नष्ट कर देती है। भला-और बुरा ग्रहण और त्यागके संकल्पको असित अविद्याके रंग में रंगा हुआ इच्छा करनेसे इसका रूप सकुच गया है और कर्मरूपी अंकुरसे संसार रूपी वृक्ष बढ़कर वास्तविकरूपको विस्मरण कर कलनासे आपको मलिन जान अविद्याके संयोगसे नरक भोगता हुआ संसार भावना रूपी पर्वतके नीचे दबकर आत्मपदकी ओर नहीं आता। क्योंकि संसाररूपी विष-वृक्ष जरा-मरण रूपी शाखासे बढ़ा हुआ है और आशा रूपी फाँस से बँधे हुये जीव भटकते हुये चिन्ता-रूपी अग्निमे जलते हैं और क्रोधरूपी सर्पने जीवोंको चबा लिया है, जिस कारण यह अपनी वास्तविकता को भूल गया है।

श्री यागेशिष्ठ भाषा, स्थिति प्रकरण का सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥३७॥

अड़तीसवाँ सर्ग

वशिष्ठ जी कहने लगे,—हेराम जी ! अण्डज, पिएडज स्वेदज और उद्भिज जो चार प्रकार के जीव होते हैं उनमें जो भविष्य में उत्पन्न हो चुके हैं और जो भूतकालमें उत्पन्न होगे तथा अब जो वर्तमान हैं वे सभी परमात्मा से फुर कर संसार की भावना करते हुये उत्पन्न होते हैं। सब अपनी वासना के अनुसार जन्म-मरण के चक्कर में पड कर, बाल युवा और मरणावस्था को प्राप्त होते रहते

हैं। किन्नर, विद्याधर, सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्र, वरुण, कुबेर ब्रह्मा, रुद्र, विष्णु और वैताल तथा सर्प आदिक सब उसी ब्रह्म सत्ता से स्फुरित हुये हैं। उससे फुरकर ही कोई ब्राह्मण, कोई क्षत्रिय और कोई शूद्र कहला रहे हैं। खेद है कि, सर्वश्रेष्ठ नर-तनधारी चक्रवर्ती सम्राट से ले कर-कीट पतंग और स्थावर जंगमरूपी प्राणियों तक जितने भी जीव हैं सब आपदा में पड़े हुये दुःख भोग रहे हैं। सब अपनी वासना से बँधे हुये नीचे ऊँचे गिरते हुये काम, क्रोधादिक दुःख का भोगते हैं। वह कर्म और आशा रूपी फाँसी से बँधे हुये अनेक शरीर को लिये फिरते हैं। आशय यह कि, कभी मनुष्य शरीर और कभी वृक्ष और कभी अल्प से भी अल्प शरीर धारण करते हैं। कारण कि वह आत्मस्वरूप को भूल गये हैं और शरीर सम्बन्धी वासनारूप कर्म करके भ्रम रहे हैं। पर जिनको आत्मा का ज्ञान हो गया है वे पुरुष कल्याणरूप हैं, शेष सब मायारूपी संसार में मोह को प्राप्त हुये हैं। इस इन्द्रजालिक संसार में पड़ कर जीव जब तक अपने स्वरूपका साक्षात् नहीं कर लेता, तब तक संसार भ्रम से मुक्त नहीं होता। किन्तु जिस पुरुषने संसार के पदार्थों से रहित हो कर आत्मा की ओर चल कर आत्मदर्शन किया है वह मुक्ति को पाता है। मुक्ति बड़ी कठिन है। बड़े तप और बड़े ज्ञान से प्राप्त होती है। जीव बारबार पुरुषार्थ करके तब कहीं वैसी वासना से मुक्ति पाता है। कई जन्मों तक पुरुषार्थ करने पर प्राप्त होती है। किन्तु आत्मदर्शन ही मुख्य है। हे रामजी। अनेक सृष्टि है और अनेक जगत हैं। वे जगत बड़े विस्तृत, समानरूप और विलक्षण आकार वाले हैं। यह विचित्र सृष्टि बारबार उत्पन्न और लय होती रहती है। उसमें गर्भव यज्ञ और देवभाव के जीव प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार जीव इस जगत में अपनी अपनी चेष्टा करते हैं, उसी प्रकार उन-उन जगत्तां में चेष्टा करते हैं। किन्तु उनके आकार विलक्षण हैं और वह भी स्वभाव से जन्म मरण के चक्कर में भ्रमते हैं। यह सभी जीव

समय पाकर अपने अपने पद में लय हो जाते हैं । किन्तु इनके उत्पन्न होने, स्थित होने, बन्ध और नष्ट होने का कोई स्वरूप नहीं है, जो है वह मिथ्या है । त्रैलोक्यरूप प्रबल माया के मोह से उत्पन्न होते और समुद्र की तरङ्गों के समान लीन हो जाते हैं ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, स्थिति-प्रकरण का अष्टतीसवाँ सर्ग, समाप्त ॥ ३८ ॥

उनतालीसवाँ सर्ग



वाशिष्ठजीके इस कथनको सुनकर रामजीने प्रश्न किया किया,—हे महामुनीश्वर ! जब जीव आत्मस्वरूपमें स्थित है, तब उसको अस्थिमास युक्त पूर्ण शरीर कैसे मिला । वाशिष्ठजीने उत्तर दिया,—हे रामजी ! इस सम्बन्धमें मैं तुम्हें पहले ही बतला चुका हूँ, पर तुम नहीं समझे । पहले की तुम्हारी बुद्धि कहाँ गई । हे रामजी ! स्थावर जंगमरूपी जगत और उसमें जितने भी शरीरधारी दृष्टिगत होते हैं वे सब स्वप्नवत्, मिथ्या भ्रमसे भासते हुये आभास मात्र हैं । जिस प्रकार भ्रमवश पर्वत घूमते हुये जान पड़ते हैं वैसे ही जगत भी अज्ञानवश जान पड़ता है । किन्तु जिन पुरुषों की आलस्य निद्रा टूट गई है और ज्ञानी हैं वे प्रबुद्धचित्त हैं । क्योंकि उनके निकट संसारके समस्त जीवों को वह सर्वादा सत-स्वरूप देखते हैं । वह जगतके रूपको सदैव अपने भीतर कल्पना करते हैं । ऐसा करना कोई कठिन नहीं । क्योंकि कल्पना शक्ति तो मनके फुरने में ही है । चाहे कोई शरीर हो या न हो परन्तु, मन जहाँ चाहे वही शरीर रच लेता है । मनके फुरने से ही शरीर की रचना होती है । इससे जो कुछ भी जगत है सङ्कल्प मात्र और मृगतुष्णाके जलवत् असत्य है । भ्रमवश जीवको स्वसङ्कुरण द्वारा शरीरादिक भास रहा है । सृष्टिके आदिमें भी शरीरादिक, संकल्पसे उत्पन्न हुये हैं । आदिमें ब्रह्मा भी पद्ममें स्थित हुये और सङ्कल्पसे अपना विस्तार किये । किंतु

वह व्याख्या मायाका जाल था। इसी प्रकार पर जगत भी मायाके जालसे भास रहा है, उसका कोई स्वरूप नहीं है।

इस पर रामजीने वशिष्ठ जी से पूछा कि हे भगवन। आदि में जो जीव ब्रह्मा हुआ उसका आख्यान क्या है, मनके फुरने से वह कैसे ब्रह्मभावको स्थित हुआ कृपाकर मुझ, क्रमपूर्वक बतलाइए। वशिष्ठ जी कहने लगे,—हे रामजी! आत्मसत्ता देश कालादिके परे और स्वतः स्थित है। देश, काल, और क्रियाका रूप उसकी कल्पना शक्ति है, उस शक्तिने अपनी वासनाके अनुसार क्रमशः भिन्न २ नामोंको प्राप्त किया है। जब उस चित्तकलाने चंचलरूप मन होकर दृश्यकला का सामना किया, तब वही चित्तकला मानसी शक्ति होकर आकाशकी भावनाकर बीज रूपी शब्दके सम्मुख हुई। तब उसको पोलरूपी आकाश फुर आया और उसका स्पर्श कर जब वह उसके (आकाश) के सामने हुई तब वायु फुर आया। फिर शब्द, स्पर्श आकाश और वायुका सघर्षण होनेसे जब मन उसमें तन्मय हो गया तब अग्नि उत्पन्न होकर उससे बड़ा प्रकाश हुआ। फिर जब रस तन्मात्रा की भावना की तलव जलका स्फुरण हुआ। जलके फुरने पर गन्ध तन्मात्रा की भावना की तब उससे घ्राण इन्द्रिय निकली। फिर तो स्थूल की भावना से जल चक्र पृथ्वी होकर स्थित हुये। तब आकाशमें फिर बड़ा प्रकाश हुआ और अहकारकी कलना से बुद्धिरूपी बीज सकुचित रूप हो अष्टम जीव सत्ता हुई। जीवसत्ता का नाम ही पुर्यष्ट हुआ और वही शरीर रूपी कमलका भ्रमर हुआ। तब उस आत्मसत्तामें भावना की तीव्रतासे चित्तसत्ता ने बड़ा स्थूल शरीर देखा। फिर इसने नीचे, ऊपर, मध्य और चारों ओरको देखकर शिर, उदर, पाँव और हाथ को देखा और यह भी देखा कि उदर में धर्म है। इस प्रकार वासना और कल्पित मनसे ब्रह्माने शरीर उत्पन्न कर लिया। इससे प्रकाश ही ब्रह्माका शरीर है और वह ज्ञान-स्वरूप ऐश्वर्य शक्ति, तेज और उदारता से सर्वदा परिपूर्ण है। अतः उस

ब्रह्मा ने परमाकाश से उत्पन्न होकर सब जीवों का अधिपति बना हुआ अपना चरित्र करने के लिये अपने निवासका गृह रच लिया। वह ब्रह्मा कभी परमाकाश में; कभी कल्पके महातेजस्वी अग्नि में और कभी विष्णुभगवान् के नाभि-कमल में वास करता है। यही नहीं, वह अपना चरित्र करनेके लिए अनेक आसनों को रचकर यत्र तत्र निवास करते हैं। इस प्रकार जब परमतत्व से फुरकर ब्रह्माजी ने शरीरके प्रत्येक अवयवों को देखा तब विचार किया कि, इसके पहले क्या हुआ और अब हमारा क्या कर्तव्य है। तब उन्हे पता चला कि ऐसे तो हमारे अनेक सर्ग व्यतीत हो चुके हैं। उन्होंने सब धर्मों का स्मरणकर जैसे योगेश्वर अपना और अन्य का अनुभव करता है ब्रह्माजी ने भी वेद का स्मरण किया और समस्त सृष्टि की उत्पत्ति परिणाम, क्षीण और नष्टता को अपनी स्मरण-शक्ति से देखा। अर्थात् अपने दिव्य नेत्रों से अनुभव किया। तब उन्हे विचित्र रूप प्रजाको उत्पन्न करने की इच्छा हुई। इच्छा होते ही, जैसे गन्धर्व नगर तत्काल ही तैयार हो जाता है, वैसे ही सृष्टि उत्पन्न हो गई। तब उन्होंने उस सृष्टि के साधन के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पदार्थों की रचना की और विधि, निषेध-रचकर कर्ताका कर्तव्य के अनुसार उसके शुभाशुभ फलकी विचित्रताकी रचना करदी। फिर तीनकाल, क्रिया, कर्म और कर्म की नीतिको रची। वह नीति जैसे रची गई, वैसे ही स्थित है। अस्तु, जिस प्रकार वसन्त ऋतु मे पुष्प उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार ब्रह्मा के मन से सृष्टि उत्पन्न हुई। इस विचित्ररूपी रचना का विलास-चित्ररूपी ब्रह्मा के चित्त मे ही कल्पित हुई और काल मे उत्पन्न हुई, इससे वह काल ही में स्थित भी है। न तो उसके उत्पन्न होने का कोई स्वरूप है और न नष्ट होने का ही। स्वप्न सृष्टिके समान ही इस संसारकी रचना हुई है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, स्थितिप्रकरण का उन्तालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३९ ॥



चालीसवाँ सर्ग

यथार्थ-उपदेश

वशिष्ठजी ने कहा,—हेराम जी । इस प्रकार जगत के फुरने का कारण मन है और शरीरादि भी मन से ही फुरा है । किन्तु वास्तव में यह कुछ हे नहीं । देश, काल, क्रिया सहित यह जो बृहद् ब्रह्माण्ड दृष्टिगोचर हो रहा है वह स्वप्नपुर के समान और संकल्पमात्र विना आधार और विना चित्र के है । यह जगत मिथ्या, असत्य और तमरूप है । इसमें घट, पट गढ़ा आदि का जो क्रम, है वह सब भी असत्यरूप ही है । केवल अपने ब्राम करने के लिये ही मन ने इस शरीर को रचा है । इसने स्वयं ही शरीर को रचा है और स्वयं ही दुःखी होता है । किन्तु यह बड़ा शक्तिशाली है । ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो इसके सकल्प और यत्न से सिद्ध न हो । क्योंकि यह सर्व-शक्तिमान मन उस परमात्मा की ही सर्व-शक्ति है जो देव कहा जाता है । अतः मन जो कुछ भी चाहता है, बन जाता है अर्थात् वेसाही सिद्ध हो जाता है । कारण कि समस्त पदार्थोंमें परमात्मा की ही सत्ता है । अस्तु, उससे सब कुछ सम्भव है । देवता, दैत्य, मनुष्य और स्यावर जंगमरूपी यह जो कुछ जगत है, सब संकल्प से स्थित है और जब तक संकल्प है तब तक ऐसे ही स्थित रहेगा । जब संकल्प मिट जायगा, तब सृष्टि भी मिट जायगी । जिस प्रकार दीपक में तेल न रहने से दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार जगत भी हो जायेगा, कारण कि स्वप्नवत है । यों तो अज्ञानसे सभी विकारयुक्त भासते हैं किन्तु परमार्थ कुछ नहीं है । सो परमार्थ से तो नष्टता और बुद्धि भी कुछ नहीं है । आत्मा को लाभ और हानि कैसा ? हेराम जी । अज्ञानियो की भाँति विमोहित मत होवो । यह जगत मृगतृष्णा के जलवत मिथ्या और भ्रम-मात्र है । इसको तुम इन्द्रजालि के समान ही समझो । यह शरीर पिंजर असत्य होते हुये भी मन ने अपनी मनन

शक्ति से इसको सत्य कर रक्खा है। ब्रह्मसत्ता से रचित जगत मे द्रैत कहाँ ? यह तो जैसा का तैसा ही स्थित है। इस नाना प्रकार की प्रपञ्च-रचना मे कोई तत्व नहीं, यह महातुच्छ है इससे तुम सुखी होने के लिए इसकी तृष्णा को त्यागदो। क्योंकि यह दीर्घ-काल का स्वप्ना है। विचार करके ग्रहण किया जाय तो इससे कुछ हाथ नही लगने का। इससे इसका त्याग करना ही उचित है। एकवार जो इस जगत की असत्यता को जान लेता है, वह फिर इसकी भावना नहीं कर सकता। क्योंकि ज्ञानी को जगतके पदार्थों मे राग नही रहता। राग मे तो अज्ञानी ही बँधता है। स्वप्न की असत्य स्त्री के समान अज्ञानी इस जगत को सत्यजान कर चेष्टा करता है, ज्ञानी नही। जल के चञ्चल प्रतिबिम्ब को तो बालक ही पकड़ना चाहता है, किन्तु बुद्धिमान नहीं। इसी प्रकार जो ज्ञानी है वे अज्ञानियों की भाँति जगत के पदार्थों की इच्छा नही करते। हेरामजी। मेरा यह उपदेश परम गुणकारी है। यदि तुम इसकी भावना करोगे तो परमसुख को प्राप्त होगे। किन्तु जो मूर्ख इन वचनों का त्याग कर दृश्य-सुखमें लगेंगे वे ऐसे ही दुःखी होंगे, जैसे सर्दी का लगा हुआ प्रत्यक्ष अग्नि का त्याग कर जल मे अग्नि का प्रतिबिम्ब देखकर उसका आश्रय करे। भला आत्मविचार का परित्याग कर जगतके पदार्थों के सुखकी इच्छा करने वाला भी कभी बुद्धिमान कहा जायगा? वह तो महा मूढ है। क्योंकि जगत तो असत्यरूप और मनकी मननशक्ति का रचा हुआ है। किन्तु आत्मा सत्य और अजर अमर है, इसका नाश कभी नहीं होता। कारण कि यह घटने बढ़ने से पृथक है। उत्पत्ति और लयमें भी यह एक समान ही रहता है। पर जगत और उसके पदार्थ ऐसे नहीं हैं। आत्माको हर्ष, शोक भी कुछ नहीं होता। क्योंकि समस्त जगत ब्रह्मरूप है, इसमे दुःख और सुख कहाँ। अतएव ज्ञानी को इस असत् रूप संसार मे ग्रहण करने योग्य कोई वस्तु नही है

कुछ ब्रह्मतत्व ही जानता है।

फिर भी जगत चाहे सत्य हो या असत्य, ज्ञानी के लिये तो सुख, दुःख तो है ही नहीं। हाँ, बालबुद्धि और मोहसे घिरे रहने वाले, जगतके पदार्थों की इच्छा करते हैं, पर ज्ञानी नहीं करते। जगतके पदार्थों से प्रयोजन सिद्ध करने वाले अज्ञानियों को सुख अवश्य मिलता है, पर दुःख भी महान मिलता है, इससे तुम बालबुद्धि मत बनो। जगतको असत्य जान कर इसका भरोसा छोड़ सत्य आत्मा में स्थित होवो। इस भाँति यदि तुम जगत को मिथ्या जानेगे तो तुम्हें दुःख कदापि न होगा। वाल्मीकि जीने कहा कि जब वशिष्ठ जीने रामजी से ऐसा कह-तब सूर्य अस्त हो गये और समस्त श्रोता मण्डली अपने-अपने स्थान पर चली गयी। फिर दूसरे दिन सूर्य के उदय होने पर सब लोग अपने आसनों पर आ विराजे।

श्री, योगवाशिष्ठ-भाषा, स्थिति-प्रकरण का चालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४० ॥

इकतालीसवाँ सर्ग

यथार्थ भूतार्थ-बोध वर्णन

वशिष्ठ जी बोले हे राम जी। स्त्री पुत्र और धन आदिक जो ससारके भोग पदार्थ हैं, सब माया अविद्या से रचे हुये हैं, इसमें हर्ष और शोक नहीं करना चाहिए। यह इन्द्रजाल की बाजीके समान ही अरण्य में दिखलाई पड़ते हैं और क्षण में नष्ट हो जाते हैं, फिर इनके लिये शोक कैसा ? यदि पुत्र और धन आदि बढ़ें तो हर्ष नहीं करना चाहिए। क्योंकि मृगतृष्णाका जल यदि बढ़ भी जाये तो उससे क्या अर्थ सिद्ध होगा। धन और स्त्री आदिक का बढ़ना तो दुःखप्रद ही है। पर खेद है कि मूर्ख ऐसे भोगों को देख कर प्रसन्न होते हैं और अधिक से अधिक की इच्छा करते जाते हैं। किन्तु बुद्धिमान जन देखकर वैराग्य करते जाते हैं। उनका ऐसा करना उचित ही है। क्योंकि उन्होंने आत्माका स्वचात्कार कर लिया है। जिसका आत्मा का समाधान नहीं हुआ है उसको

भोग पदार्थ नाशवान् नहीं प्रतीत होते । वे उस दुःख रूप को सुख रूप ही समझते हैं; किन्तु ज्ञानी नहीं । इसलिये हे रामजी तुम ज्ञानियों के समान आचरण करो । प्राप्ति और नष्टता में हर्ष, शोक न करो । शास्त्रानुसार हर्ष शोक से रहित होकर उसका भोग करो, जो न मिले उसके लिये तनिक भी चिन्ता न करो । पण्डितों का यही लक्षण है । अन्यथा संसार तो दुःखरूप योग के लिये ही काल्प है । मुख इस अज्ञानसे चित्त ससार आडम्बर को आडम्बर न समझ कर दुःख पाते हैं और पदार्थों की इच्छा में बँधकर उसीमें डूब जाते हैं । किन्तु बुद्धिमान जगत और उसके पदार्थों को असत्य जान कर उममें प्रीति नहीं करते । इससे वह बन्धायमान भी नहीं होते । अविद्यारूप पदार्थ उनको पश्चात्ताप नहीं पहुँचाते । क्योंकि उनकी बुद्धि निश्चयात्मक हो गई है और वे जानते हैं कि, मैं ही सब कुछ हूँ । इससे वे किसी पदार्थ की इच्छा नहीं करते । हे रामजी ! तुम भी वैसाही बनो । जगतके दृश्य अदृश्य पदार्थों के ग्रहण की इच्छा मत करो । इनकी आस्था त्यागकर अत्यन्त निर्मल आत्मा में स्थित हो राग-द्वेष से रहित हो सब कार्य करो । जगत के पदार्थों में इच्छा अनिच्छा न रख कर जो पुरुष निजकर्म में स्वाभाविक स्थित है उसे कर्म ऐसे ही स्पर्श नहीं करते जैसे कमल पत्र को जल स्पर्श नहीं कर सकता । इन्द्रियों से देखना, सुनना आदिक व्यवहार करो या न करो अभिमान से रहित बिना इच्छाके आत्मतत्त्व-में होवो । अहंकार ही इन्द्रियों का सार है । यदि हृदयमें इसका स्फुरण न होवे तो तुम योग्यपद को अवश्य प्राप्त होवोगे और ससार सागर को पार कर जावोगे । तब तुम चाहे मुक्ति की इच्छा करो अथवा न करो, मुक्तिरूप ही रहोगे । हे राम जी ! उस समय जब तुम आत्मपद में स्थित हो जावोगे, तब तुम्हारा ऐसा परमयश फैलेगा कि जैसे पुष्प से सुगन्धि फैलती है । यह संसार वासना रूपी जल है और आत्माको जानने वाली बुद्धि रूपी इसमें

नौका पड़ी है। जो इस नौकापर चढ़ते हैं, वह अवस्था पार हो जाते हैं और जो नहीं चढ़ते, वह डूब जाते हैं। हे राम जी! लुप्र वाण के समान मेरा यह तीक्ष्ण उपदेश अविद्या को काट देने वाला है। तुम इसको विचार कर आत्मत्व में स्थित होवो। जिस प्रकार तत्ववेत्ता और जीवनमुक्त अपना नित्य का आचार करके तृप्त रहते हैं उसी प्रकारसे अज्ञीकार कर तुम भी विचारो और व्यर्थ के लिये योग में दीन बन मूर्खों के समान आचार मत करना। परमात्मवेत्ता पुरुष ग्रहण त्याग की वाञ्छा नहीं करते। जो प्रारब्ध से प्राप्त होता है, उसीमें सन्तुष्ट रहते हैं और किसी से राग-द्वेष नहीं करते। चाहे कितना ही ऐश्वर्य, कितना ही गुण और कितनी ही लक्ष्मी और कितनी ही बड़ी से बड़ी विभूतियाँ उन्हें क्यों न प्राप्त हो जावे पर वे अज्ञानी के समान अभिमान नहीं करते। चाहे उन्हें कितना ही शून्य बन मिल जाये, चाहे देव कानन ही विद्यमान हो पर वे किसी में हर्ष शोक नहीं करते। इच्छा और त्याग उन्हें कुछ नहीं है। जो कुछ प्राप्त हो जाता है राग-द्वेष रहित हो वे उसीमें विचरण करते हैं। इससे तुम भी विवेक प्राप्त कर ज्ञान-बल में स्थित हो किसी वस्तु की ओर मत देखो। विना वैर, विना मन, दृष्टि रहित समभाव में स्थित हो सांसारिक इच्छाओं को त्याग कर यथा व्यवहार, परमशान्तरूप हो उत्तम भाव से पृथ्वी पर विचरण करो।

वाल्मीकि जी ने कहा कि जब वशिष्ठ जी ने ऐसी निर्मल वाणी रामजी को सुनाया तब रामजी का निर्मल चित्त अमृत से शीतल हो परिपूर्ण हो गया और रामजी परमशान्त हो गये।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, स्थिति प्रकरण का एकतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४१ ॥

बयालीसवाँ सर्ग ।

जगत निर्णय ।

इतनी कथा सुनकर रामजी ने वशिष्ठ जी से कहा,—हे सर्व

शास्त्र वेत्ता । आप ने ब्रह्मा जी का जो अख्यान कहा है और उसके साथ ही जो राजस तामस जगत सम्बन्धी अमृतमय वचन कहे हैं उनको सुनकर मेरा हृदय गद्गद हो गया । हे मुनीश्वर ! ब्रह्मा जी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में शास्त्रों ने कहा है कि वे कभी कमल से और कभी आकाश से और कभी अंड से उत्पन्न होते हैं, सो यह कैसे ? आप मेरे संशयों के नाश करने वाले हैं; कृपा कर इस संशय को भी दूर कीजिए ।

वशिष्ठ जी कहने लगे,—हे रामजी ! ब्रह्मा कुछ एक ही नहीं हुये हैं । कई लाख ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र अनेक ब्रह्माण्डोंमें अपने व्यवहार सहित विद्यमान हैं । सब में कुछ न कुछ पृथक पृथक विशेषतायें भी हैं । तुमने तो एक ब्रह्मा की उत्पत्ति पूछी है । सो वह भी कई प्रकार के होते हैं । यह न जानो कि सदैव ब्रह्मा से ही सृष्टि उत्पन्न होती है, बल्कि कभी शिवजी से, कभी विष्णु जी से, कभी ब्रह्मा जी से और कभी मुनीश्वरों से भी सृष्टि की उत्पत्ति होती है । उस सृष्टि में कभी पर्वत, मनुष्य और कभी वृक्षादि ही उत्पन्न होते हैं । अथवा कभी सृष्टि मांसमय और सुवर्ण मय भी होती है । किसी में अधिक से अधिक लोक और किसी सृष्टि में ब्रह्मा भी नहीं होते । ऐसी अनेक सृष्टियाँ चिदाकाश ब्रह्मसत्ता से स्वतः फुरतीं और नष्ट होती हैं । समुद्र की लहरों के समान आत्मा में अनेक सृष्टियाँ उत्पन्न होकर नष्ट होती रहती हैं । उनकी संख्या कही नहीं जा सकती । उस सृष्टि की संख्या कोई कर भी ले किन्तु ब्रह्मतत्व की सृष्टि संख्या करना असम्भव है । सृष्टि का वह समय जिसमें सृष्टि उत्पन्न होती है, कोई नहीं जान सकता । क्योंकि आत्मसत्ता में तो प्रतिक्षण सृष्टि उत्पन्न और नष्ट होती ही रहती है । देव दानव मनुष्य कितने उत्पन्न हुये, कोई नहीं बतला सकता । किन्तु ब्रह्मा से रचे हुये ऐसे अनेक ब्रह्माण्ड हो गये हैं और भविष्य में बहुत होंगे भी । इससे सृष्टिका अन्त नहीं । कारण कि ब्रह्मचिदाकाश है ।

अतएव यह त्रयलोकी जगत बार-बार उत्पन्न होकर नष्ट होजावेगा । स्वरूप के प्रमाद वश यह विकार-जगत विस्तृत भास रहा है, अन्यथा आत्मा का लक्ष्य होने पर इसका उत्पन्न और नष्ट होना कुछ न भासेगा । क्योंकि ब्रह्मा और जगत में कुछ अन्तर नहीं है । यह चराचर संसार जो अनेक चेष्टा करता हुआ आत्मा में फुरा करता है वह आत्मा से कुछ भिन्न नहीं है, आत्मस्वरूप ही है । हे रामजी ! ऊपर मैंने चतुर्दश सृष्टि का नाम लिया है । वह सृष्टि कहीं छोटी और कहीं बड़े विस्तार वाली है, किन्तु वह भी परमाकाश से उत्पन्न हुई है और उसी का रूप है । उस ब्रह्म सत्ता से पहले कभी आकाश उत्पन्न होता है, तब उससे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं और उनका नाम आकाशज ब्रह्मा कहा जाता है । इसी प्रकार कभी पहले वायु उत्पन्न होकर उससे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं तो वह वायु ब्रह्म और जब ब्रह्मसत्ता से पहले जल उत्पन्न होता है तब उससे यदि ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है तो वह ब्रह्मा से सम्बोधित होते हैं । यदि पृथ्वी उत्पन्न हो तो उससे उत्पन्न हुये ब्रह्मा पार्थिव ब्रह्मा और अग्नि से अग्नि ब्रह्मा नाम पडता है । भौतिक ब्रह्मा के उत्पन्न होनेका यही नाम है । इसी भाँति जब चारो तत्व पूर्ण होकर पाँचवाँ तत्व बढ़ता है तब प्रजापति उत्पन्न होकर स्वयम् जगत को रच लेता है और उसका नाम स्वयम्भू होता है । अथवा ब्रह्मसत्ता से स्वम् ही जगत फुर आता है । किन्तु वास्तव में यह जगत ब्रमरूप स्वप्न के समान मिथ्या है । समुद्र की तरंगोंके समान ही आत्मा में जगत फुरता है, अन्य कुछ नहीं । जब शुद्धसत्ताकी आत्मा सवेदनरूप होकर फुरती है तब वही जगत हो जाता है । पर वह बालकके मनोराजकी सृष्टिके समान ही है, उसकी कोई वास्तविकता नहीं है । कभी चिदाकाश में मनकी कलाका स्फुरण होता है तब उससे सुवर्ण का अण्डा उत्पन्न होता है और उस अण्डेसे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं, कभी आदि पुरुष विष्णुही जल में वीर्य डाल कर पद्म उत्पन्न करते हैं और उससे ब्रह्मा

उत्पन्न होते हैं। इस भाँति यह रचना-वैचित्र्य ब्रह्मपद से उत्पन्न और लय होती है। किन्तु यह सब कुछ मन का स्फुरण मात्र है। तुम्हें समझाने के लिये मैंने अनेक प्रकारसे सृष्टि की उत्पत्ति को क्रम पूर्वक वर्णन किया है। पर इसका चारंबार उत्पन्न हाकर लय होना केवल मनोमात्र है। दुःख, सुख, ज्ञान, अज्ञान बन्ध और मोक्ष भी क्या हैं, केवल उत्पन्न होकर नष्ट होना ही इसके काल की महत्ता है। इसमें, कोई अधिक दिन रहता है और किसीका शीघ्रही पतन हो जाता है। पर सभी विनाश रूप हैं। ब्रह्मा से लेकर कीट पतङ्ग तक जितने जीवधारी हैं, कालका भेद त्यागकर देखो तो ज्ञात होगा कि सभी नाशवान हैं। सतयुग, द्वापर, त्रेता और कलियुग भी बारबार उत्पन्न होते जाते हैं। कालचक्र सदैव घूमता रहता है। एक प्रभात-काल जाता है तो दूसरा प्रभात आता है। अन्धकार से प्रकाश होना ही जगत की गति है। ऐसे ही ब्रह्मतत्त्व से फुरकर पुनः उसी में लीन हो जाता है। जिस प्रकार लाल लोहे की चिनगारियाँ निकलती हैं और उसीमें लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार समस्त भावचिदाकाश से उत्पन्न होकर फिर उसीमें लीन हो जाते हैं। हाँ, कभी अप्रकट रूप में होता है कभी प्रकटरूपमें। इसी प्रकार सर्वशक्तिमान् आत्मा में जगत उत्पन्न होकर फिर उसीमें स्थित हो जाता है। किन्तु यह सब जगत असत्यरूप है। इसका आदि आरम्भ कुछ नहीं और स्वरूपमें भी कुछ नहीं, केवल मनके फुरनेसे ही भासता है। जिस पुरुष को इसकी असत्यता का निश्चय है, वह फिर कभी संसार बन्धनमें नहीं आता है, अपने स्वरूप मिलन में ही लगा रहता है। ऐसा ब्रह्मज्ञानी सब कुछ ब्रह्मस्वरूप ही देखता है। यह ऐसा ही निश्चय है कि, संसार संसार नहीं बल्कि सर्वदा ब्रह्मतत्त्व ही विद्यमान है, इसीसे वह बार-बार उत्पन्न होकर नष्ट होता है। क्योंकि वह जगत को असत्य नहीं जानता, वह जानता है कि यह सर्वदा स्थित रहेगा, इससे नष्ट होता है। पर हे रामजी ! जगतके समस्त

पदार्थ नाशवान्-हैं किंतु इसमें ऐसे दृश्य लगे हुये हैं कि देखने में मिथ्या नहीं भासता। पर समस्त पदार्थों सहित यह जगत महाप्रलय आने पर नष्ट हो जाता है और फिर उत्पन्न होता है तब जन्म, मरण, सुख, दुख, दिशा, आकाश, मेघ, पृथ्वी और पर्वत फिर उत्पन्न हो जाते हैं। सूर्योदय और अस्त के समान यह सृष्टि उत्पन्न और नष्ट होती रहती है। देव, दानव, लोक, लोकान्तर, स्वर्ग, मोक्ष, इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य, नारायण, पर्वत, वरुण और अग्नि आदिक लोकपाल बारबार होते हैं। शुभ-कर्म करने वाले स्वर्ग में वास करते हैं और पुण्य जीण वाले मृत्यु लोक में गिरा दिये जाते हैं। जैसे कुम्हार के चक्र से वासन बनता है वैसे ही चित्तकला की स्फुरण शक्ति से जगत के अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। और फिर नष्ट हो जाते हैं। नष्ट होने पर जगत का सारा आडम्बर जीव से रहित शून्य स्मशान सा हो जाता है, तब बड़े बड़े पर्वत के समान शरीर वाले मेघ जल बरसाते हैं और उसमें जीव बुद-बुद के रूप में होकर स्थित होते हैं। तब वारहों सूर्य और अग्नि उदय होते हैं। और शेषनागके मुख से अग्नि निकल कर सब जगत को दग्ध कर देती है। जब जगत दग्ध हो जाता है तब अग्नि शान्त हो जाती है और रात्रि होकर केवल एक शून्य आकाश ही शेष रहता है। उस रात्रिका जब भोग समाप्त हो जाता है तब जीव अपनी जीण शरीर से मनरूप ब्रह्मा रच लेता है। अथवा यों कहिए कि तब उस शून्य आकाशमें मन जगत को रच लेता है। इस प्रकार बार-बार यह जगत उत्पन्न और नष्ट होता रहा है। ऐसे अनेक जगत महाप्रलय होकर बीत गये हैं, तब उसमें मैं तुमसे सत्य, असत्य क्या कहूँ। सब दासूर की कथा के समान ही शान्तिस्वरूप है। केवल मूर्खों को यह सत्य भासता है। किन्तु तुम मूर्ख न होना, ज्ञानियोंके समान विचारकर जगत को मिथ्या ही समझना।

तैत्तलिसवाँ सर्गः ।

दासूरीपाख्यान वर्णन

वशिष्ठजी बोले,—हेरामजी । जिसने अपने चित्त को भोग और ऐश्वर्योंकी ओर लगा रक्खा है और जो हर प्रकार की राजस, तामस और सात्विक क्रियाओंको आरंभ करता रहता है, किन्तु फिर भी उस मृदात्माको शान्ति नहीं प्राप्त होती है और आत्माका साक्षात्कार होने ही पर प्राप्त होती है और आत्माका साक्षात्कार तब होता है जब भोगोंकी तृष्णासे रहित होवे । जिन विद्वान् पुरुषोंने अहंकाररूपी मलिनता को त्याग दिया है, उनका शरीर ही जगतरूप है । क्योंकि वह तो मिथ्या अहंकारवाली शरीरको त्याग दिये हैं, उनका शरीर ही जगतरूप है । क्योंकि वह तो मिथ्या अहंकारवाली शरीर को त्याग विचार से आत्म शरीरको प्राप्त किये हैं । ऐसे आत्मदर्शी पुरुष जगत के सब पदार्थोंमें आसक्त होते हुए भी जन्म-मरणके चक्करमें नहीं पड़ते । क्योंकि उनकी वासनार्ये जल भुन गई हैं, पर अज्ञानी तो भोगोंमें आसक्त हैं । इससे वे मन और शरीरके दुःखसे दुःखी हो बार-बार जन्म मरणके चक्करमें पड़ते हैं । इससे तुम अज्ञानी मत बनना । व्यवहार में भले ही अज्ञानियोंके समान भोग आदि की चेष्टा करो पर अंदर से उसकी ओर चित्त न लगाओ । सर्वदा आत्म-परायणता रखो ।

इतनी कथा सुनकर रामजीने वशिष्ठजीसे कहा,—हे भगवन् । उधर आपने दासूर के आख्यान का नाम लिया था, सो दासूर आख्यान क्या है, कृपाकर बतलाइये । वशिष्ठजीने कहा,—हे रामजी । मगध देशमें दासूर नामका एक परम तपस्वी, धर्मात्मा पुरुष रहता था । वह विषयोंसे मुख मोड़ करके वृक्ष पर बैठकर घोर तपस्या करता था । उसके पिता का नाम शरलोमा ऋषि था । वह ब्रह्माके समान ही प्रतापशाली बनकर पर्वत पर निवास करता था । पिता पुत्र दोनों ही बड़े तपस्वी थे । उनमें शरलोमा तो उच्च कोटिका योगी था जो

कुछकाल पश्चात् पुत्र दासूरको अकेले छोड़कर आत्मचिंतन करते २ आकाश को उड़ गये । तब दासूर अकेला हो जाने और पिताके वियोग से महाविलाप करने लगा । उसके करुण-रुदन से वनके जीव जन्तु दुःखी हो गये । तब उस वनकी देवीने यह आकाशवाणी किया कि, हे ऋषि पुत्र । तू बुद्धिमान होकर अज्ञानी के समान क्यों रो रहा है ? देखता नहीं कि, यह समस्त संसार मिथ्या नाशरूप और महा क्षणभंगुर है । क्षण-क्षणमें उपन्न होता और नष्ट होता रहता है । इसका कोई पदार्थ स्थिर नहीं रहनेका । ब्रह्मासे लेकर कीटपतंग तक जगत में जो कुछ तू देख रहा है, सब नश्वर है । इसलिये तू पिताके कारण रुदन क्यों करता है ? यह निश्चय है कि, जो उत्पन्न हुआ है, वह अवश्य नष्ट होगा ।

हे रामजी ! देवी की ऐसी आकाशवाणी को सुनकर महा दुःखी दासूर को बड़ी शान्ति मिली और वह चुप होकर शास्त्र विधि से पिता की क्रिया आदि करने में लगा । उससे छुटकारा पा वह सिद्धता प्राप्त करने के लिये उद्योग में तत्पर हुआ । तब ब्राह्मणोचित कर्मोंको (तप, विद्या) सीख उसका अध्ययन कर श्रोत्रिय हुआ । किन्तु हृदयसे अज्ञानी ही बना रहा, ज्ञानी नहीं हुआ । तब केवल श्रोत्रिय होने ही से उसने तप करने का विचार किया और सुन्दर स्थान खोजने लगा । पर समस्त भू मण्डलमें खोजने पर भी उसे कहीं पवित्र भूमि न मिली । तब सर्वत्र अशुद्ध जान कर उसने विचार किया कि वृक्षकी शाखा पर बैठ कर तपकरूँ । फिर शाखा भी उसे अपवित्र ही प्रतीत हुई और उसने शाखाके अग्रभागमें बैठनेका विचार किया । तब यह विचार कैसे ठीक हो-वह अग्नि जलाकर अपने मुख का मास काट कर आहुति देने लगा । तब ब्राह्मणका मुख मेरे मुखमें न गिरे अग्निदेवने ब्राह्मण का वेश धारण कर उसके निकट पहुच कर कहा,—हे कुमार । तेरी क्या वांछा है, वर माँग, मैं तुझे सब कुछ देने का प्रस्तुत हूँ । दासूरने अग्नि देवका विधिपूर्वक पूजन कर कहा,—भगवान् । प्राण आहुति के लिये मैंने सूक्ष्मशरीर,

से तप करने का निश्चय किया है, सो मैं चाहता हूँ कि इस वृक्षकी शिखाके अग्रभागमें बैठनेकी मुझमें शक्ति आ जावे। जिस प्रकार वहाँ बैठकर मैं तप कर सकूँ, वही वर मुझे दीजिए। तब एवमस्तु कह कर अग्निदेव अन्तर्ध्यान हो गये। वर पाकर ब्राह्मण पुत्रको बड़ी प्रमत्तता हुई। अब वह (दासूर) उस महासुन्दर विशाल और अद्भुत वृक्ष पर चढ़नेकी इच्छा करने लगा। इच्छा करतेही उसने अपनी भावना के अनुसार नानाप्रकार की सुविधाओं युक्त एक त्रिलोकां रूपी पुतली रचली।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, स्थिति-प्रकरण का तैत्तिलीसर्ग समाप्त ॥ ४३ ॥

चौवालीसवाँ सर्ग ।

दासूर-पुत्र-परिचय

वशिष्ठजीने कहा,—हे रामजी ! अब वह दासूर उस पुतली पर बैठकर तप करने लगा और उसका नाम कदंब दासूर पडा। तब उसने पद्मासन लगाकर मनको एकाग्र किया और एक क्षण दिशाको देखकर वहाँसे मनकी वृत्तियों को खींचकर मनकी ओर लगा दिया। तब उस कर्मसे जिस वृक्षको पत्र आकाशको लगता, वह उस पत्र परस्थित हो मनसे मानसिक पूजन सामग्रियों द्वारा यथा शास्त्र मन-यज्ञ करने लगा। तब निरन्तर दशवर्ष तक मनमें स्थित रहा, सब देवताओं का पूजन कर उसने मेघ, अश्वमेघ, नरमेधादिक यज्ञ कर ब्राह्मणों को बहुत दक्षिणा दी। तब बहुत दिनके बाद इतना करलेने पर उसका अतःकरण शुद्ध हुआ और विस्तीर्ण निर्मल चित्तमें स्थित हुआ। फिर तो बलात्कार से उसके हृदय में ज्ञान प्रकाशित हुआ और वासना का मलिन आवरण जो आत्मा पर लगा था, नष्ट हुआ। तब अज्ञान के नष्ट होने पर तपस्वी दासूर ने देखा कि एक महासुन्दरी, दिव्य अंगा, विशालनेत्र और मनको हरनेवाली वन-देवी सामने खड़ी है। उसने

ने नम्रता पूर्वक कहा, हे

मुनेत्री । आप कौन हैं और यहाँ पुष्पोंके मध्यमे कैसे आ विराजी है ? वनदेवी ने कहा,—हे मुने । भू मण्डलके जो पदार्थ अत्यंत कण्ट उठाने पर मिलते हैं, वह महापुरुष को बड़ी सुगमता से ही प्राप्त होते हैं । मैं इस वनकी देवी हूँ, यत्र तत्र अपनी लीला कर रही हूँ । आपके निकट इस लिये आई हूँ कि, विगत चैत्र शुद्ध त्रयोदशीके दिन इन्द्रके नदन वनमें एक उत्सव हुआ था जिसमें सब वन देवियाँ एकत्रित हुई थी और वे सभी वहाँसे त्रिलोकी में आईं । यहाँ आकर सबने पुष्प क्रीडा किया और सबको पुत्र उत्पन्न हुआ, किन्तु मैं एक ऐसी हूँ कि निःपुत्री ही रह गई । इससे मैं बहुत दुःखी हूँ, और उस दुःखको दूर करनेके लिये ही आपके पास आई हूँ । आप सिद्ध पुरुष हैं और बड़े वृक्षपर स्थित हैं, मैं पुत्रकी इच्छा करके आपके पास आई हूँ, कृपाकर मेरी इच्छा पूर्ण कीजिए और मुझे पुत्र दीजिए । यदि मुझे पुत्र न दीजिएगा तो मैं अग्नि जलाकर भस्म हो जाऊँगी और पुत्रके दाह-दुःख को शान्त करूँगी । देवी की ऐसी बात सुनकर दासूर मुनिने उसके हाथमें एक पुष्प देकर कहा,—हे सुन्दरि । अब तू जा । एक मास पश्चात् तुझे परम सुन्दर पुत्र उत्पन्न होगा । पर ऐसा होने पर तूने जो आगमें जल जानेका निश्चय किया था उसके कारण पुत्र अज्ञानी होगा । किन्तु यदि यत्न करेगा तो उसे ज्ञान भी होजायगा । ऐसा वर पाकर वन-देवी बहुत प्रसन्न हुई, किन्तु उसने अपने स्थान पर जाँना अर्च्छा न समझ कर कहा, महाराज । अब तो मैं आपकी ही सेवा में रहना चाहती हूँ । कृपाकर मुझे अपनाइए । मुनिने कहा, ऐसा नहीं होसकता । तब लाचार हो वनदेवी अपने स्थानको चली गई और समय पर उसको पुत्र उत्पन्न हुआ । जब उसका दर्श वर्ष व्यतीत हुआ तब वह उसे मुनिजीके पास लेकर पहुँची । निकट पहुँच कर दोनोंने मुनिजी को प्रणाम किया । प्रणाम कर पुत्रकी मुनिके आगे खड़ा कर बोली,—हे भगवन ! आपके आशीर्वाद से यह मेरे पुत्र उत्पन्न हुआ है । मैंने

इसको सब विद्यायें पढ़ा दी हैं। किन्तु अब आप इसको ज्ञान का उपदेश कीजिए। दासूर मुनिने कहा, अच्छा तुम इसे यहाँ छोड़ जावो। देवी उसे छोड़ कर चली गई। तब मुनिके पास रह कर उस पुत्रने बड़ा ज्ञान प्राप्त किया।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा; स्थिति प्रकरण का चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४४ ॥

पैंतालीसवाँ सर्ग

दासूर-सुत-बोध-वर्णन

हे रामजी। उस समय मैं कैलाशनन्दिनी गंगा जी के तट को प्रमाण करता जाता था कि, अदृश्य शरीर सहित आकाश मार्ग में सत्पद्मपियो के मण्डल को जाते हुये देखा। वहाँ मुझे दिखाई पड़ा कि जिस वृक्ष पर दासूरमुनि बैठे हैं वहाँ से कुछ शब्द हो रहा है। मैं धीरे धीरे उस वृक्षके निकट चला गया। वहाँ मैंने क्या सुना कि मुनि कहते हैं कि, हे पुत्र! वस्तु निरूपण के लिये मैं तुम्हें एक आश्चर्यजनक आख्यान सुनाता हूँ, तू ध्यान देकर सुन। त्रिलोकीमें खोत्य नाम को एक बड़ा प्रतापशाली राजा है जो लक्ष्मीवान जगत की रचना करता है। संसार में जितने बड़े बड़े ऋषि मुनि हैं सब उसको प्रस्तक झुकाते हैं। उसके कर्म असंख्य हैं और वह नाना प्रकारका आश्चर्यमयी कर्म करता है और बड़े-२ महात्मा भी उसे प्रणाम करते हैं। वह सहस्रारंभी और सर्व सुख दुःख का देने वाला है। उसका ऐसा दृढ पराक्रम है कि वह किसी अस्र शस्त्र से छेदा नहीं जा सकता। उसकी बड़ी विशाल भुजा है। उसके लीलारम्भ को कोई मिटा नहीं सकता। ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी उससे काँपते हैं। उत्तम, मध्यम और अधम नाम की उसके तीन शरीर है। इन्हीं तीनों शरीरों से वह जगत में विस्तार किये हुये है। उसकी उत्पत्ति बड़े विस्तार वाले आकाशसे हुई है और वह आकाश ही में स्थित है। उस परमाकाश में

अपने लिये एक सुन्दर

क्रोडा के लिये रचा है। उसमें वह अपनी नाना प्रकार की रचना कर विचित्र लीला करता रहता है। उस राजाने महामाया से अपने नगर को खूब रच लिया है और उसमें अनेक प्रकार की माया और व्यवहार करता हुआ उत्पन्न और लीन होता रहता है। उस महीपति की रचना बड़ी विचित्र है और वह उन्नितरूपसे उस नगरमें स्थित है।

श्री योगवागिष्ठ भाषा, स्थिति प्रकरण का पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥४॥

छियालिसवाँ सर्ग

खोत्थ-वैभव

हे रामजी ! तपस्वी दासूर के ऐसा कहने पर देवी-पुत्रने पूछा कि हे भगवन् ! वह खोत्थ राजा कौन है, और किस नगर में रहता है। यदि भविष्यत नगर में रहता तो भविष्य नगर कैसा होता है, वर्तमान नगर की बात तो ठीक है, पर भविष्य नगर का कैसा उलटा अर्थ है ? आपके इस वचन से मेरी बुद्धि भ्रममें पड़ गई है। दासूर ने कहा,—हे वत्स ! मेरी बात ध्यान पूर्वक सुन। अचैत्य शुद्ध चिन्मात्र चिदाकाश में जो सकल्प उठता है उसे खोत्थ कहते हैं। वह खोत्थ स्वयं ही उत्पन्न होता है। ब्रह्मा, विष्णु, महादेव सब उसके अवयव हैं। उसने शून्य आकाशमें जगत रूपी नगर रचा है। और वही चित्त शक्ति ब्रह्मा के पदको प्राप्त हुई है। चौदह स्थान, चौदह लोक हैं, वन उपवन सहित मन्दराचल और सुमेरु आदिक पर्वत उसकी क्रीडा-भूमि है। सूर्य, चन्द्रमा ही उसके बिना तेल और बत्ती के दीपक हैं। उसके सूर्य की किरणों का प्रकाश मोतीके तरंगके सदृश फुरते हैं। और इम समुद्रके आगे क्षीर सागर आदिक जो सातों समुद्र हैं वह वावडियाँ हैं, उसमें जीवरूपी किरात लेते देते और व्यवहार करते नीचे ऊपरको जाते हैं। पुण्यशील स्वर्ग को और पापी नर्कको जाते हैं। जो देव कर्म करते हैं, वे स्वर्गको और जो मानव धर्मका आवरण करते हैं वह मध्य लोकमें तथा दैत्य और नाग आदिक पाताल

में रहते हैं। वायुके प्रवाह से यह सभी मंत्र चलते हैं। उसकी अस्थिरूपी लकड़ियाँ रक्त मांस से रंगी हुई हैं। उनमें कुछ अधिक समय चलनेवाली है और कुछ अल्प समयही चलती हैं। उनका श्याम वस्त्र शिर के केश हैं। आँख, कान, जिह्वा और मूत्र पुरीष के स्थान, लिंगेन्द्रिय और गुदा यह उसके नव द्वार हैं। इन द्वारोंसे निरन्तर वायु चला करती है। सर्दी गर्मी, उसका प्राण अपान है, नाक इत्यादिक उसकी खिड़कियाँ हैं, भुजाये गलियाँ और पंचेन्द्रियाँ पंचदीपक हैं। किन्तु यह सब कुछ माया से रचित हैं। अहंकार रूपी यज्ञ उसमें बास करता है। वह अहंकार महाभय का स्थान है। देह रूपी विवर में अहंकार रूपी यज्ञ विचरता है। यद्यपि वह अत्यन्तरूप है तौ भी सत्य के समान दुःख देता है। यह अहंकार क्षण भर में उत्पन्न होता है और क्षण ही में नष्ट हो जाता है। उसका ही नाम संकल्प है। जब जैसा संकल्प करता है, तब वैसा भासने लगता है। वह संकल्प इतना प्रबल है कि अनुपस्थित को भी उपस्थित कर देता है। पर संकल्प रहित होने से यह शीघ्रही नाश हो जाता है। इसी भाँति जब तू संकल्पका नाश करेगा तब शीघ्रही तेरा कल्याण होगा। अपना संकल्प उठ कर अपनेही को दुःख देता है। इससे सुख किसी को नहीं मिल सकता। समस्त जगत संकल्प से ही है। आत्म-सत्ता से बढ़ता है और उसीसे नष्ट भी होता है। जब मनमें विचार होता है, तब यह स्वयम् ही नष्ट हो जाता है। मन स्वयं ही क्रिया करता है और स्वयं ही दुःख पाता है, तब रोने लगता है। बन्दरके समान जाल में फँसा हुआ यह कभी हर्षित होता है, कभी दुःखी होता है। जब इसको कल्पित विषय का आनन्द मिलता है तब तो गाल फुलाकर हँसता है और नहीं तो रोता है। पर इसके पीछे जो चलते हैं वे मृद हैं। क्योंकि यह संकल्पों से भरा हुआ गुण के पीछे पड़ा रहता है। शुभाशुभ से निर्मल और रहता है। हे पुत्र ! ऊपर जो

खोत्य का मैंने उत्तम मध्यम और अधम तीन शरीर कहा था, वह राजस, तामस और सात्विक यह तीन गुण वाली तीन शरीर हैं। यही तीनों सबका कारण रूप होकर जगतमें स्थित हैं। तामसी गुण से पापाचरण में लगता है और राजसी सकल्प से लौकिक व्यवहार करता हुआ स्त्री पुत्र के राग में रँगता है, पाप नहीं करता जिससे मरने पर फिर नर देह पाता है। और सात्विकी भाव से धर्म ज्ञान पराथण होकर मोक्षकी भावना करता हुआ धर्मज्ञान पाकर चक्रवर्ती सम्राट के समान स्थित होता है। पर यदि इन तीनों भावों का त्याग कर देता है तब संकल्प स्फुरण नष्ट हो जाता है, और अचाय पद जो शेष रहता है उससे संसार दृष्टिको त्याग कर, मनको बश कर अंतर बाहर के दृश्यमें स्थित चित्त अंकुरको तोड़ कर शांतात्मा हो जाता है। हे पुत्र! चाहे, तू हजारों वर्ष दारुण तपस्या क्यों न करे, पर इसके बिना और कोई यत्न नहीं है। चाहे अपने को पापाण शिलाके समान चूर्ण कर डाले या समुद्रमें धुम जाये, चाहे बड़वानल में भस्म हो, चाहे कृपाणकी धारके घाट ही क्यों न उतर जाये, चाहे ब्रह्मा, विष्णु महादेव और स्वयम् बृहस्पति ही क्यों न उपदेश करे अथवा चाहे पाताल में, चाहे पृथ्वीमें, चाहे स्वर्गमें, चाहे और कोई भी स्थानमें क्यों न चला जाये, कल्याण के लिये दूसरा कोई उपाय नहीं है। केवल संकल्पोंको मिटाना ही एक उत्तम उपाय है। सकल्प मिटने ही पर अनादि, अविकारी और परम पावनका सुख प्राप्त होना है अन्यथा नहीं। इससे जब यत्न पूर्वक सकल्पोंको लड़ी टूट जाय तब पता नहीं चलता कि सकल्प कहाँ गये। सत्य असत्य पदार्थ सब सकल्प ही हैं। सकल्प बश जैसा २ चिंतन करता है उसी क्षणमें वैसा प्रतीत होता है। अस्तु संसार का भ्रम तो संकल्प से ही उदय हुआ है। सकल्पों का नाश होने पर यह चित्त अद्वैत सत्ता के समक्ष होता है और दुःखके बन्धन कट जाते हैं। जब तक जगतको सत्य जानता है तभी तक यह दुःख वेदनादि रहते हैं।

अन्यथा नहीं । जो बुद्धिमान हैं, उनको कुछ दुःख नहीं प्रतीत होता ।
इससे तुम सत्-सत्ता के रूपमें स्थित हो जाओ ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, स्थिति प्रकरण का छियालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥४६॥

सैंतालीसवाँ सर्ग

जगत-चिकित्सा

मुनिदासूर के ऐसा करने पर देवी पुत्रने पूछा कि वह संकल्प कैसा है और कैसे उत्पन्न होता तथा कैसे नाश होता है । तब दासूर मुनि ने कहा कि आत्मसत्ता जो चेतनाशक्ति है जब द्वैत के समक्ष होती है तब चेतना लक्षण, संकल्प अथवा ज्ञानांकुर जिसका बीज संवित में उल्लाससत्ता को पाकर घनभाव को प्राप्त होता है, तब वही फुरने से आकाश को चेतता है । तब आकाश पूर्ण होता है और इसको अपना स्वरूप आत्मसत्ता से पृथक् प्रतीत होता है । वह बीजांकुर जिस भाव को ग्रहण करता है, चितसंवित वैसे ही संकल्पभाव को प्राप्त होता है । संकल्प का उठना संकल्प में होता है और यह स्वतः उठकर सुख दुःख को प्राप्त होने में संकल्पकी परिभाषा एक यह भी है कि जब दृढ़ता से चितशक्ति की ओर फुरती है, तब उस फुरने को संकल्प कहते हैं । संकल्प जब स्वरूप को भूलकर दृश्य की ओर फुरता होकर जगतजाल की रचना करता है । इससे जगत भी प्रपञ्च है सब संकल्प मात्र है । और आकाश ही फुर आया है । हे ब्रह्मन् ! तेरा उत्पन्न होना और नाश होता है । यह जान कर तेरा यह भाव नष्ट हो जायगा । हे अमुक स्त्री है और मैं ही तू है । सहित पदार्थ तो अज्ञानता ही निःपदार्थ है । करना महादुःखदायी है रूप हैं । हे पुत्र ! यदि

रूप होकर विचरेगा और ससार को न प्राप्त होगा । फल को तोड़कर सींचने में तो कुछ उपाय करना भी पड़ता है, किन्तु अपने में सिद्धि होने वाले भावमात्र सकल्प का त्याग करने में कोई उपाय करने की आवश्यकता नहीं है । केवल इसी भाव को दृढ़ करना है कि न मैं हूँ, न यह जगत है । जो प्राणी इस दृश्य जगतके सद्भाव सकल्प का नाश करता है, वह शान्त स्वरूप हो जाता है । भाव रूप आत्मसत्ता में जब अपने मन को लगावे तब स्वास्तिक होवे । और वही स्वस्तिक अथवा आत्मस्थित होवेगा कि जो अपने मनके संकल्पों को छेदेगा । यह कौनसा बड़ा यत्न है ! संकल्पों का नाश होते ही जगत भी नाश हो जाता है और ससार के सब दुःख जड़ मूल से नाश हो जाते हैं । मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का नाम भी कहने मात्र के लिए एक संकल्प का नाम है अर्थ में कुछ भेद नहीं । जितना कुछ दृश्य प्रपञ्च-जाल है, सब सकल्प मात्र है । संकल्प के अभाव से ही सबका अभाव हो जाता है । इससे संकल्पको ही जड़-मूल से नाश करना चाहिए । जगत और संकल्प दोनों ही मिथ्या हैं । मिथ्यारूप सकल्प ने ही जगत को सिद्ध किया है, इससे इसकी भावनामें विश्वास करना भी मिथ्या ही है । ऐसा जान लेने पर वासनाओं का भी नाश हो जाता है और वासना नाश से सिद्धता प्राप्त हो जाती है । अन्यथा जगत तो असत्यरूप ही है । बुद्धिकी चपलता से भास रहा है । किन्तु जिस प्राणी को इसकी भावना नहीं है, उसको जगत के सुख दुःख स्पर्श नहीं करते और आस्था भी नष्ट हो जाती है । आस्था नष्ट होने से अभाव बुद्धि भी नष्ट हो जाती है । संसार के सुख दुःख ही मन के स्फुरण की एक रचना है और भूत भविष्य वर्तमान काल भी मनरूपी जगत की वामना से फुरकर मानसिक शक्ति में स्थित है । वह मन क्षणमात्र में ऐसा अत्यन्त दीर्घ और सूक्ष्मस्वरूप को धारण करता है कि पकड़ना चाहे तो नहीं पकड़ाता । फिर भी यह कोई वस्तु नहीं

क्षण भगुर और सारहीन है। वासना से जगत भासित होता है। और वासना क्षय से शान्त होता है। तुमको जब इसकी वासना फुरे तब उसी क्षण त्याग करने का यह भाव लावो कि, यह प्रपंच कुछ नहीं और असत्यरूप है तो वह वासना नष्ट हो जावेगी, इसमें तनिक संशय नहीं। क्योंकि यह तो स्वय ही असत्य है फिर इसकी उल्टी चिकित्सा करनेसे तुमको क्या दुःख होगा और त्याग करने में भी तुम्हें क्या यत्न करना पड़ेगा? यदि वास्तवमें यह सत्य होता तो इसको नाश समझने के लिये कोई क्यों यत्न करता। भला कोयले से भी धोने का कोई 'यत्न करता है? इससे सब जगत असत्य रूप है, विचार करने से कुछ नहीं मिलता। इस कारण मिथ्या अहंकाररूप दृश्यको त्यागकर सत्यात्मा को अङ्गीकृत करो-अर्थात् दृश्यको त्याग आत्मपद में स्थित होवो, यही उच्च कोटिका पुरुषार्थ है। हे पुत्र! यह संसार संकल्प विकल्पसे उत्पन्न हुआ है, विचार कर थोड़े ही उपाय से मुक्त होवो। अन्यथा सभी पदार्थ असत्य है और देखते २ नष्ट होने वाले हैं। पर विचार करके जगत्-भ्रम नष्ट हो जाता है। वह जगत न तेरा है न मेरा है और न तू इसका है। यह केवल भ्रम से भासता है। जब तू इसको भ्रम छोड़कर देखेगा तो आत्म-तत्त्व से दूसरा कुछ न प्रतीत होगा।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, स्थिति-प्रकरण का सैतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४७ ॥

अड़तालीसवाँ सर्ग

दूसरोपाख्यान समाप्ति

वशिष्ठ जी बोले—, हे रघुकुलशिरोमणि रामचन्द्र। इस प्रकार जब पुत्रको उपदेश देकर दासूर चुप हो गया तब मैं उसके आगे जाकर खड़ा हो गया। मुझे देखकर दासूर ने उठ कर मेरा पूजन किया और फिर मुझे ले जाकर कदम्ब वृक्ष की शाखा के अग्र भाग में बैठा दिया। तब वहाँ बैठकर हम दोनों कथा-प्रसङ्ग की चर्चा करने लगे। वहाँ बैठे २ कितने ही मृग और पक्षी

दासूर के आश्रम में विवर रहे हैं और अनेक फल फूलों से लदे वृक्ष चारों ओर शोभायमान हैं। उनको देखकर मैं बड़ा प्रमत्त हुआ और फिर इन दोनोंसे मिलकर उस पुत्रको अनेक युक्ति पूर्ण इतिहास सुनाने लगे। उस आनन्द में हमारे लिये रात्रि एक क्षण के समान व्यतीत हुई। प्रातःकाल होते ही मैं चलने को उठा तब पुत्र सहित दासूर मुझे कदम्ब की जड़ तक पहुँचाने आया। बीच में मैंने उसे बार-बार आग्रह पूर्वक ठहराया पर वह पहुँचा कर ही लौटा। हे रामजी ! दासूरकी इस कथाको सुनाकर मैंने तुम्हें यह बतलाया है कि यद्यपि यह जगत प्रतिविम्ब की छायाके समान प्रत्यक्ष भास रहा है तथापि मिथ्या है। इसमें कोई वास्तविकता नहीं है। बुद्धि से तुम इसमें राग न करो। यदि तुम इस कथा के सिद्धांत को हृदय में रखकर विचार करोगे तो मत्सर के मलसे स्पर्शित न होवोगे।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, स्थिति प्रकरण का अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्तः ॥४८॥

उनचासवाँ सर्ग

कर्तव्य-विचार वर्णन

वशिष्ठ जी बोले, हे रामजी ! इस जगत के प्रपञ्च हैं भी और नहीं भी हैं, ऐसा जानकर तुम सब पदार्थों से विरागी बनो। इनके भासने और न भासने से तुमको क्या है। तुम बाधरहित होकर आत्मतत्त्व में स्थित होवो और इस चलाचल के विषय में रचमात्र भी दुःखी मत होवो। हे रामजी ! इस जगत का कोई आदि अन्त नहीं है, केवल स्वच्छ चिराशक्ति कामना रूप है और उसके स्फुरण से ही ऐसा भासता है, अन्यथा कुछ है नहीं। इस जगत का कर्ता अकर्ता कोई नहीं है, केवल प्रति विश्वस्वरूप है और उसी में कर्ता अकर्ता पद को प्राप्त हुआ है। अहन्निम है, किसीने किया नहीं है। अतः इसका साथ तुम कदापि न करो। इसके न होने की ही भावना तुम हर समय हृदय में दृढ़ रखो। क्योंकि यह अकर्तारूप और जड़ के समान है। आकास्मिक ही यह जगज्जाल कुरा है और

वह प्रति विश्वस्वरूप ही है। जब इसकी उत्पत्ति आकस्मिक ही है तब इसमें कोई कर्षों आशक्त हो। इसका आस्था करना तो बुद्धिमत्ता नहीं, मूर्खता है। क्योंकि इम जगत् का न तो कोई स्वरूप है और न वास है, वारम्बार की अज्ञान भावना से निरन्तर, दृष्टिगत होता है। फिर भी यह मिथ्या है और प्रतिक्षण नष्ट होता है। देखो न ! आयु और स्थान कहीं के कहीं चले जाते हैं; इसलिए तुम उस आत्मसत्तामें स्थित होकर व्याधिरहित होवो जो सब इन्द्रियों से परे और अकर्तारूप है। भावाभाव तो एक दुःख का दृश्य मात्र है। दृश्यवस्तुओं का अन्त नहीं होता पर आत्म-चिन्तन करके देखा जाय तो यह स्वप्नवत् ही है। फिर इसमें विश्वास करके यत्न करना क्या मिथ्या नहीं है ? संसार के समस्त पदार्थ नाशवान् हैं फिर इसमें आस्था करना कैसा ? यह तो सदैव ही असत्य है; पर आत्मा सत्य है। भला कहीं जड़ और चेतनका भी संयोग होता है ? संसार की वस्तुयें तो सर्वथा ही चलायमान हैं, इसलिए इसमें विश्वास करना शोभा नहीं। क्या कोई जलका आश्रय लेकर भी पार पा सकता है ? इससे तो दुःख ही प्राप्त होता है। यह संसार ही तो बन्धन है। पर तुम स्थिर रूप हो। इससे आस्था करना शोभनीय नहीं। भला कहीं जलके तरङ्ग और पर्वतका भी सम्बन्ध होता है ? जब तुम द्वैतभावसे रहित एक हो तब तुम्हें वाञ्छा किसकी ! तुम्हारे लिये किसी वस्तु की इच्छा और अनिच्छा भी कुछ नहीं। तुम इससे रहित होकर दृढ़ता पूर्वक अपने आपमें स्थित होवो। वह, आत्म सत्ता सबका कर्ता होते हुए भी सदैव ऐसा अकर्ता है मानो उसने कुछ किया ही नहीं, तटस्थ स्थित है किन्तु समस्त पदार्थों में उसीका प्रकाश है। वह सबका कर्ता है, उसका कर्ता कोई नहीं। क्योंकि वह स्वयं ही प्रकाश रूप है। चलता भी है पर चलायमान नहीं होता। जैसे सूर्यका प्रतिबिम्ब मात्र चलता है और सबको प्रकाश देता है सूर्य नहीं चलता वैसे ही तुम्हारा स्वरूप आत्मा सदैव अचल और

अकर्ता है, तुम उसी में स्थित होवो। यह जितना भी जगत भासता है तुम उसमें विचरो, पर भावनासे इसमें वैधो मत क्योंकि यह असत्य है। प्रत्यक्षादिक प्रमाणों से यह जगत सत्य जान पड़ता है, पर यह कुछ है नहीं। इससे स्वयं विचार कर तुम अपने आपमें ही स्थित होवो। फिर यह कुछ न जान पड़ेगा। हे रामजी ! इस मिथ्या जगत के सम्बन्ध में तुमको सत्य की भावना करनी सर्वथा अयोग्य है। क्योंकि यह सकल्पपुर और स्वप्न नगरकेही समान असत्य है। भ्रमवश सत्य भासता है। इससे तुम धन आदिक भाव पदार्थोंकी आस्था त्याग कर केवल बाहरी लीला समझ कर ही विचरो और अभ्यांतर से अकर्तापन में स्थित होवो। इस प्रकार सब भाववस्तुओं में स्थित भो रहो और पृथक भी रहो। जैसे आत्मा सब पदार्थों में सब काल स्थित भी है और सबसे पृथक भी है। उसी की नीति सत्ता में जगत स्थित है। जिस प्रकार दीपक और सूर्य तथा रत्न इच्छा रहित ही सर्वत्र प्रकाशित होते हैं उसी प्रकार आत्मदेवकी सत्तासे ही सांसारिक प्राणी प्रकाशते हैं। इससे वह कर्ता है पर जो समस्त इन्द्रियों के विषयों से पृथक है इस कारण अकर्ता और अभोक्ता है। किन्तु वह सब इन्द्रियों के अन्तर्गत ही स्थित है। इस लिए कर्ता और भोक्ता भी वही है। दोनों प्रकार में वह आत्मा ही है तुम जिसमें अपना कल्याण समझो उसीमें स्थित होवो। हे रामजी ! अकर्ता अभोक्ता सब में ही हूँ ऐसा समझ कर और ऐसी दृढ़ भावना से सांसारिक कार्यों को करते हुये भी तुम्हें कुछ बन्धन न होगा और तुमसे भोग की सब वासनायें भी निवृत्त हो जावेंगी और तब तुम चेतन भोग की ओर न जावोगे। मैंने कुछ किया नहीं, सदैव अक्रियरूप हूँ, ऐसा जिसको निश्चय है, वह भोग समूहोंकी कामना किस लिये करेगा और त्यागभी किसका करेगा अतएव मैं नित्य और अकर्तारूप हूँ ऐसा निश्चय करने से जब उसमें बुद्धि दृढ़ हो जायगी तब केवल परम अमृतरूप समानसत्ता ही तुम्हारे लिये शेष रहेगी। चाहे तुम यही भाव धारण करो कि, मैं

ही सबका कर्ता और महान् कर्ता, सबमें अन्तर में स्थित होकर सब कार्य करता हूँ। इन दो निश्चयों में से तुम जिसमें चाहो स्थिर होवो। ऐसे निश्चय से और यह विचार रखने से कि सबका कर्ता मैं हूँ, जगत का सब 'कुछ भ्रम भी मैं ही हूँ—जदार्थों' के भावाभाव के सम्बन्ध में रागद्वेष न होगा। जब सब स्वयं ही है तब राग-द्वेष किससे। इस प्रकार जब आत्मा और कर्तव्यकी एकता होती है तब खेद और प्रसन्नता स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं और सत्ताकी समानता ही शेष रहती है। हे रामजी! सबका कर्ता तुम अपने ही को जानो और यह भी जानो कि मैं कुछ करने वाला भी नहीं अथवा इन दोनों संकल्पों को भी त्याग कर निर्विकल्प और निःमन हो जावो तब वही सत्ता शेष रहेगी कि जो तुम्हारा स्वरूप है। यह मैं हूँ, यह मेरा है और यह जगत है। तुम ऐसी तुच्छ भावना को सर्वथा त्याग दो और व्यर्थके लिए इस अभिमानमें मत स्थित होवो। काल सूत्रना भी अहंकार इस शरीर में नरक का कारण और नरक का जाल है। शस्त्रों की घोर वर्षा से पीड़ित होने के कठिन दुःख से भी अधिक दुःख शरीर का अभिमान-देता है। अतः पुरुषार्थद्वारा तुम इसका परित्याग करो। क्योंकि यह महा नीच है। इस अहंकाररूपी बादल का ही पर्दा नेत्रों पर पड़ा हुआ है कि आत्मा नहीं भासित होता। जब विचार पूर्वक इस पर्दे को दूर करोगे तब आत्म सत्ता का उदय होगा और तब सर्व दुःखों से रहित तुम शान्त पद को प्राप्त होवोगे। यह निर्णय सब से उत्तम है और इसी निश्चय में उत्तम पुरुष सदैव स्थित रहते हैं। तुम भी विधि निषेधका ध्यान रख कर कोई निश्चय धारण करो।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, स्थिति-प्रकरण का उनचत्वारिंशत् सर्ग समाप्त ॥ ४९ ॥

पचासवाँ सर्ग ।

पूर्णा स्वरूप वर्णन

वशिष्ठजी की अमृतमय वाणी सुनकर रघुकुल शिरोमणि राम-चन्द्रजी बोले कि हे मुनिनाथ । आपका यह कथन तो मुझे हृदयंगम हो गया कि आत्मा ही सबका कर्ता, अकर्ता, भोक्ता, अभोक्ता व सब प्राणियों का आश्रय मूल और सर्व व्यापक है । वही मेरे हृदय में भी रम रहा है और आपके अमृतोपदेश से अब उसी का प्रकाश भी हो रहा है । वही सगस्त संसार को प्रकाश रहा है और उसी से सब क्रियायें भी सिद्ध होती हैं, इससे कर्ता और भोक्ता भी वही है । पर इस सम्बन्ध में मुझे कुछ सशय उत्पन्न हुआ है, सो आप कृपा कर अपनी वाणी से उसे शान्त कीजिए-। में, यह, वह, सत्य और असत्य सम्बन्धी जितनी द्रैत कल्पनायें उस एक के सम्बन्ध में उठती हैं वह कैसे ? क्योंकि वह तो निर्मल है । उसमें मल कहाँ ? वशिष्ठजी बोले,—हे रामजी । मोक्ष का उपाय शास्त्र है । जब तुम भलीभाँति इसमें स्थित होवोगे तब उस समय स्वयम् ही इसका उत्तर तुम्हें मिल जायगा । हे रामजी । सुहावने गीत सुन्दर स्त्रियों की वाणी में होता है और उसका अधिकार कामी व युवा पुरुषों का है अन्य का नहीं । उसी प्रकार बिना ज्ञान के हुए इस उदार कथा के तुम अधिकारी नहीं हो । उपदेश तब दृढ़ लगता है जब बुद्धि शुद्ध होती है । मलिन बुद्धि में उपदेश की दृढता नहीं होती । फिर ऐसे प्रश्न का उत्तर तो सिद्धान्त-ग्रन्था वाले को ही समझाया जा सकता है कि जिसने प्राप्त रूप आत्मा एवं बोध सत्ता को प्राप्त कर लिया है अतएव जब तुम अपने आपको प्राप्त कर लेवोगे तब स्वयम् ही इस प्रश्न का उत्तर जान जाओगे । इसमें कुछ सन्देह नहीं है । तब मैं भी तुम्हें उसका उपदेश करूँगा । हे रामचन्द्रजी ! अभी मैंने जो कर्ता और कर्म के सम्बन्ध में कहा है पहले उस पर विचार

कर वासनाओं का त्याग करोगे तब-मुक्त पद को प्राप्त होवोगे और तब तुम्हें सुख मिलेगा । उसमें सब से पहले तापसी वासनाओं का जो कि शास्त्र के विरुद्ध है उसका त्याग करो । पश्चात् विषयो की वासना त्याग कर मयत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इन चार सिद्धान्तों को ग्रहण करो । सब कुछ मैं ब्रह्म की भावना करते हुए किसी से द्रोह न करना यह मैत्री भावना है । जैसे लक्ष्मीवान पुरुषों से मित्र भाव रखना । दुखियों पर दया करने को करुणा भाव कहते हैं । मुदिता भाव उसे कहते हैं कि जो धर्माचरण करनेवालों को देखकर प्रसन्न हुआ जाय । चौथी उपेक्षा नामक वह भावना है जिसमें पापी को देखकर भी उदासीन रह कर उसकी निन्दा न की जाय । यही चारों प्रकार की वासनायें ब्राह्मर्भोतर सर्वत्र व्यवहारमें लाई जानी चाहिए । किन्तु उनको वर्तते हुए अभिमान रहित रहना चाहिए । दृश्य पदार्थों में चिन्मात्र की वासना रखनी आवश्यक है । आगे चल कर यह वासना भी त्याज्य है और उससे भी जो शेष रहे वह भी त्याग करनी चाहिए । क्योंकि चिन्मात्र सत्ता से ही कल्पना द्वारा देहादिक प्राणेन्द्रियों तम व प्रकाश आदिक वासनायें सममात्र भासित हुए हैं इससे चिन्मात्र सत्तादिक का त्याग भी आवश्यक है । इस त्याग के पश्चात् तुम आकाश के समान स्वच्छ हो जाओगे और उसके पश्चात् तुम्हारा जो स्वरूप होगा वही तुम हो । इस प्रकार का त्यागी पुरुष ही परमात्मा के समान है । क्योंकि कर्म अकर्म और अर्थादि कोई भावना हृदय में नहीं है । उसको हानि लाभ कुछ नहीं । उसके लिए समाधि और त्यागी कैसा ? उसका मन तो वासनाओं से रहित है । हे रामजी ! आध्यात्मिक शास्त्राध्ययन और सत्संगादि करने के पश्चात् मेरा निश्चय है कि पूर्ण रूप से वासनाओं का त्याग करने से उत्तम मौन है । इसके बिना उत्तम पदकी प्राप्ति होना कठिन है । मैंने बड़े तपस्वियों और कर्मकाण्डियों को देखा है । सब ग्रहण और कई त्याग की इच्छा में पड़े हुये नाना प्रकार की क्रियाओं को

करते हैं पर शरीर के लिये, आत्मा के लिये नहीं । साथ ही मैंने ऐसे भी बहुत लोगों को स्वर्ग पाताल और ब्रह्मलोक में देखा है जिनमें कितने सन्तों ने आत्मा का साक्षात्कार किया है । चाहे समस्त ब्रह्माण्ड का राजा हो जावे, अग्नि और जल में भी प्रवेश कर जावे और चाहे सारी ऐश्वर्य शक्तियों को भी प्राप्त कर लेवे किन्तु आत्म-दर्शन बिना जीवको शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती । उच्च कोटि के सन्त और शूरमा तथा उपासना करने के भी वही योग्य हैं जिन्होंने अपनी इन्द्रिय रूपी शत्रुको जीत लिये हैं । हे रामजी ! ज्ञानी पुरुष दृश्य-पदार्थों में प्रीति नहीं करते । क्योंकि पृथिव्यादिक पञ्चभूत तो सर्वत्र हैं । फिर प्रीति किससे हो । वह (ज्ञानी) सम्पूर्ण जगत को बेल फल के समान गोल समझते हैं । तब वह उसमें किसका त्याग और किसका भोग करें । यही कारण है कि वह ससार के पदार्थों के लिये यत्न नहीं करते । किन्तु मूर्ख जन उसी के लिए मोह जाल में पड़ कर अनेक जीवों का घात करते हुये पृथ्वी पर युद्ध करते हैं । वह नहीं जानते कि यह जगत सकल्प मात्र में ही नष्ट हो जाता है इस लिए एक क्षण भी इसकी आस्था करनी मूर्खता है । आत्म वेत्ता इस त्रिलोका रूप जगत को हेय समझ कर किसी वस्तु के हर्ष और शोक में नहीं बँधते । वह सदैव ग्रहण और त्याग से रहित होते हैं । कारण कि वह केवल एक अद्वैत आत्मभाव को प्राप्त हो चुके हैं । उनकी बुद्धि व्यापक और आकाशवत् होती है वह अपने आप में स्थित मिथ्या दृश्य से परे चिन्मात्र सत्ता में सदैव स्थित रहते हैं । उनको शरीरादिक अन्त्य वस्तु का सर्वदा ही अभाव रहता है । हे राम जी ! ब्रह्मरूपी एक बड़ा समुद्र है उसमें भाग के समान पर्वत है, चेतनारूपी सूर्य है उसमें मृग-नृणा की नदी रूप जगत की लक्ष्मी है और ब्रह्मरूपी समुद्र में जगत रूपी तरङ्ग उठते और लय होते हैं ऐसा जानने वाला जो ज्ञानी पुरुष है उसको यह ससार आनन्द प्रद कैसे हो

सकता है। क्योंकि यह जो सूर्य चन्द्रमादिक हैं वह भी जड़रूप हैं और उनको प्रकाशित करने वाली वस्तु आत्मसत्ता दी है। रक्त और अस्थियो सहित बनी हुई जो शरीर है, वह भी इन्द्रियो से आवेष्टित—होकर एक गोलकके समान जगत रूप है उसी में यह चैतन्य जीव रूपी रत्न विराजनान है। हे राम जी। स्त्री का शरीर भी क्या है, केवल चमड़े की एक पुतली है, उसको देखकर मूर्ख बालक प्रसन्न होते हैं। किन्तु जो बुद्धिमान हैं वह नहीं प्रसन्न होते। वह तो उस उत्तम पद में विराजते हैं, जिसकी अपेक्षा से सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश भी तुच्छसा प्रतीत होता है। किन्तु इस संसार-सागर में सर्प के समान बहे जाते हैं। जहाँ तक मे जानता हूँ कि संसार का कोई भी भावुक पदार्थ ज्ञानी को अपनी राग में नहीं रँग सकता। जैसे राजाके घरकी सुन्दर स्त्रियो को ग्राम की मूर्ख और नीच स्त्रियाँ नहीं प्रसन्न कर सकतीं वैसे ही जगत के पदार्थ तत्त्ववेत्ता के हृदय को नहीं प्रसन्न कर सकते। क्योंकि यह संसार चक्र को देखने में बड़ा विस्तृत है किन्तु है यह असत्य स्वरूप। तब इसको देखकर ज्ञानी प्रसन्न कैसे हो सकता है। यह तो चन्द्रमा की छाया के ही समान है। यह देह भी मिथ्या है। इसकी इच्छा तो मूर्ख करते हैं। जैसे सेवार को हंस नहीं भक्षण करते, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष संसार के विषयों की इच्छा नहीं करते।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, स्थिति-प्रकरण का पचासवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५० ॥

इक्यावनवाँ सर्ग ।

कमलज-व्यवहार-वर्णन

वशिष्ठ जी बोले,—हे रामजी। शरीरादिक भोग वस्तुओं के अतिरिक्त संसार में कोई अन्य सुख तो नहीं है और इन्हीं वस्तुओं को ज्ञानी तुच्छ समझते हैं और इनमें आस्था नहीं करते। फिर वे इच्छा किस वस्तु की करें। इन भोग पदार्थों से तो मूर्ख सन्तुष्ट होते

हैं, ज्ञानवान और साधुजन तो इनमें प्रीति नहीं करते। प्रीति तो कृपिण और अज्ञानियों को होती है कि जिनको भोग ही सरस है और भोग का आदि अन्त और मध्य भी दुःख रूप है। इनकी अस्था करने वाले पुरुष गर्दभ के समान हैं। स्त्री को पाकर ऐसे पुरुष बड़े प्रसन्न होते हैं किन्तु वह रक्तमांस और अस्थियों से पूर्ण के अतिरिक्त और क्या है, सो उसको पाकर प्रसन्न होनेवाले पुरुष, पुरुष नहीं गीदड़ हैं। पर ज्ञानी पुरुष जगत के किसी भी पदार्थ से प्रीति नहीं करते। वह जानते हैं कि सब पृथ्वी मिट्टी ही है और वृक्ष सब काष्ठ तथा पर्वत पापाण, पाताल अध और आकाश उद्ध है और सब दिशाये चारों ओर व्याप्त हैं। समस्त विश्व पञ्च-भौतिक इन्द्रियाँ मोहको देनेवाली और विवेक मार्ग की बाधक हैं। जितने कुछ ससार के सम्पूर्ण ऐश्वर्य पदार्थ हैं, सब दुःख के ही रूप हैं। पहले इनमें प्रकाश तो जान पड़ता है किन्तु पीछे कालिमा ही होती है और इनसे शान्ति नहीं प्राप्त होती। इससे ज्ञानी पुरुष स्त्री आदिक रमणीय पदार्थों की ओर अपनी वृत्तिको नहीं लगाते। इस के विपरीत अज्ञानी उनको स्थिर समझ कर स्वाद लेते और सन्तुष्ट होते हैं पर ज्ञानी के लिए यह तुष्टता का कारण नहीं है। क्योंकि विषय भोग तो विष के समान हैं और स्मरण मात्र से विषवत् मूर्च्छित कर देते हैं। और सत्य विचार का लोप हो जाता है। इससे इनको त्याग कर स्वस्वभाव में स्थित होवो और ज्ञानी के समान विचरो अनात्मा में आत्माभिमान का होना ही तो जञ्जाल की सत्यता है। वासना के वश से ही तो ब्रह्मा को भी शरीरादि का संयोग हुआ। पर वास्तव में शरीर के साथ ब्रह्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है, केवल कल्पना मात्र है।

हे राम जी ! इस जगत का क्रम जैसे-जैसे हुआ है, अगले दिनों मैं बतला आया हूँ कि सकल्पवश यह दैवीनीति स्थिति हुई है और समस्त जगत ब्रह्मा के ही सकल्प में स्थित है जब इसके सकल्प का

निर्वाण होना है तब जगत भी लय हो जाता है। एक बार पद्मासिन बाँध कर ब्रह्मा जी बैठे हुये यह चिंतन कर रहे थे कि यह संसार जो मन के संकल्प स्फुरण से महान विस्तृत रूप अनेक प्रकार के व्यवहार एवं विकार संयुक्त मनुष्य आकाश, पाताल और पर्वतादिक पृथ्वी सहित प्रमरित हो रहा है, अब मैं इससे निवृत्त हो जाऊँ तो अच्छा है। ऐसा चिंतन कर ब्रह्मा जी ने मन के संकल्पों से निवृत्त होकर पर ब्रह्म आत्मरूप आत्मतत्त्व में अपने आपको स्थित किये। कुछ काल पश्चात् उस स्थिति से स्फुरित होकर ब्रह्मा जी ने फिर जगत को देखकर चिंतन किया कि संसार दुःख-सुख से संयुक्त अनेक बन्धनों से बँधा हुआ राग-द्वेषादिक भयों से दूषित हो रहा है। तब जीव को ऐसे दुःख में देखकर ब्रह्मा जी को दया उत्पन्न हुई उन्होंने अध्यात्म ज्ञान से परिपूर्ण वेद उपनिषद् को प्रकट कर महान् अर्थोयुक्त अनेक शास्त्रों की रचना की। फिर पुराण रचकर जीव की मुक्ति हेतु आपदा से रहित परमपद में स्थित हो शान्तरूप से स्थित हुये। तब कुछ काल पश्चात् उमी प्रकार जाग कर फिर जगत को देख मर्यादा में जोड़ दिये और स्वयं कमल-पृष्ठ में स्थित हो आत्मतत्त्व में ध्यान परायण हो गये। इस प्रकार ब्रह्मा जी ने अपने शरीर को जिस मर्यादा में बाँध रखा है, उसी प्रकार की निति में संसार क्रीडा कर रहा है। इसके जन्म का कोई कारण नहीं है। ग्रहण और त्याग की इसको कोई भावना नहीं है। समस्त पदार्थ सम भाव में परिपूर्ण समुद्रवत् स्थित है। कभी सकल्प रहित शान्त रूप से रहता है। कभी अपनी इच्छा से जगत की रचना करता है। जगत रचना में इसको कोई भेद नहीं है। यही ब्रह्मा जी की स्थिति है। यदि ऐसी अवस्था किसी अन्य देवता में भी हो तो वह भी ब्रह्मा के ही समान और सात्विक रूप है। और सृष्टि के आदि में जो शुद्ध ब्रह्मा रूप का स्फुरण हुआ, स्फुरण है। फिर जब जगत के स्फुरण में

कलना (शक्ति) उत्पन्न होती है, तब वही ब्रह्मरूप आकाश और वायु के सहारे औषधि और पत्रों में आकर प्रविष्ट होती है। वही पत्र तत्र देवता, मनुष्य और पशु-पक्षियों में आकर प्राप्त होती है और वही चन्द्रकिरण के द्वारा अन्नादि में भी प्रविष्ट हो जाती है। चित्त कला में जैसी भावना उठती है वही ठीक वैसे ही भाव उत्पन्न कर देती है। बन्ध और मोक्ष भी उसी के संसर्ग से होता है। अतः संसार बन्ध और मोक्ष से परिपूर्ण है। कलना मल नष्ट होने से संसार भासित होता है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, स्थिति प्रकरण का इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५१ ॥

बावनवाँ सर्ग ।

विचार-पुरुष निर्वाण

वशिष्ठजी बोले हे रामजी । सप्तरूपी कुण्ड में तृष्णा की रस्सी से बंधे हुए जीव कभी नीचे जाते हैं और कभी ऊपर जाते रहते हैं। किन्तु जब वासना रूपी रस्सी टूट जाती है तब सब ब्रह्म तत्व में एकत्र हो जाते हैं। जिस प्रकार समुद्र के जल से भाप उठ कर बादल बन कर वर्षा होती है और बादल उसी में प्रविष्ट हो जाता है उसी प्रकार जब चित्तकला अपनी मात्रा मण्डल से मिल जाती है तब जीव उसमें मिल जाता है। जैसे मन्दार पुष्पकी सुगन्धि वायु में मिल कर एक रूप में हो जाती है ऐसे ही चित्तकला जीवकी तन्मात्रा से मिल कर प्राण नामको प्राप्त करती है। फिर प्राण वायु से आदि तन्मात्रा जीव कला को खींचने लगती है। फिर तो जैसे बड़े २ दैत्यों का समूह देवताओं को खींच लेता है, ऐसे ही खींचा हुआ जीव तन्मात्रा के साथ मिल कर एक रूप हो जाता है। फिर वही प्राणतन्मात्रा जीवके देह में वीर्यस्थान को प्राप्त होकर जगत में उत्पन्न होकर प्रयत्न प्राण हो जाते हैं। उसमें कुछ धूम्र मार्ग से शरीरवान के शरीर में प्रविष्ट हो मेघ में प्रवेश कर बुन्द मार्ग से

औपधियो मे रस रूप होकर जा स्थित होते हैं। उसको जो लोग भोजन करते है वह उसी-में वीर्य रूप से स्थित होते हैं। कुछ प्राण वायु द्वारा प्रकट हो स्थावर हो जाते हैं और कुछ वायु मार्ग से धान्य-क्षेत्रमे चावल के रूप मे स्थित हो जाते हैं और जीव उसीको भोजन करते हैं, उससे वीर्य वनता है और उसी वीर्य से अनेक रूप रंग के भेद से प्राण-धर्म की उत्पत्ति होती है। कुछ चन्द्रमा और सूर्य की किरणें द्वारा पत्र और औपधियों मे स्थित होते हैं और कुछ फलों में स्वाद रूप से स्थित हो जाते हैं। तब समय पर वह फल पकते है और शरीरधारी उसको खाते हैं। उससे जड़रूपी वीर्य उनमें स्थित होता है और वह सुषुप्ति वासना से वेष्टित गर्भ पिंजर में जा पडते हैं। वीर्य में सदैव वही जीव वास करते हैं और वह वीर्य वायु, धूम्र और कभी मेघ मार्ग से कभी औपधि मार्ग कभी प्राण मार्ग और कभी चन्द्रकिरण के मार्ग से अनेक प्रकार के जीव उत्पन्न होते हैं। उनमें जो उत्पन्न होकर आत्मसत्ता का विस्मरण नहीं करते वह शुद्ध और सात्विकी हैं। उनका व्यवहार अत्यन्त उदार होता है। और जिनको उत्पन्न होने से भूल जाता है और उसी शरीर से उनको आत्मदर्शन होता है वह सात्विक वृत्तिवाले हैं। किन्तु जो उत्पन्न होकर अनेक प्रकार के व्यवहारो को करते हैं और स्वरूप को भूल जाते हैं फिर पूर्ण संस्कार को प्राप्त कर स्वरूप को लखते हैं वह राजस वृत्तिवाले कहते हैं। पर जिनको अन्तिम जन्म का स्मरण रहता है और जिसे मोक्ष मिलता है अब वह क्रम सुनो। हे रामजी ! उत्पन्न होने में जिनको प्रगट नही है वह शुद्ध और सात्विक वृत्तिवाले हैं अथवा जो पूर्ण जन्म का बोध रखते वह सात्विक वृत्तिवाले दुर्लभ हैं। राजस वृत्तिवाले वह हैं जो किसी जन्म मे मोक्षपदको प्राप्त करेंगे। परन्तु इनसे, जो दूसरे हैं वह नाना प्रकार के मूक जड अनेक हैं। ऐसे पुरुष यह

विचारते रहते हैं कि मैं कौन हूँ और यह जगत क्या है। इस विचार से वह मोक्ष के अधिकारी हैं और वह राजसी वृत्तिवाले हैं।

श्री योगशास्त्र भाषा, स्थिति प्रकरण का पावनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५२ ॥

तिरपनवाँ सर्गः ।

मोक्ष-विचार

वशिष्ठजी बोले,—हे रामजी ! इस प्रकार जो राजसी प्रकृति से सात्विकी होकर भूमण्डलमे सुशोभित होते हैं वहाँ चन्द्रमाके समान सर्वदा प्रकाशित रहते हैं। उनको खेद और आपदा ऐसे नहीं प्राप्त होता जैसे आकाश को मलिनता नहीं स्पर्श करती और जैसे राजिके आने पर स्वर्ण कमल नहीं वन्द होते। वे साधु, पुरुष सदैव प्रकृति के अनुसार चेष्टा करते हुये सत्मार्ग से विचरते और अंतर से ऐसे शांत रहते हैं कि महान आपदा आनेपर भी शांति नहीं भंग करते। मैत्री आदिक गुणों से वह सदैव सम्पन्न रहते हैं। हे, रामजी ! तुमको भी ऐसे ही महापुरुषोंके मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। क्योंकि उनके पवन मार्ग आपदारहित और सात्विक हैं। उसके अनुसार आचरण करने से तुम आपदा के समुद्र में न गिरोगे। हे रामजी ! राजस से सात्विकी होकर मोक्षका अधिकारी बनने के लिये पहले शास्त्रानुसार व्यवहार करने से अतःकरण निर्मल होता है उसके लिए बारबार शास्त्र चिंतन और सन्तमिलन की आवश्यकता है। ससारके अनिल पदार्थोंमें प्रीति न कर वैराग्य उत्पन्न करना और सबको निष्फल, व्यर्थ और नश्वर समझ कर उसकी भावनासे रहित होना, सुभ्यकदशी बनना, सतक सच्चास्य सगम करके अपने व जगतके सम्बन्धका विचार करना और विवेक युक्त सदैव अध्यात्म शास्त्र का विचार करते हुये सद्व्यवहार व सात्विक कर्म करते हुये प्रतिक्षण मृत्युको स्मरण रखना चाहिए। हे रामजी ! मृत्यु को भूल कर ससार के कार्योंमें जो लग जाते हैं वह अवश्य डूबते हैं। इससे

स्मरण रखकर सद्मार्गके उस पद मे स्थित होवो कि जिस पद मे ज्ञानी एवं उदार शीलात्मा जन स्थित हैं। तुम उसी मार्ग और पदके लिये सदैव इच्छुक रहो। हे रामजी। शरीरमे यह जो अहंकार स्थित है और जो संसार मे उत्पन्न हुई है, इन दोनोको भलीभाँति विचार करके इनका नाश करो क्योंकि मांस मज्जा और रक्त से तो शरीर बनी है और चेतन रूपी भूत जातियों से यह संसार बना हुआ है पर यह जैसे बना है वैसे ही है भी। पर चैतन्य सत्ता सत्य नित्य, विस्तृत रूप, शुद्ध, सर्वांगत, और सब भावोमे विधान है। किन्तु चेतन और शरीरमें कुछ अन्तर नहीं है। उस चिन्मात्र सत्तामें जन्म-मरण आदिक भाव जो जान पड़ता है, वह अपने अज्ञान से जान पड़ता है अन्यथा न कोई उत्पन्न होता है और न कोई मरता है आत्मसत्ता ज्यों-का-त्यों स्थित है। उसमे संसार के विकार केवल प्रतिबिम्ब स्वरूप है, सत्य असत्य कुछ नहीं है। इसका भासित होना और शान्त होना चित्तपर निर्भर है। संसार को यदि सत्य माना जाय तो भी शोक नहीं और असत्य माना जाय तो भी कुछ शोक की बात नहीं है। इससे तुम स्थित होकर शोक का परित्याग करो। तुम्हारे लिये जन्म मरण कुछ नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, स्थिति प्रकरण का तिरपनवाँ सर्ग समाप्त ॥५३॥

चौवनवाँ सर्ग

मोक्षोपाय-वर्णन ।

वशिष्ठ जी बोले-हे रामजी। जो बुद्धिमान पुरुष हैं उनको चाहिए कि सदैव सत्संग और सत्शास्त्र चिन्तन में निमग्न रहे। इससे संज्जनता प्राप्त होती है और सन्तो से मिलकर सत्शास्त्र चिन्तन से वह पुरुष परमपदको भी पा लेता है। इस प्रकार जो पुरुष सत सद्गति और नास तत्पर रहता है वह विज्ञानका रामजी और

उदारात्मा हो। इससे तुम दुःख रहित होकर स्थित होवो। अब तुम राजस वृत्ति से सात्विक और चिन्तन शील वृत्तिके हो गये हो, इससे अब तुम द्रग्धारण्डप सन्सारमें दुःखका पात्र न बनो। यह तुम्हारे उस जन्मका पुण्य उदय हुआ है कि तुम अपने स्वभाव की ओर अग्रसर हुए हो और अन्तर्मुख होकर यत्न करते हो। अब तुम्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई है और तुम वशीभूत सन्सार की वस्तुओं को जानने लगे हो। तिसपर मेरी वाणी के प्रभाव से तुम्हारे सब मल नष्ट हो जायेंगे और तुम निर्मल होकर शोभायमान होवोगे। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। हे रामजी! यदि तुम अपने इस उत्तम व्यवहार के अनुसार विचार करोगे तो शोक रहित पदको प्राप्त होवोगे। और यदि कोई दूसरा भी इस विचार से आचरण करेगा तो वह भी सन्सार सागरको अनुभव रूपों नौका से पार पा जावेगा। फिर तुम तो शोक रहित पदको प्राप्त ही हो गये हो। अब तुम शास्त्रानुसार उचित आचारों को बाहर से करो और अन्तरसे समस्त सकल्पोंसे रहित पूर्णमासीके चन्द्रमाके समान शीतल चित्त रहो। हे रामजी! राजसी और सात्विकी वृत्तिके अलावे जो तामसी प्रकृति वाले हैं उनकी ओर तुम तनिक भी न देखना, वह 'मृदु स्याह' के समान मादक वस्तुके सेवन करने वाले हैं, तुम्हारा उनका क्या साथ। तुम तो मेरे बतलाये हुये सात्विकी पुरुषोंका साथ करके अपनी बुद्धिको निर्मल करो। वे सात्विकी पुरुष बड़े ही श्रेष्ठ हैं कैसा भी तामसी क्यों न हो उनका साथ करके वह भी उदार बुद्धिवाला हो जाता है। ऐसा नियम है कि चाहे जिस जाति में जन्मा हो यदि वह उसके जीतने का पुरुषार्थ करे तो वह वैसा यत्न करके पूर्वके सस्कारों पर विजय प्राप्त कर लेता है। इसके लिये धैर्य की बड़ी आवश्यकता होती है। कितना भी मलिन सस्कार क्यों न हो यदि धैर्य से उस मलिन बुद्धिका उद्धार करे उसकी मलिनता अवश्य दूर हो जाती है। हे रामजी! जन्म और कर्म के सस्कार

से ही तो राजसी और तामसी वृत्तियाँ प्राप्त होती हैं। पर वे अपने विचार द्वारा सात्वकी वृत्ति को प्राप्त कर लेते हैं। प्रत्येक पुरुष के अन्दर अनुभव रूपी चितामणि है, उससे जो कुछ माँगा जाय वह अवश्य प्राप्त होता है। उससे पुरुषार्थ करके अपना उद्धार करो। पुरुषार्थ से पुरुष महान गुण वाला हो जाता है और मोक्षको भी पा जाता है अर्थात् जन्म मरण से मुक्त हो जाता है। उसके समस्त अशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। आशाका और देवलोक में भी ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो शास्त्रानुसार यत्न करने पर न प्राप्त हो। हे रामजी ! तुम्हारी तो बात ही क्या है। तुममें तो वराग्य, धैर्य और बुद्धि की स्थिरता आदि सब कुछ विद्यमान है। तुम्हारे आचरण को जो कोई ग्रहण करेगा वह जीव मूर्खता से रहित होकर चितारहित पदको प्राप्त करेगा। इससे अब तुम अपने स्वस्थ स्वरूप में स्थित होवा।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, स्थिति-प्रकरण का चौवनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५४ ॥



श्री योगवाशिष्ठ-भाषा

पाँचवाँ

उपशम प्रकरण ।

पहला सर्ग ।

श्रीरामचन्द्र का पूर्व उपदेश पर विचार

वाल्मीकि जी कहते हैं कि स्थिति प्रकरण को समाप्त कर वशिष्ठ जीने रामजीसे कहा,—हे रामजी ! अब उपशम प्रकरण की कथा कहता हूँ, ध्यान देकर सुनो । इसको जान लेने से तुम निर्वाणपद को प्राप्त हो जावोगे । वशिष्ठजी के ऐसे परमानन्द वचन को सुनकर समस्त सभा मण्डली में शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो गया । भरोखे में बैठी हुई स्त्रियाँ चञ्चलता और विलासिता को त्याग कर चुप होगई । घड़ी घण्टे का शब्द बन्द होगया और चमर बुलाने वाले भी मूर्तिवत शान्त हो गये । महाराज दशरथ भी ऐसे प्रसन्न हो गये, जैसे मेघवर्षा से मारगण प्रसन्न हो जाते हैं । राजाके मन्त्री आदि अपने स्वरूप में स्थित हो शान्त होगये । रामचन्द्रजी को बड़ा विकाश प्राप्त हुआ । और लक्ष्मणजी अपने लक्षस्वरूप को देखकर वशिष्ठजी के उपदेश पर तीव्र बुद्धि से विचार करने लगे । शत्रुओं के नाशकर्ता शत्रु घनजी का चित्त आनन्द से पूर्ण होगया । सभा में जितने राजा मुनि और ब्राह्मण उपस्थित थे उनका स्तनरूपी दृश्य स्वच्छ और निर्मल होगया । इसके पश्चात् दोपहर का पर वड़े २ बाजे बजे जिनके

मेघगर्जन शब्द से मुनीश्वरों का शब्द लुप्त होगया । एक घड़ी, तक वाजों का शब्द होता रहा । तब तक वशिष्ठजी भी चुप रहे । वाजों का शब्द शान्त होनेपर महामुनि वशिष्ठजीने रामजीसे यह कह कर कि आज मुझे जो कुछ कहना था कह चुका, अब कल कहूँगा—कथा विसर्जन की । तब श्रोतागण उठ २ कर अपने २ स्थान को गए । रामजी भी मुनि की चरणावन्दना करके अपने स्थान पर पहुँचे और देव पूजन एवं दानादि क्रियायें करने लगे । सायंकाल होने पर सन्ध्या वन्दनादि करते हुए गायत्री जप किया और फिर कुछ समय तक मुनियों से सत्सङ्ग कर कथा कही । पश्चात् रात्रि होने पर परिचारिकाओं ने शय्या बिछाई और उस पर स्थित होकर रामजी वशिष्ठजीके कथित वचनों पर विचारने लगे । तब सप्तार मे कौन भ्रम रहा है, नाना प्रकार की भूत जातियाँ कहाँ से आती हैं, मन का क्या स्वरूप है, शान्ति कैसे मिलती है, माया का उद्गम क्या है, निवृत्ति कैसे होता है और निवृत्त होने से विशेषता क्या है । आत्मा में अहंकार कैसे उपन्न होता है । मन नाश और इन्द्रियजित होने के लिए मुनीश्वरों का क्या उपदेश है और आत्माको प्राप्त करने में क्या उपाय किया जाय इत्यादि प्रश्नों पर विचार करने लगे ।

इस प्रकार परमार्थ चिन्तन सम्बन्धी अनेक प्रश्नों पर विचार करते हुए रामजीने अपनी बुद्धि से कहा,—हे बुद्धि ! तू मेरी बहिन है, इससे तू मेरे अर्थों को शीघ्र पूर्ण कर जिससे मैं और तुम दोनों दुःख से छुटकारा पाजाऊँ । हे मेरी बुद्धि ! वशिष्ठजीने क्या कहा है, तू उसको ठीक २ स्मरण कर । मुनि के वचनों से हमारी आपदा अवश्य नाश होगी । उन्होंने पहले वैराग्य तब मुमुक्षु तब उत्पत्ति और उसके बाद स्थिति प्रकरण ज्ञान विज्ञान सहित कहा है । हे बुद्धि ! वशिष्ठजीने जैसे कहा है ठीक वैसे ही तू बारबार स्मरण और विचार कर । क्योंकि जो क्रिया बुद्धि से निश्चय न हो वह निष्फल है ।

श्री योगेशिष्ठ भाषा, उपशम-प्रकरण का पहला सर्ग समाप्त ॥ १॥

दूसरा सर्ग ।

सभास्थल में रामचन्द्र का वचन

वाल्मीकिजी ने कहा,—हे भारद्वाज ! इस प्रकार विचार करते हुए रामजीने समस्त रात्रि को व्यतीत कर दिया । फिर प्रातःकाल होने पर नगरों के शब्द को सुनकर रामजी उठे और भाइयों के साथ प्रातःकाल का सन्ध्यादि कर्म कर कुछ मनुष्यों के साथ वशिष्ठजी के आश्रममें गये । वहाँ देखा तो वशिष्ठजी समाधि लगाए बैठे हैं । तब रामजी दूरही से नमस्कार कर कहाँ हाथ जोड़ कर चुपचाप खड़े होगये । इतने में सूर्यदेव का प्रकाश हो गया । तब तक राजा दशरथ भी अपने पुत्रोंको साथ लिए हाथी घोड़े रथ और प्यादों के सहित वशिष्ठजीके आश्रम पर पहुँचे । जनशमुदाय और हाथी घोड़ोंके समागम से वशिष्ठजीका आश्रम अत्यन्त शोभायमान होगया । उसी समय समाधि से जागकर वशिष्ठजी भी उठ खड़े होगये । उनको देखकर समस्त लोगोंने झुक कर प्रणाम किया । वशिष्ठजी, आशीर्वाद दिया । फिर विश्वामित्र को साथ लेकर वशिष्ठजी आश्रम के बाहर आये और रथ पर सवार होकर महाराज दशरथ के घर चले । राजद्वार पर आकर रथ खड़ा हुआ । वशिष्ठजी रथ से उतर कर सभाभवन में पधारे । दशरथजीने मुनिकी चरणवन्दना की और कथामच पर आदर सहित बैठ गये । तब अनेक ऋषि मुनि और ब्राह्मण तथा राजपुत्र, लोकपाल, भृत्य और टहलुये इत्यादिक श्रोतागण आकर यथायोग्य अपने २ आसनों पर वशिष्ठजीकी और मुँह करके विराजमान हुये । तब स्तुति करनेवाले बन्दी जन चुप होगये । सूर्यभगवान का उदय हुआ । रनिवास की स्त्रियाँ चञ्चलता त्यागकर भरोखेमें आ बैठीं । सब वशिष्ठजीकी मधुर वाणी का स्मरण करने लगे । आकाश से चारण और गन्धर्वों सहित बहुत से मुनि भी कथा सुनने वशिष्ठजीको प्रणाम कर अपने २ आसनों पर बैठ गये ।

अगर आदि वन्दन

झिड़का जाने लगा । पुष्पो की सुगन्धित वायु चलने लगी । भँवरे शब्द करने लगे । सूर्यकी किरणोंके पड़ने से राजपुत्रों की मणिजडित मालाओं से बड़ा प्रकाश हुआ । तब महाराज दशरथजी ने वशिष्ठजी से कहा,—हे मुनीश्वर ! आपकी अमृत मय वाणी से हमको बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ । हमारे हृदय का अन्धकार दूर होगया और चित्त ऐसा शीतल हो गया, जैसे चन्द्रमा की किरणों से तम दूर हो जाता है । आपकी वाणी अमृत के रस के समान अपूर्व आनन्द प्रदान करती है । आपके वचन शोकरूपी तापको बुझाने वाले और अमृत की वर्षा के समान हैं । हे मुने ! आपकी वाणी से तृष्णा और लोभ आदिक विकार ऐसे नष्ट हो गये हैं, जैसे शरदःऋतु की वायु से बादल नष्ट हो जाते हैं । आपके वचनों से हम पाप रहित होगये । अब हम आत्मदर्शन के लिए व्यवहित होते हैं । आपने हमको ऐसा अञ्जन दिया है जिसको लगाने से हमारे नेत्रोंके समक्ष से सप्तरूपी कुहिरा का नाश हो गया है ।

वाल्मीकि जी कहते हैं कि वशिष्ठजीसे ऐसा कहकर दशरथजी रामजीकी ओर मुँह करके बोले कि, हे राघव ! जितनी समय सन्तोंके साथ मैं व्यतीत होता है वही सफल है, शेष व्यर्थ है । हे कमलनेत्र रामजी ! अब तुम फिर वशिष्ठजी से कुछ पूछो तो वे हमारे कल्याण के लिए फिर कुछ कहें । वाल्मीकिजी कहते हैं कि राजा दशरथ की ऐसी वाणी सुनकर उदार आत्मा वशिष्ठजी रामजीकी ओर मुँह करके बोले,—हे रामजी ! आगे मैं जो कुछ कह चुका हूँ वह तुमको स्मरण है ? हे महा ज्ञानिन, महाबाहो ! मैंने सात्विक राजस और तामस गुणोंके भेदकी उत्पत्ति सम्बन्धी कथा कही थी क्या वह तुम्हारे चित्त में है ? वही सब कुछ है और नहीं भी है । वही सत्य है, वही असत्य है और वही सदाशान्त और अद्वैत रूप है । यह परमात्माका विस्मृत रूप-स्मरण है । पर इस देववाणी का पात्र शुद्ध चित्त है । हे रामजी ! विस्मृत रूप अविद्या का रूप स्मरण है और वह अर्थशून्य, क्षणभंगुर

असम्यकदर्शी और जीवरहित है। क्या तुम रात्रि समय हमारे इन सब प्रश्नों पर विचार किये हो? जब किसी बात पर बार-बार विचार कर उसे हृदय में धारण किया जाता है तब उसका बड़ा फल होता है और अर्थ को भूल जाने से फल नहीं प्राप्त होता। वाल्मीकि जी कहते हैं कि जब ब्राह्मण के पुत्र विशिष्ठजीने, ऐसा कहा तब समय पाकर रामजी ने कहा, हे भगवन् ! आपने जो कुछ कहा है, सत्य है, और आपके उन वचनों से मुझे बड़ा बोध हुआ है। हे भगवन् ! सारी रात मैंने आपके वचनों पर विचार किया है और उनको अच्छी तरह हृदय में भी धारण कर लिया है। आपका उपदेश परम कल्याण करने वाला, सर्व सहायक और हृदय गम्य आनन्दका कारण है। भला ऐसा कौन है जो आपकी आज्ञा को शिरोधार्य न करे ? हे महामुनि ! आपके उपदेश से मेरा सब संशय निवृत्त होगया। नहीं तो यह संसार अत्यन्त रमणीय जान पड़ता था। पर यह तभी तक सुख देता है, जब तक पदार्थों की कमी नहीं होती किन्तु जब भोग पदार्थ इन्द्रियो को नहीं मिलते तब यही महान् दुःखद मालूम होता है। किन्तु आपके पुण्यरूपी वचनों के फल से अब मुझे महान आनन्द प्राप्त हुआ है, कृपाकर अब मुझको कुछ उपदेश कीजिए।

॥ श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उपशम प्रकरण का दूसरा सर्ग समाप्त ॥ २ ॥

तीसरा सर्ग ।

प्रथम उपदेश वर्णन ।

शिवशिष्ठजीने कहा,—हे रामजी ! अब तुम्हारे कल्याण के लिये उत्तम सिद्धान्त युक्त उपशम प्रकरण की कथा कहता हूँ, ध्यान देकर सुनो। यह संसार महादीर्घ और राजसी जीवों का आश्रय और मायारूप है। इसमें जो तुम्हारे समान सात्विक भाव से स्थित हैं वे शूरमा हैं और जो ज्ञान वैराग्य से पूर्ण हैं वे विना यत्नही संसार की माया को त्याग देते हैं। किन्तु जो बुद्धिमान सात्विक में जागे हुये

हैं और जो राजस सात्विक हैं वह भी उत्तम पुरुष हैं। ऐसे पुरुष जगतके पूर्वापूर्व पर विचार करते हैं और सत्सङ्ग एवं सत्शास्त्रानुकूल आचरण करते हुये परमात्मा को देखने की बुद्धि उत्पन्न कर ज्ञान-प्रकाश को पाते हैं। हे रामजी ! विचार पूर्वक स्वरूप का पहिचान हुये बिना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती और विचार उन्हीं को उत्पन्न होता है जो श्रेष्ठ कुल वाले पाप रहित सात्विक-राजसी हैं। ऐसे पुरुष अपने आपसे ही आपको पा जाते हैं और वे ही दीर्घ विचार करके आरामपद पाते हुये अक्षय सुखको प्राप्त होते हैं। अतएव तुम विचार करो कि संसार में सत्य और असत्य क्या है। जो सत्य हो उसको ग्रहण करो और जो असत्य हो उसको त्याग करो। जिस पदार्थ का आदि अन्त न हो जानो कि उसको मध्य भी नहीं है और वही असत्य है। और जिस पदार्थ का आदि अन्त एकरस हो उसे सत्य जानो। उपरोक्त असत्य पदार्थों में जो प्रीति करते हैं वे बड़े मूढ़ हैं। उनपर विवेक का रग नहीं चढ़ सकता। उनका मन उपजा और बँदा करता है। इसका निर्वाण तभी होता है जब सम्यक ज्ञानका उदय हो। अन्यथा मन तो संसार रूप है पर आत्मा ज्यों का त्यों है।

इतनी कथा सुनकर रामजी बोले,—हे महा मुनीश्वर ! यह मैंने जाना कि संसार सब भावनाओं में मनका ही रस है और जरा मरण आदिक विकार का पात्र नहीं है। पर उसके तरने का उपाय क्या है, कृपाकर मुझसे कहिए। वशिष्ठजी बोले,—हे रामजी ! जीवको पहले विचार पूर्वक वैराग्य सतमग और सत्शास्त्र से मनको मल रहित करना चाहिए। मनके निर्मल होनेसे सज्जनता प्राप्त होगी और वैराग्य उत्पन्न होगा। वैराग्य होनेसे वह ज्ञानी गुरुके समीप पहुँच सकेगा और उनके उपदेशानुसार ध्यान और अर्चनादिक क्रियाओं से परम पद को प्राप्त होगा। इस प्रकार निर्मल विचार उत्पन्न होने से पुरुष अपने आपको ऐसेही देख लेता है जैसे पूर्णिमा का चन्द्रमा अपने विम्ब को स्वयं देख लेता है विचार दृष्टिसे देखे बिना सुख दुःख नष्ट

नहीं हो सकते । अज्ञान से जीवोंको मोह उत्पन्न होता है और देहादिक इन्द्रियों से मिला हुआ वह सदा संशय में ही पड़ा रहता है । संशय से रहित हुए बिना आत्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकता । संशय निवृत्ति से ज्ञान प्राप्त होता है और वह अपने आपको भी जान लेता है । अपने आपको जान लेने पर उसको शुद्ध शान्ति प्राप्त होती है । हे रामजी ! आत्मा शरीर से मिला हुआ जान पड़ता है पर मिला हुआ नहीं है । इस लिए तुम अपने स्वरूप में शीघ्र स्थित हो जाओ । निर्मल रूप आत्मा का शरीर से तनिक भी सम्बन्ध नहीं है । आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है । इसको मैं भुजा उठा कर कहता हूँ कि संकल्प से रहित होना ही परम कल्याण रूप है । यहाँ भावना तुम हृदय में क्यों नहीं करते ? भिषय भोगों में आस्था करके आत्मा से तुम सर्वदा शून्य रहोगे और बिना स्वरूप का ज्ञान हुये संसार का तम किसी प्रकार भी दूर नहीं हो सकता । चाहे द्वादश सूर्य भी एकत्रित हो जायें पर स्वरूप को जाने बिना हृदय का तनिक भी अंधकार दूर नहीं हो सकता । जब स्वरूप को जानकर आत्मामे स्थित होवोगे तब हृदय का तम स्वयं ही नष्ट हो जायगा । किन्तु आत्मबोध हुये बिना और जब तक भोगों में मन लगा हुआ है तब तक समुद्र में गोते खाते रहोगे और दुःख कदापि दूर न होंगे । जिस प्रकार जल में रहते हुये भी कमल का जलसे कोई सम्बन्ध नहीं निर्लिप्त है वैसेही आत्मा शरीर से लगा हुआ भी है पर शरीर और आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है । पर आत्मामे जो सुख दुःख का अभिमान भासता है वह भ्रम मात्र और मिथ्या रूपही है । आत्मा को न कोई सुख है न दुःख है । सुख दुःख तो शरीर को होता है । शरीर नाश हो जायगा पर आत्मामे का नाश न होगा । यह जो आत्मारूपी जगत भासता है वह आत्माही है उममें एक दो कुछ नहीं । आकार प्रकार मिथ्या दृष्टि से भासते हैं । पर आत्म-प्रकाशरूपी सम्पूर्ण जगत तो है । मुझसे और जगतमें भेद

* उपशम-प्रकरण *

है ऐसा भ्रम न करो। क्योंकि विस्तृत ब्रह्मधन सत्तामें कोई कल्प नहीं है। भला कहीं अग्निमें बरफका कण भी रहता है। हे रामजी मैं चिन्मात्र रूप और विस्तृत रूप हूँ, सत्ता जाल मेराही स्वरूप है। तुम अपने स्वरूपकी ऐसी ही भावना करो। क्योंकि शोक, मोह, जन्म और शरीर कुछ है नहीं, सब कुछ ब्रह्मही है। तुम स्थिर बुद्धि हो और तुम्हारी स्वरूप शान्त और मणिके समान निर्मल है, यह जानकर विगत ज्वर रहो। क्योंकि तुम वीतराग, मलरहित और यत्न रहित हो, न कुछ देते हो और न लेते हो, ग्रहण और त्याग से रहित सदा शान्त स्वरूप हो। इसमें विश्वसे अतीत प्राप्त करने योग्य परम पदको पाकर सदा आपदा रहित विचरण करो। आत्मवेत्ता का शरीर प्रनन्त है। इससे तुम विगतज्वर और उदार होकर अपने आपसे आनन्दवान होवो। जगत की प्रपञ्च रचना तो असत्य है। इसीसे ज्ञानी जन इसकी ओर नहीं जाते। तुम भी ज्ञानी हो, इससे असत्य कल्पना त्यागकर दुःख से रहित हो नित्य उदित, शान्तरूप और शुभ गुणो सन्निध उपदेश द्वारा चकवती बनकर भ्रमण्डल का राज्य करते हुये त्रजा पालन कर समान दृष्टि से विचरो। अन्दर से निर्लिप्त रहकर शास्त्रानुसार आचरण करते हुये राज्य की मर्यादा का पालन करो। उद्वेग और त्याग से तुम्हारा कोई प्रयोजन नहीं है। सम बुद्धि और समभाव से राज्य करो।

श्री योगवाशिष्ठ माया, उपशम प्रकरण का तीसरा सर्ग समाप्त ॥ ३ ॥

चौथा सर्ग ।

ऋषोपदेश-वर्णन

वशिष्ठजी बोले,—हे रामजी। वासना ही बन्धन का कारण है। सको हृदय से कोई वासना नहीं है वह सब व्यवहारों को करता भी मुक्त है। किन्तु जिसकी वासना पदार्थों में सत्य है वह बन्धन में है। कुछ लोग पुरुषार्थ भी करते हैं और पदार्थों में प्रीति

भी करते हैं वे अपनी वासना से स्वर्ग में जाते हैं और फिर स्वर्ग को त्याग कर दुःख और नरक भोगते हैं। वासना के पीछे भटकने वाले ऐसेही जीव पशु आदिक स्थावर योनिको पाते हैं। पर आत्मवेत्ता पुरुष मनकी दशा को विचारते रहते हैं। जिससे तृष्णारूपी बन्धन को काटकर आत्मपदको प्राप्त होते हैं। हे रामजी ! पूर्वजन्म को भोगकर इस जन्म में मुक्त होने वाले पुरुष राजस-सात्विकी कहलाते हैं। और जिनका यह अन्तिम जन्म होता है वह क्रमशः पूर्ण पदको प्राप्त कर लेते हैं। हे रामजी ! जिनका अन्तिम जन्म होता है उनमें मैत्री, सौम्यता, मुक्तता, ज्ञातिव्यता और आर्यता आदिक वेदोक्त निर्मल गुण प्रवेश करते हैं। सब जीवों पर दया रखना मयत्री है और सर्वदा समभाव से रहना मुक्तता व प्रसन्न रहना सौम्यता और शास्त्रानुसार आचरण करना आपता और ज्ञानको ज्ञातिव्यता कहते हैं। राजस-सात्विकी पुरुषके हृदयमें मयत्री आदिक सब गुण आजाते हैं। वह संसार के सब कार्यों को करता हुआ भी उसके लाभ और हानि में रागद्वेष नहीं करता और सदा समभावमें रहता है। वह न सन्तुष्ट होता और न शंकित होता है। आत्मा की भावना से उसके रागद्वेष नष्ट होजाते हैं और सभी गुण भी सिद्ध होजाते हैं। जिससे सबलोग उसको देखकर मोहित होते हैं। तब वह सब गुणोंसे सम्पन्न होकर अकस्मात् गुरुकी शरण में पहुँच जाता है और वह उसका ज्ञानका उपदेश करते जिससे वह परमपद में स्थित हो जाता है। ऐसा वैराग्य और विचारवाला पुरुष आत्मदेव का अवश्य दर्शन पाता है। उसको दुःख लेशमात्र भी स्पर्श नहीं करता और वह यथार्थदर्शी हो जाता है। इससे तुम विचाराश्रय से मनको जागृत करो। पहले गुण ज्ञान से जगावो और फिर बड़े गुणों से जगाकर उसे जानकर उसके सेवनका यत्न करो। इससे वह जाग जायगा। तब उसकी बुद्धि निर्मल हो जायगी और वह चित्तरूपी रत्नो पर विचार करेगा जिससे वह जगतको आत्मरूप देखेगा। इम प्रकार आत्म-प्रकाश और विचार से अविद्या नष्ट होजाती है।

पाँचवाँ सर्ग ।

सिद्ध गीता-वर्णन

हे रामजी । उपरोक्त क्रम सब जीवोंके लिये समान है । जो विशेष हैं वह सब सुनो । यों तो समस्त जीवधारियों को प्रकाश से ही मोक्ष होता है । पर उसमें भी दो क्रम हैं । एक उत्तम और एकसमान । गुरुके उपदेशानुसार जो शनैः शनैः चलकर एक जन्म में थयवा अनेक जन्म में सिद्धता प्राप्त करे वह पहिला क्रम है और जो अपने आपसे उत्पन्न हो और स्वय ही समझ लें वह दूसरा क्रम है । यह दूसरा क्रम अर्थात् स्वय ज्ञान प्राप्त कर लेना बड़े भाग्यवान् पुरुषों का काम है । इस सम्बन्ध की एक पूर्व कथा मैं तुम्हें सुनाता हूँ, ध्यान देकर सुनो । हे रामजी । पहले विदेह नगर में जनक नामके एक राजा थे । वे बड़े धैर्यवान्, परमार्थी, मित्र और बान्धव-प्रिय तथा स्त्रियों को कामदेवके समान प्रिय थे । एक दिन राजा आपने बाग की ओर वायु सेवन करने निकला । बाग में बड़े २ सुन्दर फूल फूल लगे हुये थे और जिममें नाना प्रकार के पक्षीगण आनन्द कर रहे थे । तब जैसे नन्दन-वनमें प्रवेश करे वैसेही राजा अपने अनुचरोंको बाहर छोडकर बागके भीतर अकेले जाकर विचरने लगा । बाग में शाल्मली का एक वृक्ष था, उसके निकट पहुँच कर राजाने यह सुना कि अदृष्टमुनि जो बड़े सिद्ध पुरुष हैं, इस समय आत्मगीता का उपदेश कर रहे हैं जिससे आत्मबोध प्राप्त होता है । तब राजा ने जाकर अदृष्टमुनि से उस गीता को सुना । वहाँ तीन मुनि परस्पर सत्सग कर रहे थे । पहिले मुनिने कहा कि द्रष्टा (पुरुष) दृश्य (जगत के मिलाप से जो निश्चित आनन्द बुद्धिको प्राप्त होता है और इष्ट, अनिष्टके सयोग वियोगसे चित्तमें जो आनन्द दृढ़ होते हैं, वे आनन्द आत्मतत्त्व से ही प्रकाशते हैं । दूसरे सिद्धने कहा कि द्रष्टा, दर्शन और दृश्य का वासना सहित त्याग करो और जिस

आत्मतत्त्व से यह तीनों प्रकाशते हैं मैं उस तत्व की उपासना करता हूँ । तीसरे सिद्धने कहा कि जो भासरहित निर्मल और आभासरूप है और जिसमें मननभाव नहीं है, द्वितीय कल्पना का भी अभाव है और जो अद्वैतरूप है, मैं उसकी उपासना करता हूँ । चौथे सिद्धने कहा कि जो दोनों के मध्य में है और अस्ति नास्ति के पक्षों से रहित प्रकाश सत्ता है और जिससे सूर्य आदि प्रकाशते हैं, मैं उस आत्मा की उपासना करता हूँ । पाँचवे सिद्धने कहा कि ईश्वर सकार और हकार दोनों है । सकार जिसके आदि में और हकार उसके अन्तमें है और वही अन्तसे रहित अनन्त, आनन्द शिव परमात्मा समस्त जीवधारियों में स्थित है और जो निरन्तर अहंरूप होकर उच्चारता है, मैं उस आत्मा की उपासना करता हूँ । छठवे सिद्धने कहा कि, हृदयस्थित, देवको त्याग कर जो अन्यदेव को पाने का यत्न करते हैं वे पुरुष हाथ में कौस्तुभ मणिको त्याग कर अन्य रत्नों की वाञ्छा करते हैं । सातवें सिद्धने कहा कि निष्काम कर्म करने से आवागमन से मुक्ति प्राप्त होती है परन्तु कर्म करके जो फलकी आशा करते हैं अर्थात् प्रदार्थों को जो अत्यन्त विस्मरूप जानकर उनमें आशावान होने हैं वे मनुष्य नहीं दुर्बुद्धि गर्दभ हैं । इसलिये जब-जब विषयो की ओर दृष्टि उठे तब-तब उसको विवेक से नष्ट करो । ऐसा शुद्ध आचरण करने से समभाव प्राप्त होगा । और उसमें मन उपशम हो आत्मपद को प्राप्त होकर अक्षय एव अविनाशी पदको प्राप्त होगा ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उपशम-प्रकरण, का पाँचवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५ ॥

छठाँ सर्ग ।

जगत-निश्चय

वशिष्ठजीने कहा,—हे रामजी । इस प्रकार सिद्ध-गीता सुनकर राजा जनक को बड़ा विपाद हुआ । वे मनही मन विपाद करते हुये घर आए और श्री चञ्चल दशा, पर विचार करते हुये

अपने को अनेक प्रकारसे विकार कर कहने लगे कि, महान् दुःखकी बात है जो समस्त जीव जडरूप हैं, चैतन्य कोई नहीं है। इन्हीं पापाणवत् जीवोंके समान मैं भी पापाण हो रहा हूँ। मेरे ये मंत्री और मेरा सारा राज्य भी क्षणभंगुर है। इममे जो सुख हैं वह दुःख रूप है। फिर मैं इसमें क्या आस्था करूँ। यह समस्त प्रपञ्च रचना तो इन्द्र-जालिक है, मैं इसमें क्यों मोहित हो रहा हूँ। हाय मेरी बुद्धि कितनी निकृष्ट हो रही है कि मंसार की रमणीय वस्तुओं में मैं भूला रहता हूँ और यह नहीं जानता कि मंसार की सब वस्तुयें आगमापापी अर्थात् उदय होती ओर मिटती रहती हैं। संसार के सब पदार्थ पानी के बुलबुले के समान क्षणभंगुर हैं। इसमें जितना भी सुख है सब दुःख से मिश्रित है, फिर मैं इसमें आस्था करूँ। सुखको दिन, पक्ष, मास और वर्षोंमें भी क्रदाचित ही आते हैं पर दुःख तो बार-बार आते रहते हैं। फिर मैं जीवित रहकर किस सुख की आस्था करता हूँ। कितने ही बड़े बड़े लोग हुये, सब नाश हो गये, फिर कोई नहीं रहा। मैं बार बार विचार कर देखता हूँ तो इस जगत में कोई पदार्थ सत्य नहीं, सब नाशरूप है। फिर मैं किस पदार्थ में आस्था बाँधूँ। आज जो ऐश्वर्य वाले हैं वही कल नीचे गिरेंगे। हे चित्त। बड़ा खेद है कि तू किस बड़ाई में आस्था बाँध रहा है। आयुर्वल से बँधा हुआ तू किस किसके लिये कलङ्कित हो रहा है। उच्चपद में स्थित होकर तू अब नीचे क्यों गिरता है। महान् खेद है कि मैं आत्मा होकर भी नाश को प्राप्त होता हूँ। ज्ञान नहीं कि मुझे अकस्मात् मोह क्यों आया और आत्मा क्यों नहीं भासित होता। भोगी और बान्धवों से मुझे क्या प्रयोजन मैं इनमें क्यों मोहित हो रहा हूँ। देहाभिमान से जीव स्वयं ही बन्धायमान होता है। शरीर में अहकार ही जरा मरण आदिक विकार के कारण हैं। फिर मेरा इनसे क्या प्रयोजन। इन अर्थों में मेरी क्या प्रशंसा है और इस राज्य में भी मैं क्यों धैर्य धारण करके बैठा हूँ। यह सब पदार्थ

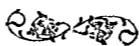
तो क्षोभ देनेवाले और जैसे के तैसे रहनेवाले हैं। इससे इनमें मेरी न तो ममता है और न संग है, सब मिथ्या है। क्योंकि सांसारिक सुख विपके समान है और इनमें आस्था करनी मिथ्या है। बड़े-बड़े ऐश्वर्यमान और पराकर्मी हुये पर मृत्यु ने किसी को न छोड़ा तो अब धैर्य भी क्यों धारण करूँ। अब कहाँ वह धन है, कहाँ वह राज और कहाँ उस ब्रह्मा का जगत है इत्यादि।

इस प्रकार अनेक प्रश्नों पर संकल्प विकल्प करते हुये राजा जनक विपाद कर रहे थे कि उसी समय राजा के निकट एक दासी ने जाकर कहा, हे देव। अब उठिये और स्नान ध्यान कीजिए। स्नानांगार में पुष्प, केशर और गङ्गाजल आदि के कलश लिये स्त्रियाँ खड़ी हैं। पूजा की सब सामग्री एकत्रित हो गई है। वहाँ विप्रवृन्द हाथों में पवित्री लिये बैठे जाप कर रहे और आपके आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। उधर भोजनांगार में भोजन भी तैयार हो रहा है। इससे शीघ्र उठिए और यथाविधि सब कार्य समाप्त कीजिए। काल न व्यतीत कीजिए।

हे रामजी। दासी के ऐसा कहने पर राजा जनक ने संसार की विचित्रता पर फिर विचार किया। तब विचार करते हुये वह राजा सुखों से अपने को पृथक करने लगे। वह मनही मन कहते कि अनेक राजभोग और क्रिया कर्मों से अब मैं तृप्त होगया हूँ। सब कर्मों को त्याग कर केवल सुख में होऊँगा। क्योंकि भोग तो चञ्चल करनेवाले भ्रमररूप है, इनमें शांति कहाँ। इनसे तो तृष्णा बढ़ती ही जाती है। उससे अब मैं इसको त्याग करूँगा। हे चित्त। जिन २ दशाओं में तुझे गिराया है और तूने जैसे-जैसे भोग भोगे हैं, सब मिथ्या है। इससे भ्रमररूप भोगों को त्याग कर तू परम सुखी हो। उचित अनुचित भोगों को तो तूने अनेक बार भोग किया है, पर तृप्त कभी न हुआ, इससे तू इनका त्याग कर परमपद के आश्रित क्यों नहीं होता ? जब तक इन लुच्छ भोगों को त्याग न करेगा,

तब तक परमपद का आनन्द कदापि न होगा । हे रामजी ! इस भाँति चिन्तन कर जनक चुप हो रहे और मनकी चंचलता त्याग कर स्थित हो मूर्तिके समान चित्रित रह गये । उनकी इस दशाको देखकर दासी को फिर कुछ कहने का साहम न पडा । उगी क्षण मन की समता के लिये चिन्तन करते हुये राजाने मनहीमन कहा कि, मेरे लिये ग्रहण और त्याग कुछ नहीं, मे क्या साधन करूँ, मभी पदार्थ तो नाशवान है । कुछ करूँ तो भी क्या और न करूँ तो भी क्या । कर्तव्य तो शरीर करता है । निर्मल अचल रूप चेतन न कर्ता है और न भोक्ता है । फिर मेरे लिये क्या कर्तव्य है ? करने न करने में मुझे कोई हानि नहीं, प्राप्त वस्तु मे विचरता हूँ और अप्राप्त की इच्छा नहीं करता । इससे प्राप्त का त्याग न करते हुये अब मैं अपने स्वरूपमें स्थित होकर स्वस्थ होऊँगा । क्योंकि प्राप्त कर्मको ही करहा हूँ । फिर इसके करने में मुझको अर्थ और दोष क्या है ? क्रिया करने और न करने तथा युक्त अयुक्त, ग्रहण और त्याग करने योग्य मुझे कुछ नहीं है । अतः जो प्राप्त करने योग्य कर्म है मे वही करूँगा । क्योंकि कर्मका सम्यन्ध शरीर है, आत्मा से नहीं । इससे मैं सग रहित होऊँगा । जब मन कामना रहित स्थित होगया तब शरीरसे कर्म हो भी तो इष्ट अनिष्ट उसके लिये समान है । यह कर्ता भोक्ता तो तब है, जब शरीर से मिलकर मन कर्म करे और इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में राग द्वेष करे । पर जब मन उपशम होगया तब उसके लिए कर्तव्य और अकर्तव्य भी क्या है ? हृदय में जैसा दृढ निश्चय होता है, वही पुरुष का रूप होता है ।

श्री योगनागिष्ठ-भाषा, उपशम-प्रकरण का अठौं सर्ग समाप्त ॥ ६ ॥



सातवाँ सर्गः।

बुद्धि की महिमा

हे रामजी! इस प्रकार अनेक प्रश्नों पर विचार कर राजा जनक अपने स्वरूप में स्थि हुये और जगत का यथोचित व्यवहार करने लगे। ग्रहण और त्याग सम्बन्धी उनकी सारी कल्पनायें जाती रही। उनका मन मलिनतासे रहित और सम्यक ज्ञानसे निश्चलभावको प्राप्त हुआ। उस महा प्रकाशरूप चैतन्य आत्माका प्रकाश होने पर उनमें अनन्त आत्मा प्रकट हुआ जिससे उन्होंने अपने ही स्वरूप में सब पदार्थों और समस्त आत्मभूतों का दिग्दर्शन किया। इन्द्रियों के इष्टनिष्ठ में उन्हें कुछ भी खेद न होता था प्राकृतिक व्यवहारानुकूल आचरण करने लगे और जीवन्मुक्त होगये। यद्यपि विदेहनगर को बृहद्राज्यका उत्तरदायित्व उनपर था, तथापि पूर्णज्ञान की दृढता से उन्हें कुछ हर्ष और विपाद न हुआ, वह भलीभाँति राज्य संचालित कर प्रजा को प्रसन्न करते रहे। कैसा भी अर्थ सिद्ध हो और कैसा भी असिद्ध हो, उनको कंदाचित् हर्ष और शोक न होता था। हे रामजी! उसी भाँति तुम भी निरन्तर आत्मस्वरूपमें स्थित रहकर सारे कार्यको करो। अब तुम जीवन्मुक्त होगये हो। देखो, राजा जनकको पदार्थों की कोई भावना न थी। वह सुषुप्ति वृत्तिवाले होगये और उन्हें न कुछ भविष्य की इच्छा रही और न भूत की चिन्ता। जो कार्य वर्तमान होता था उसीकी यथाशास्त्र करते थे। इस विचारसे उन्होंने प्राप्त करने योग्य पदको पा लिया और कभी कुछ इच्छा न की। हे रामजी! वह जीव आत्मपदको तब तक नहीं पाता जब तक उसके हृदयमें पुरुषार्थ बीज नहीं उत्पन्न होता। पुरुषार्थ बीज उदय होने पर सभी प्रकार के दुःख मिट जाते हैं। परम संपदा प्राप्त होती है। पर ऐसा पद शास्त्र युक्त होने पर ही नहीं प्राप्त होता, यह अपने हृदयमें विचार करने है। वह पद मल रहित है।

और हृदय की दावाग्नि को शांत करने वाला है। बड़ासे बड़ा दुःख अपनी बुद्धि के विचार रूपी प्रकाशसे ही तरा जा सकता है। इसलिये जिसको आपदाओंसे बचनेकी इच्छा हो, उसे चाहिये कि पहले संतोंका संग और सत्शास्त्रों का विचार करे और अपनी बुद्धिको बढ़ावे। बुद्धिके बढ़ने से ज्ञान होगा और परम आनन्द प्राप्त होगा। अन्यथा सांसाररूपी वृक्ष बीज ने तो बुद्धिको मूढ बनाही दिया है। इससे मूढता से युक्त होने की परम आवश्यकता है। बिना बुद्धिरूपी जहाज के संसार सागर नहीं पार हो सकता। और इस संसार सागर का बुद्धिरूपी जहाज तप और तीर्थ आदिक शुभ आचारों के बिना नहीं चल सकता। यद्यपि ज्ञान रहित बल ऐश्वर्य से भी बड़ा है किन्तु तुच्छ अज्ञान उसे क्षणभर मे नाश कर डालता है। अस्तु सर्वार्थ सिद्धियाँ अपने ही में स्थित हैं कि उससे जो माँगा जाय वह अवश्य प्राप्त होगा। यदि अल्प मात्रा में भी बुद्धिः सद्मार्ग की ओर प्रवृत्त होवे तो बड़े से बड़े सकट सहज हीमें दूर होजाते हैं। हे रामजी ! बुद्धिमानजनों को सासारिक दुःख नहीं कष्ट दे सकते। क्योंकि जिस बुद्धिसे मनुष्य सर्वात्मपद को भी पालेता है तो हर्ष, शोक, सपदा और आपदा उसका क्या कर सकते हैं। पर नहीं, जब आत्मरूपी सूर्यके आगे अहंकार रूपी मेघ आजातेहैं, तब वह आत्मरूपी सूर्यके आगे अहंकार रूपी मेघ आ जाते हैं, तब वह आत्मरूपी सूर्य नहीं भासित होता। जब बोधरूपी वायु चले तब वे मेघ विलीन हो और आत्मरूपी ज्यों के त्यों भासने लगते हैं। आशय यह कि अभ्यास और वैराग्य द्वारा ही परमपद की प्राप्ति होती है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम-प्रकरण का सातवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७ ॥



आठवाँ सर्ग ।

मन निर्वाण वर्णन

वशिष्ठजी बोले,—हे रामजी ! वेद विदित भूत कालीक महा पुरुषों ने और राजा जनक आदि ने जेमा आचरण किया है वैसा ही आचार कर तुम भी निर्वाण पदको प्राप्त करो । बुद्धिमान जन का यह कार्य है कि वे स्वयं ही परमपद को प्राप्त होते हैं । जब तक आत्मदेव न प्रसन्न हों तब तक इन्द्रिय रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनेकी चेष्टा करते रहो । जब वह आत्मदेव सर्वगत परमात्मा और ईश्वरोंका भी ईश्वर प्रसन्न हो जायगा, तब स्वयं ही प्रकाश देख पड़ेगा और सारे दृष्टि दोष क्षीण होजायेंगे । उसका साक्षात्कार होने पर भ्रान्ति दृष्टि कदापि नहीं रह सकती । इससे राजा जनक आदि ने जैसे जैसे आचरण किये हैं वैसाही आचरण कर तुम भी ब्रह्मलक्ष्मी हो आत्मपद में स्थित हो जगत में विचरो इससे तुमको रज्जमात्र भी खेद न होगा । वे परमदेव अहर्निश आत्मचित्तन से स्वयंही प्रसन्न होजाते हैं । तब संसार के चञ्चल प्राणियों को देखकर हँसी ही हँसी आती है । अतएव संसारभय से भयभीत प्राणी स्वयं ही अपने प्रयत्न द्वारा अपनी रक्षा कर सकते हैं अन्यथा धन और बन्धुजनों से रक्षा नहीं हो सकती । एक पुरुष वह जो देवाधिदेव करते हैं । वे और शास्त्र विरुद्ध कर्म भी करते हैं । वे मध्यम बुद्धिके हैं । तुम उनके मार्गका अनुसरण न करना । उनकी बुद्धि नष्ट करने वाली है । इससे तुम परम विवेक का आश्रय करो और स्वयं ही स्वयन् को जानो । उधर जो राजा जनक के वृतांत में मैंने तुमको बतलाया है कि वैराग्य और शुद्धबुद्धि द्वारा ही संसार सागर पार हो सकता है । सिद्धों के विचारमें पहुँचने पर जनक को इसी प्रकार ज्ञान प्राप्त हुआ था । फिर तुमको क्यों न प्राप्त होगा । इस विचार से तुम्हारे मनका मनन भाव अब वैसेही नष्ट हो जायगा जैसे सूर्यकी किरणों से बरफ का टुकड़ा गल

कर नष्ट होजाता है। फिर तो परमात्मा के प्रकाश का साक्षात् अवश्य होगा और सारी भेद कल्पनायें नष्ट हो अनन्त ब्रह्माण्ड के व्यापक तत्व का भी प्रकाश अवश्य होगा। इससे राजा जनक के समान तुम भी विचार करके अहंकार की वासनाओं को परित्याग करो। अहंकार रूपी मेघ नष्ट होने पर चित्ताकाश निर्मल हो आत्मरूपी सूर्य अवश्य प्रकाशित होगा। पर बिना मेघावरण के हटे कदापि न भूमित होगा। हे रामजी। मन बड़ा चंचल है। इसको शांत करने के लिये तुम यह समझो कि न मैं हूँ, न कोई है और इष्ट अनिष्ट पदार्थ भी कुछ नहीं है। इससे यह शांत होगा। इष्टानिष्ट का ग्रहण और त्याग की भावना तो मनका रूप है और यही वन्धन का भी कारण है। अतएव तुम इष्ट अनिष्ट में न फँसे कर जो शेष प्राप्त हो उसी में स्थित रहो। क्योंकि जब तक हेयोपादेय बुद्धि का नाश नहीं हो जाता तब तक समभाव आ नहीं सकता और जब तक पदार्थों के इष्टानिष्ट की बुद्धि वर्तमान है, मन चंचल है तब तक समत्व भाव नहीं प्राप्त हो सकता। ब्रह्मसत्ता निरामय रूप और ननात्वभाव से पृथक है। फिर उममें इष्ट अनिष्ट क्या है? उममें इच्छा प्रनिच्छा को स्थान नहीं है। जब तक उममें यह दोनों प्रकार स्थित हैं अर्थात् जब तक स्फुरण है तब तक समभाव कदापि नहीं आ सकता। किन्तु जिन पुरुषों को हेयोपादेय बुद्धि नहीं है, उनको यह भाव अवश्य प्राप्त होता है। उस भाव में उस एक समत्व के प्राप्त हो जाने से भोग स्पृहा और देहाभिमान नष्ट हो जाता है और निर्भीकता, निर्व्यता, समता आत्मदृष्टि, ज्ञान निष्ठा, निरिच्छता, विहंकारता, अकर्तापन का भाव, इष्ट अनिष्टमें समचित्तता, निर्विकल्पता, आनन्दता, धैर्यता, एकरसता, स्वरूपता, मैत्री, सदबुद्धिता, तुष्टता, निश्चयता, सुदृिता, मृदुता, आदिक शक्तियाँ हेयोपादेय से रहित पुरुष में स्वतः ही आ प्राप्त होती हैं। पर वह सारी शक्तियाँ अथवा भाव तब आते हैं जब संसार से पृथक

कर मनको आत्मपद में लीन किया जाय । ऐसा करने से आत्म-पद स्वयं ही प्रकाशित होता है । इस लिए हृदय से सारी वासनाओं को त्याग कर विचाररूपी शिला से बुद्धि को तीक्ष्ण कर इस जाल को वेधो तब संसार से मुक्त होवोगे । क्योंकि संसार रूपी वृक्ष का मूल-बीज मन है । इस कारण मन से ही मन को छेदो इससे यह होगा कि संसार भूल जायगा और फिर मनमें न स्फुरित होगा । इस संसार में चलो, बैठो, सोवो और श्वास लो; पर सबको असत्य जानो, तब तुम्हारे मनमें कदापि चिन्ता न होगी । इष्ट अनिष्ट की चिन्ता न करके जो प्राप्त हो उसीमें विचरो, आस्था न करो । देखो, आकाश सर्वत्र है, पर किसी से स्पर्श नहीं करता । इसी प्रकार तुम भी मनसे किसी में आस्था न करो, क्योंकि तुम स्वयम् ही चैतन्य रूप हो और सर्वत्र तुम्हीं हो । फिर तुमको संसार के पदार्थ क्या चलायमान करेगे । तुमको तो अपने स्वरूप का भी ज्ञान हो गया है । सांसारिक पदार्थों में तो वे भूलते हैं जिनको स्वरूप का परिचय नहीं हुआ है । ज्ञानी पुरुष राग-द्वेष से विमुक्त रहते हैं । उनके लिए पापण और लोह तथा सुवर्ण समान है । सांसारिक वासनाओं का परित्याग ही मुक्ति है ?

हे रामजी ! मन जड़ है और आत्मा चैतन्य है । चेतन शक्ति द्वारा ही जीव पदार्थों को ग्रहण करता है, पर आत्माका उससे कोई सम्बन्ध नहीं है । उस चैतन्य-शक्ति को पाकर मन दृश्यों का आश्रय करता है अन्यथा वह स्वयं ही असद्वृष है । चेतन सत्ता ही उसे जीवित रखती है । जब तक वह सत्ता उसे न प्राप्त हो तब तक और कुछ करने को कौन कहे, वह उठ भी नहीं सकता । वह शक्ति पाकर और सद् आत्म सत्ताको भूलकर वह जो कुछ करता है उसका नाम कलना है । यह कलना ही सब कुछ है । जब इस कलना को अपना ज्ञान हो तभी आत्मभाव प्राप्त होता है, और तभी प्रमाद रहित यह आत्मरूप भी हो जाता है । पर ज्ञान कैसे हो ?

ज्ञान के लिये सत्शास्त्र, निरूपण और इन्द्रिय निग्रह की आवश्यकता होती है। कलना को जगाने की यही उक्ति है। इस उपाय से सर्व जीवों की कलना जाग जाती है और वह तत्त्वको प्राप्ति है। किन्तु जिन पुरुषों ने मोह रूपी सुरा का पान किया है वे उन्मत्त होकर विषय रूपी गढ़े में गिरते हैं। क्योंकि वे सोई हुई शक्ति को न जगाकर अग्रबुद्ध ही रहते हैं। अस्तु कलना तो जड़ है ही, उसका क्या, वह विकाश तो तब करती है जब परमार्थ सत्ता से जगाई जाय। भला कहीं पापाण की मूर्ति भी 'नृत्य कर सकती है' वह तो जड़ है। ऐसे ही शरीर में कलना (मन) भी जड़ है, वह चेतन का कार्य करना क्या जाने। पर इसको जो कुछ भामता है वह ऐसा ही है जैसे मृग तृष्णा का जल। शरीर में जो प्राणशक्ति है, वही सब कुछ करती है। उसीके सहारे हम चलते बोलते उठते और बैठते हैं। पर ग्यानदात्रीकी शक्ति भी क्या है। आत्मा और प्राण का जब समागम होता है तब प्राण से मिलकर चेतन सवित का नाम जीव होता है। बुद्धि, चित्त और मन उसीको कहते हैं। पर इस नाम सज्ञाकी कल्पना अज्ञानसे है और अज्ञानीको जैसा भास आवे उसके लिए वैसाही है। परमार्थतः न तो कुछ हुआ है, और न मन, बुद्धि और न शरीर ही कुछ है, अद्वैत आत्मा ही स्थित है। सारा समार और काल तथा क्रिया आत्माका ही रूप है। वह आत्मा अस्ति नास्ति सब कुछ है और आकाश से भी निर्मल है। उसमें और कोई फरना नहीं है। वह सब सत्त्वरूप है। उसका कोई पद नहीं इससे असत्य है और अनुभव से जाना जा सकता है, इससे सत्य भी है। पर वह सर्व कलनाओं से परे है। जब ऐसे अनुभव का ज्ञान हो तब मन नष्ट हो जाता है। हे रामजी ! इस मननेही सारे संसार को फेला रखा है। चेतना शक्ति जब सकल्प के समक्ष होती है तब उसीको मन कहते हैं। इस प्रकार जब वह निर्विकल्प चित्तसत्ता सकल्पवश प्रलिन होता है तब उसका नाम कलना है। वह मन जब घट

पंटादि के समान परिच्छिन्न भेद को प्राप्त होता है, तब क्रिया शक्ति अर्थात् प्राण और ज्ञान शक्ति से जा मिलता है, उस संयोग का नाम संकल्प का करने वाला मन होता है। वस, यही मन जगत का बीज है। उसको क्षीण करने के दो उपाय हैं। एक ज्ञान तत्व को जानना और दूसरा प्राणरोकना। प्राण शक्ति का निरोध होने से मन अवश्य लीन होता है। दूसरा सत्शास्त्र द्वारा ज्ञान तत्वसे भी मन लीन हो जाता है और हृदय कोपसे जो श्वास बाहर आवे जावे उसे प्राण कहते हैं। मन की सीधी व्याख्या यह है कि शरीर बैठा है और मन देश देशान्तरों में भ्रम रहा है। वह मन वैराग्य और योगाभ्यास से वासनारहित होने एव प्राण वायु को स्थिर करने से क्षीण होता है। प्राण करने से चित्तकला का उससे वियोग होता है और तत्वज्ञान होने से भी वह मन स्थिर होता है। इस प्रकार प्राण स्थिर होनेसे मन स्थिर हो जाता है। प्राणकी स्थिरता से चित्तकला उससे नहीं मिल सकती इससे वह स्थिर हो जाता है और नहीं रहता। यह जो फुरता है, वह प्राण की शक्ति से ही फुरता है और वह स्पन्दरूप प्राणशक्ति चलरूप जड़ है। किन्तु आत्मसत्ता चैतन्यरूप स्वतः स्थित है। मन का ज्ञान मिथ्या है। क्योंकि वह संकल्प ही से उत्पन्न हुआ है। यदि संकल्प न उठे तो मन कहाँ ? इसलिये तुम सांसारिक भय से भयभीत न होवो। यह मन कुछ नहीं कर सकता। परन्तु आवश्यकता है इसको नष्ट करने की। क्योंकि यह बड़ा दुष्ट है। इसके समान तीनों लोकों में भी कोई दुष्ट नहीं है। सम्यक ज्ञान होने से यह मृतक हो जाता है। अन्यथा यह चित्त तो मिथ्या और अनर्थ का कारण है। इसलिए तुम इसको मत धारण करो, अथवा संकल्प मत उठावो। संकल्प का ही नाम तो मन है, अन्यथा यह कुछ नहीं है। मृग तृष्णाकी नदीके समान ही यह मिथ्या है। पर बिना सम्यक ग्यान के इसका अभाव नहीं हो सकता और इस मृतक का जब

तक अभाव न होगा तब तक यह सब को मृतक ही बनाये रहेगा। पर है बड़ा आश्चर्य कि शरीरहीन और आधाराघेय रहित होते हुए भी यह जगतको भक्षण किया करता है। इसके पास कोई जाल नहीं पर सबको जाल में फँसा रखा है। सामग्री, बल, तेज, विभूति और हाथ पाँव से रहित होते हुए भी यह लोगों को मार रहा है। परन्तु केवल मूर्ख ही ऐसे हैं जो समझते हैं कि हम इसमें बाँधे हुए हैं। शूरमा तो इसका हनन ही करते हैं। क्योंकि वह जानते हैं कि यह मिथ्या संकल्प से उदय हुआ है। यह इतना दुष्ट है कि किसी को लख नहीं पड़ता। मैं स्वयम् इसकी विस्तृतता और चञ्चलता को देखकर आश्चर्य चकित होता हूँ। फिर मूर्ख तो अनेक आपदाओं का ही पात्र है। बड़े दुःख की बात है कि सृष्टि इस मूर्खता में पड़ी हुई चल रही है और मन सबको तप्त कर रहा है। पर वास्तवमें यह कुछ है नहीं। केवल मिथ्या कल्पना ही निरुष्ट और कृपण करके लोगों का हनन कर रही है। इससे वे लोग मूर्ख हैं और मेरा उपदेश उनके लिये नहीं है। मेरे उपदेश के अधिकारी तो वे जिज्ञासु जन हैं जो संसार से मुख मोड़ कर आत्मा का साक्षात्कार करने की विन्ता और इच्छा रखते हैं। ऐसे ही जनो को उपदेश करना भी चाहिए। हे रामजी। यह मन अज्ञानियों को अपने वशमें करके भोगों के तुच्छ क्षणिक सुख के लिए यत्न करता है और न मिलने पर प्राणी महान दुःखको प्राप्त होते हैं। और हृदयमें स्थित अपने स्वरूपके प्रभाद वश नहीं देख पाते और जिससे सदैव कष्ट में ही रहते हैं।

श्री योगशास्त्रि भाषा, उपशम प्रकरण का आठवाँ सर्गः समाप्त ॥ ८ ॥



नवाँ सर्ग ।

चित्त चैत्यरू वर्णन

हे रामजी ! इस संसार सागरमें राग-द्वेष की अनेक तरङ्गे उठा करती हैं । उनमें जो मनको मूढ और जड़रूप नहीं जानते वे बहा करते हैं । उनको आत्मपद का दर्शन होता । क्योंकि यह विवेक वाणी मैंने जो अभी तुमसे कही है, वे इसके योग्य नहीं हैं और इसीसे वे मूढ़जन इस मन पर विजय नहीं पाते । जिनका मन पर अधिकार नहीं है, उसको मेरी यह वाणी शोभा नहीं देती । फिर उनको उपदेश करने से क्या लाभ । जो प्राणी इन्द्रिय-लोलुप हैं और मन उनके अधिकार में नहीं है उनको आत्मज्ञान का उपदेश करना व्यर्थ है । जिसके शरीर को कुष्ट ने जला दिया है उसे कैसी भी औषधि हो तो क्या लाभ देगी और जो इन्द्रियों के पीछे मदिरा पीनेवाले की भाँति पागल हो रहा है, उसके निकट धर्माधर्म का निर्णय क्या है ? भला ऐसा बुद्धिहीन कौन होगा जो श्मशानकी शवसे प्रश्नोत्तर करे ? हे रामजी ! वहीं पुरुष हैं जो हृदय की बाँधी में बैठे हुए मूक जड़रूप सर्प को निकाल कर बाहर कर दें । किन्तु जो बुद्धिहीन उसे जान नहीं सकता उसको उपदेश करना व्यर्थ है । ऐसा पुरुष अमृत को त्याग कर विष-पान करता है और मर जाता है । किन्तु ज्ञानी पुरुष सदैव आत्मा ही को देखते हैं । वे जानते हैं कि इन्द्रियाँ अपना अपना कर्म कर रहीं हैं और जीवको उससे कोई बन्धन नहीं है । और सर्वशक्तिमान सर्वात्मासे कुछ भिन्न नहीं है, और मन कुछ नहीं है । हे रामजी ! मुखों को देखकर मुझे दया आती है और मैं विचारता हूँ कि यह विचारे इतना खेदवान् क्यों रहते हैं । और वह दुःख देनेवाली वस्तु क्या है कि जिससे वे इतना तप्त होते हैं, तब मुझे पता लगता है कि ये मूर्ख प्रमाद वश दुःखोंकी परम्पराको प्राप्त होते हैं । और बुद्धिहीन शरीर पाकर समुद्र के बुदबुदे के समान

संसार में उत्पन्न होकर मर जाते और नष्ट हो जाते हैं, फिर उनके लिए करना क्या है। वे तो महान् तुच्छ और पशुओं से भी नीचे हैं। भला कोई पशुओं, मच्छरों और जलचर जीवों के मृतक होने पर भी शोक और विलाप करता है ? ऐसे ही अनेक जीव नाश होता है उनका विलाप नहीं होता। इसलिए अब जो वर्तमान हैं उनके लिए तुम विलाप न करना क्योंकि समय नाश रूप और तुच्छ हैं। समय पर काल सबको भक्षण करता है। जगतमें जितनी भूत जातियाँ हैं, काल निरन्तर सब को जीर्ण करता है और परस्पर एक-दूसरे को खाते रहते हैं और दूसरी ओर अनेक जीव उत्पन्न भी होते रहते हैं और कोई रुदन करते तथा कोई सुख और दुःख दोनों ही भोगते रहते हैं। तिसमें पापी तो पापों के दुःख से निरन्तर ही मरते और सृष्टि में उत्पन्न और नाश होते रहते हैं। उनकी कोई सख्या नहीं। इसलिये ज्ञानी जन अपने आप पर दया कर, अपने को संसार सागर से पार करते हैं। किन्तु मृदु और पशुओं में कोई भेद नहीं। हमारी कथा का उपदेश उनके लिए नहीं है। क्योंकि वे केवल देखने मात्र को मनुष्य हैं अन्यथा वे पशुधर्मा है। उनसे मनुष्योचित धर्म का अर्थ कुछ सिद्ध नहीं होने का। इससे वे मेरी वाणी के योग्य नहीं है। ठूठे वृक्ष के समान उन मृगों से कुछ भी अर्थ सिद्ध होने का नहीं, वे चित्त के खींचने पर वैसे ही उस ओर चले जाते हैं, जैसे पशु को गलेमें रस्ती बाँध कर जिस ओर खेंचे वह उस ओर चला जाता है। ऐसे ही मृदु जीव पशुओं के समान विषयरूपी कीच में फँस कर महान् आपदा को प्राप्त होते हैं। उन मृगों को आपदा में फँसा देख कर पत्थर भी रो पड़ता है। कारण कि उन मृगों ने अपने चित्त को न जीत कर दुःखों के समूह को प्राप्त किया है। परन्तु जिसने चित्त को बन्धन से निकाल लिया है वे बड़े भाग्यशाली हैं। उनके समस्त दुःखों का नाश हो जाता है और संसार में नहीं उत्पन्न होते। इससे बिना चित्त पर विजय पाये दुःखों का नाश नहीं हो सकता। यदि

चिरा जीतने से सुख न प्राप्त होता तो बुद्धिमान जन इसमें प्रवृत्त ही क्यों होते ? जब बुद्धिमान जन इसके लिए प्रवर्तते हैं तब निश्चय जानो कि चित्त भी बश होता है और मन रूपी भ्रम का नाश होने पर आत्म सुख अवश्य प्राप्त होता है । हे रामजी ! मन कुछ है नहीं, केवल मिथ्या भ्रम से कल्पित है । आत्मसत्ता का विस्मरण होने से ही मूढ़ता है और इसी विस्मरण से हृदय में मनरूप सर्प विराजता है । और विवेक रूपी गरुण के उदय होने से नष्ट हो जाते हैं । पर अब तुम जागो हो और सब कुछ जानने लगे हो । हे रामजी ! अपने ही संकल्प से चित्त बढ़ता है, इससे संकल्प का शीघ्र त्याग करो । तब चित्तशान्त होगा । पर यदि तुम हृदय का आश्रय करोगे तो बन्धन होगा और अहंकार आदिक दृश्य का त्याग करोगे तो मोक्षभागी होवोगे । आशय यह कि दृश्य का आश्रय बन्धन है और दृश्य से रहित होना मोक्ष है । फिर तुम्हारी जैसी इच्छा हो वैसे करो । ऐसा ध्यान करो कि न मैं हूँ और न यह जगत है, मैंकेवल अचलरूप हूँ । ऐसा संकल्प रहित होने से आनन्द चिदाकाश हृदयमें आ प्रकाशेगा । वही सब कुछ है, तुम उसी में स्थित होवो । आत्मा और जगत अथवा दृष्ट्वा और दृश्य से जो दर्शन और अनुभव सत्ता है, तुम सदैव उसी की भावना करो । वही आत्मतत्त्व है तुम उसी में तन्मय हो जाओ । दृष्ट्वा और दृश्य के मध्य में अवलम्ब रहित साक्षीरूप आत्मा है तुम उसी में स्थित होवो । हे रामजी ! ससार भाव और अभावरूप दोनों ही हैं, इसलिए तुम इसकी भावना को त्याग कर जो भाव रूप आत्मा है उसी की भावना करो, वही तुम्हारा स्वरूप है । फिर दृश्योंके प्रपञ्चके परे जो वस्तु शेष हो, वही अपना स्वरूप है । वही अन्त तक रहने वाला है और वही परमानन्द स्वरूप भी है । परन्तु चित्त भावको ग्रहण करना अपार दुःख है और चित्त रूपी संकल्प ही बन्धन है । मुक्ति पाने के लिए स्वरूप के ज्ञानयुक्त बल से उस बन्धन को काटना चाहिए । अन्यथा आत्मा को त्याग

कर-ससार-मे-सकल्प विकल्पों को लेकर कोई सुखी नहीं हो सकता। किन्तु आत्मा ही है—ऐसा ज्ञान उत्पन्न होने से चैत्य चित्त और चेतना का सर्वदा अभाव हो जाता है। मैं आत्मा नहीं, जीव हूँ ऐसी कल्पना का नाम चित्त है। चित्त से अनेक दुःख प्राप्त होते हैं। पर उपशम होने से चित्त शान्त होता है। मैं आत्मा हूँ, जीव नहीं, यही सत्य है और उससे कुछ भिन्न नहीं है, इसीका नाम है चित्त उपशम। इसमें संशय नहीं कि उपशम होनेसे चित्त अवश्य शान्त होजाता है। यह मन सब शरीर के भीतर स्थित है और यह जब तक रहता है तब तक जीव को बड़ा भय देता है। इससे परमार्थयोग द्वारा इसको काट डालो। मन न रहेगा तब भय भी न रहेगा। क्योंकि यही भ्रम मात्र उत्पन्न हुआ है। हे रामजी। जब यह चित्त रूपी बैताल निकल भागेगा। तब तुमको भय कुछ न व्यापेगा। अब मेरी वाणी को सुनते-सुनते तुम मत्त पर विजय पा चुके हो, इसलिए अब सब तृष्णा को त्याग कर शान्तरूप में स्थित होवो।

॥ श्रीयोगवाशिष्ठ भोषा, उपशम-प्रकरण का नवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६॥ ॥

दशवाँ सर्गः।

तृष्णा-विवेचन-

वशिष्ठ, जी ने कहा,—हे रामजी। यह चित्त बड़ा विचित्र है। इसी बीज से ससार उत्पन्न हुआ है। जब चित्त शक्ति आत्मसत्ता को त्यागती है, तब यह चित्त उत्पन्न होता है और तब कलना रूप थल धारण कर मोह उत्पन्न करता है। वह मोह संसार का कारण होता है और तब तृष्णारूपी विष बेलि फूलती है। उसको देखकर वह मूर्छित हो जाता है और आत्मपद की ओर नहीं चलता। फिर तो क्रमशः तृष्णा उत्पन्न होकर मोह को बड़ा देती है, जिससे तृष्णारूपी श्यामरात्रि से परमार्थसत्ता ढँक जाती है और प्रलय काल की अग्नि प्रखरित होकर सबका संहार करती है। उसको कोई बुझा नहीं सकता।

यह तृष्णा-खड्ग देखने में तो शीतल कोमल, और सुन्दर है, पर स्पर्श करते ही नाश कर डालती है। जो दुःख बड़े-बड़े पापों से प्राप्त होता है, वह तृष्णारूपी फूल का ही फल है। यह तृष्णारूपी कुतिया चित्तरूपी हृत् में बैठी हुई कभी छोटी और कभी बड़ी हो जाती है। इसके उत्पन्न होने से मनुष्य महादीन हो जाता है। कोई कैमा भी दरिद्र और कृपण क्यों न हो, यदि वह तृष्णा से रहित है तो उसे बड़ा ऐश्वर्यवान समझो। क्योंकि जिसको इस सर्पिणी ने नहीं खाया है वास्तव में उसीके प्राण और शरीर स्थित हैं और उन्हीं का हृदय शांत है—अन्यथा जिस शरीर रूपी वृक्ष में तृष्णारूपी घुन लग गया है उसकी पुण्यरूपी हरियाली नष्ट हो जाती है और वह कभी भी प्रफुल्लित नहीं होता। हे रामजी ! यह तृष्णारूपी डाकिनी कलेजे को काटकर निकाल लेती है जिससे प्राणी उत्साह और बल रहित हो महादीन हो जाता है। यही अमंगलमयी तृष्णा, जीवों के हृदय में प्रविष्टकर कृतघ्नता को प्राप्त कराती है। हा, इस तृष्णाने ही तो विष्णु भवान्को इन्द्रके लिए वामनरूप धराकर बलिके द्वारे भेजा था। यह तृष्णारूपी साँपिनी महाविप से पूर्ण होकर समस्त जीवों को दुःख दे रही है। इसलिए तुम इसको शीघ्र त्यागदो। ये पवन, पर्वत और पृथ्वी आदिक सब तृष्णासे ही तो गमन करते और स्थित रहते हैं। यहाँ तक कि समस्त लोक तृष्णासे ही बँधे हुए हैं। तृष्णासे कदापि मुक्ति नहीं मिल सकती। जेवरी का बाँधा हुआ भलेही छूट जाये, पर तृष्णा का बाँधा हुआ कदापि नहीं छूटता। इसलिए हे रामचन्द्र ! तुम तृष्णाको ही त्यागो। यह सारा ससार मनके ही संकल्प में है, इससे तुम मकल्प रहित होवो। फिर युक्तिपूर्वक देखो कि संकल्प-प्रमाद को ही मन कहते हैं। मन नाश हो जावेतो तृष्णाका भी नाश हो जाय। यह मैं, तुम और वह इत्यादि का चिन्तन न करो क्योंकि यह दृष्टि महामोह को देनेवाली है। तुम इसका परित्याग कर केवल अद्वैत की भावना करो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम-प्रकरण का दशवाँ सर्ग समाप्त ॥ १० ॥

ग्यारहवाँ सर्ग ।

तृष्णा चिकित्सोपदेश

इतनी कथा सुनकर रामजी ने वशिष्ठ जीसे पूछा कि हे मुनिवर ! आप अहंकार और तृष्णा को त्यागने को कहते हैं, पर अहंकार त्याग देंगे तो चेष्टा कैसे होगी ? तब शरीर भी तो नहीं रह सकता । शरीरको अहंकार ही धारण कर रहा है । अहंकार त्याग देंगे तो शरीर गिर जावेगा । फिर अहंकार त्याग कर मैं किस प्रकार जीवित रहूँगा । आप श्रेष्ठ वक्ता है, कृपा कर इसका निश्चय मुझे समझाइए ।

वशिष्ठ जी कहने लगे,—हे रामजी ! सभी ज्ञानियों ने वासना का परित्याग किया है और—वासना का त्याग दो प्रकार का है । एक ध्येय त्याग और दूसरा न्येय त्याग । ध्येय त्यागी वह है जो किसी पदार्थ में भावना न रखते हों और जिनका अन्तःकरण आत्म-प्रकाश से शीतल हो और लीलामात्र क्रिया करते हों । अथवा जिस पुरुष ने निश्चय पूर्वक वासना का त्याग किया हो और जो सारे कर्मों में आत्मा का ही प्रकाश लखते हों ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष इन्द्रियों से चेष्टा करते हुये वासना का त्याग किये रहते हैं । इसी का नाम ध्येयत्याग है । न्येय त्यागी वे हैं जो मन सहित शरीर की वासना का त्याग कर उम वामना को भी त्याग देते हैं । ऐसे न्येय वासना के त्यागी विदेहमुक्त कहलाते हैं ।

किन्तु जिन पुरुषों ने देहाभिमान परित्याग कर दिया है और सासारिक वासना एव लीलाओं का त्याग कर दिया है और स्वरूप में स्थित होकर क्रिया भी करते हैं वे जीवन्मुक्त कहलाते हैं । पर जिसको वासना कोई नहीं और जो भीतर बाहर की चेष्टाओं से रहित हुआ है उसका नाम नेय त्याग है । वही विदेह है । किन्तु जो ध्येय वामना का त्याग कर कर्मों को करते हुये स्थित हैं वे जीवन्मुक्त महारमापुरुष जनक के समान हैं । फिर जो नेय वासना का त्याग कर

उपराम हुआ है वह विदेह-मुक्त होकर परमतत्व में स्थित है। हे रामजी! इन दोनों पदों का त्यागी ब्रह्मपद को प्राप्त होता है। एक का शरीर स्फुरण-रूप होता है और दूसरे का अस्फुरं होता है। वह विदेहमुक्त रूप शरीर में स्थित हो सर्व व्यवहार करता हुआ भी, सन्ताप रहित जीवन्मुक्तज्ञान को धारण कर फिर अन्य शरीर त्याग कर विदेह पद में स्थित हो जाता है। उसको वासना और शरीर नहीं रहता। इसीसे वह विदेह मुक्त कहा जाता है। पर जीवन्मुक्त पुरुष वासना को त्याग कर बाहरी कर्म करते हैं और सुख दुःख राग द्वेष से रहित वर्तते हैं। उनको सुखमें हर्ष नहीं, दुःखमें शोक नहीं। इससे वे जीवन्मुक्त कहलाते हैं।

यह कह कर वाल्मीकि जी बोले कि जब वशिष्ठ जीने ऐसा कहा तब सूर्य अस्त हो गये और सभाके सब लोग स्नान करने उठे। फिर रात्रि व्यतीत कर सूर्यके उदय होते ही कथा सुनने अपने अपने २ आसनों पर आ विराजे।

योगवाशिष्ठ भाषा उपशम प्रकरण का ग्यारहवाँ सर्गः समाप्त ॥ ११ ॥

बारहवाँ सर्ग

पुनः तृष्णा चिकित्सोपदेश

वशिष्ठ जी बोले,—हे रामजी! विदेहमुक्त पुरुष हमारी वाणी के विषय नहीं है, इसलिये मैं जीवन्मुक्त का ही लक्षण कहता हूँ। सुनो, प्राकृतिक कर्मों को करते हुए तृष्णा और अहंकार से जो रहित हैं वही जीवन्मुक्त हैं, अन्यथा जो दृश्य पदार्थों में रमण कर रहे हैं वे तृष्णा से सर्वदा कष्ट पाते रहते हैं। उनको सांसारिक बन्धन कभी नहीं छोड़ सकता। पर जो हृदय के सकल्पों का त्याग कर बाहर से सब व्यवहार करते हैं वे जीवन्मुक्त कहाते हैं। पुनः जीवन्मुक्त वे हैं जो बाहरी जगत में बड़े से बड़ा कार्य तो करते हैं पर हृदय में वासना और तृष्णा से रहित रहते हैं। उन पुरुषों को भोगों की

तृष्णा नहीं रहती और वे सदैव दुःख और कलंक रहित रहते हैं। किन्तु जिनके हृदय में अहंकारने डेरा जमा लिया है, वे संसार की भावना धारण कर तृष्णा रूपी जजीर से बंधे हुये कलना से कलङ्कित रहते हैं। इस कारण तुम, मैं और मेरा, सत्य और असत्य बुद्धि के सांसारिक पदार्थों का त्यागकर परम उदार पद में स्थित होवो। बन्ध, मोक्ष, सत्य और असत्य की कल्पना क्या करते हो ? तुम न तो पदार्थ हो और न यह पदार्थ तुम्हारे हैं। फिर तुम इनकी कल्पना त्यागकर अज्ञोभ चित्तमें क्यों नहीं स्थित होते ? जब यह संसार ही भ्रान्ति मात्र है, तब इसकी तृष्णा भी तो भ्रान्तिमात्र ही होगी। पर तुम आकाश के समान निर्मल और सत्य स्वरूप हो। फिर तुम्हारा और इस पिशाचिनी तृष्णा का क्या सम्बन्ध ? हे रामजी ! यह जीव चार प्रकार के निश्चयों से बड़े आकार को प्राप्त होता है। पहला निश्चय यह कि, मैं माता पिता से उत्पन्न हुआ हूँ और चरण से लेकर मस्तक पर्यन्त शरीर ही आत्म-बुद्धि है। यह असम्यक दर्शन भ्रान्ति से होता है। दूसरा निश्चय यह होता है और इस निश्चय से शान्ति रूप मोक्ष प्राप्त होता है कि, मैं समस्त भावों और वस्तुओं से परे वालके अग्रभाग से भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म हूँ। तीसरा निश्चय यह है कि, संसारके समस्त पदार्थोंमें मैं ही हूँ और मे आत्मा हूँ मेरा नाश नहीं होगा इत्यादि। यह तीसरा निश्चय भी मोक्षदायक है। चौथा निश्चय यह है कि मैं भी असत्य हूँ और जगत भी असत्य है। ऐसा निश्चय भी मोक्षका कारण है। हे रामजी ! उपरोक्त चारो निश्चयों में पहला निश्चय बन्धन का और शेष तीन मोक्ष के कारण है। पहले निश्चय वाला तृष्णा सुगन्ध से संसार में भ्रमता रहता है और शेष तीनों भावना वाले जीवन्मुक्त पुरुष है। किन्तु सर्व जगत में आत्मस्वरूप मैं ही हूँ जिसको-ऐसा निश्चय है उसको तृष्णा और राग-द्वेष दुःख नहीं-देते और जिसके हृदय में ऐसा निश्चय है कि अर्द्ध, उर्द्ध और मध्य में आत्मा ही

व्याप्त है और सब मैं ही हूँ, मुझसे पृथक् कुछ नहीं है—वह ससार के पदार्थों में नहीं बँधता । वह आत्मा विज्ञान स्वरूप है और ब्रह्मा, शिव, पुरुष, ईश्वर और शून्य, प्रकृति और माया उसीका नाम है । उसी से ससार का जाल परिपूर्ण हो रहा है । उस सत्य-स्वरूप आत्मा से द्वैत वस्तु कोई नहीं है । जिस प्रकार सुवर्ण और भूषण में कोई भेद नहीं होता उसी प्रकार आत्मा और पदार्थों में कोई भेद नहीं है । इस जगत-रचना में जो द्वैत और अद्वैत का भेद है, वह परमात्मा पुरुष की स्फुर-शक्ति है । अपने और पराये का भेद भी जो सबमें सदा रहता है और पदार्थों के उत्पन्न होने और नष्ट होनेमें जो सुख दुःख प्रतीत होता है उसको तुम मत ग्रहण करो । तुम केवल अद्वैत आत्मसत्ता का आश्रय करो । इससे तुम अद्वैत-पूर्णसत्ता हो जावोगे । फिर अन्ध हस्तीके समान पदार्थ सरितामें गिरकर क्यों उखलते हो ? तुम तो रागद्वेष से विमुक्त पूर्ण-स्वरूप और महात्मा पुरुष हो । फिर तुम्हें अविद्यारूप का आश्रय करने की क्या आवश्यकता—तुम तो ऐसा निश्चय करो कि मैं एक आत्मा, अद्वैत, निरन्तर, सबका प्रकाशक, अजर, अमर, विकार रहित, निश्चिय, निराकार, अमृतरूप, कलक रहित जीवशक्तिका जीवनरूप और सब कलनाओं से परे, कारण का भी कारण हूँ । ऐसा समझ कर अह और इद कलना को त्याग कर अपने हृदय में धारण करो और यथा-प्राप्त कर्म किया करो । तुम शान्त स्वरूप हो ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उपशम प्रकरण का बारहवाँ सर्ग समाप्त ॥१२॥

तेरहवाँ सर्ग ।

जीवन्मुक्तावस्था

वशिष्ठ जी बोले,—हे रामजी । मुक्तात्मा पुरुषोंका यह स्वभाव है कि वह देहाभिमान त्याग कर सम्यकदृष्टि से जगत के कार्यों में लीलावत् विचरते हैं । वह जगत की गतिको आदि, अन्त और मध्य

में विरस और नाशरूप जानकर शान्तरूप ही अपने सब प्रकार के कार्यों को करते हैं और सब वृत्तियों में स्थित होकर उन्होंने ध्येय वासना का त्याग किया है जिससे वह निरावलम्ब तत्वका आश्रय ले सब अर्थों में सन्तुष्ट रह सदैव विवेक वाटिका में विचरते रहते हैं। इससे उनका अन्तःकरण अत्यन्त शीतल रहता है और उन्हें सांसारिकपदार्थ उद्वेगित नहीं कर पाते। उनको संसार का दुःख कभी नहीं व्यापता। वह चाहे कैसी भी दया और बड़े भयानक कर्म करें, शत्रुओं के मध्यमें युद्ध करें तो भी जीवन्मुक्त ही रहते हैं। वे संसार के किसी भी पदार्थ में न तो कभी सुखी रहते हैं और न कभी दुखी होते हैं किन्तु मौन भावसे यथाप्राप्त किया करते रहते हैं। जब उनसे किसीने किसी बातको पूछा तब यथावत कहते हैं, अन्यथा बिना पूछे मौन जड़वत बने रहते हैं। जब वे बोलते हैं तब कोमल और उचित वाणी बोलते हैं। वे यज्ञादिक कर्म करते भी हैं तो संसारी कार्य में नहीं डूबते। हे रामजी ! जो पुरुष जीवन्मुक्त है वे संसारके युक्त अयुक्त अनेक उग्रदशा वाली वृत्तियोंको हाथमें बेल फलके समान मानते हैं और परमपदमें दृढ़ निश्चयी हो संसारकी गति विगतिको देखते हुए अपने अन्तःकरणसे शीतल रहते हैं और अन्य जीवों को तप्तायमान देखते हैं। हे रामजी ! उधर मैंने उन महात्माओं का वर्णन किया है कि जिन्होंने चित्त को वश कर दर्शन किया है। उन मुठोंकी बातको मैं क्या कहूँ कि जो अहर्निशि भोगरूपी कीच में मग्न हैं और जो अपने चित्त को नहीं जीत पाये—ऐसे गदहों का लक्षण मुझसे नहीं कहते बनता। वे उन्मत्त महा नरक की ज्वाला स्त्री में दग्ध होते हुये अनेक अर्थों के लिये अनर्थ करते हैं। उनके चित्त को भोगों की अनर्थ रूप दीनता हत डालती है, जिससे शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार वे सुख दुःख भोगा करते हैं। ऐसे विषय लग्पटों का लक्षण मुझसे नहीं कहा जाता। इस लिये मैंने जो ज्ञानियों की दृष्टि पहले कही है, तुम उसी का आश्रय करो और ध्येयवासना का त्याग कर

जीवन्मुक्त हो संसार में विचरो । हे रामजी ! अब तुम ज्ञानवान् हुये हो इससे अब आकाश के सदृश निर्मल और स्थित रहो । यदि तुम असत्य हो तो तुम्हारे समस्त मित्र और वन्धु भी असत्य हैं फिर उनकी ममता क्या है, जब स्वयं ही कुछ नहीं हो तब भावना किसकी ? पर यदि तुम सत्य-स्वरूप हो तो सत्य आत्मा की भावना द्वारा असत्य जगत की भावना से रहित होवो । योकि अहं, मम और वन्धुजनों का शुभाशुभ कर्म इत्यादिक संयुक्त जो जगज्जाल भासता है; उससे आत्माका कुछ संयोग नहीं है । फिर तुम क्यों शोक करते हो ? तुम्हारा किसी से सम्बन्ध नहीं है इस लिये तुम केवल आत्मतत्त्वकी भावना करो । जो स्वयं ही अजन्मा और निराकार है, उसको तुम और वन्धु का दुःख कैसा ? दुःख का स्थान तो वह होता है जो नाशवान् हो । यहाँ न तो कोई जन्म लेता है और न मरता है । यदि जन्म मरण माना भी जाय तो वह भी आत्मा की सत्ता से ही है । फिर शोक किसका ? यदि शोक करना ही है तो पूर्व में जो तुम्हारे अनेक गुणवान् वान्धव व्यतीत हुये हैं उनके लिये भी शोक करो । जब उनके लिये शोक नहीं करते हो तब इनके लिये शोक क्या ? जो पूर्व में थे वे अब भी हैं । हे रामजी ! तुम शान्त और सत्यरूप हो । मोह को मत प्राप्त होवो । उस सत्य-स्वरूप का न कोई शत्रु है और न कभी उसका नाश होता है । यदि तुम ऐसा जानो कि मैं आज हूँ आगे न रहूँगा तो भी शोक करना वृथा है । क्योंकि परमात्मा व्यापक रूप में सर्वत्र स्थित है, उससे कुछ भिन्न नहीं है । तब तुम सांसारिक पदार्थों के लिये शरीरको क्यों सुखाते हो ? ज्ञानीजन ऐसा नहीं करते । यह कार्य तो अज्ञानियों का है । संसार की सरिता तो प्रमाद वश है पर तुम तो ज्ञानी और शान्त बुद्धि हो, फिर इस भ्रममात्र संसार के रूपमें क्यों भूलते हो ? उस सर्व शक्तिमान् सर्वगत आत्माकी भ्रममात्र शक्तिसे ही यह संसार जाग्रत हुआ है । तब भ्रमशक्ति से उत्पन्न होने के नाते यह सत्य नहीं हो सकता । यदि सच

पूछो तो केवल एक ज्ञान स्वरूप आत्मसत्ता ही स्थित है। वही सर्वरूप, सर्वदा सर्वत्र और सबका ईश्वर है। जो उस आत्मसत्ता में स्थित हैं उनको रुचि मात्र भी दुःख और क्लेश नहीं होता। आत्मसत्ता की श्रेष्ठता से तुम्हारा हृदय सदैव शीतल रहता है। अन्यथा बड़े से बड़े ऐश्वर्य इस संसार में नष्ट हो गये। फिर मैं और तुम इत्यादि की भावना को नष्ट होते क्या विलम्ब है। यह मैं और तुम बन्धु और बान्धव की भावना ऐसी ही है जैसे आकाश का दूसरा चन्द्रमा। ऐसी मिथ्या विचार दृष्टि से ही जीव नष्ट हो रहे हैं। इस लिये तुम उसे जड़ मूलसे नष्ट कर जगतका व्यवहार करो। जब तुम्हें नाश करने वाली भावना उठे तब ऐसा विचार करो कि यह वासना मिथ्या है और उस ओर मत चलो तब यह आपही शान्त हो जायगी। अन्यथा बन्ध और मोक्ष, नित्य और अनित्य की अनेक लक्षु भावनायें उठा करती हैं। जहाँ तक हो इनको नष्ट करने का भरपूर प्रयत्न करना चाहिये। इसीलिये ज्ञानी पुरुष संसार के किसी पदार्थ से उद्वेगित और आतुर नहीं होते और वे सदैव आत्मा को ही व्यापक रूप से देखते हैं। उनके लिए भाई बन्धु आदिक असत्य दिखाई पड़ते हैं।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उपशम-प्रकरण का तेरहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १३ ॥

चौदहवाँ सर्ग।

एक पवित्र ज्ञान

वशिष्ठ जी ने कहा,—हे रामजी। इस प्रसंग पर मैं एक पुरातन इतिहास सुना रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो। इस इतिहास में एक तपस्वी के दो भाइयों का वृत्त है। जम्बूद्वीप में जहाँ महेन्द्र पर्वत है और जहाँ कल्पवृक्ष के नीचे देवता और मुनिजन विश्राम करते हैं उसके निकट गङ्गाजी की पवित्र धारा के किनारे एक तपस्वी अपनी स्त्री सहित तपस्या कर रहे थे। उनके दो पुत्र थे। कुछ काल

बाद जब तपस्वी का शरीर जर्जर हो गया और कालचक्र का फेरा निकट आगया तब शरीरकी क्षणभंगुरता देख को तपस्वी ने पुर्यष्टका कलनारूप शरीर को पर्वत की कन्दरा में जाकर उतार दिया और स्वयं रागद्वेष से विमुक्त होकर चिन्मात्र-सत्ता-स्वरूपमें स्थित हुआ अर्थात् तपस्वी ने शरीर छोड़ दिया और चिदाकाश सत्ता में जा स्थित हुआ। तब मुनीवर की शरीर को प्राण रहित देख उनको स्त्री ने भी योग कर्म द्वारा प्राण और पवन को वश कर अपना शरीर त्याग दिया। शरीर त्यागने पर वह अपने पतिदेव के लोक को प्राप्त हुई। इस प्रकार तपस्विनी सहित तपस्वी के विदेह-मुक्त होने पर उनके ज्येष्ठ पुत्र पुण्यको बड़ा खेद हुआ। वह माता पिताका दैहिक कर्म कर वनके सघन कुञ्जोंमें विचरने लगा और उसका छोटा भाई जिसका नाम 'पावन' था वह पिता के ही आश्रम में रहा। वह पिता माता के वियोग से सर्वदा दुखी रहता था। कुछ दिन के बाद जब पुण्य वन-यात्रा समाप्त कर और ज्ञान प्राप्त कर आश्रम पर पहुँचा तब देखा कि छोटा भाई माता पिता के शोक से बहुत व्याकुल है। उसको व्याकुल देखकर पुण्य ने कहा,—भाई ! वर्षा-कालके प्रवाहके समान अश्रुधारा बहाकर ऐसा कठिन शोक क्यों कर रहे हो ? तुम्हारे माता पिता आत्मपद-मोक्षपदको प्राप्त हुये हैं। फिर उनके लिये शोक क्यों करते हो ? मोक्षपद ही तो समस्त जीवों का स्थान और ज्ञानियों का स्वरूप है। हमारे पिता और माता जी ज्ञानी थे इसलिये वेह अपने स्व स्वरूप को प्राप्त हुये, तब किसलिये तुम शोक करते हो ? शोक तो अज्ञानी करते हैं। पर तुम तो अज्ञानी नहीं हो। तुमने यह क्या भावना की है ? जिस मोक्षके लिये शोक करना चाहिए वह तो तुम करते नहीं और जिसके लिये शोक नहीं करना चाहिए, उसके लिये शोकित होते हो। कौन किसकी माता है और कौन किसका पिता। तुम्हारे जैसे कितने पुत्र और कितने माता पिता असंख्य वार उत्पन्न और नष्ट हो चुके हैं। तब

उन सबके लिये भी शोक करना चाहिए । क्या तुम यह नहीं जानते कि यह सारा प्रपञ्च जगत भ्रम है ? परमार्थ में कोई किसी का नहीं है । हे भातृवर ! परमार्थ दृष्टिसे विचार कर देखो कि न मैं हूँ, न तुम हो, सब कुछ भ्रम मात्र है, इस लिये तुम इसको हृदयसे त्याग करो । यह बारम्बारकी उत्पत्ति और नष्टता, माया की एक भ्रम दृष्टि मात्र है । इसमें कोई वास्तविकता नहीं है । समुद्र की तरङ्गोंके समान ही जगत बारम्बार उत्पन्न और नष्ट होता रहता है । अब तक अनेक माता और पिता हुये और मिटे, इस लिये, बन्धु-बान्धव, मित्र और शत्रु आदि का जो भी सम्बन्ध है सब भावना मात्र है और सबकी कल्पना मोह से है । जगत का प्रपञ्च ही ऐसा है कि जिस संज्ञा की भावना कल्पितकी जाय वह वही भासित होती है । भावना वश अमृतमें भी विष हो जाता है । यद्यपि अमृत में विष नहीं है तथापि वह भावनासे वैसा ही भासता है । ऐसे ही बन्धु-बान्धव, शत्रु-मित्र भी भावना वश भासते हैं । अन्यथा न कोई किसीका शत्रु है और न कोई किसीका मित्र । केवल सर्वात्मा पुरुष ही सर्वगत सर्वत्र स्थित है । उसमें अपने और पराये की कोई कल्पना नहीं । वह इतना निर्मल और निरञ्जवयव है कि मन बुद्धि, चित्त और अहंकार भी उसका कोई नहीं । केवल विचार की अज्ञानता से ही मैं तुम अदिक मिथ्या ज्ञान आस रहे हैं । अन्यथा केवल चिदाकाश आत्मसत्ता ही सदैव विद्यमान है । माता और पिता आदिक तो भ्रम-से भासते हैं । शरीर भी पञ्चतत्वों से रचा हुआ जड़रूप है । इस लिये तुम भ्रम-दृष्टि को त्याग तत्वों का विचार करा ।

श्री योगशास्त्रिष्ठ-भाषा, उपशम प्रकरण का चौदहवाँ सर्ग समाप्त ॥१४॥

पन्द्रहवाँ सर्ग ।

इच्छा-चिकित्सा

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! पुण्यके ऐसा कहने पर उसका छोटा भाई 'पावन' परम प्रसन्न होगया । क्योंकि पुण्यने उसे परमपावन

ज्ञानका ऐसी सुन्दर उपदेश दिया था कि उसी क्षण उसकी समस्त अज्ञान वृत्तियाँ ध्वंस हो गईं और उस प्रकार ज्ञानचक्षुके उदय होने से वह महाज्ञानी और बोधवान होगया । फिर तो कहना ही क्या था, 'पुण्य' तो पहलेही से ज्ञानी था और अब 'पावन' भी वैसा ही विशेषज्ञ होगया । तब इस प्रकार वे दोनो भाई ज्ञानमे पारंगत हो विदेहमुक्त एवं निर्वाणपद को प्राप्त हुये । हे रामजी ! वैसाही तुम भी जानो । मित्र, वान्धव और धनादिक किसीके नहीं होते । इनसे स्नेह करना व्यर्थ है । क्योंकि यह सारा संसार मिथ्यारूप और मन के स्फुरण मात्रसे उत्पन्न हुआ सर्वथा ही अस्थिर और नश्वर है । इसलिए हे रामजी ! तुम इससे सर्वथा ही उपशम हो जावो । इसमें ग्रहण और त्याग कुछ नहीं । समस्त इच्छाओं को ध्वंस कर देना ही उचित है । क्योंकि इस पिशाचिनीने ही सारा प्रपञ्च फैला रखा है । यह न हो तो कुछ भी कष्ट न होवे । परन्तु यह इतनी प्रबला और ऐसी अनन्त शाखा उत्पन्न करने वाली है कि जिसके आगे कोई वश नहीं चलता । और प्रशंसा तो यह कि इसको जितना ही पालते चलिये यह उतनी ही बढ़ती जाती है और कभी पूर्ण नहीं होती । इसलिये 'त्याग' ही इसकी औषध है, पालना नहीं । पालने करनेसे तो यह उत्तरोत्तर बढ़ती है । वस्तुतः जो यह जगत है वह इच्छासे ही उत्पन्न हुआ है । तब जैसे चित्तने ही इसे उत्पन्न किया है, वैसाही यह चित्त द्वारा ही नष्ट भी होवेगा । जैसे चित्तकी चिन्तना से ही इस जगतने विस्तार पाया है, वैसेही चित्तकी चिन्तना ही इसे नष्ट करेगी । जैसे लोहेको लोहा ही काटता है, वैसेही चित्त द्वारा उत्पन्न हुआ जगत चित्तसे ही लीन हो जाता है । इसलिये हे रामजी ! तुम ऐसे व्यर्थ और आडम्बरी संसार के पीछे न पड़ो और वासना युक्त समस्त इच्छाओंका दमन कर त्यागरूपी स्थपर आरूढ़ हो, करुणा, दया और उदारता सहित इष्टानिष्टसे रहित हो, संसारमे विचरण करो । मोहसे रहित होनेके लिये यह बहुत उत्तम युक्ति है

वह प्रसंग सुनाइये कि, जिस प्रकार राजा बलि को 'विज्ञान-बुद्धि भेद' की प्राप्ति हुई थी। श्रेष्ठ जन नम्र शिष्यके प्रति कहते हुये शब्दोंसे खेदवान नहीं होते। वशिष्ठजीने कहा—हे रामजी ! सुनो, इस जगतके नीचे एक पाताल लोक है। वह लोक क्षीर समुद्र के समान उज्ज्वल और बहुत ही सुन्दर है। उसका राजा वह शेष नाग है—कि जिसके हजारों शिर हैं और जो बड़ा विपधर है। उसमें कहीं दैत्यों के पुत्र वास करते हैं और कहीं २ बहुत सुन्दर नाग कन्यायें विराजती हैं। कहीं बहुत सुन्दर सुगन्धिमय सुखका स्थान है तो कहीं नर्क और विषा से भरा हुआ दुर्गन्धिका स्थान है। उस पाताल में सात पाताल हैं कि जिनमें सब प्रकार के जीव स्थित रहते हैं। उसका कोई भाग स्तन-खचित है और किसी भाग में कपिलदेवजी के चरण कमलों पर देवता और दैत्य शिर धरे विराजते हैं। कहीं नन्दन-वन से भी सुन्दर स्तनों के ऐसे २ बाग लगे हुये हैं कि जिनकी सुगन्धि अपूर्व और अमृत तुल्य उपकारी है। विरोचन पुत्र बलि उसी लोक में रहता था। वह इतना प्रतापी था कि उसके आगे समस्त विद्याधर किन्नर और देवता भी शिर झुकाते थे। सभी उसके वशवर्ती थे और सभीको उसने वश कर लिया था। आकाश, पाताल और मृत्यु लोक इन तीनों लोकों को उसने वश कर रखा था। उसका समस्त जीवन लीलामय और सुख आनन्द की राशि था। देवराज इन्द्र भी उसके चरण रज्ज्वी बाण्ड्या करते थे और त्रिलोकी के जतने स्तन हैं सब उसके समक्ष विद्यमान रहते थे। यही नहीं, जो विष्णु भगवान समस्त शरीरों की रक्षा करने वाले और जो सर्व भावना धर्मों के पालक हैं उनको उसने अपना ढारपाल बना रखा था। उसके प्रताप के आगे तीनों लोक कापते रहते थे। उसकी वाणी मात्र से लोग भयभीत हो जाते थे। वह ऐरावत हस्ती कि जिसके गण्डस्थल से सर्वदा ही मद भरा करता था, प्रतिक्षण उसके राजद्वार की शोभा बढ़ाता था। उसके यज्ञसे उठे हुये धूम तुरत ही आकाश में बादल

वन जाते थे। उसकी दृढ़ दृष्टिसे बड़े २ पर्वत भी भुक जाते थे। कहां तक कहें उस अवधिमें उसने सभी प्रकारके भोग भोगे और उससे त्रैलोक्य वारम्बार कम्पित हुआ। जब इस प्रकार उसने दश करोड़ वर्ष तक शासन कर लिया तब एक दिन उद्वेगित होकर वह सुमेरु पर्वत पर जाकर यह विचारने लगे कि इतने बड़े राज्य से मुझे क्या प्रयोजन है ? यदि कहूँ कि त्रिलोकी का राज्य है, इतना सुख है, इतना विलास है और उसमें ऐसे-ऐसे शासन विधान हैं तो इससे भी क्या लाभ और यह सब कुछ प्राप्त होना कौन से आश्चर्य का विषय है। जब शान्ति नहीं तो कुछ नहीं। शान्तिसे यह सब राज्य और सुख ऐश्वर्य क्या बढ़कर है ? नहीं, कदापि नहीं। किन्तु मैं कितना धृष्ट हूँ कि चिरकाल से भोगों के लिये प्रयत्नवान हों उन्हें भोगता रहा और नाम मात्र को भी शान्तिमान न हुआ। इससे निश्चय होता है कि भोगों से कभी शान्ति नहीं मिलती और ये वारम्बार उपजते और नष्ट होजाते हैं। पर खेद है कि वारम्बार वही कर्म करते हुये मुझे लज्जा नहीं आती। हा, मैं कितना मूर्ख हूँ कि जब देखो, वही भोजन, वही विश्राम और वही वारम्बार स्त्री का आलिङ्गन और वारम्बार उसी सुखशय्या का वास ग्रहण करता हूँ। निश्चय ही मेरा यह कर्म श्रेष्ठजनों की लज्जा का कारण है। अन्यथा ऐसे नीरस कार्यों में कोई बुद्धिमान नहीं पडता। जब जिस कार्यसे तृप्ति और शान्ति न हुई तब उसके करने से क्या लाभ ? इससे मैं स्वीकार करता हूँ कि मेरे ये समस्त राग-भोग बुद्धिमानोंके हँसने ही योग्य हैं। अब मैं यह स्वीकार करता हूँ कि चित्त में संकल्प विकल्पका उठना व्यर्थ और मूर्खता का द्योतक है। विचारवान तो विचारवान ही हैं, चित्त में संकल्प-विकल्पो से बड़े २ अनर्थ उठ खड़े होते हैं। मैं नहीं कह सकता कि इसके द्वारा भोगों की प्राप्ति के सिवा और क्या लाभ है ? किन्तु भोग ? भोग तो सर्वथा ही अहितकर और अनर्थकारक हैं। यह उत्पन्न भी होते हैं और नष्ट भी हो जाते हैं। इनकी

समस्त रमणीयता व्यर्थ और निःसार हैं। तब किस वस्तु में सार है और क्या अविनाशी है यह जानना चाहिये।

ऐसा विचार कर वह मौन होकर सोचने लगा। कुछ क्षण के पश्चात् उसे अपने पिता विरोचन का वह उपदेश स्मरण आया कि जो उसने किसी समय उन महात्मा से पृच्छा था।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उपशम-प्रकरण का सोलहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १६ ॥

सत्रहवाँ सर्ग।

बलि-विरोचन-कथा

हे रामजी ! विरोचन बड़े ज्ञानी और परम तपस्वी थे। एक समय बलिने उनसे ऐसे प्रश्न किया था कि "हे पिताजी ! वह कौन सा स्थान है कि जहाँ पहुँचने पर सभी भ्रम शान्त हो जाते हैं और समस्त दुःखों और सुखों का अन्त हो जाता है। फिर वह कौनसा पद है कि जिमसे पहुँचने से मनका मोह नष्ट होकर सारी इच्छायें लय हो जाती हैं। जहाँ कुछ चोभ नहीं रहता और जिसे प्राप्त करने पर रागद्वेष का सर्वथाही अन्त हो जाता है। हे पिताजी ! वह कौनसा पद है कि जिसको पाकर फिर कुछ प्राप्त करना नहीं रहता। अथवा जिसे देखने पर फिर कुछ देखने की इच्छा नहीं होती। ऐसा जो आनन्ददायक पद हो, मुझे बतलाइये।" इस पर विरोचन ने कहा—हे पुत्र ! सुनो, उपदेश की कथा बड़ी विचित्र है, उस स्थान का दृश्य बड़ा ही सुन्दर और शान्त रूप है। देखो, तुम्हारी इन सारी शकाओं को मैं एक ही उपदेश में दूर कर देता हूँ, खूब ध्यान देखकर श्रवण करो। हे पुत्र ! जिस देश, जिस स्थान और जिस पद को तुम पूछते हो, उसका नाम है "मोक्ष"। उस "मोक्ष" देश में पहुँचने पर प्राणी के समस्त दुःखों का अन्त हो जाता है। उस देश के राजा का नाम, ईश्वर, भगवान, आत्मा, परमात्मा चाहे जो कुछ भी कहो सबका अर्थ एकही है। उस राजाके मन्त्री का नाम है 'मन'।

वह केवल अपने राजा को प्रसन्न करने का ही कार्य करता है। यद्यपि वह अज्ञानी है तथापि राजा की शक्तियों ने उसे ज्ञानी बना दिया है और वही सारा कार्य करता रहता है। वह जैसा चाहे, वैसा कर सकता है। उसके समान बलशाली कोई नहीं। वह जिसको चाहे नचा डाले। उस पर विजय करने वाला कोई नहीं दिखलाई पड़ता। देवता और दैत्य, उसने सबको अपने वश में कर रखा है। बड़े से बड़े शस्त्र और भयानक से भयानक युद्धों में भी उसका कोई नाल बाँका नहीं कर सकता। देवताओं सहित विष्णु और दैत्यों सहित हिरण्यकशिपु को भी उसने बिलबिला और रुला दिया है। वह जब चाहे स्वर्ग को नरक और नरक को स्वर्ग बना देता है। प्राणियों का परिवर्तन और सृष्टिका प्रलय और उत्पत्ति भी उसके लिये संकेत-मात्र है। उसके आक्रमण से यह समस्त त्रिलोकी सहित कल्पवृक्ष भी डगमगा जाता है। यद्यपि सर्व वह गुणहीन और सर्व शक्तिहीन है तो भी अपने आत्म-भगवान की दी हुई शक्ति से इतना सब कुछ कर डालता है। वह बार-बार देवता और दैत्यों के समूहको उत्पन्न करता रहता है। जब ऐसे बलशाली मन्त्री को वश कर लेवे, तब राजाका दर्शन हो जावे। परन्तु वह मन्त्री भी, तब तक वश में कैसे होगा, जब तक कि उसका राजा वश में न होवे। राजा वश में होवे तो मन्त्री आपही आप वश में हो जाता है। इसी प्रकार जब तक मन्त्री वश में न होवे, राजाको वश करना कठिन होता है। क्योंकि मन्त्री ही भीतर बाहर करने वाला है। अतः उसको पहले जीतना चाहिए। हे पुत्र ! यदि उसको जीतने की शक्ति तुझमें है तो तू पराक्रमशाली है और नहीं है तो तेरा सारा पराक्रम व्यर्थ और निष्प्र-योजन है। पर यदि तुमने उसे जीत लिया तो जानो कि अब कुछ जीतना नहीं रहा। अस्तु, यदि तुम्हें अनन्त सुख की इच्छा है और यदि तू निश्चय ही अविनाशी पद को प्राप्त करना चाहता है तो उस 'मन' नामक मन्त्रा को वश में करने का यत्न कर।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उपशम प्रकरण का सत्तरहवाँ सर्गः समाप्त ॥ १७॥

अठारहवाँ सर्ग ।

चित्त-चिकित्सा

बलिने पूछा—हे पिताजी ! वह किस प्रकार वश में हो सकता है और ऐसा महावीर्यवान मन्त्री और ऐसा राजा, कौन है—कृपाकर यह वृत्तान्त मुझसे कहिये। फिर मैं उसे प्राप्त करनेका यत्न करूँगा। विरोचन ने कहा—हे पुत्र ! सुनो, राजासे मिलनेके पूर्ण उसके मन्त्रोसे मिलना चाहिए। जब मन्त्री वशमें हो जाता है तब राजा का दर्शन सहज ही में हो जाता है। और इसी प्रकार जब तक राजा को न देखा जाय अर्थात् जब तक राजा वशमें न होवे मन्त्री को वश करना कठिन होता है। इसलिये राजा और मन्त्री दोनों का वश करना आवश्यक है, तभी इष्ट की प्राप्ति होती है। जैसे बालक को युक्ति से वश में किया जाता है, उसी प्रकार मन्त्री और राजाको वशमें करना चाहिए। अभ्यास से सब कुछ हो जाता है। ऐसा कोई कार्य नहीं है जो शनैः शनैः के अभ्यास से न होवे। देवो, मोक्ष नामक देशमें आत्म-भगवान् नामका राजा वास करता है। उसके मन्त्री का नाम है—मन। वह मन परिणामको पाकर सब ओर से विश्वरूप हुआ है। जब उस मन पर विजय प्राप्त हो जावे तो जानो कि निस्वके सारे सुखों पर विजय मिल गई। उस मनका जीतना यद्यपि कठिन है तथापि युक्तियों से वह वश में हो जाता है। बलिने पूछा—वह कौनसी युक्ति है। विरोचन ने कहा—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध आदिक जितने रस हैं, सबकी आस्था त्यागदेवे अर्थात् सबको नाशवान और भ्रमरूप जाने। मनरूपी हस्ती विपरूपी मदसे मस्त रहता है। किन्तु अभ्यास और वैराग्यरूपी युक्तियोंसे वह वशमें हो जाता है। इससे तुम अभ्यास सहित उन युक्तियों का आश्रय करो कि जिससे यह वश में हो जावे। विना वैराग्यके संसाररूपी वनके दुःखों का नाश नहीं होता। वह वैराग्य भी विना अभ्यासके नहीं प्राप्त होता।

जब पुरुष आत्मा को ध्येय बनाकर नित्यही अभ्यास करता है तब वृत्तियाँ विषयोंसे विरक्त हो जाते हैं और वह आत्मोन्ततिमें वैसे ही वृद्धि पाता है जैसे लता-बेलों को सीचने से लताये वृद्धि पाती हैं। इसी प्रकार पुरुषार्थसे समस्त कार्योंकी सिद्धि होजाती है। हे पुत्र ! क्या तुम जानते हो कि 'देव और नीति' क्या है ? जो क्रिया निश्चय करके की जाती है और उससे जो फल प्राप्त होता है वही 'देव' है। ऐसाही पुरुष 'देव' कहलाता है और ऐसे पुरुषों के जो निश्चित एवं अटल व्यवहार हैं उसी का नाम नीति है। वस, इस 'देव और नीति' को जिसने अपने पुरुषार्थ से वश कर लिया है, वही सर्व-विजयी है। हे पुत्र ! सुख, दुःख का देनेवाला और कोई नहीं है—अपना संकल्प ही, सब कुछ करता है। नीति, अनीति की दोनों सीढ़ियाँ मनमें विद्यमान हैं। जब मन पर अधिकार हो जावे तब संसार रंचमात्र भी दुःखदायक नहीं होता। परन्तु वह पुरुषार्थ के बिना नहीं होसकता। पुरुषार्थ से ही विषयों से वैराग्य होता है, अन्यथा नहीं। बिना वैराग्य के मोक्ष दुर्लभ है। जब तक विषयोंमें प्रीति बनी है तब तक संसार दशा इधर-उधर अस्थिर बनाये रहती और दुःख दिया करती है। यह सुनकर बलिन ने पूछा—हे पिताजी ! तब विरक्तता हृदय में कैसे स्थित होगी ? विरोचन ने कहा—आत्मा के देखने से जब अभ्यास पूर्वक आत्मदेव का दर्शन हो जाता है, तब आपही आप समस्त बीजलक्ष्मी स्थित हो जाती है। हे पुत्र ! इसके लिये सर्व-प्रथम यह करना चाहिए कि अपने प्रतिदिन के कार्योंका नियम बना लेवे। वह इस प्रकार कि, दिनके दो भाग तो शरीर के भोगों की प्राप्ति में लगावे और एक भाग शास्त्रों का श्रवण और विचार करे तथा एक भाग में गुरुकी सेवा और टहल करे। जब ऐसा करते २ मन कुछ विचारवान हो जावे तब शास्त्राभ्यास को और बढ़ा देवे अर्थात् उसमें पहले से दूना (दो भाग का) समय लगावे। इस क्रमसे जीव ज्ञान-कथा के योग्य हो जावेगा और तब धीरे २ उत्तम

पदकी भावना हृदयगम हो जावेगी । जब इस प्रकार शास्त्रों के अर्थ विचार में चित्तरूपी बालक को परचा लगे तब आपही । आप परमात्मामें ज्ञान प्राप्त हो जायगा और कर्मबन्धन से मुक्त हो जावोगे । फिर तो जैले चन्द्रमा के उदय होनेसे चन्द्रकान्तमणि द्रवीभूत होता है, वैसे ही तुम्हें शीतलता प्राप्त हो जायेगी । परमात्मा के देखने से तृष्णा दूर हो जाती है और तृष्णा दूर हुई नहीं कि उसी क्षण आत्मा का दर्शन हो जाता है । इस प्रकार जो सुख आत्म-विश्रान्ति से प्राप्त होता है, वह जप, तप और दानादिक किसी प्रकार से भी नहीं प्राप्त होता । ब्रह्मा से लेकर काष्ठ पर्यन्त इस जगत में ऐसा कोई भी आनन्द नहीं है, जैसा परमात्मा में स्थित होने से मिलता है । परन्तु वह विना पुरुष-पर्यत्न के नहीं प्राप्त होता । इससे तुम उस प्रयत्न का ही आश्रय करो और अन्य देवों को दूर से ही त्याग दो । इस मार्ग में भोग परम बाधक हैं । अतः जिस प्रकार भी होवे दाँतों पर दाँत पीसकर तुम इनकी प्रीतिको त्यागो और निन्दा करो, तभी सुन्दर शुभप्रद विचार उत्पन्न होंगे । फिर शास्त्रों का संग्रह कर परम-पद को प्राप्त करो । यह कहकर शुकजी चले गये ।

श्री योगवाशिष्ठ मापा, उपशम-प्रकरण का अठारहवाँ सर्ग समाप्त ॥१८॥

उन्नीसवाँ सर्ग ।

बलि-समाधि

वशिष्ठ जी बोले—हे रामजी । दैत्य-गुरु महर्षि शुकके चले जाने पर योद्धाओं में श्रेष्ठ राजा बलि अपने स्तन-जटित राज-महल के एक कोने में जा बैठा और जो कुछ शुक जी ने कहा था उस पर दत्तचित्त हो मौन भाव से ससार की सारी सम्पदाओं को तुच्छ जानते हुये अपना अस्तित्व विचारने लगा । तब विचारते-विचारते उसे अपना-आप फुर आया और उसका मन परमतत्त्व में जा स्थित हुआ । फिर तो अक्षय समाधि लग गई और शरीर पापाणवत हो गिर पड़ा ।

जब इस प्रकार कितना ही समय व्यतीत हुआ और वह समाधि से न जागा तब उसके मंत्री, टहलुये एवं रानियाँ व्याकुल हो गईं और उसके अभाव में सबके सब रुदन करने लगे । कोई कुछ कहता, कोई कुछ, किसी का निश्चय दृढ़ नहीं रहा, चारों ओर सन्नाटा छा गया । समस्त राज्यमें हलचल मच गई । तब क्या होवे—इसपर विचार करते हुये बुद्धिमान मन्त्रियोंने गुरु शुक्रका स्मरण किया । गुरु शुक्रने ध्यान से देखा तो उन्हे बलिकी सारी व्यवस्था ज्ञात हो गई । वे प्रसन्न चित्त आकाश से उड़ कर बलिके पास आये । मन्त्रियों ने बड़ी धूम से उनका स्वागत किया । शुक्रजी ने कहा, घबडाओ नहीं, सब कुछ ठीक हो जायगा । यह आश्वासन दे, शुक्र जी बलि के पास गये । देखा तो उसका मन शान्त हो जीवकी चेतन कला के मध्य में स्थित हो आनन्द ले रहा है । उन्होंने मन्त्रियों से कहा—देखो, इसको मत जगाओ । अब यह आत्मज्ञान को प्राप्त हुआ है । इसको अब कोई क्लेश नहीं है । बड़ा आश्चर्य है कि अब इसको आत्म-प्रकाश की प्राप्ति हुई है । जैसे सूर्य के प्रकाश से अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही अब इसके दुःखोका अन्त हो गया है । अतः मैं इसको जगाना उचित नहीं समझता । यह आपही आप दिव्य समय पाकर जागेगा और उठकर अपना राज्य-कार्य करेगा, कोई चिन्ता नहीं है; तब तक तुमलोग जाकर कार्य सँभालो । यह कहकर शुक्र जी आकाश-मार्ग से फिर उड़ गये । दैत्यों की दशा शोचनीय हो गई ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उपशम-प्रकरण का उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ १६ ॥

बीसवाँ सर्ग ।

बलि उपाख्यान समाप्ति वर्णन

हे रामजी ! जब एक हजार वर्ष बीत गये, तब दिव्य मुहूर्त पाकर राजा बलि समाधि से उतरे । नौवत नगारे बजने लगे । दैत्यों में जीवन का संचार हुआ । राज महल एवं नगर में नाना

प्रतीत होता है, सब तुममें वैसा ही पिरोया हुआ है कि जैसे सूतमें मोती के दाने पिरोये होते हैं। अतः तुम जन्म आदि से परे सर्व रोगों के नाश-कर्ता, नित्य, शुद्ध, उदित, बोध-स्वरूप और भ्रम आदिसे परे हो। हे राम जी। तुम्हीं केवल्यरूप और जगत के नाथ तथा सर्व के प्रकाश-स्वरूप हो। यह सारा जगत तुम्हारे ही प्रकाश से प्रकाशमान है। तुममें सुख दुःख की कल्पना कुछ नहीं है। तुम सबके प्रकाशक और शुद्ध सर्वात्मा हो। अतः सर्व अनिष्टों को त्याग कर तुम अपने स्वरूप में स्थित होवो। इस सत्यताको धारण करने से फिर जन्म मरण नहीं होता। मन को क्या कहा जाय। यह तो वह मतवाला हस्ती है, जो हर समय विषयों के लिये ही उन्मत्त बना रहता है। जब इसको बार-बार वैराग्य रूपी अकुसुम दिया जाता है तब यह बश में रहता है। हे रामजी। तुम मूढ़ मत बनो। मूर्खों की बात क्या है? उनकी बुद्धि नष्ट होगई है, वे अविद्यारूपी धूर्त के हाथ चिक चुके हैं, पर तुम उनके समान न हाना। यह जगत रचमात्र भी नहीं है मूढ़ता से ही प्रतीत होता है। किन्तु मूर्खता परम दुःखका रूप है, इससे बढ़कर दुःख कोई नहीं। इसके रहते आत्म विचार नहीं होता। यह आत्म विचार का परम शत्रु है। आत्म विचारके लिये तो अभ्यास और वैराग्य ही आवश्यक हैं। बिना विषयों से वैराग्य हुये आत्म साक्षात्कार नहीं होता। पुरुषार्थ से ही आत्मदेव प्रमन्न होते हैं। पुरुषार्थ ही बुद्धिको निर्मल करता है। अतः समस्त सकल्पों को त्याग कर तुम मेरे वचनों को ग्रहण करो। इससे तुम्हारा संसार कौतुकरूपी कुहिरा नष्ट हो जायगा और तुम सर्वदा के लिये शान्तरूप हो जाओगे।

श्री योगनाशिष्ठ भाषा, उपशम-प्रकरण का बीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २० ॥

इकीसवाँ सर्ग ।

हिरण्य कशिपु-वध

वशिष्ठ जी बोले—हे राम जी ! अब तुम एक और उपाख्यान सुनो । इसका सुनने से तुम्हे विशेष लाभ होगा । यह असुर प्रह्लाद का आख्यान है । देखो, पाताल में हिरण्यकशिपु नाम का एक महाबली दैत्य उत्पन्न हुआ था जिसने कई वार इन्द्रको भगाया और ऐसे कई महान पराक्रम किये थे । उसने देवता और दैत्यो सहित समस्त पृथ्वी को वश कर लिया था । समस्त भूमंडल में उसका एकचक्र राज्य था । समय पर उसने कई पुत्र उत्पन्न किये । उनके बड़े पुत्र का नाम प्रह्लाद था जो विष्णु का भक्त और बड़ा ही प्रकाशमान था । प्रह्लाद को पाकर हिरण्यकशिपु ऐसा शोभायमान हुआ जैसे सुन्दर लताओं को पाकर बसन्त ऋतु शोभायमान होती है । किन्तु उसका दैत्य स्वभाव न बदला और वह क्रमशः सबको तपाने लगा । उसकी दुष्टक्रीडा से देवताओं को बड़ा कष्ट मिला । वे बहुत प्रयत्न करके भी दैत्यराज को रोक न सके । वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और सारे भूमंडल में उसके आतंक से लोग त्राहि २ करने लगे । यज्ञ, जप आदिक शुभकर्मों को उसने नष्ट कर दिया । वह कहता कि मेरे सिवा दूसरा ईश्वर कौन है, मैं ही सबका ईश्वर हूँ । सब लोग मेरी ही भक्ति करें । पुत्र प्रह्लाद को भी वह यही शिक्षा देता । किन्तु प्रह्लाद न मानता । विद्यालय में भेजा तो प्रह्लाद वहाँ भी अपने इष्टदेव विष्णु को ही स्मरण करता, और उसके इस ध्येयको देख हिरण्यकशिपु बड़ा दुःखी रहता पर कोई वश नहीं, लाख समझाने पर भी प्रह्लाद नहीं मानता । तब एक दिन हिरण्यकशिपु ने तलवार हाथ में लेकर प्रह्लाद से पूछा—तू जिस ईश्वर को भजता है, वह कहाँ है ? प्रह्लाद ने कहा—मेरा ईश्वर सर्वत्र और सर्व में व्यापक है । हिरण्यकशिपु ने कहा—व्या

इस खम्भे में भी है ? यदि है तो दिखा । न दिखावेगा तो आज इसी तलवार में तेरा शिर काट लूँगा । प्रह्लाद ने कहाँ-हाँ, इस खम्भे में भी है । प्रह्लाद के-हाँ, कहते ही सर्व व्यापक विष्णु उस खम्भे में भी भारने लगे और बड़े शब्द होने लगे । फिर तो उसी क्षण उस खम्भे को फोड़कर विशाल भुजा और तीक्ष्ण नखों युक्त महाभयानकरूप से भगवान विष्णु ने अपना नृसिंहरूप प्रकट कर हिरण्यकशिपु को नखों से उमका हृदय विदीर्ण कर दिया और उन्हाने ऐमा रूप धारण किया कि दैत्यों के स्थान जलने लगे । कितने ही पर्वत चूर्ण विचूर्ण हो गये । दैत्यों के कितने ही समूह मारे गये, कितने ही भयभीत हो दिशा विदिशाओं को भाग गये और कितने ही पाताल-छिद्र में नाश हो गये । नृसिंह की माया से मानो प्रलयकाल उपस्थित हो गया और सभी स्थान शून्य हो गये । इस प्रकार दैत्यों को नाश कर विष्णुदेव अन्तर्धान हो गये । तब जो बचे बचाये दैत्य वहाँ रह गये थे वे कुम्हिलाये हुये हाथ जोड़े प्रह्लाद के पास आये और उसे समझाने लगे । पश्चात् सब से मिलकर प्रह्लाद ने पिता का शोक किया और पुनः जो कुछ उसके सम्बन्ध में शास्त्रोचित कर्म था, किया । दैत्यराज की अनुपस्थितिमें दैत्य महादुखी और शोकान्वित हो गये ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम प्रकरण का इक्कीसवाँ सर्गः समाप्त ॥ २१ ॥

बाईसवाँ सर्ग ।

प्रह्लाद विज्ञान वर्णन

हे रामजी ! हिरण्यकशिपुके मारे जाने से दैत्यों में शोककी काली घटा छा गई । समस्त दैत्य दुःखी होगये । तब प्रह्लाद ने दैत्योंसे मिलकर कहा—अब अपनी रक्षाके लिये क्या उपायकीजियेगा । दैत्योंके नाशकर्त्ता हमारे विष्णु बड़े बली हैं । उनके नख खड्ग की धारसे भी तीक्ष्ण हैं । उनकी मारके आगे दैत्य नहीं ठहरते । जब

दैत्य बढते हैं, तब विष्णु आकर उन्हे नाश कर देते हैं। यद्यपि दैत्यों की उपज इतनी अधिक है तो भी उनको नष्ट होने देर नहीं लगती। भीतर बाहर से हमको बड़ा कष्ट है। देखिए न, जिन देवताओं को हमारे पिताने चूर्ण कर दिया था, अब उनका बल हमसे भी अधिक हो गया है। हमारी जो स्त्रियाँ देवताओं का शिरमौर रहती थी, वही अब उनके वशमे हैं। जैसे मृगको व्याध हर ले जाता है, वैसेही वे हमारी स्त्रियों को हर ले गये हैं। देवताओं ने हमारा धन जन सब कुछ नष्ट कर दिया है। जैसे जल बिना कमल मुर्का जाता है, वैसे ही हम भी अपने बान्धवों के बिना कुम्हिला गये हैं। हमारे जिन घरोंमें रत्न जड़े थे, वहाँ अब धूल उड़ रही है। हमारे जिन घरोंमे कल्पवृक्ष लगे थे, उन्हें देवता उखाड़ कर नन्दन-वनमें ले जाकर लगा दिये हैं। देवताओं को यह सारी सहायता विष्णुजी से मिली है। हमारे घर और हमारी वाटिका को नृमिहजीने जला दिया है। जहाँ कभी देवताओं की स्त्रियाँ दैत्योंका मुख जोहती थीं, वहाँ अब दैत्यों की स्त्रियाँ ही देवताओं की स्त्रियों को चौर करती हैं। अब देवतागण दैत्योंकी स्त्रियों से हास विलास करने हैं। जहाँ कभी सुमेरु और मन्दराचल पर्वत पर कल्पवृक्ष और नन्दनवन शोभायमान था, वहाँ अब धूल उड़ती है। शोक, यह महान कष्ट दैत्यों पर आगया है। घोर आपदा है। इसलिये हे भाइयो! अब हमको सिवा विष्णु की शरण में जाने के और कोई उपाय सूक्त नहीं पड़ता। भला, वह विष्णु कैसा है कि जिसकी दो भुजा रूपी वृक्षों की छाया में देवताओं को विश्राम मिलता है। मेरे विचार से तो जो विष्णुकी शरणमे जायगा वह कभी दुःखी न होवेगा। देखो-न, जो देवाङ्गनाये कभी असुरों की स्त्रियों का पूजन करती थी वे अब अपने अपने को पुजाने लगी हैं और हम दैत्यों की स्त्रियों के मुख कुम्हिला गये हैं। जैसे ओंलो के पड़ने से कमल सूख जाते हैं, वैसे ही हमारे मंडप टूट गये हैं। हमारे महल में जो नीलमणि के खम्भे लगे थे वे छिन्न-

भिन्न हो इधर उधर गिर पड़े हैं। मुझे स्मरण आता है कि जब कभी दैत्य सेना आपदा के समुद्र में डूबने लगती थी तब हमारे समर्थ पितादिक उसे डूबने न देते थे और बचा लेते थे, वे बड़े समर्थ थे। परन्तु अब वही सेना विष्णुजी की मारसे चूर्णित हो रही है। जैसे बालक को यानर मारे अब वैसे ही इन्द्रादिक देवता हमारी दैत्य सेना को मारते हैं। इससे ज्ञात होता है कि उम पुण्डरीकाक्ष भगवान विष्णुको जीतना कठिन है। वे महीं पराक्रमी हैं। वे शस्त्र रहित हों, तो भी उन्हें कोई शस्त्र छेद नहीं सकता। उनको युद्ध का बड़ा अभ्यास है। वे पर्वतों के साथ भी युद्ध करते हैं। हमारे जो पिता बड़े बली थे और जिन्होंने त्रिलोकी के राजा इन्द्र को वश में कर लिया था, जय विष्णु ने उन्हें भी मार डाला, तब उनके लिए हमारा मारना क्या कठिन है। वह बड़े बली हैं, हम उनका नहीं जीत सकते। अस्तु, उनको वश करने का यही एक उपाय है कि हम सब उनकी शरण में होवे। इसके अतिरिक्त हमारी और कोई गन नहीं। वही इम जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय-कर्ता तथा वही देवता हैं। हे भाइयो! उन्हीं के ध्यान में लगे। उनके ध्यान से एक पल भी न उतरो। मैं स्वयम् उन्हीं के ध्यान में लगा रहना हूँ। वे सर्वके, सर्व प्रकार नारायण और अजन्मा हैं। मैं स्वयम् उन्हीं के पारायण रहता हूँ। उनका यह 'ओं नमो नारायण' मन्त्र समस्त अर्थों का देने वाला और सिद्ध कर्ता है। बस इसी मन्त्र का जाप करो। इम जाप से तुम्हारे हृदय में स्फुरण होगा। क्योंकि वह विष्णु सर्वकी आत्मा है और समस्त भूमण्डल उसीमें रमा हुआ है। आकाश पाताल सब उसी का है और वह सबका आत्मा है। वही सबको उत्तम फल देता है। मैं, तुम, यह सब विष्णु का रूप है। इससे मे ही विष्णु रूप होकर गरुड़ पर सवार हूँ और मेरे ही गले में सुवर्ण के भूषण पड़े हैं। मेरे हाथ रूपी वृक्ष पर समस्त पंक्षी विश्राम पाते हैं। देखो, यह मेरी चतुर्भुजा है, यह मेरे पार्षद हैं।

मैंने ही क्षीर समुद्र का मथन किया था और मैंने ही अमृत, चन्दन लक्ष्मी और विष को समुद्र से निकाला है। मेरे ही पार्षदों में सब प्रकार की माया विद्यमान है और वही इस अनन्त जगज्जाल की क्रियाओं को लय और प्रलय करता है। मेरे ही पार्षदों ने अपनी लीलावश इस त्रिलोकी को वश में कर रखा है। जैसे कल्पवृक्ष लता सर्वदा ही फूलती और फलती है, वैसे ही मेरे पार्षद सदैव फूलते और फलते हैं। शीत, उष्ण मेरे दो नेत्र हैं जो जगत्को प्रकाशते हैं उनका ही नाम सूर्य और चन्द्रमा है। देखो, मेरा भी शरीर नीलकमल के समान महासुन्दर और श्याममेघ के समान महा प्रकाश रूप है। मेरे ही हाथ में पाञ्चजन्य शख है कि जिसके स्फुरण रूप ध्वनि से समुद्र प्रकट हुआ है। मेरी यही नाभि कमल है कि जिससे ब्रह्मा उत्पन्न हुए और इसी में सर्वदा निवास करते हैं। मेरे हाथ में यह गंदा है जो रत्नों की बनी है और जिससे दैत्यों का नाश होता रहता है। मेरे ही हाथ में वह सुदर्शन चक्र है कि जो समस्त जगत् को प्रकाश देता और साधुओं को सुख पहुँचाता है। मेरे ही हाथों में अग्नि समूहका वह कुठार है कि जो दैत्यों का नाश करता है। मेरे ही हाथों में वह शार्ङ्गधनुष है कि जिसकी ध्वनि महा प्रकाश युक्त है। यह मेरा पीताम्बर है और यह मेरी वैजयन्ती माला है। इस प्रकार मैं ही विष्णु हूँ। और इस समस्त जगत्को धारण करनेवाला भी मैं ही हूँ यह पृथ्वी मेरा ही चरण है तथा आकाश ही मेरा शीश है और तीनों लोक मेरा ही शरीर है। इसमें दिशाये ही मेरा वक्षस्थल है और मैं ही साक्षात् विष्णु रूप हूँ। मुझे ही देखकर दुष्ट चित्तवाले भागते हैं और सन्तजन सुखी होते हैं। इस प्रकार मैं विष्णु हूँ, ईश्वर हूँ और मुझे ही इन्द्र और यम आदिक समस्त देवता नमस्कार करते हैं। उसी मेरे ऐसे स्वरूप को मेरा नमस्कार है।

तेईसवाँ सर्ग

विष्णु-दर्शन

वशिष्ठ जी बोले—हे रामजी । जब इस प्रकार भक्त प्रह्लादने अपना नारायण रूप प्रकट कर ध्यान किया तो उसे वह अभूत पूर्व शान्ति और प्रकाश मिला कि जिससे समस्त दैत्य प्रभावित हो गये । पश्चात् उसने (प्रह्लाद ने) विष्णु की पूजा का फिर प्रबन्ध किया और चन्दन, धूप, दीप तथा नाना प्रकार के भूषणों युक्त पिस्ता, खजूर, बादाम, अगूर आदिक मेवों सहित भक्ष्य, भोज्य, चोष्य और लेह्य के जितने भी पदार्थ मिले सबको संग्रह कर अपने शरीरान्तर्गत उसी शख, चक्र, गदा, पद्मधारी गरुड़ासीन विष्णु का ध्यान कर सामग्रियों सहित मानसिक पूजन किया । इस प्रकार अपने को विष्णुरूप समझ अथवा हृदय में विष्णुके उसी रूप का ध्यान और पूजन कर उसने परम भक्तिका लाभ किया । इसी प्रकार वह प्रति दिन विष्णु का मानसिक पूजन और सन्त वैष्णवों का स्तकार करता था । उनकी इस पूजाको देख दैत्य चकित हो गये । प्रह्लादने कहा भाइयों । इसमें आश्चर्य क्या है । तुम लोग भी ऐसी ही पूजा करो । इसीसे विष्णु भगवान प्रसन्न होंगे और तुम्हारा कल्याण करेगे । दैत्यों ने कहा—ठीक है । किन्तु हमें यह पूजा आती नहीं । प्रह्लाद ने सबको सिखा दिया, तब से समस्त दैत्य विष्णु भगवान का मानसिक पूजन करने लगे । इस प्रकार समस्त दैत्य विष्णुके भक्त हो गये । उससे देवताओं को चिन्ता हुई । वे ब्रह्मा जी के पास जाकर बोले—भगवान् । आप की सृष्टि में यह कैसी विचित्रता है कि, समस्त दैत्य विष्णु भक्त हो गये । अब हमे कौन पूछेगा । इस प्रकार तो जगत का महा अकल्याण होगा—इसका कोई प्रबन्ध कीजिये । भक्त प्रह्लाद ने तो आप का विधान ही परिवर्तन कर दिया है । समस्त दैत्य कल्याण मूर्ति हो गये । ब्रह्मा जी ने कहा—

निश्चय ही आप उचित कहते हैं, किन्तु इसके लिये हम विवश हैं, आप लोग विष्णु जी के पास जाइये । यह माया उन्हीं ने फैलाई है । देवतागण विष्णु जी के पास पहुँचे । सारा दुःख कह सुनाया । विष्णु जी ने कहा—आप लोग चिन्ता न करें । प्रह्लाद मेरा भक्त है और यह उसका अन्तिम जन्म है । अब वह मोक्ष को प्राप्त होगा और फिर जन्म न पावेगा । हे देवताओं ! इसमें आपको द्वेष न करना चाहिये । गुणज्ञ के गुणों की उपेक्षा करके उससे ईर्ष्या करना अनर्थ-रूप है । प्रह्लाद की यह विचित्र चेष्टा है । आपलोग अपने स्थान पर जाये । प्रह्लाद मेरा भक्त है । यह कहकर विष्णु जी समुद्र में चले गये । देवता भी उन्हे नमस्कार कर अपने २ स्थान पर चले आये और प्रह्लाद से द्वेष भाव त्याग दिया । उधर प्रह्लाद प्रति दिन अपने घर में जनार्दन विष्णु की मनसा, वाचा और कर्मणा से भक्ति करने लगे । उनके योग से दैत्यों में महान भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ । फिर तो ऐसे ज्ञान का प्रसार हुआ कि समस्त दैत्य वश भोग से वैराग्यवान हो गये । किसी को विषयो से प्रीति न रही । सब निरस और दृश्य भाव से उपशम हो विश्रान्त हुये । यह सब कुछ हुआ किन्तु उन्हें परम समाधि की अवस्था न प्राप्त हुई । चित्त स्थिर होकर भी चंचल हो जाता था । तब भक्त की यह अवस्था ठीक नहीं—ऐसा विचार कर विष्णु जी अपने शंख, चक्र, गदा और पद्म युक्त महा मोहनी रूप से प्रकट हो प्रह्लाद के पास पहुँचे । विष्णु जी को देख प्रह्लाद ने उनका सप्रेम पूजन किया और गद्गद् वाणी में कहा—हे सर्व-कलक नाशक भगवान, हे नीलोत्पल श्याम शरीर युक्त पीताम्बर धारी, हे अच्युत, हे अशरण शरण दीनबन्धो ! मैं आपकी शरण हूँ । हे निर्मल रूप केवल शरीर वाले ईश्वर ! हे अच्युत ! आपकी नाभि कमलसे ब्रह्मा उत्पन्न हुये हैं । हे यमलोकरूपी कमलिनियोंके प्रकाशक रूप चन्द्रमा ! हे मोहान्धकार को नाश करने वाले सूर्य ! हे समस्त जगत के कष्टहर्ता ! मैं आपकी शरण हूँ । हे दीनबन्धो ! हे जनार्दन ! हे

का स्फुरण होता है, वैसे ही सर्वज्ञ अनुभव सत्ता से मन की मनन रूप शक्ति फुरती है। जैसे सूर्य की किरणों में सृग-तृष्णा का जल भासता है, वैसेही अनुभव सत्ता से सर्व पदार्थ भासते हैं। जैसे दीपक में अनेक रङ्ग भासते हैं, वैसेही इन पदार्थों में ग्रह आदिक पदार्थ भासते हैं। अतः वही समस्त पदार्थों का प्रकाशक है और वही सबको अनुभव से भासता है तथा वही सर्व के भीतर आत्म-भाष से स्थित रहता है। जैसे बीज में अकुर स्थित रहता है, वैसेही चैतन्य-प्रकाश से विकल्प पदार्थों की शक्ति भासित होती है। सूर्य, चन्द्रमा, पर्यत और जल आदिक सभी पदार्थ उम अनुभव सत्ता से ही प्रकट होते हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश से घट-पटादिक होते हैं, वैसेही ब्रह्मा, विष्णु और, इन्द्र ये सभी उम अनुभव सत्ता से ही जगत में उदय हैं। अतः ऐमे चित्त, चैत्य, दृश्य दर्शन कलना से रहित जो मेरा आत्मा है, उसको नमस्कार है। उसीसे सर्वभूत उत्पन्न और स्थित होकर फिर उसी में लीन हो जाते हैं। उस आत्मा से रहित सत्य भी असत्य है। वह चेतन सवित इतना गुणागार है कि उसमें जो कल्पना उठती है वही पदार्थ अपने स्वरूप को पाता है। यह जो घट, पटादिक पदार्थों के समूह भासते हैं वे सभी उस विस्तृत रूप चिदाकाश दर्पणमें प्रतिबिम्बित हैं और वही अनुभव सत्ता सर्व भूत-प्राणियों का आदर्श है और वह सर्वरूप आत्मा में ही है। मेरे ही सहस्रो नेत्र और सहस्रों हाथ हैं। मैं ही चिदाकाश रूप हूँ और सूर्य शरीर में मैं ही प्रकाश में विचरता हूँ। मैं ही वायु-वाहन पर आरूढ़ पवन रूप हूँ और मैं ही विष्णुरूप शंख, चक्र, गदा और पद्म का धारण करने वाला, समस्त मंगलों का द्रष्टा और सबका नाशकर्ता तथा समस्त देवोंको भगानेवाला भी मैं ही हूँ। मैं ही नाभिकमलसे उत्पन्न हो ब्रह्मरूप हूँ और मैं ही निर्विकल्प समाधि में स्थित मनवृत्तिरूप को प्राप्त हुआ हूँ। मैं ही त्रिनेत्र युक्त महादेव रूप हूँ और गौरी मेरी ही अर्द्धाङ्गिनी हैं। मैं ही प्रलय के समय समस्त

सृष्टिका संहार करने वाला तथा सर्वका पालनकर्ता भी मैं ही हूँ। मैं ही सबको कर्मानुसार फलका देनेवाला और मैं ही सबकी उत्पत्तिकर्ता और चेतनरूप हूँ। मैं ही इन्द्र होकर सबका पालन करता हूँ और मेरी ही लीला से यह संसार-चक्र चल रहा है। मुझमें ही सर्व कर्मोंको अर्पण करने से शान्ति प्राप्त होती है। और मुझमें ही सब कुछ सन्निहित है। मुझसे पृथक् कुछ नहीं है। मैं ही सत्तास्वरूप सर्वका 'आदर्श हूँ और यह समस्त पदार्थ मुझसे ही प्रतिबिम्बित होते हैं। पुष्पों में गन्ध, पत्रों में सौन्दर्य, पुरुषों में अनुभव और यह स्थावर जगम रूप जगत जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सब कुछ मैं ही हूँ। मुझमें सकल्प कोई नहीं, मैं परम चैतन्य और अह, त्वं आदि सर्वसे परे जलमें रसशक्ति, अग्निमें उष्णता और बरफ में शीतलता भी मैं ही हूँ। जैसे काष्ठमें ही अग्नि विद्यमान रहती है, वैसे ही सर्व पदार्थों में परमात्मा एव व्यापकरूप में स्थित हूँ। मैं ही सबको अपनी इच्छासे उत्पन्न करता हूँ और जैसे तिलों में तेल, दूधमें घृत, सूर्यमें प्रकाश और जलमें रसशक्ति विद्यमान रहती है, वैसेही मैं चेतन स्वरूप सर्व पदार्थोंमें स्थित हूँ। इस प्रकार यह ममग्र त्रिलोकी मुझमें स्थित है और मैं ही सबका भरण पोषण एवं सबका नाश करनेवाला विराट रूप होकर स्थित हुआ हूँ। किन्तु महान आश्चर्य है कि मैं इतना विशाल और विसृत होते हुये भी अपने आप में नहीं समा रहा हूँ। परन्तु मैं अनन्तरूप आत्मा अपनी इच्छासे स्वयं ही प्रकाशता और उज्वलतासे वैसाही शोभता हूँ कि जैसे क्षीर समुद्र अपनी उज्वलता से शोभता है। मैं ही कोटि २ ब्रह्माण्डों में व्यापक हूँ और मैं ही अनन्तरूप हूँ। तब मैं हूँ, नहीं हूँ-यह मेरी एक तुच्छ निर्वलता है। क्योंकि मैं तो आदि अन्तसे परे चैतन्य किन्तु आकाश रूप हूँ। इस मुझमें-मैं, तू, यह, वह आदि २ कल्पनायें मिथ्या एव भ्रमरूप हैं। यह शरीर क्या अपना और क्या पराया, मैं तो चैतन्य तत्त्व एवं सर्वव्यापक हूँ। भला, मेरे वह पितामह कैसी तुच्छ बुद्धिके

थे जो ऐसे ऐश्वर्य को त्यागकर इस राज्य आदिक तुच्छ ऐश्वर्य में
 लग गये थे। भला, यह सर्वका कर्ता ब्रह्म वपु फिर कहाँ प्राप्त होता
 है। किन्तु अब मुझमें उपशम स्वभाव और शुद्ध चेतन दृष्टि प्राप्त
 हुई है। ऐसा मुझको मेरा नमस्कार है। अब निश्चय ही मेरी जय
 हुई है और अब मैं इस जाँए शीर्ष सत्तासे पृथक् हुआ हूँ। इससे
 मेरी पूर्ण विजय हुई और निश्चयही अब मैंने पाने योग्य आत्मपद
 को पाकर जीवन सार्थक किया है। किन्तु खेद है कि ऐसे उत्तम
 साम्राज्य को पाकर भी मनुष्य प्राणी दुःखरूपी कार्यों में रमण करते
 हैं। हा, उनको धिक्कार है कि जो ऐसे अजय चक्रवर्ती सम्राट को
 पाकर भी काष्ठ, जल और मृत्तिका से युक्त राज्यपर मुग्ध होते हैं।
 वे निश्चय ही कीड़े के समान हैं। क्योंकि आज वे, जिस राज्यके
 लिये शिर पीट रहे हैं, वह द्रव्य और वह ऐश्वर्य तो अविद्यारूप
 है। अविद्यासेही उसकी उत्पत्ति हुई है और अविद्यासे ही वह बढ़ती
 है। तब भला उसमें क्या गुण है, कुछ ज्ञात नहीं होना। किन्तु यह
 तो निश्चित ही है कि ऐसे व्यर्थ राज्यादिकसे शान्ति नहीं मिलती।
 यदि शान्ति प्राप्त होती तो क्या कारण था कि जगतरूपी मढ़ी में
 कितने ही वर्षों तक हिरण्यकशिपु ने राज्यका सुख भोगा पर उपशम
 जैसे शान्ति-सुख को न प्राप्त हुआ। प्राप्त होता तो कैसे ?
 उसने तो एक ही जगत का राज्य किया था। आत्म-सुखके आगे
 तो सौ जगतों का भी सुख स्वादरहित है। भला, कहीं ऐसे राज्य
 से भी सुख मिलता है ? नहीं, विना उस आत्मानन्द से सुखका
 स्वाद नहीं मिलता। इन्द्रियों के सुख नहीं कहलाते। सच्चा सुख तो
 समता से प्राप्त होता है। जिसको यह सुख प्राप्त हो गया, जानों उसे
 समस्त सुखों का साथ हो गया। जिसने उस परम सुखको प्राप्त
 किया है, वह परम अमृत से सर्वदा सम्पन्न और अखंडित है। उसके
 आनन्द का अन्त नहीं, उसे परम सुख प्राप्त हो गया। किन्तु जो
 ऐसे अखण्ड पदका त्यागकर परिचिन्नता को प्राप्त हुआ है, वह

महा मूर्ख है। इसी कारण पण्डित और ज्ञानी जन परिद्धिन्ननासे प्रेम नहीं करते। मूर्ख ही आत्मसुखका त्याग करते हैं। मेरे पिता-मह आदिक बड़े ही मूर्ख थे जो इस अमृतरूप दृष्टिको त्यागकर राज्य-कण्टक में लगे हुये थे। कहाँ फूल और फलादिकों से युक्त नन्दन वनकी भूमि और कहाँ इस जले हुये मरुस्थल की भूमि। इसी प्रकार कहाँ शान्तरूप ज्ञानदृष्टि और कहाँ यह भोगदृष्टि। भला इमकी कही समता हो सकती है ? मेरे विचार से तो समग्रत्रिलोकीमें ऐसा कोई भीपदार्थ नहीं है कि जिसकी मुझे वाञ्छा हो। क्योंकि सर्वमें चैतन्यस्वरूप, अनुभवकर्ता, निर्विकार, सर्वदा और सर्व ओर से सबमें मैं ही स्थित हूँ। यह जैसा है, वैसाही पाया जाता है। ज्ञानियों को सब कुछ प्रत्यक्ष है। सूर्यमें प्रकाश, चन्द्रामें अमृत, अग्निमें दाहकता, जलमें द्रवता, मौनमें महातपकी सिद्धता, पर्वतोंमें स्थिरता, वसन्त ऋतुमें पुष्प, वरफमें शीतलता, ग्रीष्ममें उष्णता, और देश, काल, क्रिया एव नाना प्रकारके जो आकार विकार तीनों लोकों में भास रहे हैं—उन सबमें वही आत्मतत्त्व जो समपदार्थही है—व्याप रहा है। वही सर्व देशों एव सर्व पदार्थों का भण्डार और वही सबका आश्रयभूत है। उसीमें त्रिकाल कल्पित है। तब उसमें जैसा अनुभव होता है, तत्काल वैसाही हो जाता है। उस चेतन तत्वमें देश, काल और क्रिया एव द्रव्यका जब जैसा स्फुरण होता है, तब वैसाही हो जाता है। वही सूक्ष्म चेतन मत्ता सब पदार्थोंका अधिष्ठान है और अनागत होकर जगतके रूपमें भास रहा है। किन्तु यह नाना प्रकारकी जो पदार्थ लक्ष्मी है वह अत्यन्त दुःखको देनेवाली है। इससे उसकी ओर भूल कर भी नहीं देखना चाहिए। क्योंकि वह बन्धन रूप है। किन्तु जो त्रिकालसे रहित चेतनतत्त्व है उसके देखनेसे सकल्पो का अभाव हो जाता है और केवल एक शम आत्मा ही शेष रहता है कि जिसे वाणी बश नहीं कर सकती और असत्य की नाई निरन्तर स्थित है, जाता है। तब वही आत्मा ब्रह्ममय

हो जाता है अथवा तब वही सर्वरूप उपशम में लीन हो जाता है। किन्तु जो मलिन अतःकरण वाला है और जिसके हृदयमें संकल्प विकल्प उठा करते हैं उसे उस परम पुरुषका दर्शन नहीं होता। परन्तु जिसकी इच्छा नष्ट हो गई है और जो परमपदका अभ्यास करता है उसको आत्मनत्व ही भासता है और जो जगतके पदार्थों की इच्छा करता है और जो ग्रहण एवं त्यागकी फाँसी में अपने को फँसाये रहता है, वह परम पदका भागी नहीं होता क्योंकि उसका चित्त सर्वदा ही सकल्प कलना जाल से वेष्टित रहता है। उसे विषय रूपी गढ़से निकलने की शक्ति नहीं रहती। तभी तो मेरे पितामह कई बार पृथ्वीमें फुर-फुर कर लीन हो गये। वे बालकों के समान नीच थे और अज्ञानी थे। उन्हें परम तत्त्वका ज्ञान नहीं था। भोगों की इच्छा ही दुःखरूप है। इसे अज्ञानी ही अपनाते हैं। किन्तु जो ज्ञानी हैं, जिनको इस मृगतृष्णारूप जगत के पदार्थों में ग्रहण त्याग की बुद्धि नहीं है, वे पुरुष जीवित हैं और शेष मृतकरूप हैं। ऊहाँ निर्मल और अविच्छिन्न रूप चेतन चन्द्रमावत शीतल आत्मदर्शन और ऊहाँ उष्ण काल कलंक युक्त इसकूर चित्तकी अवस्था? मुझे ऐसा चित्त नहीं चाहिए। अतः मुझे मेरे आत्मदेव को नमस्कार है। हे विदात्मदेव ! मुझे तूही परमानन्दरूप है। तूने ही इस विकल्प रूप समुद्र से मेरा उद्धार किया है। जो तू है, वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही तू है। अतः तुझको मेरा बारबार नमस्कार है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम प्रकरण का चौबीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २४ ॥

पच्चीसवाँ सर्ग

प्रह्लाद का आत्म लाभ-चिंतन

प्रह्लाद बोले—जिसका नाम 'ऊ' है, वह विकारों से रहित ब्रह्ममें हूँ। यह सारा जगत मेरा ही आत्मस्वरूप है। वही सत्य, असत्य से परे चेतनस्वरूप और सर्व जीवोंमें विद्यमान है। सूर्यादिकमें वही

प्रकाश है, अग्निमें वही उष्णता है तथा चन्द्रमामें शीतलता भी वही है। उठते, बैठते, चलते और समस्त व्यवहारों को करते हुये भी वही दृष्टि आता है। अतः यह सब कुञ्ज में ही हूँ। मुझमें कुञ्ज लैपायमान नहीं होता। मैं सबका कर्ता और शान्तरूप हूँ। मैं ही त्रिकालों में समरूप और सर्वदा सर्व अवस्थाओं एवं सर्व पदार्थों को उत्पन्न करने एवं उन्हें नष्ट करने में सर्वदा स्वतः स्थित हूँ। ब्रह्मासे तूण पर्यन्त सारा जगत मेरे उसी आत्मतत्त्व में स्थित है। वायु की स्पन्दता और निस्पन्दतामें भी मैं ही विद्यमान हूँ। पर्वतों में अचल भाव और आकाशमें शून्यता भी मैं ही हूँ। इन्द्रियों क्या हैं ? इन्द्रियों को तो आत्मा ही चलाता है। जैसे घोड़े को सवार चलाता है, वैसे इन्द्रियों को आत्मा ही फेरता है। मैं ही भोक्ता और मैं ही सर्व में शोभता हूँ। इस प्रकार इस जरा मरण रूपी संसारसागर को पार करने वाला केवल आत्मा है जो सबसे सुलभ और अपने आपसे ही जाना जाता है। यह जीव को अपने बान्धव की नाई ही प्राप्त होता है। जहाँ स्मरण किया नहीं कि यह आत्मदेव-उसी क्षण उसके निकट पहुँच आता है, इसमें तनिक भी शंका नहीं है। वह सर्वदा निष्कलक और परम सम्पदावान तथा सर्वदा स्वस्थरूप है। रसों में रस, पुष्पों में सुगन्ध और तिलों में तेल के समान ही वह सर्व पदार्थों में विद्यमान है। अविचारके वशोहने से प्राणी उसे नहीं जानते। किन्तु विचार होने से वह भट पहचान लिया जाता है। जब विचार उदय होता है तब आत्मा परमेश्वर को जान लेता है और उस प्रियतमके पाने पर वैसाही आनन्द उदय होता है जैसे कोई अपने अनन्य बान्धव को पाकर सुखी होवे। उस परमदेव, परम बान्धवको पा जाने पर अन्य बान्धव नष्ट हो जाते हैं। और इस प्रकार जितनी दुष्ट चेष्टायें हैं, सब नष्ट हो जाती हैं। तब समस्त बन्धन टूट जाते हैं अज्ञान नष्ट हो जाता है, आपदायें और कष्ट दूर हो जाते हैं और आत्मा के प्राप्त होने पर प्राणी आत्ममय हो जाता है।

फिर तो वह विस्तृत रूप आत्मा ही दीपक के समान साक्षीभूत हो ।। हे । तब जगत की स्थिति में भोगों से राग उठ जाता है और सर्व योग से आत्मतत्त्व ही प्रकाशता है । तब ऐसा ही ज्ञात होता है कि जैसे मिर्च में तीक्ष्णता स्थित है, वैसा ही में जगत के सर्व पदार्थों में भीतर बाहर स्थित हैं । तब ज्ञात होता है कि आकाश में शून्यता, वायु में स्पन्दता, जल में रम, पृथ्वी में कठोरता, चन्द्रमा में शीतलता और इस प्रकार जगत के सर्व पदार्थों में ईश्वर रूप में ही स्थित हैं । अथवा सब आत्मतत्त्व ही व्याप रहा है । जैसे काल सर्वगत है, आकाश सर्वत्र व्याप्त है, वैसे ही आत्मा सर्व व्यापक है । जैसे राजा का प्रभुत्व सर्वपर व्याप्त है वैसे ही मुझसेभिन्न और कोई कलना नहीं है । जैसे कमल पत्र पर जल नहीं ठहर सकता, आकाश को कोई स्पर्श नहीं कर सकता, वैसे ही मेरा किसी से स्पर्श नहीं है । सुख दुःख का सम्बन्ध तो देह का होता है । देह चाहे चिरकाल पर्यन्त बना रहे अथवा इसी क्षण नष्ट हो जावे, मेरा उससे कुछ हानि और लाभ नहीं है । जेमे दीपकका प्रकाश किसी रस्सीमें बाँधा नहीं जा सकता वैसेही आत्मा किसीसे बन्धायमान नहीं होता । वह सबसे अवन्धरूप है । जेमे आकाशको कोई बाँध नहीं मकता । वैसे ही आत्मा अवन्ध है । शरीरके खड २ हो जानेपर भी आत्माका नाश नहीं होता । शरीरके नाश होनेपर भी आत्माका नाश नहीं होता । शरीर के नाश होने पर प्राण निकल जाता है, मन नष्ट हो जाता है, परन्तु उससे हमारा क्या विगड़ता है । मन तो दुःख सुखको उत्पन्न करनेवाला है । उसका जाना ही अच्छा है । इन्द्रियों की अज्ञानसे ही मूर्ख दुःख पाते हैं । आत्मा के अज्ञान से ही मूढ दुखी होते हैं । किन्तु अब मैंने आत्मतत्त्व को देख लिया है, अब मेरा भ्रम शान्त हो गया है और अब इस प्रकार मुझको कुछ भी चोभ नहीं है । अब न तो मुझे भोगों के ग्रहण की इच्छा है और न त्याग की चाहे कोई रहे या जावे, मुझे इस शरीर के सुख दुःख की तनिक भी

इच्छा नहीं है। मैं एकरस चिदानन्दस्वरूप हूँ। अब मुझे कोई वासना नहीं फुरती। अब तक मुझे भलेही अज्ञान ने कष्ट दिया है किन्तु अब मैंने अपने आपको जाना है और अब मैं इसको चूर्ण विचूर्ण किये देता हूँ। अब तक जो इस शरीररूपी वृत्तमें अहंकाररूपी पिशाच था, उसे मैंने परम बोधरूपी मंत्रसे दूर किया है, इससे अब मैं पवित्र हुआ हूँ। अब मेरा मोह शान्त हुआ है और अब मेरे सर्व दुःख नष्ट हो गये हैं। अब मुझे विवेकरूपी धन प्राप्त हुआ है। अब मैं परम ईश्वररूप होकर स्थित हुआ हूँ। मुझे जो जानना था, वह जान गया। जो देखना था, देख लिया। इस प्रकार अब मैं उस पद को प्राप्त हुआ हूँ कि जिसके पाने से कुछ पाना शेष नहीं रहता। अब मुझे आत्म-तत्त्व मिल गया है। अब मैंने उस परमात्मदेवको पा लिया है कि जिसका रूप सर्व ओर व्याप्त है। अब मैंने उस दुष्ट अहंकार को त्याग दिया है कि जिससे वे आत्म-भगवान सनातन ब्रह्म सर्वथा ही दूर रहते हैं। हा, इस अहंकार के कारण मुझे क्या नहीं करना पडा। इसने मुझे इन्द्रियरूपो गढे में गिराया था, रागद्वेष रूपी सर्पसे कटाया, करंजुये के कुञ्जो में भ्रमाया, कामरूपी कोयलके शब्दों को सुनाकर जन्मरूपी कूपमें गिराया और इस प्रकार दुःखरूपी दावाग्निमें जलाकर आशारूपी फाँसी में बाँध कर क्या नहीं कराया। हा, मैं इसके हाथों पडकर अनेक जन्मों को भ्रमता ही रहा और अन्तमें विष्णु भगवान की दयाने ही मेरा उद्धार किया। सो हे देव ! हे ईश्वर ! तुम्हारे ज्ञान से अब मेरा अहंकार नष्ट हुआ है। हे प्रभो ! अब मैं उस दुष्ट को नहीं देखना चाहता। हे विभो ! अब तुम्हारे दर्शन से मेरा अहं भाव नष्ट हुआ है। अब मैं परम स्वस्थ हूँ। अब मुझे सम और शान्त ज्ञान में जागृति प्राप्त हुई है। अन्यथा अब तक मुझे चोरों ने घेर रखा था। सो आप की कृपा से अब उनसे छूटा हूँ। अब मेरी आशारूपी तृष्णा शान्त हो गई है और अब निश्चय ही मेरा

हृदय शीतल हो गया है। अब मुझे मोह नहीं है। कोई दुःख भी नहीं है। अब मेरे लिये स्वर्ग और नरक दोनों ही बराबर हैं। बन्ध और मोक्ष भी कोई नहीं है। ये सब तो अहंकार के कारण ही भास रहे थे। परन्तु अब इनका सर्वथा ही अभाव हो गया है। सो हे आत्मदेव। तुमको नमस्कार है। क्योंकि तुम्हें प्राप्त करने पर ही मेरा अहंकार मोघ दूर हुआ है। इससे तुमको मेरा वारम्बार नमस्कार है। हा, तुमको पाने पर ही मेरा मन शान्त हुआ है और निश्चय ही अब मेरी विजय है। तुम्हारी कृपा से ही अथवा पुरुपार्थ द्वारा तुमको पाकर ही अब मैं निर्भय, निरहंकार, निष्पन्द और शुद्ध हुआ हूँ। अब निश्चय ही मेरा शरीर जीवके सदृश स्थित हुआ है। और लीला करके मनने अहंकार पर विजय पायी है। हा, अब तक घोर कष्ट पाने के पश्चात् ही अब मैं निर्भय होकर स्वस्वरूप को प्राप्त हुआ हूँ। सो, सत्य ही है कि प्रभुता के समूह के समक्ष अज्ञान नहीं ठहरता।

श्री योगवाणिष्ठ माया, उपशम प्रकरण का पन्चीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २५ ॥

छन्वीसवाँ सर्ग

विष्णु आदेश

वशिष्ठ जी बोले—हे रामजी। इस प्रकार आत्म चिन्तन करते हुये परम-भक्त-प्रह्लाद उस अचल समाधि में स्थित हो गया कि जो समाधि सर्व विकारों से निरानन्द तथा पापाणपत है। उसकी इस दशासे दैत्यों में घोर निराशा फैल गई। यत्र-तत्र उपद्रव होने लगे। तब कुछ विचारक दैत्यों ने प्रह्लाद को अनेक प्रकार से जगानेकी चेष्टा की। परन्तु जैसे बिना बीजके अंकुर नहीं निकलता वैसे ही उनको श्रम व्यर्थ हुआ और प्रह्लाद ज्यों का त्यों पाँच हजार वर्ष तक उसी अवस्था में पापाण-मूर्ति के समान बैठा ही रह गया। अचल समाधि के कारण शरीर भी वैसे ही पुष्ट बना रहा। परन्तु दैत्यों की विषय्य दशा हो गई। छोटों

को बड़े लूटने मारने और खाने चबाने लगे । सारी मर्यादा नष्ट होगई । जिसे जो मिला वह वहीं जा बैठा । चारों ओर हाहाकर मच गयी । अनेक उपद्रव हुये । दैत्यवंश निर्लक्ष्मी और उजाड हो गया । चारों ओर अनीति और अकाण्ड उपद्रव होने लगे । किन्तु प्रह्लाद की दशा परम शोभाको प्राप्त हुई । वह परमानन्द आत्माको प्राप्त हो गया । उसकी सारी कलनायें शान्त हो गई, केवल प्रकाश मात्र शेष रहा ।

उधर तो यह अवस्था रही, इधर दैत्य-वंशके नष्ट-भ्रष्ट होने से विष्णु भगवान् को चड़ी चिन्ता हुई । वे चातुर्मास वर्षा काल से जागृत होकर सोचने लगे कि दैत्यवंश के न रहने से अब समस्त देवता निर्भय होकर परमपद मोक्षके भागी हो जायेंगे तो सृष्टिका कार्यक्रम कैसे चलेगा, अतः वह युक्ति करनी चाहिये कि जिससे दैत्य कुलका नाश न होवे । यह विचार कर वे पाताल लोकमें जाकर प्रह्लाद से मिले और बोले—देखो, वत्स ! यह तुम्हारा अन्त का जन्म है और इसके पश्चात् तुम मोक्षको प्राप्त हो जाओगे, परन्तु जब तक तुम्हारा यह शरीर विद्यमान है तब तक तुम मेरा यह आदेश पालन करो कि सृष्टि-रक्षाके लिये अब तुम फिरसे राज्य-शासन को अपनाओ—शरीर रहते हुये भा जीवनमुक्त प्राणियों को राज्य करना चाहिये । अन्यथा तुम्हारे इस त्यागसे श्रृष्टि का विधान व्यर्थ हो जायगा और हमारा सारा प्रयत्न निष्फल होगा । यद्यपि सृष्टिका होना न होना मेरे लिये कुछ नहीं है, तथापि जो नीति जैसी है, वह वैसी ही स्थित रहे—यह मैं अवश्य चाहता हूँ । क्योंकि जो वस्तु भाव में समान होवे उसका नाश करना दुर्बुद्धि है ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उपशम प्रकरण का छवीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २६ ॥

सत्ताईसवाँ सर्ग ।

प्रह्लाद का राज्याभिषेक

वशिष्ठ जी ने कहा—हे राम जी । भगवान् विष्णु के ऐसा कहते ही प्रह्लाद ने नेत्र खोलकर देखा तो उसे प्रतीत हुआ कि मेरा परम कल्याण हुआ है । अपना आप स्वरूप ही अनन्त आत्मा और परमेश्वर है । उसमें किसी प्रकार का सकल्प नहीं, वह सर्वदा सर्वकाल में आकाशवत् निर्मल है । तब मुझको शोक क्या, मोह क्या ? वैराग्य भी क्या है ? भला उस आत्मदेव के रहते शोक, मोह और इस देह रूपी ससार की नश्वरता कहाँ । यह ससार न तो कहीं स्थित है, न इसमें भय है, न अभय । मैं यथेस्थित सर्वदा अपने आप में स्थित हूँ । मेरी निर्मलता तो ऐसी है कि मैं स्वयम् ही ससार बन्धन को त्यागकर सर्व से विरक्त हुआ हूँ । तब मुझे—हर्ष, शोक चिन्ता, और विकार क्या ? यह सब तो अज्ञानियों को होता है । ऐसी दुःख रूप चिन्ता उन्हें ही शोभा देती है, उन्हें ही विचलित करती है । किन्तु ऐसी निकृष्ट चिन्ता पण्डितों को नहीं होती । 'मैं, तुम' की वासना तो अज्ञानियों की है, शुद्ध बुद्धि के निकट नहीं । यह ग्रहण करने योग्य है, यह त्यागनीय है, यह ऐसी है, यह अमुक का है इत्यादि वासनार्ये मिथ्या चित्त का भ्रम हैं और ऐसा भ्रम उन्मत्त अज्ञानी के ही हृदय में होता है, ज्ञानी के नहीं । हे राम जी ! सब कुछ तुम्हीं हो । तुम्हारा ही यह सारा विस्तार है । तुममें ग्रहण त्याग और भाव की कल्पना नहीं है । यह सारा जगत तुम्हारे उस विज्ञान रूप सत्ता की ही माया मात्र है । तब भला इस सत्य असत्य रूप जगत में ग्रहण और त्याग किसका कीजिये । केवल अपने स्वभावसे ही द्रष्टा और दृश्यक विचार कर लेना चाहिये । फिर तो इस भावाभाव जगत से मुक्त हुआ ही समझो । ऐसे ही विचारों से मुझे आत्मतत्त्व का भान हुआ है और मैं समभाव को प्राप्त हुआ हूँ । अब मुझको सशय कुछ नहीं रहा । अब जो कुछ

करता हूँ, वह आत्मा से करता हूँ । वशिष्ठ जी ने कहा—ह राम जी ! इस प्रकार प्रह्लाद ने कह कर—चीरशायी विष्णु भगवान की श्रेष्ठ सुमेरु की मणिके पूजा की और फिर शंख, चक्र, गदा, पद्म आदिक शस्त्रों का पूजन कर उनके वाहन गरुण की पूजा की और फिर देवता और विद्याधरों का पूजन किया, तब कमलापति बोले—हे दैत्येन्द्र ! अब तू यहाँ से उठकर अपने राज्य सिंहासन पर बैठ । मैं तुम्हको अपने हाथ से राज्याभिषेक करके पाञ्चजन्य शंख बजाता हूँ कि जिसका शब्द सुनकर सब सिद्ध और देवता आकर तेरा यशोगान करेंगे । फिर तो वैसा ही हुआ । प्रह्लाद अपने पिता के राज्य सिंहासन पर जा बैठा और भगवान विष्णु ने गङ्गादिक तीर्थों का जल मँगवाकर उसे राजतिलक कर अपना पाञ्चजन्य शंख बजाया कि जिसके शब्द को सुनते ही सब सिद्धगण, ऋषि, ब्राह्मण, विद्याधर, देवता और मुनियों के समूह एकत्रित होकर प्रह्लाद की स्तुति करने लगे । तब मधुसूदन भगवान विष्णु बोले—हे निष्पाप ! जब तक यह सुमेरु को धारण करने वाली पृथ्वी और सूर्य चन्द्रमा का मण्डल स्थित है तब तक तू इष्ट अनिष्टमे सम बुद्धि रख वीतराग रह, भय और क्रोध से रहित होकर इस राज्यका उपभोग करते हुवे प्रजा का पालन कर । तुम्हको ज्ञानकी पूर्ण भूमिका प्राप्त हो चुकी है । तुम उसमें स्थित रह कर जैसे कुछ प्राप्त हो जैसे ही हर्ष, शोक और भय से रहित होकर निर्भय विचर, अब तेरे लिये हेयोपादेय कुछ नहीं है । अब तुम्हें किसी प्रकार का बन्धन नहीं है । क्योंकि तूने ससार की सर्व स्थितियों को जान लिया है । इससे अब मैं तुम्हें अधिक क्या उपदेश करूँ । अब तू राग-द्वेष से रहित होकर राज्य का उपभोग कर । अबसे तेरे दैत्यों का रक्त पृथ्वी पर न पड़ेगा । अब देवताओं का उनसे विरोध न होगा । अब आज से देवता और दैत्य मिल गये । अब उनका भय जाता रहा और अब सारा जगत स्वस्थ रहेगा ।

उन्तीसवाँ सर्ग ।

प्रह्लाद-विभक्ति

यह सुनकर रामजी ने पूछा-हे भगवन ! आपने उधर कहा है कि सर्व काम अपने पुरुष-प्रयत्न से ही सिद्ध होते हैं, तब प्रह्लाद को विष्णुजी के वर की क्या आवश्यकता पडी और वह माधव के वर विना ही, क्यों नहीं जाग गया। जब विष्णुजी ने वर दिया तब उसको ज्ञान प्राप्त हुआ। फिर पुरुष प्रयत्न का क्या मूल्य रहा? वशिष्ठ जी ने उत्तर दिया—हे रामजी ! यह क्या, प्रह्लाद को जो कुछ प्राप्त हुआ, वह पुरुषार्थ से ही प्राप्त हुआ है। पुरुषार्थ के बिना कुछ प्राप्त नहीं होता। विष्णु भगवान और आत्मा में कुछ भेद नहीं है। जो आत्मा है, वही विष्णु हैं और जो विष्णु है वही आत्मा है। प्रह्लाद ने जो सर्व प्रथम अपनी प्रेम शक्ति विष्णु भगवान की भक्ति में लगाई वह आत्मशक्ति से लगाई, और आपही आप आत्मा से वर प्राप्त किया और आपही आप विचार कर अपने से अपने मन को वश में किया। जब इस प्रकार के चिर-पर्यन्त अभ्यास से वह प्रतापवान हुआ तब उसे सब कुछ प्राप्त हुआ अन्यथा अविचारी को कौन पूछता है। आत्म साक्षात्कार के लिये अपना पुरुषार्थ ही मुख्य है। पुरुषार्थी को विष्णु आदिक सर्व प्राप्त हो जाते हैं। पुरुषार्थ से उपजा हुआ विचार क्या नहीं प्रकाश करता, वर आदिक तो उसके लिये गौण कारण मात्र हैं। मुख्य कारण पुरुषार्थ है। इससे तुम पुरुषार्थ का ही आश्रय करो। पहले पाँवों इन्द्रियो को वश कर चित्त को आत्म-विचार में लगाओ ! पुरुषार्थ से इन्द्रिय रूपा पर्वत को लांघो, फिर तो अनायास ही ससार सागर को पार कर जाओगे। यदि विना पुरुष-प्रयत्न के ही विष्णु भगवान मुक्ति देते तो मृग और पक्षियों को दर्शन दे क्यों नहीं मुक्त कर देते। इसी प्रकार यदि गुरुजन जिज्ञासुके पुरापार्थ किये बिनाही उद्धार कर देते

तो अज्ञानी, अविचारी ऊँट और वृषभ आदिक पशुओंको मुक्त क्यों नहीं कर देते । इससे बुद्धिमान जनोंको विष्णु और गुरु आदि किसी का भरोसा न करके अपने पुरुषार्थका ही भरोसा करना चाहिए । अपने मनको स्वस्थ किये विना परम सिद्धता की प्राप्ति दुर्लभ है । महात्मा पुरुषों का यही सिद्धान्त है । अस्तु, आत्म लाभके लिये वैराग्य और अभ्यास ही परम आवश्यक हैं । हे रामजी ! अपने आपसे ही अपनी आराधना और अर्चना करो । आपसे ही आपको देखो और आपसेही आपको विचारो और सर्वदा ही अपने आपमें स्थित रहो । आत्म-पूजनका यही नियम है । शेष वैष्णव-भक्ति आदिका क्रम गौण है । इन्द्रियों को वश किये विना, पूजा अर्चना व्यर्थ । विना विचार उपशम के विष्णु-भक्ति सिद्ध नहीं होती । विचार उपशम हो जाने पर कमल और पापण में अन्तर नहीं रहता । अस्तु, विचार युक्त होकर आत्मा की आराधन करो । उसकी सिद्धता से ही तुम सिद्ध हो जाओगे । जिसने उसको सिद्ध नहीं किया वह गर्दभ है । जो विष्णु के आगे प्रार्थना करते हैं वे अपने चित्त के आगे क्यों नहीं करते ? सर्व जीवों के भीतर-विष्णु स्थित है । उनको त्यागकर जो बाह्य विष्णु की आराधना करते हैं वे मूर्ख हैं । जब हृदय गुफा में ही वह चेतन तत्व, ईश्वर का मुख्य सनातन वपु स्थित है, तब उसे छोड़कर हम बाहर क्यों जाते हैं । आत्मा को वह विष्णु वपु तो सर्वथाही अपने शंख, चक्र, गदा और पद्मादिक चिह्नों युक्त हमारे हृदय में स्थित है, तब उसे त्याग कर बाहर दौड़ना क्या ? ऐसे साधन से सिद्ध होने वाले विद्यमान अमृत को त्यागकर बाह्य में यत्न करना मूर्खता नहीं तो क्या है ? हे राम जी ! यह मनरूपी हस्ती है । जिस पुरुष ने आत्म विवेक द्वारा इसेको वश नहीं किया है उस अविवेकी चित्त को राग-द्वेष की कल्पनाये उहरने नहीं देती । हे राम जी ! वैष्णव-भक्ति के क्रम से जो विष्णु पूजा होती है, वह मिथ्या तो नहीं पर कनिष्ठ

अवश्य है। ऐसी पूजा उस जिज्ञासु के लिये है कि जिसकी बुद्धि मंद है। वह उस प्रकार के बाह्य पूजन अर्चन द्वारा चिरकाल में ही आत्म दर्शन के योग्य होता है। उस प्रकार के बाह्य पूजन एवं नित्य अभ्यास से चित्त तो अवश्य निर्मल हो जाता है पर तत्काल ही आत्म फल को नहीं पाता। हाँ, जब वह अपने उस निर्मल चित्त के द्वारा फिर अभ्यास वैराग्य में लगता है तभी आत्मफल का भागी होता है। हे राम जी! आत्म दर्शन के लिये अपने मनके निग्रह की आवश्यकता है। जब तन्मय और इन्द्रियों का निग्रह नहीं हुआ तब तन्मय आवागमन से मुक्त होना कठिन है। हे राम जी! कोई ब्रह्मा, विष्णु और महेश को जीवन पर्यन्त क्यों न पूजेता रहे पर यदि मन उपशम विचारको न प्राप्त हुआ तो, देवताओं की कौटि कृपा पर भी वह ससार सागर को पार नहीं कर सकता।

श्री योगवासिष्ठ-भाषा उपशम प्रकरणे का उनतीसवाँ सर्ग समाप्त-॥-२९ ॥

तीसवाँ सर्ग

गावल उपाख्यान

हे राम जी! इस सत्तार रूपी माया का अन्त नहीं है और यह बड़ी प्रबला है। इससे मुक्त होना महान कठिन है। जब चित्त वश में होवे तभी यह निवृत्त होती है, अन्यथा नहीं। हे राघव! सुनो इस पर एक पूर्व आख्यान है। इसे भूमण्डल में कोशल नाम का एक देश है जो धन, धान्य सम्पन्न और रत्नों से पूर्ण है। उस देश में गाधि नाम के एक वेदपाठी ब्राह्मण रहते थे। वे ब्राह्मण बाल्यकाल में ही महा वैराग्यवान् शोभित हुये। एक समय वे कुछ कार्य विचार कर वन में तप करने गये तो एक सरोवर देखकर उममें उतर पड़े और कठवत्जल में खड़े होकर तप करने लगे। जब आठ मास दिन रात उसी प्रकार वे जल में खड़े रहे तब उनके तपको देखकर विष्णु जी वहाँ पहुँचे और बोले-हे ब्रह्मन्! तेरा क्या

अभीष्ट है, जलसे बाहर निकलकर वर माँग। गाधिने कहा—भगवन् ! आप चराचर जीवों के स्वामी और इस जगत के रचनेवाले हैं, आपका मेरा कोटिशः नमस्कार है। हे प्रभो ! मेरी यही इच्छा है कि आपकी आश्चर्यरूप माया को देखूँ। विष्णुजी ने कहा—एवमस्तु ! तुम मेरी माया को देखोगे और देखकर त्याग भी दोगे। यह कह कर विष्णु जी अन्तर्धान हो गये। ब्राह्मण वर पाकर प्रसन्न हुआ। फिर वहाँ से चला और यही विचारता रहा कि भगवान की माया को कब देखूँगा। कुछ काल पश्चात् वह फिर उसी तालाब पर स्नान करने गया तो जल में गोता लगाकर सर्व पापनाशक अघमर्षण मन्त्र जपने लगा। तब उसने देखा कि मन्त्र जपते ही उसके प्राण विपर्यय होकर निकल गये और अपना आप फिर अपने गृह में स्थित हो गया। पश्चात् उसने अपने को मृतक देखा और यह देखा कि कुटुम्ब के लोग रुदन कर रहे हैं और शरीर की शोभा ऐसे ही क्षीण हो गई है जैसे टूटे हुये कमलों की शोभा क्षीण हो जाती है। शरीर स्थिर हो गया, मुँह खुल गया, माता पुत्र-गाधि को पकड़े बैठी रही और ममस्त परिवार के लोग इकट्ठे होकर रुदन कर रहे हैं। फिर लोगों ने कहा—अब यह शरीर कलङ्कल रूप है, इसको जला देना चाहिए। ऐसा कह कर सब लोग उसे जलाने की ले चले और चिता लगाकर भस्म कर दिया। फिर गृहपर आकर जो कुछ क्रिया कर्म था, किया। हे राम जी ! इधर तो यह हुआ, उधर वह गाधि ब्राह्मण एक देश में चाण्डाल के गृह में बहुत सुन्दर बालक होकर चाण्डाली के गर्भ से उत्पन्न हुआ। बालक की सुन्दरता से मुग्ध होकर चाण्डाली उससे अधिक अधिक प्रीति करने लगी। जब वह बालक बढकर १२, १६ वर्ष का हुआ तब शिकारी कुत्तों को साथ लेकर वन में मृगादिकों का शिकार करने जाने लगा। पश्चात् उमका विवाह हुआ और उस क्रम से वह एक बृहद् कुटुम्बवाला हो गया। वृद्ध होने पर वह

कुटुम्ब को त्यागकर बाहर एक कुटी बना कर रहने लगा। देव योग से वहाँ दुर्भिक्ष पडा और उसके बान्धव लुध्रा से मरने लगे। तब वह वहाँ से निकला और क्रान्त देश में जा पहुँचा। उस देशका राजा भर गया था और उसके मन्त्रियोंने एक हाथीको इसलिये छोड दिया था कि हाथी जिस मनुष्य को पकडकर लावेगा उसे हा राजा बनावेंगे। तब राज सदन से चलकर वह हाथी ज्योंही नगरके बाहर हा रहा था कि उसके सामने यह चाण्डाल जा पडा। फिर तो योग ब्रह्म हाथीने इसेही अपने मरतक पर चढा लिया। तब उसके हाथी पर आरूढ हाते ही नगाड़े और तूरियाँ बजने लगीं, बड़े शब्द होने लगे। भाट और बन्दीजन आकर उसकी स्तुति करने लगे। फिर तो उम प्रकार के आनन्द में इसके मुखकी शोभा और ही होगई और सेना सहित यह राजा होकर ऐसा शोभायमान हुआ जैसे तारागणोंमें चन्द्रमा शोभायमान होता है। पश्चात् वह अन्तःपुरमें जाकर रानियों के पास बैठा और सब रानियाँ और उसकी सब सखियाँ उसके निकट आकर उमसे मिलने लगीं। पश्चात् उसने स्नान कर नाना प्रकारके हीरे, मोती, भूषण और सुन्दर वस्त्र धारण किये। इस प्रकार सब अलकारों से युक्त होकर वह शोभित हुआ और बडी तेजस्विता से राज्य करने लगा। लोगोंने उसको 'गावल' नामसे विख्यात किया।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम-प्रकरण का तीसरा सर्ग समाप्त ॥ ३० ॥

इकतीसवाँ सर्ग ।

गावल का राज्यध्वस वर्णन

हे रामजी! इस प्रकार सर्ग लक्ष्मीको पाकर वह महा आनन्दित हुआ और आठ वर्ष तक उसने बडे उत्साहसे राज्य किया। एक दिन उसके मनमें यह संकल्प फुरा कि मुझको इतने वस्त्र और भूषणों के धारण से क्या प्रयोजन है, मैं तो योही राजाधिराज हूँ और सब मेरी आज्ञा के वशवती हूँ। ऐसा सोचकर उसने अपने शरीरके सभी वस्त्राभूषण

उतार दिये और नग्न होकर राजमहलमें निकलकर राजद्वार पर जा खड़ा हुआ। फिर तो उस प्रकार वस्त्राभूषण रहित होने से उसका वह श्याम शरीर उस सुन्दर राज्यसदन में वैसाही शोभायमान हुआ जैसे तारागणों से रहित श्याम आकाश शोभायमान होता है। तब उस प्रकार नग्न शरीर हो वह ज्योही राजद्वार पर जाकर खड़ा हुआ था कि दैवयोगसे उमीक्षण उमके वे श्रेष्ठ बान्धव जिन्हें वह दुर्भिक्ष पीडित देशमें छोड़कर आया था, भुएड के भुएड सा ने आ निकले। गावल नग्न तो था ही, उसे चाण्डाल पहचान गये और देखते ही भुजाये फैलाकर बोले—अहो, भाई! तुम तो बड़े मजे में पहले ही निकल आये। कहो, अब तो राजाके वहाँ पहुँच गये हो। राजा लोगोंको सागीत बड़ा प्रिय है। और तुम्हारा कठ भी कोकिला से कम नहीं है। तब तो राजाने तुमपर प्रसन्न होकर बहुत कुछ पुरस्कार दिया होगा। अथवा धन, रत्न और गाँव, मन्दिर पुरस्कार मे पाये होंगे। कहो, कैसे हो? हमारा भी प्रबन्ध कराओ। चाण्डाल ऐसा कहते और बारंबार उससे मिलने के लिये भुजाये फैलाते, पर वह 'गावल' पीछे हटता जाता और उँगलियों से उन्हें ऐसा न करने का संकेत भी करता, किन्तु वे चाण्डाल उमके सकेन को न समझते। वे सबके सब हाथमें चर्मकी तन्त्री लिये हुये, ऐसा कहते ही गये। इस दृश्यको राजसदन की स्त्रियों ने देख लिया। द्वारपाल और नगरके अन्य कितनेही लोगों ने भी यह वार्ता सुनी। अब तो मानो सब पर अज्ञपात हुआ। लोग चाण्डाल को राजा बनाने का पश्चात्ताप करने लगे। मन्त्री और नगर के ब्राह्मण, क्षत्रिय हाय हाय धर्म गया, हम भ्रष्ट हो गये, पतित हो गये—ऐसा कहकर—प्रायश्चित्त करने का विचार करने लगे। राजसदन की स्त्रियाँ भी कलेजे पर हाथ मार-मार कर कहने लगीं—महान शोक। यह राजा तो चाण्डाल है। हाय, इसके हाथों पडकर हम भ्रष्ट हो गईं। इसने हमें भ्रष्ट किया, स्पर्श किया, अब तो न जीना ही अच्छा है। निदान

राज-सदन से लेकर मारे नगर में हलचल मच गई। धर्मधारी ब्राह्मण क्षत्रिय चिता लगाकर भस्म होने लगे। आकाश-मण्डल धूम्राच्छन्न हो गया। माम मज्जासे महा दुर्गन्धि फैल गई। रानियों ने भी महल में काष्ठ की चिता लगाकर अग्निके साथ प्राण विसर्जन किया। तब यह तो महान् अनर्थ हुआ, एक पापीके लिये इतने धर्मात्माओं का प्राण त्याग सर्वथा ही नाशमूलक है—ऐसा विचार कर उस 'गावल' ने भी चितामें प्रवेश कर अपना प्राण त्याग दिया। जब अग्निका तेज उसकी शरीर में लगा तब उसका 'गाधि-शरीर' जो जालाब में डुबकी लगाये था कम्पायमान होकर जलके बाहर शीश निकाल कर सावधान हुआ।

इतना कहकर वाल्मीकि जी बोले कि, जब इस प्रकार वशिष्ठ जी ने कहा, तब सूर्य अस्त होगये और समस्त सभा के लोग एक दूसरे को नमस्कार कर स्नान करने चले गये।

श्री योगवाशिष्ठ नापा, उपशम प्रकरण का इकतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३१ ॥

बत्तीसवाँ सर्ग

गाधि ब्राह्मण को ज्ञानप्राप्ति वर्णन

वशिष्ठ जी बोले—हे रामजी। ऐसा भ्रम उसने केवल दो घड़ी में देखा और यह न समझ सका कि वास्तविकता क्या है। पश्चात् उसे बोध हुआ और उठकर सन्ध्यादिकें कम किये। फिर अपनी उस दशा का स्मरण करके आश्चर्यवान हुआ कि यह सब माया भगवानका वर पाकर ही मैंने देखी है। जब कुछ समय व्यतीत हुआ तब एक दिन उसके आश्रम पर दुर्वासा ऋषि अत्यंत भूखे हुये आये। गाधिने उनकी पूजा की और फिर भली भाँति उनके आतिथ्य सत्कार कर कई दिन तक उन्हें अपने आश्रम में रखा। उभी अवधि में दुर्वासा के माथ सत्सग करते हुये गाधिने उनसे पूछा—हे ब्रह्मन्। तेरा शरीर जो ऐसा कृश और थका हुआ है इसका क्या कारण है। दुर्वासाने कहा—हे साधो। इसका कारण

यह है कि एक समय देशाटन करना हुआ जब मैं उत्तर दिशाकी ओर गया तो क्रान्त देशमें जा पहुँचा। वहाँ के गृहस्थ मेरी भली-भाँति सेवा करते थे जिससे मैं भोजन वस्त्रसे प्रसन्न होकर वहाँ कुछ कालके लिये स्थिर हो गया। पश्चात् उन गृहस्थों की सेवा टहल की देखकर एक दिन मैंने कहा—यह देश तो बड़ा सुन्दर है और यहाँ के प्राणी गुरु, ब्राह्मण और ईश्वर के परमभक्त एवं दया धर्म वाले हैं। तब मैंने ज्योही ऐसा कहा था कि मेरे समीप में बैठे हुये गृहस्थ कहने लगे—महाराज। यह क्या है, इससे भी अधिक धर्म पहले इस देशमें था। परन्तु अब उसका षोडशम भी नहीं है। नहीं तो यहाँ आकर सन्त महात्मा प्रसन्न हो जाते थे। तब मैंने पूछा—हे सज्जनो। ऐसा क्या हुआ। पहल क्या था और अब क्या हो गया है? गृहस्थोंने कहा—इसका प्रसंग यह है कि पहले जो इस देशका राजा था वह बड़ा दयालु और धर्मात्मा था उसके कारण सारी प्रजा सन्तुष्ट और धर्मपथका अनुसरण करने वाली थी। परन्तु जब वह मरा तब यहाँ पर एक चाण्डाल राजा हुआ। उसके अधर्म से प्रजाको महान कष्ट हुआ और अधिकांशतो क्या सारी प्रजा शोक और चिन्तित हो अग्निचिता में मरने लगे। और चाण्डाल राजा भी अग्नि में प्रवेश कर गया। राज-महल की रानियाँ भी चाण्डाल से अपने को अपवित्र समझ कर चिताकी शरण गई। वस, तबसे इस राज्य की प्रथा बिगड़ गई है और देश नष्ट हो गया है। हे गाधि। जब मैंने गृहस्थों से यह वार्ता सुनी तो मुझे बड़ा खेद हुआ कि—हाय, हाय, मैं ऐसे पापी देशमें आ गया। ऐसा विचार कर मैं प्रयाग, नैमिषारण्य आदि तीर्थों में भ्रमण करके कृच्छ्र और चान्द्रायणव्रत करने लगा। तीन बार ऐसा कठिन व्रत मैंने धारण किया। अब आश्रम पर आकर—मैंने व्रत खोला है। हे साधो। यही कारण है कि मेरा शरीर ऐसा कृशिन हो गया है। हे रामजी।

राज-सदन से लेकर-मारे नगर में हलचल मच गई। धर्मधारी ब्राह्मण क्षत्रिय चिता लगाकर भस्म होने लगे। आकाश-मण्डल धूम्राच्छन्न हो गया। माम मज्जासे महा दुर्गन्धि फैल गई। रानियों ने भी महल में काष्ठ की चिता लगाकर अग्निके साथ प्राण विसर्जन किया। तब यह तो महान् अनर्थ हुआ, एक पापीके लिये इतने धर्मात्माओं का प्राण त्याग सर्वथा ही नाशमूलक है—ऐसा विचार कर उस 'गावल' ने भी चितामें प्रवेश कर अपना प्राण त्याग दिया। जब अग्निका तेज उसकी शरीर में लगा तब उसका 'गाधि-शरीर' जो तालाब में डुबकी लगाये था कम्पायमान होकर जलके बाहर शीश निकाल कर सावधान हुआ।

इतना कहकर वाल्मीकि जी बोले कि, जब इस प्रकार वशिष्ठ जी ने कहा, तब सूर्य अस्त होगये और समस्त सभा के लोग एक दूसरे को नमस्कार कर स्नान करने चले गये।

श्री योगवाणिष्ठ नाथा, उपशम प्रकरण का इकतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३१ ॥

बत्तीसवाँ सर्ग

गाधि ब्राह्मण को ज्ञानप्राप्ति वर्णन :
वशिष्ठ जी बोले—हे रामजी। ऐसा भ्रम उसने केवल दो घड़ी में देखा और यह न समझ सका कि वास्तविकता क्या है। पश्चात् उसे बोध हुआ और उठकर सन्ध्यादिक्रम कम किये। फिर अपनी उम्र दशा का स्मरण करके आश्चर्यवान हुआ कि यह सब माया भगवानका चर पाकर ही मैंने देखी है। जब कुछ समय व्यतीत हुआ तब एक दिन उसके आश्रम पर दुर्वासा ऋषि अत्यन्त भूखे हुये आये। गाधिने उनकी पूजा की और फिर भली भाँति उनका आतिथ्य सत्कार कर कई दिन तक उन्हें अपने आश्रम में रखा। उमी अवधि में दुर्वासा के साथ सत्संग करते हुये गाधिने उनसे पूछा—हे ब्रह्मन्। तेरा शरीर जो ऐसा कृश और थका हुआ है इसका क्या कारण है। दुर्वासाने कहा—हे साधो। इसका कारण

यह है कि एक समय देशाटन करना हुआ जब मैं उत्तर दिशाकी ओर गया तो क्रान्त देशमें जा पहुँचा । वहाँ के गृहस्थ मेरी भली-भाँति सेवा करते थे जिससे मे भोजन वस्त्रसे प्रसन्न होकर वहाँ कुछ कालके लिये स्थिर हो गया । पश्चात् उन गृहस्थों की सेवा टहल को देखकर एक दिन मैंने कहा—यह देश तो बड़ा सुन्दर है और यहाँ के प्राणी गुरु, ब्राह्मण और ईश्वर के परमभक्त एवं दया धर्म वाले हैं । तब मैंने ज्योही ऐसा कहा था कि मेरे समीप में बैठे हुये गृहस्थ कहने लगे—महाराज । यह क्या है, इससे भी अधिक धर्म पहले इस देशमें था । परन्तु अब उसका पौडशाम भी नहीं है । नहीं तो यहाँ आकर मन्त महात्मा प्रसन्न हो जाते थे । तब मैंने पूछा—हे सज्जनो ! ऐसा क्या हुआ । पहले क्या था और अब क्या हो गया है ? गृहस्थोंने कहा—इसका प्रसंग यह है कि पहले जो इस देशका राजा था वह बड़ा दयालु और धर्मात्मा था उसके कारण सारी प्रजा सन्तुष्ट और धर्मपथका अनुसरण करने वाली थी । परन्तु जब वह मरा तब यहाँ पर एक चाण्डाल राजा हुआ । उसके अधर्म से प्रजाको महान कष्ट हुआ और अधिकांश तो क्या मारी प्रजा शोक और चिन्तित हो अग्निचिता में भस्म हो गई । और चाण्डाल राजा भी अग्नि में प्रवेश कर गया । राज-महल की रानियाँ भी चाण्डाल से अपने को अपवित्र समझ चिताकी शरण गई । बस, तबसे इस राज्य की प्रथा बिगड़ गई है और देश नष्ट हो गया है । हे गाधि ! जब मैंने गृहस्थों से यह वार्ता सुनी तो मुझे बड़ा खेद हुआ कि—हाय, हाय, मैं ऐसे पापी देशमें आ गया । ऐसा विचार कर मैं प्रयाग, नैमिषारण्य आदि तीर्थों में भ्रमण करके कृच्छ्र और चान्द्रायणव्रत करने लगा । तीन बार ऐसा कठिन व्रत मैंने धारण किया । अब आराम पर आकर—मैंने व्रत खोला है । हे माधो ! यही कारण है कि मेरा शरीर ऐसा कृशिन हो गया है । हे रामजी ! जब दुर्वासा ने ऐसा कहा, तब गाधि को बड़ा आश्चर्य हुआ और

वह फिर-फिर दुर्वासा से वह प्रसङ्ग पूछने लगा । दुर्वासाने कहा—
 हाँ, यह ऐसा ही है । तब महा आश्चर्यवान हो गाधिने ज्यो-त्यो
 करके रात्रि व्यतीत की और प्रातःकाल होने पर एकान्तमें बैठकर
 विचारने लगा कि—ओहो, मैंने कैसा भ्रम देखा है । परन्तु जिसे मैंने
 खमवत देखा, उसीको ब्राह्मणने प्रत्यक्ष कैसे देखा । सो, अब उस देशको
 चलकर देखूँ कि जहाँ मुझे चाण्डाल का शरीर मिला था । हे
 रामजी ! ऐसा विचार कर वह मनोराजके भ्रमको देखने चला-
 चलते २ क्रान्त देशमें जा पहुँचा । वहाँ देखता क्या है कि कितने ही
 चाण्डाल वैसे ही और मैं यहाँ था, यह मेरा राज-महल था, यहाँ
 मेरी खेती होती थी और यहाँ मेरी वाटिका थी और यह हड्डियाँ मेरे
 हाथकी फेंकी हुई थीं और यहाँ-यहाँ मैं चाण्डाल के वेशमें रहा ।
 यह सब देखकर वह आश्चर्यवान हुआ और मनहीं मन बोला कि
 हे देव ! यह क्या आश्चर्य है कि चित्त का भ्रम अब मैंने देखा है ।
 ओहो, बालक अवस्थामें मैंने यहाँ क्रीडा किया था; यह मेरे भोजन
 का स्थान था, यहाँ बैठ कर मैंने मद्य पीया था इत्यादि; यह सब
 बार-बार देखकर उसने वहाँ के निवासियों से पूछा कि हे साधु !
 पूर्व समय में यहाँ एक चाण्डाल बड़े श्याम शरीरका हो गया है क्या
 आप लोग उसके सम्बन्धमें कुछ जानते हैं ? यदि जानते हों, तो
 मुझसे कहिए । जब इस प्रकार गाधिने पूछा तब नगरवासियों ने
 कहा—हे ब्राह्मण ! तुम्हारा कहना ठीक है । जैसा-तुम कहते हो,
 अवश्य ही उस शरीरका एक ऐसा चाण्डाल यहाँ उत्पन्न हुआ था
 और ऐसे २ आठ वर्ष तक इस क्रान्त देशका राजा रह चुका है ।
 किन्तु जब उसका चाण्डालत्व सबको ज्ञात हुआ तब इस-इस प्रकार
 से नगरवासी शोकाकुल हो पश्चात्ताप करते हुये अग्नि-चितामें जल-
 कर भस्म हो गये और अन्तमें वह स्वयम् भी जलमरा । अब उसको
 मरे हुये बारह वर्ष बीत गये हैं । हे रामजी ! नगरवासियों के मुखसे
 ऐसा सुनकर वह गाधि ब्राह्मण बड़ा ही चिन्तित हुआ और कहने

लगा कि भगवान की माया बड़ी विचित्र है। वह जो कुछ कर जाये, आश्चर्य नहीं। यह जो मैंने वर मांगा था, उसी कारण इतना भ्रम देखा है। पर यह कितना आश्चर्य है कि यहाँ दो मुहूर्त व्यतीत हुये हैं और वहाँ स्वप्नके समान मुझको इतना काल प्रतीत हुआ। यह कुछ समझ में नहीं आता। अतः इसके स्पष्टीकरण के लिये मुझे फिर उन्ही विष्णु जी का ही ध्यान करना चाहिए। दूसरा ऐसा देव कोई नहीं है जो इस भ्रम को दूर कर सके। हे रामजी। ऐसा विचार कर वह फिर पर्वत की गुफा में जाकर तप करने लगा। दो वर्ष तक उसने घोर तप किया। तब त्रिलोकी भगवान प्रसन्न होकर उसके निकट आये और बोले—हे ब्रह्मण ! उठ, उठ, अब किस लिए ऐसा तप कर रहा है, क्या इच्छा है, वर मांग। मेरी माया बड़ी दुस्तर है। गांधि ने हाथ जोड़कर कहा—हे भगवन ! निश्चयही, आपकी माया बड़ी प्रबल है। किन्तु हे लोकों के नाथ ! यह जो स्वप्न भ्रम की नाई देखा इसमें काल की यह विपमता कैसे हुई कि यहाँ दो घड़ी ही व्यतीत हुये और वहाँ में चिरकाल तक भ्रमता रहा। और उन सब भ्रमों को मैंने प्रत्यक्ष रूपसे कैसे देखा। विष्णु जी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! यह और कुछ नहीं, यह केवल तेरे चित्त का ही भ्रम है। यह जितना कुछ जगत तू देख रहा है, सब तेरे चित्त में ही स्थित है। इस समग्र पंचमौलिक का विस्तार एक तेरा चित्त ही है। तूने जितने भ्रम देखे हैं, सब चित्त ने ही दिखाये हैं। तेरा चित्त वासना मय है, इसी से यह ऐसे २ प्रतीत हुआ। जो चित्त वासना रहित होता है उसमें भ्रमरूप पदार्थ कोई कहीं उत्पन्न होते। अतः पहले अपने चित्त को स्थिर कर। हे ब्रह्मन् ! यह चित्त-स्थान, साधारण नहीं है, इसमें कोटि २ ब्रह्माण्ड स्थित हैं। जब यह ऐसा महा कोप है, तब इसमें चाण्डाल अवस्था का उत्पन्न होना क्या आश्चर्य है। तिसपर तू कहता है कि मैंने बड़ी आश्चर्य रूप माया देखी है, क्या इसीको माया कहना है। यह तो कुछ नहीं है। जैसे २

तूने जन्म लिया, वसेही वैसे तेरे अनेक कुटुम्बी हुये, कहाँ-कहाँ तू रहा, राज किया, चितामे जला, अतिथि ब्राह्मणसे मिला । फिर जाकर सब स्थान देखे यह सब क्या है—यह भी उसी माया का खेल है । परन्तु हे साधो ! यह सब तेरे चित्तने ही किया है । जैसे मद्यपान करने वाले को सब पदार्थ भ्रम से दीखते हैं, वैसे ही यह संसार भी भ्रमसे भासता है । जैसे नौका रुद्र, चलत जगत 'देखा' वाली बात है, वैसे ही यह जगत भ्रम से भासता है । और चित्त को स्थित होनेसे जगत-भ्रम नष्ट हो जाता है । इसका नष्ट होना क्या है ? यह तो अपने ही पर निर्भर है । जब चाहे देखे, जब चाहे बन्द कर दे । क्योंकि यह मायामात्र है । इसमें कोई पदार्थ सत्य नहीं है । अतः इस भ्रमको त्याग-कर तू अपने ब्राह्मण का कर्म कर । हे रामजी ! जब ऐसा कह कर विष्णुजी उठ खड़े हुये, तब ऋपाश्वरों सहित गाधि ने उठकर उनकी मली भाँति पूजा की और वे भगवान् अपने स्थान, क्षीर-सागर में चले आये । पश्चात् वह गाधि ब्राह्मण फिर भ्रम को देखने चला । क्रान्त देशमें पहुँचा । वहाँ उसे सब बातें फिर प्रत्यक्ष जैसी की तैसी देख पड़ीं । इससे वह फिर आश्चर्य चकित हुआ और फिर विष्णु जी की आराधना करने लगा । जब कुछ काल व्यतीत हुये तब विष्णुजी फिर आये और उससे बोले—हे ब्राह्मण ! अब तू क्या चाहता है ? गाधिने कहा—महाराज ! इस जगतसे मेरा भ्रम अभी तक दूर नहीं हुआ । मैं क्रान्त देशमें फिर गया था और वहाँ मुझे फिर वही सब बातें दिखलाई पड़ीं । सो, हे प्रभो ! इतना अधिक काल मुझे इतने अल्प समय में ही कैसे भासित हुआ । कृपाकर मेरा यह शका दूर कीजिये । श्रीभगवान् बोले—हे विप्र ! इस सारे जगतको मेरी मायाने रचा है, इससे मैं तुम्हें क्या बतलाऊँ । जो कुछ तुम्हें भास रहा है, सब माया मात्र है । चित्तके भ्रमसे भासित हो रहा है । उस चाण्डाल की व्यवस्था तेरे चित्तमें भास आई थी, इसीसे तुम्हें उस व्यवस्था में प्रवेश करना पड़ा । कालका रूप आकार कुछ नहीं, पर

काल भी तुम्हको एक पदार्थ के समान स्फुरित हुआ। सो इसके सम्बन्धमें मैं तुम्हें अधिक विस्तारसे क्या कहूँ, मुख्य कारणको इतने ही मैं जान ले कि चित्तमें पदार्थ कालसे भासते हैं और काल पदार्थों से भासता है। जैसे जाग्रतके एक मुहूर्तमें स्वप्नके अनन्त कालका अनुभव होता है वैसेही यह सब चित्तका फुरता ही है। जैसे चित्त फुरता है, वैसे २ ही भासता है। हे साधो ! जिसे कभी देखा न हो, ऐसा पदार्थ भी इस चित्तमें भास आता है। जैसे त्रिकालज्ञ को भविष्य का वृत्तान्त भी वर्तमान के सदृश भासमान होता है, वैसे ही तुम्हको भी अनुभव हुआ है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि प्रत्यक्ष का अनुभव किया भी भूल जाता है। यह सब माया रूप चित्तकाही भ्रम है। जब तक चित्त आत्मपद में स्थित नहीं होता तब तक ऐसे ही अनेक भ्रम भासते हैं किन्तु चित्त के स्थित होने पर केवल एक अद्वैत आत्मतत्त्व ही भासित होता है। तेरा चित्त अब तक वश नहीं हुआ है, इसीसे तुम्हें ऐसे २ भ्रम भासित हो रहे हैं। किन्तु आत्मपद में लगते ही इन सबका लय हो जावेगा। 'मैं, तुम-ये 'यह जो कुछ शब्द हैं' सब अज्ञानीके चित्तमें दृढ़ रहते हैं, किन्तु ज्ञानी इसमें बन्धायमान नहीं होता। जैसे जल में तूम्ही (तुम्ही) नहीं डूबती, वैसे ही अहं त्वं आदिक शब्दों में ज्ञानी नहीं डूबता। समस्त शब्द चित्त में ही बसते हैं। ज्ञानी का चित्त अचित्त होता है। इससे तू भी ज्ञानी बन, इसके लिये तपस्या कर। दश वर्ष की तपस्या के पश्चात् तेरा हृदय शुद्ध हो जायगा और आत्मपद की प्राप्ति होगी। तब जगत-भ्रमके यह सारे संशय आपही आप नष्ट हो जायेंगे। हे रामजी ! जब ऐसा कहकर विष्णुजी अन्तर्धान हो गये तब उनके वचनको हृदय में धारण कर गाधि तप करने लगा। दश वर्ष में उसकी अक्षय समाधि... फिर तो उसे शुद्ध चिदानन्द आत्मा का साक्षात्कार हुआ... उसके सारे संशय नष्ट हो गये।

तैंतीसवाँ सर्ग ।

मोक्षोपदेश वर्णन

हे रामजी ! यह गाधि की कथा मैंने तुमसे मायाकी विपमता समझाने के हेतु कहा है। इसको सुनकर अब तुम्हें ज्ञान हुआ होगा कि ईश्वर की माया कितनी प्रबल और कितनी विस्तृत रूप दुर्गम और महामोह को देने वाली है। आत्मतत्व के विस्मरण से यह मनुष्य को आश्चर्य रूप भ्रम दिखाती है। अन्यथा, कहाँ केवल दो मुहूर्त और कहाँ इतना काल ? यह सब उसकी माया नहीं तो और क्या है ? हे रामजी ! जब तक बोध नहीं होता, तब तक यह माया अनेक भ्रम प्रकट करती रहती है।

वशिष्ठजी के इतना कहने पर रामजी ने पूछा—हे भगवन् ! निश्चय ही परमात्मा की माया बड़ी प्रबल है और इस संसार-चक्र का वेग बड़ा तीक्ष्ण है। यह समस्त अज्ञो को छेद डालता है। तब जिस प्रकार यह चक्र रुके और इस संसार का भ्रम छूटे—हे मुनीश्वर ! आप वही युक्ति बतलाइये। वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! यह तुम भली प्रकार जानते हो कि इस संसार-चक्र का वास नाभि-चक्र में है अथवा मनुष्यों का नाभि-चक्र ही संसार-चक्र है। वही चित्त है, वही चक्र है। जब उसको रोका जाय, तब यह सब कुछ स्थित हो जावे। संसाररूपी चक्र की चित्तरूपी नाभिको रोके बिना वह चक्र स्थित नहीं होता। इसलिये सर्व प्रथम उस नाभि-चक्रको स्थित करने का यत्न करना चाहिए। जब वह स्थित हो जाता है, तब जगत-भ्रम स्वयं ही नष्ट हो जाता है और तब वह पर-ब्रह्म परमात्मा प्राप्त होता है तथा और भी जो कुछ करना अभीष्ट होता है उसपर सफलता पाकर जीव कृत कृत्य हो जाता है अर्थात् उसे फिर कुछ पाना नहीं रहता। इससे तुम्हारी जितनी भी तपश्चर्यायें हों उन्हें त्यागकर चित्त को ही स्थिर करनेका यत्न करो। सन्तोंके

साथ और ब्रह्म विद् शास्त्रों के विचार से यह चित्त आत्मपद में स्थित होवेगा। सन्त जन जैसा बतावे उस रीति से अभ्यास करते हुये उनके साथ और उनके श्रीमुखसे शास्त्रों का श्रवण और मनन करके बारंबार उसमें चित्तको लगावो। इस प्रकार से चित्त आत्मपद में स्थित हो जावेगा और वह नाभिचक्र अथवा ससार-चक्र के स्थित होनेका तुम्हारा मन्तव्य पूर्ण हो जावेगा। उस अभ्यास में तुम्हें ससार को स्वप्नवत् जानकर इससे एकमात्र वैराग्य धारण करना चाहिये। तब एक और तो सन्तो की वाणी, दूसरे उनके द्वारा बतलाई हुई युक्तियों से शनैः शनैः दृढ अभ्यास और तीसरे शास्त्र विचार और चौथे वैराग्य, वस इन चार युक्तियोंसे चित्त वशमें हो जाता है। अन्य उपाय व्यर्थ है। हे रामजी ! इन चारों युक्तियों के साथही तुम दान दो, दान लो, सबसे बोलो चालो, कोई दोष नहीं परन्तु उनके भीतर चित्त को न जाने दो अर्थात् उनसे निष्प्रिय रहो और यह सब कुछ करते हुये भी अपनी वृत्तियों को सर्वदा उस साक्षीरूप अनुभव—आत्मा की ओर लगाये रहो। उस अभ्यास काल में तुम्हें कहीं युद्ध करना पड़े तो वह युद्ध भी करो किन्तु अपनी वृत्तिको उस साक्षी की ओर ही लगाये रहो, उसीको अपना रूप जानो और उसीमें सर्वदा स्थित बने रहो। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध यह जो पाँचो विषय इन्द्रियों के हैं इन्हें नहीं त्यागा जा सकता। हाँ, अपनी स्थिति उस साक्षीभूत में ही रहनी चाहिये। क्योंकि वह चिदाकाश ही अपना आप स्वरूप है। बिना उसका बारंबार अभ्यास किये चित्त स्थित नहीं होता। और जब तक चित्त स्थित न होगा तब तक जगतका भ्रम नष्ट न होवेगा। हे रामजी ! जब तक चित्त बना रहेगा तब तक संसार भी बना रहेगा। जैसे जब तक मेघ है, तब तक वर्षा भी है और जब मेघ नष्ट हो जावेगा तब वर्षा भी नष्ट हो जावेगी। जैसे जब तक चन्द्रमा की ज्योति में शीतलता है चन्द्र मण्डल में तुषार है, वैसेही जब

तक चित्त है तब तक संसार का भ्रम है। जैसे जब तक मांस का स्थान श्मशान है, तब तक वहाँ पक्षिगण अवश्य रहेंगे, वैसेही जब तक चित्त है तबतक रागद्वेष भी अवश्य रहेंगे। किन्तु ज्योंही चित्तका अभाव हुआ कि समस्त विकारों का भी अभाव हो जायगा। हे राघव ! जैसे पिशाच, दानव आदि की चेष्टा रात्रि में ही होती है, दिनमें नहीं होती, वैसेही राग, द्वेष, भय, इच्छा आदि का विकार चित्त में ही होता है, अचित्त में नहीं। जैसे अग्निके बिना उष्णता, शीतलता के बिना बरफ, सूर्य के बिना प्रकाश नहीं होता, वैसे ही चित्तके बिना, किसी प्रकारका भय नहीं होता। हे रामचन्द्र ! चित्त का नष्ट होनाही शान्ति है, शिखा है, सर्वज्ञता है और चित्तका अचित्त अर्थात् उसका अभाव ही आत्मा और तृप्तता भी है। पर यदि चित्त नष्ट नहीं हुआ तो इतने पदों में एक भी नहीं है। हे राघव ! जब चित्त नष्ट हो जाता है, तब एक अद्वैत आत्मसत्ता ही भासती है। अतः चित्तको स्थिर करनेका यही उपाय है कि सन्तों का साथ किया जाय, शास्त्रों के निर्णय एवं उनके अर्थोंका अभ्यास किया जाय। जब इस प्रकार के अभ्यास में दृढता हो जावेगी तब चित्त नष्ट हो जायगा और ऐसा कठिन अभ्यास न हो सके तो भी सन्तोंके साथ और सत्शास्त्रोंको सुनकर शक्ति लगाइये तो सहज हीमें चमत्कार हो आवेगा। जब मनको मनसे मथियेगा तो ज्ञानरूपी अग्नि अवश्य निकलेगी और उससे आशारूपी फांसी अवश्य जल जायेगी। किन्तु जब तक प्राणी आत्मपदसे विमुख रहता है, उसे संसारका भ्रम अदृश्य कण्ठ देता रहता है। पर आत्मपदमें स्थित होने से चोभ मिट जाते हैं और उस देवका दर्शन हो जाता है कि जिसके साक्षात्कार से कालकूट विष भी अमृत हो जाता है। परन्तु जब प्राणी उस निर्मल निरंजन अंश एवं आत्मसंवित से च्युत होता है, तब संसार का कारण मोह उसे घेर लेता है और उसी प्रकार जब प्राणी उस शुद्ध सत्तामें स्थित होता है तब संसार-सागर से तर

जाता है। क्योंकि आत्मा परम पद और आनन्द रूप है, उसके पा जाने से विष भी अमृत तुल्य हो जाता है। जो पुरुष आत्म-तत्त्वमें स्थित है वह सर्वसे श्रेष्ठ है। उसके निकट त्रैलोक्य की सम्पदा व्यर्थ है, वह जगतके सर्व पदार्थों को तुच्छ जानता है। उसके प्रकाश के आगे सूर्यका प्रकाश भी कुछ नहीं है अर्थात् सूर्य भी वैसा प्रकाश नहीं कर सकता जैसा कि आत्मपदमें स्थित पुरुष का प्रकाश होता है। वह सर्व कलनाओं से रहित अद्वैत स्वरूप है। हे रामजी ! तुम उमी पदमें स्थित रहो। जिसने उस स्वरूप को नहीं प्राप्त किया जानो उसे कुछ नहीं प्राप्त हुआ, उसका जीवन व्यर्थ और निःसार है। जो इम महान् ऐश्वर्य से संपन्न नहीं है अर्थात् जो आत्मपदसे विमुख है, वह गर्दभ है, उसको तुम विष्टाके कीट से भी निकृष्ट जानो। जीवन तो उमी का श्रेष्ठ है, जिसने आत्मपदके लिये यत्न किया है। पर जिसने यत्न नहीं किया उसका जीवन वृथा है। देखने में वे भलेही ससार में यत्नवान होवें और चैतन्य बने रहें किन्तु वे मृतक हैं, उनका वह चैतन्य शरीर शव के समान है। हा अभिमान ने उन्हें दीन कर रखा है। वे चित्त के हाथ पड़े हुये नाना प्रकार का कष्ट भोग रहे हैं। भोगों का तृष्णा उन्हें नष्ट किये देती है। भोगों के आवरणने उन्हें आत्मपदसे दूरातिदूर फेंक दिया है। जैसे बड़े मेघ के आवरणसे सूर्य नहीं भासता वैसेही अनात्म अभिमान से आत्माका भान नहीं होता। भान तो पर होता है, जब भोगोंकी तृष्णा निवृत्त हो जाती है और चित्त क्षीण हो जाता है तब अवश्य मेघ उसका दर्शन होता है। हे रामजी ! यह चित्तरूपी सूर्य बड़ाही भयानक है और इसे ज्यों-ज्यों वासना रूपी दुर्गन्ध, और भोगरूपी वायु और शरीरमें दृढ़ आस्थारूपी मृत्तिका मिलती जाती है, त्यों-त्यों यह बड़ा होता जाता है और इस प्रकार जब उन पदार्थों से बड़ा हो जाता है, विषसे जीवको मारते इसे विलम्ब नहीं होता। अतः सर्पको जहाँ तक शीघ्र हो

मार डालने में ही कल्याण है। यद्यपि इसका विष प्रत्येक की शरीर में प्रवेश कर गया है तथापि यदि जिज्ञासु विचाररूपी गरुड़ मन्त्रका चिन्तन किया करे तो विष उतर जावे, अन्यथा विष उतरने का कोई और उपाय नहीं है। हे रामजी ! अनात्म भाव और पुत्र, स्त्री आदिके मोहमे पड़कर ही चित्त बड़ा हो जाता है। तब अहंकार रूपी विकार मोहरूपी कीड़ा और यह मेरा है, यह मे हूँ आदि २ की भावनाओं से चित्त कठिन हो जाता है। हे रामजी ! यह चित्तरूपी विषका एक ऐसा वृक्ष है कि जो इस शरीर रूपी पृथ्वी पर लगा हुआ है और संकल्प विकल्प ही इसके फूल हैं तथा दुर्वासनारूपी पत्र और सुख-दुःखरूपी अधि-व्याधि एवं मृत्युरूपी इसके फल हैं। यह अहंकाररूपी कर्मोंका जलपाकर बंटता है और चिन्तारूपी इसके फल हैं। यह अहंकाररूपी इसकी वेलि बड़ी विशाल है। जब इसको वैराग्य रूपी कुठारसे काटा जावे तब शांति प्राप्त होती है, अन्यथा नहीं। क्योंकि यह चित्तरूपी वानर बड़ा चंचल है। जब देखे तब प्रतिक्षण इधर-उधर किया करता है। कभी किसी पदार्थ में दौड़ता है तो कभी किसी और ही और कोधावता है, कभी स्थिर नहीं रहता। फिर यह इतना दृढ़ है कि इमने समस्त संसारको बाँध रखा है। जैसे एक तागे के साथ अनेक दाने पिरोये रहते हैं, वैसे ही इस एक चित्तने समस्त शरीरधारियों को अपने में बाँध रखा है। यह बड़ा प्रबल है। इसको कोई मार नहीं सकता। जब विचार रूपी गरुड़ उत्पन्न होवे तब यह नष्ट होता है। और बिना इसके नष्ट हुए आत्मरूपी निधि नहीं प्राप्त होती। इसे न तो कोई शस्त्र काट सकते हैं, और न अग्नि जला सकती है। अर्थात् यह किसी अन्य प्रकार से भी नष्ट नहीं हो सकता। यह केवल सत्सग और सन्ध्यात्र विचार और अभ्यास से ही नष्ट होता है। हे रामजी ! यह चित्त रूपी गढ़े का एक ऐसा दुख-दायक मेव है कि जिसमें भागों की तृष्णा रूपी विजली चमककर बाँध रूपी क्षेत्र और शम, दमरूपी कमलों को नष्ट कर देती है। जब विचाररूपी

मत्र दिया जावे तब यह शान्त होवे । हे राम जी ! इस चित्त की चंचलताको निःसंकल्पसे त्याग दो । जैसे ब्रह्मास्त्रसे ही ब्रह्मास्त्र छिदता है वैसे ही मन को मन से ही छेदो । इस प्रकार जब यह चित्तरूपी वानर स्थिर होवेगा तभी शरीररूपी वृक्ष दुःखो से मुक्त होवेगा ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा उपशम प्रकरण का तैत्तिरीयौ सर्ग समाप्त ॥ ३३ ॥

चौतीसवाँ सर्ग

उद्दालक विचार वर्णन

हे रामजी ! यह मनकी वृत्ति महान् अनिष्टकारक और खड़ग की धार के समान तीक्ष्ण है । इसमें तुम प्रीति मत करो । यह व्यर्थ है जहां तक शीघ्र हो इसका त्याग करो । क्योंकि तुम मन नहीं हो चित्त नहीं हो, तुम शुद्ध चेतन रूप हो । बड़े भाग्य से यह पञ्च-भौतिक शरीर मिला है । जब तक यह दृष्ट पुष्ट है, जब तक मलिनताको प्राप्त होकर पृथ्वी पर नहीं गिरा है तभी तक बुद्धि को उदार करके संसारसे मुक्त हो जाओ । भला ऐसा क्या है कि जो अभ्याससे सिद्ध न होवे । तुम शुद्धबोध के विचार एव उसके दृढ़ अभ्याससे अनात्म अभिमान को त्यागकर शीघ्र ही आत्मपद को प्राप्त करो । हे रामजी ! इमा प्रकार पूर्व समय में उद्दालक नाम का एक बुद्धिमान ब्राह्मण हो गया है । तुम्हारे बोध के लिये मैं उसकी कथा सुनाता हूँ, ध्यान देकर सुनो । हे राघव ! उद्दालक बड़ा विद्वान और शास्त्र-कुशल था किन्तु परमपद को न पाने से वह अर्द्ध प्रबुद्ध था । उसके विचार इतने उत्तम थे कि वह अपनी युवावस्था के पहलेही से सन्नियम को साधने लगा किन्तु उसके चारंबार विचार करने पर ही उसका चित्त स्थित न होता था । वह विचारता कि मुझे विश्राम कब मिलेगा । यह संसार बड़ा कठिन है । हे देव ! मेरा मन अपने मनन भावको त्यागकर हस्ती जो अभिमानरूपी अंकुश का प्रहार

पावेगा, चित्त का दृढ़ हो रहा है इत्यादि हा, इस दृष्टि से

बोधरूपी बड़े से कब पार करूँगा। यह अज्ञानरूपी अन्धकार ज्ञानरूपी सूर्य से कब नष्ट होगा। हे आत्मदेव। मुझे निर्लेप और अकर्ता कब बनाइयेगा। जैसे जल में कमल निर्लेप रहता है, वैसे ही निर्लेप में कब होऊँगा। मेरा परामर्थ रूपी प्रकाश वषु कब उदय होगा कि जिसको पाकर मैं इस जगत की गति को हँसूँगा। मेरे हृदय में कब सन्तोष होगा और पूर्णबोध विराट आत्मा के समान में कब होऊँगा। हे देव। मेरा वह समय कब होगा कि जब मुझ जन्मान्ध को ज्ञानरूपी नेत्र प्राप्त होगा और मैं परमबोध पद को देखूँगा। मेरी अज्ञान दशा का अन्त कब होवेगा और ज्ञान दशा कब प्राप्त होगी। मेरा वह समय कब आवेगा कि जब मैं प्रत्यक्षरूपसे इस मन और शरीर प्रादिक प्रकृतियों को देखकर हँसूँगा। फिर मेरा वह समय कब आवेगा कि जब मैं इस ससार के कर्मों को बालक की चेष्टा के समान मिथ्या जानूँगा और यह सारा जगत मुझे सुषुप्ति की नाई प्रतीत होगा। मुझे वह निर्विकल्प पापाण शिला के समान अक्षय समाधि अवस्था कब प्राप्त होगी कि जब मैं सर्व से निःसग बन बैठूँगा। फिर मुझे उस अवस्था का दर्शन कब होगा कि जब इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में मेरे चित्त की वृत्तियाँ चलायमान न होंगी और मैं विराटरूप सर्वात्मा हो जाऊँगा। वह समय मुझे कब प्राप्त होगा कि जब मेरा सम असम आकार शान्त हो जावेगा और मुझे कोई इच्छा न रह जावेगी। मुझे उपशम पद कब प्राप्त होगा। मैं इस चेतन शरीर को अशरीर कब देखूँगा। मुझे ग्रहण त्याग से रहित सतोष कब प्राप्त होगा। जरामरण रूपी तरंगों से रहित कब होऊँगा। यह ससार रूपी नदी कब पार होगी। अपना स्वप्रकाश कब प्राप्त होगा। मैं अपने स्वभाव में कब स्थित होऊँगा। हे राम जी। इस प्रकार उहालक बारबार विचार कर चित्त को निर्विकल्प करना चाहता, किन्तु यह चित्तरूपी बानर दृश्यों की ओर विकल हो जाता था और स्थित न होता। तब वह फिर ध्यान करे और

चित्त फिर भोगों की ओर निकल जावे, कुछ समय भी न ठहरे। इस प्रकार जब चित्त में व्यग्र होकर उद्दालक ने बाह्य विषयों को त्याग कर चित्त को अन्तर्मुख किया और भीतर वह दृष्टि दिग्गलाई पड़ी तो भी वह विषयों को चिन्तने लगा और निर्विकल्प न होवे और जब हठ पूर्वक रोक रखे तब सुषुप्ति और निद्रा में ही चित्त रहे। इस प्रकार जब उद्दालक चित्त को उग्र करने में थक गया और चित्त बशमें न हुआ तब वह उठकर गन्धमादन पर्वत की एक ऐसी कन्दरा में आस्थित हुआ कि जो सबदा ही फूलों से युक्त था, और जो मन्दर पशुपती और सृष्टी में रहित एकान्त स्थान और जो देवताओं को भी देखना कठिन था। न तो वहाँ अधिक प्रकाश था और न अन्धकार। न अधिक उष्णता थी और न विशेष शीत। जैसे मधुर कार्तिक मास होना है, वैसे ही वह निर्मय एकान्त स्थान था। फिर तो उद्दालक उसी कन्दरा में कमलों का आसन लगा, उस पर मृगशाला विद्वाकर बैठा और समस्त कामनाओं का त्याग कर दिया। जैसे ब्रह्माजी जगत को उत्पन्न करके त्याग देते हैं, वैसे ही वह सारी कल्पनाओं को त्याग बैठा और यह विचार करने लगा कि रे मूर्ख मन। तू कहाँ जाना है, यह ससार तो माया मात्र है। तू इतने काल तक जगत में भटकता रहा और तुझे शान्ति न मिली, फिर भी व्यर्थमें दौड़ता ही रहा। सो हे मूर्ख मन। भोगों की ओर क्यों जाता है। उपशम की ओर नहीं आता। अमृत को त्याग कर विष का बीजारोपण क्यों करता है। यह तेरी चेष्टा देख का कारण है। तू अपने से आप ही सरूप उठाकर बन्धनमें क्यों पड़ता है और आत्म पदमें स्थित क्यों नहीं होता। भला इस प्रकार की दौड़ धूप से तुझे शान्ति कैसे मिलेगी। जिह्वा के साथ मिल कर यह दहुरे के समान तू क्या चोलता है, कानों के साथ मिल कर जो तू शुभ अशुभ वाक्य ग्रहण कर सृष्टि की नाई नष्ट होता है, त्वचा के साथ मिल कर जो स्पर्श करता है, वह तुझे नाश कर डालेगा। जिह्वा के स्वाद को पीछे पड़ा हुआ तू नष्ट हो

जावेगा । गन्ध लेने की इच्छा से तू भँवरे के समान नाश हो जायेगा सुन्दर स्त्रियों की इच्छा से तू वैसा ही जल मरेगा जैसे दीपक के मोह में पतंग जल मरते हैं । रे मूर्ख मन ! जो एक भी इन्द्रिय का स्वाद लेते हैं वे नष्ट हो जाते हैं तू तो पच विषयो का सेवन करता है । तब भला तेरा नाश क्यों नहीं होगा । अ० तू अपनी सारी इच्छा को त्याग कर शान्तिमान हो । यदि तू इन भोगों की इच्छा को न त्यागेगा तो देख, अब मैं तुझे ही त्याग दूँगा । तेरा तो असत्य रूप है । तेरा मुझसे क्या सम्बन्ध है ? सो अब विचारों के द्वारा मैं तुझे त्यागूँगा । रे मूर्ख मन ! जो तू इस देह में अहं अहं करता है सो तेरा यह अहं किस परमार्थ का है । मैं तेरे इस व्यर्थ अहंकार को कुछ नहीं समझता । यह अस्थि मांस का ढेर अहं करने के योग्य नहीं है और इसमें श्वास रूपी वायु भी पोल और आकाश रूप है । यह पच तत्वों से युक्त शरीर अहं रूप वस्तु नहीं हो सकता । फिर तू अहं-अहं क्यों करता है ? यह तू क्यों कहता है कि मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं सूँघता हूँ, मैं स्पर्श करता हूँ और मैं स्वाद लेता हूँ । तू इसके योग्य नहीं है । फिर राग ढोप से जल कर वृथा ही कष्ट क्यों उठाता है ? यह सब तो इन्द्रियो के गुण हैं । नेत्र रूप को ग्रहण करते हैं और उस तेज का अंश उसमें स्थित है । इसी प्रकार सब अपने २ विषय के ग्रहण करनेवाले हैं । फिर तू इनके साथ मिलकर तप्त क्यों होता है ? शब्द की उत्पत्ति आकाश से हुई है और आकाश का अंश श्रवण में स्थित है । फिर इसमें तेरा क्या लगा है ? स्पर्श इन्द्रिय की उत्पत्ति वायु से हुई है और वायु का अंश त्वचा में स्थित है । और वही स्पर्श को ग्रहण करता है । फिर तू इसके राग ढोपसे क्यों तप्त होता है ? रसना इन्द्रिय की उत्पत्ति जलसे हुई है और जलका अंश जिह्वामें स्थित है, वही रसको ग्रहण करती है । फिर इससे मिलकर तू व्यर्थ ही मैं क्यों तप्त होता है । प्राण इन्द्रिय गन्धसे उत्पन्न हुई है और

घ्राणमे पृथ्वीका अश स्थित है और वही गन्धको ग्रहण करता है । फिर तू उससे मिलकर क्यों कष्ट उठाता है ? रे मूर्ख ! इस प्रकार तो सभी इन्द्रियाँ अपने २ विषयको ग्रहण कर रही हैं, फिर तू इनमें अभिमान क्यों करता है ? भला तू कितना मूर्ख है कि दूसरेके धर्म को अपना बना लेता है और उनके पीछे जला करता है । इससे मैं तुझे बारबार समझाता हूँ कि तू राग-द्वेषसे रहित होकर अपनी चेष्टा कर, नहीं तो महान कष्टको प्राप्त होगा । वासना सहित कर्म बन्धनका कारण है । तू बड़ा मूर्ख है कि विचारसे काम नहीं लेता । तेरे साथ मिलकर मैं भी बड़ा कष्ट पाता हूँ । इससे अब मैं तेरा साथ न करूँगा । क्योंकि तेरे साथ मिलने से मैं बड़ा तुच्छ हो गया हूँ । मेरा तेरा क्या प्रयोजन ? अब मैं तेरा साथ त्याग कर परम चिदाकाशसे जा मिलूँगा । क्योंकि मैं निर्विकार और अहं, त्वंको कल्पनासे रहित हूँ । अब देखूँगा कि तू कैसे अहं-अह करता है । इस देह में तू अहं करने वाला और कोई नहीं—तू एक चोर है । अब मैंने तुझे पकड़ लिया है और अब त्याग देता हूँ । अब मुझे पूर्णरूप से ज्ञात होगया है कि तू अज्ञान से उपजा हुआ असत्यरूप है । तूने ही सबको दुखी कर रखा है । जब तू नाश होगा तभी आनन्द मिलेगा । तेरी उत्पत्ति महान दुखका कारण है । हाँ, जैसे कोई ऊँचे पर्वत से गिरकर कुयेंमें जा पड़े और कष्टको प्राप्त हो वे वैसेही मैं तेरे साथ आत्मपदसे गिरा हुआ शरीराभिमान रूपी गढेमें राग-द्वेष रूपी दुःखको प्राप्त हुआ हूँ । किन्तु अब मैं तुझे त्याग कर निरहंकार रूपी उस उत्तम पद को प्राप्त हुआ हूँ कि जो पद न प्रकाश है, न तम है न एक है, न दो है, न बड़ा है, न छोटा है । वह अहं, त्वं से रहित चिन्मात्र रूप है । यह—जरा, मृत्यु, शोक, दुःख, भय और भय सब तेरे संयोग से ही होते हैं । अब मैं शुद्धबोध पद होता हूँ । रे मूर्ख मन ! उत्पन्न होना दुःख का हो गया है ।

रूप हो गया। अब तू जितने ही शीघ्र निवृत्त होगा, मैं उतने ही शीघ्र शुद्ध होऊँगा। जब तू निवृत्त हो, जायगा तब निश्चय ही मुझे अपना आप आत्मा का भान होवेगा। तेरे चित्त। तू मिथ्या ही राग-द्वेष क्यों करता है। इन्द्रियों से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है, सब अपने-अपने विषय में तत्पर हैं। इनमें अहं वस्तु कुछ नहीं। इनको तूने ही एकत्र किया है। अतः तू इन सब को लेकर अपना मार्ग ले अर्थात् निर्वाण हो जा। इसी में तेरी जय और विजय है।

श्री योगगणित-भाषा, उपशम-प्रकरण का त्रैतीय सर्ग समाप्त ॥ ३४ ॥

पैंतीसवाँ सर्ग ।

उद्दालक विश्रान्ति वर्णन

हे रामजी ! इतना कहकर उद्दालक फिर मनसे कहने लगा—
रे मूर्ख मन ! तेरे सयोग से मैंने बड़े-बड़े भय पाये हैं। तू शरीर में व्यर्थ ही अह-अह करता है। भला तेरा इस शरीरसे क्या सम्बन्ध है ? शरीर तो रक्त मांसका पिण्ड है, इन्द्रियाँ और मन आदिक सभी जड़ हैं तो भला इसमें अहकार करनेवाला तू कौन है। आत्मा तो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और स्थूल से भी स्थूल है और वही शुद्ध निर्विकार और शान्त स्वरूप भी है। फिर जो आत्मा है वही मैं अचैत्य और चिन्मात्ररूप हूँ। मुझमें कोई विकार नहीं है और मैं जन्म मरण आदिक समस्त विकारों से रहित हूँ। मुझमें जो विकार भासते हैं, वह मेरे नहीं चित्तके कल्पित हैं। क्योंकि आत्मा और मुझमें कोई विकार नहीं है। मेरा न तो जन्म है और न मरण है। मैं सब विकारों से रहित हूँ। मुझमें जो विकार भासते हैं, वह केवल चित्तका दोष है। इस मुख चित्ताने ही सब असत्य पदार्थों को मत्प बना रखा है। नहीं ज्ञात कि इसका रूप क्या है ? यदि अहंकार कहूँ तो अहंकार का भी कुछ रूप नहीं ज्ञात होता। इससे सिद्ध हुआ कि यह नाम सज्ञायुक्त सभी पदार्थ मिथ्या है और अहंकारका ग्रहण

करनेवाला भी कोई मिथ्या ही है। तब भला मे इस मिथ्यासे मिल कर देहादिक इन्द्रियोके इष्टानिष्ट में क्या राग-द्वेष करूं। इसका और मेरा कुछ संयोग नहीं। मैं सर्वदा निर्लेप शुद्ध अद्वैत आत्मा हूँ। मैं स्वयं ब्रह्म हूँ, मेरा किसीसे संयोग नहीं। देहादिक असत्य है, इससे मैं इसका सम्बन्ध नहीं चाहता। अततक अज्ञानने मुझे भलेही सताया पर अब मैं इसके हाथों नहीं पडूँगा। जैसे अज्ञानसे बालक को अपनी परझाहीं में बेतालका भय रहता है, वैसेही, अज्ञान वस यह अविचार सबको दुःख देता है। अन्यथा, आत्मा अनात्मा नहीं होता और न आत्माही आत्मा होता, वरन् जैसे सूर्यकी किरणों में जल और जेवरी में भ्रमवश सर्पका भान होता है, वैसेही अज्ञान वश आत्मा में अहंकार भासता है। विचार किया जाय तो अहंकार का पता नहीं लगता। जैसे लोह और वट्टेका संयोग नहीं होता, वैसेही आत्मा और चित्त का योग नहीं होता। पर महान् आश्चर्य है कि यह अहंकार करने वाला कौन है? मुझे तो यही प्रतीत होता है कि अब तक मिथ्या अहंकार अज्ञानसे ही दुःख देता था। अन्यथा आत्मा अनात्मा नहीं होता और अनात्मा आत्मा नहीं होता। विचार करनेसे यह अहंकार दूर हो जाता है। किन्तु जहाँ अहंकार होता है वहाँ दुःख भी आ जाते हैं। जैसे जहाँ मेघ होता है वहाँ बिजली भी होती है, वैसेही जहाँ अहंकार होता है वहाँ दुःखरूपी शरीरकी मञ्जरी बढ़ती है। पर हाँ, जैसे गरुड़की उपस्थितिमें सर्प नहीं रहते वैसेही आत्मविचार को उपस्थिति में अहंकार का पता नहीं लगता। इस प्रकार निश्चय होता है कि चित्तादिक सब मिथ्या हैं और केवल अज्ञानवश भासते हैं। तब भला जब यही असत्य हैं तब इनका रचा हुआ जगत कैसे सत्य होगा। यह सर्वथा ही अकारण और मिथ्या भ्रमसे भासता है। जैसे भ्रमवश आकाश में दूमरा चन्द्रमा भासित होता है और चलती हुई नाकामें बैठने पर तटके वृत्तादिक चलते हुये भासते हैं और जैसे

रूप हो गया। अब तू जितने ही शीघ्र निवृत्त होगा, मैं उतने ही शीघ्र शुद्ध होऊँगा। जब तू निवृत्त हो, जायगा तब निश्चय ही मुझे अपना आप आत्मा का भान होवेगा। रे चित्त ! तू मिथ्या ही राग द्वेष, क्यों करता है। इन्द्रियो से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है, सब अपने-अपने विषय में तत्पर हैं। इनमें अहं वस्तु कुछ नहीं। इनको तूने ही एकत्र किया है। अतः तू इन सब को लेकर अपना मार्ग ले अर्थात् निर्वाण हो जा। डमी में तेरी जय और विजय है।

श्री योगाशिष्ठ-भाषा, उपशम-प्रकरण का चौतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३४ ॥

पैंतीसवाँ सर्ग ।

उद्दालक विश्रान्ति वर्णन

हे रामजी ! इतना कहकर उद्दालक फिर, मनसे कहने लगा—
रे मूर्ख मन ! तेरे सयोग से मैंने बड़े-बड़े भय पाये हैं। तू शरीर में व्यर्थ ही अहं-अहं करता है। भला तेरा इस शरीरसे क्या सम्बन्ध है ? शरीर तो रक्त मांसका पिण्ड है, इन्द्रियाँ और मन आदिक सभी जड़ हैं तो भला इसमें अहंकार करनेवाला तू कौन है। आत्मा तो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और स्थूल से भी स्थूल है और वही शुद्ध निर्विकार और शान्त स्वरूप भी है। फिर जो आत्मा है, वही मैं अचैत्य और चिन्मात्ररूप हूँ। मुझमें कोई विकार नहीं है और मैं जन्म मरण आदिक समस्त विकारों से रहित हूँ। मुझमें जो विकार भासते हैं, वह मेरे नहीं चित्तके कल्पित हैं। क्योंकि आत्मा और मुझमें कोई विकार नहीं है। मेरा न तो जन्म है और न मरण है। मैं सब विकारों से रहित हूँ। मुझमें जो विकार भासते हैं, वह केवल चित्तका दोष है। इस मूख चित्ताने ही सब असत्य पदार्थों को मत्स्य बना रखा है। नहीं ज्ञात कि इसका रूप क्या है ? यदि अहंकार कहूँ तो अहंकार का भी कुछ रूप नहीं ज्ञात होता। इससे सिद्ध हुआ कि यह नाम सज्ञायुक्त सभी पदार्थ मिथ्या है और अहंकारका ग्रहण

करनेवाला भी कोई मिथ्या ही है। तब भला मे इस मिथ्यासे मिल कर देहादिक इन्द्रियोके इष्टानिष्ट में क्या राग-द्वेष करूँ। इसका और मेरा कुछ संयोग नहीं। मैं सर्वदा निर्लेप शुद्ध अद्वैत आत्मा हूँ। मैं स्वयं ब्रह्म हूँ, मेरा किमीसे संयोग नहीं। देहादिक असत्य है, इससे मैं इसका सम्बन्ध नहीं चाहता। अबतक अज्ञानने मुझे भलोही सताया पर अब मैं इसके हाथों नहीं पड़ूँगा। जैसे अज्ञानसे बालक को अपनी परझाहीं में वेतालका भय रहता है, वैसेही, अज्ञान वश यह अविचार सबको दुःख देता है। अन्यथा, आत्मा अनात्मा नहीं होता और न आत्माही आत्माहाता, वरन् जैसे सूर्यकी किरणों में जल और जेवरी में भ्रमवश सर्पका भान होता है, वैसेही अज्ञान वश आत्मा में अहंकार भासता है। विचार किया जाय तो अहंकार का पता नहीं लगता। जैसे लोहे और बट्टेका संयोग नहीं होता, वैसेही आत्मा और चित्त का योग नहीं होता। पर महान् आश्चर्य है कि यह अहंकार करने वाला कौन है? मुझे तो यही प्रतीत होता है कि अब तब मिथ्या अहंकार अज्ञानसे ही दुःख देता था। अन्यथा आत्मा अनात्मा नहीं होता और अनात्मा आत्मा नहीं होता। विचार करनेसे यह अहंकार दूर हो जाता है। किन्तु जहाँ अहंकार होता है वहाँ दुःख भी आ जाते हैं। जैसे जहाँ मेघ होता है वहाँ विजली भी होती है, वैसेही जहाँ अहंकार होता है वहाँ दुःखरूपी शरीरकी मज्जरी बढ़ती है। पर हाँ, जैसे गरुडकी उपस्थितिमें सर्प नहीं रहते वैसेही आत्मविचार की उपस्थिति में अहंकार का पता नहीं लगता। इस प्रकार निश्चय होता है कि चित्तादिक सब मिथ्या हैं और केवल अज्ञानवश भासते हैं। तब भला जब यही असत्य हैं तब इनका रचा हुआ जगत कैसे सत्य होगा। यह सर्वथा ही अकारण और मिथ्या भ्रमसे भासता है। जैसे भ्रमवश आकाश में दूमरा चन्द्रमा भासित होता है और चलती हुई नौकामें बैठने पर तटके वृक्षादिक चलते हुये भासते हैं और जैसे

गन्धर्व नगर मिथ्या ही भासता है, वैसेही यह जगत मिथ्याही भ्रमसे भासित हो रहा है। जब चित्त नष्ट होवे तब इसका भी अन्त हो जावेगा अर्थात् चित्तके अभाव होनेसे जगतका भी अभाव हो जाता है। फिर देहाभिमान ही तो समस्त दुःखोका कारण। इसकी उत्पत्ति अविचार से हाती है। विचार होनेसे यह भी नष्ट होजाता है। परन्तु चित्त और अहंकार यह दोनोही मनसे उत्पन्न हुये हैं और आत्मसाक्षात्कार के लिये यह दोनों ही परमबाधक परम शत्रु हैं। इनके रहते आत्मदर्शन नहीं हो पाता। इस प्रकार हे मन ! तेरे साथसे मुझे बड़ा दुःख मिला है। अब मैं तुझे नहीं चाहता। फिर यह तो बतला कि तेरा और इस शरीर का क्या सम्बन्ध है ? तू इससे मिलाप क्यों करता है। इसके मिलने से, तो तुझे रंचमात्र भी सुख नहीं मिलता और दुःख ही मिलता है। पर तू कितना बड़ा मूर्ख है कि फिर फिर इसा ओर दौडता है। तू जानता है कि इससे मुझे सुख मिल रहा है, पर इससे तेरा नाश होता है। जैसे पतङ्ग दीपक को सुख रूप जान कर उमकी और दौडता है और नाश हो जाता है और जैसे मछली मांस की इच्छा से काँटे में धँसकर नष्ट हो जाती है, वैसे ही तू इस शरीर की इच्छा करके दुःख रूपी काँटों में फँसकर नाश को प्राप्त होता है। तब-तू इसका अभिमान क्यों नहीं त्याग देता। फिर इस शरीर का कोई अस्तित्व भी तो नहीं है। केवल मन का एक विकार मात्र है। पञ्चतत्त्वों से रची हुई इस देह की कोई वास्तविकता नहीं है। यह केवल मनका स्फुरण मात्र है। अतः तू स्फुरण को त्यागकर आत्मपद में स्थित होजा। इसी प्रकार तुझको शान्ति प्राप्त होगी। मेरा क्या है, मैं तो तुम सबसे परे, शुद्ध चिदानन्द स्वरूप हूँ। मेरे पास मन और इन्द्रियाँ कोई नहीं हैं। मैं शुद्ध आत्मतत्त्व हूँ। मेरा भोगों से क्या सम्बन्ध है ? मैं उनसे मिलकर दीनता को क्यों प्राप्त होऊँ ? ये भोग चाहे सर्वकालही स्थित रहे, अथवा तत्काल ही नष्ट हो जावें इनके लाभ हानि से मेरा

कोई प्रयोजन नहीं है । मैं इनसे सर्वथा ही भिन्न हूँ । मैं शुद्ध सच्चिदानन्द आत्मा हूँ । यह सारा जगत मेरे ही आश्रय है । सर्व मैं में ही व्याप्त हूँ ।

वशिष्ठ जी ने कहा—हे राम जी ऐसा विचार कर उद्दालक ब्राह्मण विषयों से विरक्त हो पद्मासन लगाकर बैठ गया “ओर अ, उ, म्, “ऊँ” ऐसे प्रणव मन्त्र का जाप करने लगा । साथ ही उसने हठ-योग की क्रियाओं को आरम्भ किया और उस प्रकार प्राणायाम द्वारा रेचक पूरक और कुम्भक करके मनको वशीभूत कर लिया । उस क्रिया और ध्यान से उसे सफलता मिली और उसने जो चाहा सो कर लिया ।

राम जी ने पूछा—हे मुनीश्वर ! उसके प्राणायाम का क्या क्रम रहा—कृपाकर यह भी बतलाइये । वशिष्ठ जी ने कहा—हे रामजी । अकार ब्रह्मा, उकार विष्णु, मकार शिव और उसमें जो अर्द्धमात्रा तुरीया है, उसको क्रम से करने लगा । पहले प्रकार से रेचक प्राणायाम करे जिसकी ध्वनिके साथ जिज्ञासुके शरीरसे सब प्राण (श्वास) भीतर से बाहर निकल जाती है और हृदय शून्य और शुद्ध हो जाता है । इसी रेचक से अगस्त्य मुनि ने समुद्र को शून्य कर दिया था कि जिससे उठी हुई ध्वनि ब्रह्मा विष्णु और रुद्र के पास तक पहुँच गई थी । उसी प्रकार उद्दालक ने रेचक-प्राण द्वारा अपनी पुर्यष्टका को ब्रह्मरन्ध्र में स्थित किया । हे राम जी । हठ करने से दुःख होता है, इससे जब तक उसे रेचक में अर्थात् श्वास को बाहर रखनेमें सुख रहा तबतक तो उसने उसे बाहर रखा और जब श्वास रोका न जा सकी तब उसको ऊँ, मंत्र से विष्णु का स्मरण करके भीतर किया अर्थात् कुम्भक प्राण करके वायु को आधार-चक्र में रोका । उस क्रमसे वायु न तो ऊपर जा सकती है और न नीचे आती है । जब वैसा करने से स्थित प्राण संकट में हुये तब उससे एक ऐसी अग्नि निकली कि, जिससे उसका पाप पुण्यरूपी शरीर

जल गया । पश्चात् मकारकी ध्वनिसे रुद्रका ध्यान करके उसने पूरक प्राणायाम किया कि जिससे सब स्थान वायुसे परिपूर्ण हो गये और चित्तकला उलटी होगई । उसे उद्ध गति प्राप्त होनेसे वह स्वयं पवित्र होकर औरोंको भी पवित्र करनेवाला हो गया । इस प्रकार उसने प्राणवायु पर विजय प्राप्त करली । फिर तो कहना ही क्या था, वह पद्मासन बांध इन्द्रियों को रोककर एक गुफामें जा बैठा और तुरीया-पदके निमित्त यत्न करने लगा । तब उस प्रकार अद्ध उन्मीलित नेत्रोंसे ध्यानावस्थित हो, उसने प्राण अपानको मूल चक्रमें रोका । वैसा करनेसे नवों द्वार रुक गये और चित्त स्थित हागया । हे रामजी ! इस प्रकार अभ्यास और वैराग्यके बलसे उसने मनरूपी चञ्चल मृग को पकड़ा । फिर तो जो सात्वकी वृत्तिकी उसका भी त्यागकर स्थित हुआ । उस क्रमसे मन मूर्च्छित हागया । हाँ, मन मूर्च्छित तो हागया, पर उसी समय उसे राजस तामसने आ घेरा किन्तु अभ्यास में वह परिपक्व हो चुका था इससे उसने भट आत्म विवेकसे उसे दूर हटा दिया और उम विवेक बलसे वह फिर चित्तकला में लग चित्त की वृत्तिसे आत्म-साक्षात्कार कर लिया । किन्तु इस चित्तका वेग बड़ा कठिन होता है, उतना करनेपर वह एक क्षण तो स्थित रहा और फिर बाहर दौड़ गया । तब उद्दालकने फिर अभ्यास किया और उसे परमानन्द शान्त स्वरूपमें लगाया । हे रामजी ! वह पद ऐसा अमृत-मय है कि एकबार उसमें लग जानेसे फिर नष्ट नहीं होता । जिसको उस पदका अनुभव हुआ है वह भोगोंकी इच्छा नहीं करता । जैसे जिसने स्वर्गका नन्दनवन देखा हो उसे फिर कञ्जवन देखनेकी इच्छा नहीं रहती, वैसेही ज्ञानीजन भोगोंकी इच्छा नहीं करते और उन्हें कभी शोक नहीं उत्पन्न होता । हे रामजी ! जब इस प्रकार उद्दालक स्थित था तब उसे कठिन तपस्वी जानकर आकाशसे सिद्ध देवता उसके पास विमान लेकर आये और बोले कि हे तपस्वी ! तुमने बड़ा तप किया है, इससे स्वर्ग चलो । अब तुम्हें यहाँ रहनेकी

आवश्यकता नहीं है और अब तुम्हारे लिये स्वर्गका द्वार खुला हुआ है, तुम वहाँ चलकर उत्तम सुखका उपभोग करो। उद्दालक समझ गया कि यह लोग हमको आत्मपदसे गिराने आये हैं। उसने उन्हें अतिथि जानकर सत्कार तो यिका किन्तु स्वर्ग जाने से इन्कार किया। सिद्ध लोग कुछ दिन तक उसके पास रहकर फिर निराश हो चले गये। उद्दालक उसी प्रकार अपने तप में लीन रहा और अन्तमें आत्मपद को प्राप्त हुआ।

श्री योगवाशिष्ठ—भाषा, उपशम-प्रकरण का पैंतीसवाँ समाप्त ॥ ३५ ॥

छत्तीसवाँ सर्ग ।

ध्यान-विचार-वर्णन

वशिष्ठ जी बोले—हे रामजी ! जैसे उद्दालक ऋषि आत्मपदको प्राप्त हुये हैं, उसी क्रमसे तुम भी अपने आपको विचारो। इसी में तुम्हारा कल्याण है और यही परम कर्तव्य है कि जैसा गुरु वतलावे और जैसे शास्त्र के वचन हो उनको धारण कर जगत-भ्रमसे मुक्त होवे। विना आत्म-अभ्यास के शान्त पद नहीं प्राप्त होता। इसके लिए पहले गुरु और शास्त्रों के उपदेश को सुनिए और समझिए। फिर उसका जो विषय भूत अर्थ है उसमें दृढ़ अभ्यास कीजिए। इस प्रकार की दृढता से ही आत्मपद का दर्शन होता है। यह सुनकर रामजी ने पूछा—हे त्रयकाल दशी गुरुदेव ! समाधि किसको कहते हैं ? यदि मैं इस विषय का पात्र होऊँ तो कृपाकर मुझे यह वतलाइये। वशिष्ठ जी बोले—हे रामजी ! समाधि का लक्षण यह है कि—यह जो गुणों का समूह, गुणात्मक तत्व हैं—जो इनको अनात्मरूप देखते हुये अपने आपको केवल इनका साक्षीभूत चेतन जानता है और जिसको चित्त स्वभावसत्तामें लगकर शीतल हो गया हो उसे समाधिस्थ समझना चाहिए और वही समाधि है। फिर जो मयत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा आदिक गुणों में स्थित है और जो

आत्मदर्शन कर शान्तिमान हुआ है, उसका समाधि कहते हैं। हे रामजी ! जिसको यह निश्चय हो जाता है कि मैं शुद्ध-चिदानन्द स्वरूप हूँ और दृश्यों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, वह चाहे वनमें रहे अथवा गृहमें, उसके लिये दोनों ही समान हैं। अन्तःकरण को शान्त ही होना महान तपों का फल है। किन्तु जिसने ऊपरसे इन्द्रिय दमन तो कर लिया है और मनसे जगतके पदार्थोंकी चिन्ता किया ही करता है, उसकी समाधि व्यर्थ है। उसका समाधि में बैठना वैसाही है जैसे कोई उन्मत्त के समान नृत्य करे। पर, जो मनसे वासना रहित है और देखने में व्यवहार करता है उसको बुद्धिमानों की समाधि के समान जानो। हे रामजी ! ज्ञानियों में भेद क्या है ? कोई ज्ञानी व्यवहार करते हैं और कोई व्यवहार से रहित हो वनमें समाधिस्त हो बैठते हैं—परमपद के सम्बन्ध में दोनों ही समान हैं। उनके लिये कर्तव्य अकर्तव्य कुछ नहीं। वे सर्व व्यवहार करते हुये भी अकर्तवान् ही बने रहते हैं। किन्तु अज्ञानी कुछ न करते हुए भी अपनी वासनाओं के वश कर्तव्यभाव को प्राप्त होता है। जैसे कोई पुरुष कथा सुनने को जाय और कथा में मनन लगाकर बैठे-बैठे इधर-उधर चिन्ता दौड़ाता हो तो वह सुनता हुआ भी नहीं सुनता है, वैसे ही ज्ञानी का चित्त आत्मपद की ओर-लगा रहता है इससे सब कुछ करते हुये भी उसे कर्तापन का अभिमान नहीं होता और वह अकर्ता ही कहलाता है। हे रामजी ! ऐसा पुरुष अपनी समाधि में केवला भावसे स्थित रहता है और जिसमें कर्तापन का अभिमान है और समाधिमें भी बैठा है तो उसको व्युत्थान जानो। हे रामजी ! चित्त को चलायमान करने का कारण स्मृति है। जब वह स्मृतियों को लेकर बैठता है तो स्मृतियों चित्त को वासनाओं में फैला देती हैं। फिर तो जैसे बीज से अकुर उत्पन्न होकर फल जाता है, वैसेही वासना की स्मृति से चित्त फैल जाता है। फिर उसी प्रकार जब मनसे जगत की वासनाओं का अन्त हा जाता है, तब चित्त

अचल हो जाता है। ऐसे चित्त को अचल-स्थिति कहते हैं। वह ध्यान में केवली भाव से स्थित होता है किन्तु जिसके चित्तमें वासना रूपी गन्ध होती है और उसी में कर्तृत्व का अभिमान फुरता है और वह उसीके कारण सर्वदा दुखी रहता है। वासना नष्ट होने से मुक्त होता है। किन्तु जो चित्त से निर्वासनिक हो चुका है उसे शोक नहीं होता और वह स्वस्थ आत्मा है। उसको समाधि कहते हैं। और जिसके हृदय से संसारका राग-द्वेष मिट गया है और जो शान्ति को प्राप्त हुआ है उसको सदिव्य समाधि में स्थित जानो। अतः जो चित्त में पदार्थाभाव है उसको त्यागकर निज स्वभाव में स्थित हो जावो, तब चाहे घरमें रहे अथवा वनमें, तुम्हारे लिये दोनों ही समान हैं। क्योंकि समाहित चित्त दोषों से रहित होता है। इससे वह ज्ञाना कुटुम्बियों के साथ रहकर भी अपने को वन में बैठा हुआ ही देखता है। किन्तु जो अज्ञानी है वह अपने चित्तकी अस्थिरता के कारण कहीं भी शान्ति को नहीं पाता। वह चित्त उत्थान में स्वरूप से गिरा हुआ नाना प्रकार के जगत-भ्रम को देखता है और जब चित्त निर्वाणपद आत्मामें स्थित हो जाता है तब उपशम होता है। हे रामजी ! सर्व भावपदार्थों में आत्माको अतीत जानना समाहित चित्त कहलाता है। और समाहित चित्त चाहे कितने ही जनों के समूह में क्यों न स्थित रहे, उसका किसी से सम्बन्ध नहीं रहता। क्योंकि उसका चित्त सर्वदा ही अन्तर्मुख रहता है। वह सोते बैठते और चलते हुये सर्वदा ही जगत को आकाशरूप देखता है। ऐसा पुरुष अन्तर्मुखी कहलाता है। क्योंकि उसका हृदय आत्मज्ञान से शीतल रहता है और उसको सारा जगत शीतलरूप भासता है। वह जब तक जीता है तब तक विगतज्वर रहता है। पर, जिसके हृदय को तृष्णा जलाती रहती है उसके लिये सारा जगत दावाग्नि से तप्त ही भासता है। क्योंकि यह जगत चित्त में ही स्थित है, जैसी भावना चित्तमें होती है उसीके अनुसार

जगत भासता है। देश, काल, पृथ्वी, स्वर्ग, लोक, पाताल, वायु, नदियाँ और आकाश आदिक जो कुछ जगत है, वह सब चित्त के ही अन्तःकरण में विद्यमान है और वही इस प्रकार से विस्तृत होकर भास रहा है। जैसे बेल के बीज में बेल फैल जाता है, वैसे ही चित्त में जगत विस्तार पाता है। बाह्य जगत में यह सूर्य आदिक जो कुछ जगत है, वह सब चित्त के ही अन्तःकरण में विद्यमान है और वही इस प्रकार से विस्तृत होकर भास रहा है। जैसे बट के बीज में बट फैल जाता है, वैसे ही चित्त में जगत विस्तार पाता है। बाह्य जगत में यह जो सूर्य आदिक भासते हैं, वे भी चित्त के भीतर ही स्थित हैं। जिस प्रकार फूल खिलता है तो उसके भीतर की सुगन्ध बाहर भासती है किन्तु वास्तव में न कुछ भीतर है, न बाहर—किंचनता वश चेतन्य से स्फुरण होता है—वैसे ही वही सत्ता जगत रूप होकर भासती है। पर, यह सारा जगत आत्मरूप ही है। इसमें न कुछ सत्य है, न असत्य। केवल आत्ममत्ता ही ज्योंकी त्यों स्थित है। ज्ञानियों को ऐसा ही सर्वदा भासना है। शान्तिमान के लिये सब शान्त स्वरूप है और अज्ञानी नाश होता है, भय पाता है और उसे किसी प्रकार भी शान्ति नहीं प्राप्त होती। उसके लिये देश, काल, स्वर्ग, पृथ्वी, आकाश पाताल, वायु, पर्वत, नदियाँ सब कुछ प्रलय कालकी अग्निके समान ही जलता हुआ दिखलाई पड़ता है। पर—जिसको आत्मज्ञान है, वह शान्तरूप ही भासता है। जैसे अन्धे को सारा जगत अन्धकार-स्वरूप भासता है और नेत्रवालेको प्रकाशरूप ही भासता है। हे रामजी! एक समाहित चित्त होता है। ऐसे आत्मप्रीति वाले पुरुष इन्द्रियो से कर्म करते भी हैं तौ भी वे हर्ष, शोक के वशीभूत नहीं होते। उनका प्रधान लक्षण यह है कि वे सबको आत्मरूप देखते हैं, चित्त को नहीं देखते, भविष्य की इच्छा नहीं करते और वर्तमान में भी उनका कोई राग-द्वेष नहीं होता। वह पूर्वापर गतिको देखकर हँसता है, और समपदमें

स्थित रहता है, और किसी में मोह-ममता नहीं रखता। ऐसा सत्य-पुरुष अहं, ममता से परे, जगत-विभाग की कलना से रहित और चैतन्य-अचैतन्य से परे, आकाशवत् स्वच्छ, निर्मल, राग-द्वेष से परे और क्रोधादिक विकारों से सर्वदा ही दूर रहते हुये भी काष्ठ और लोष्ठ के समान बना रहता है। उसकी दृष्टि में समस्त भूत-प्राणी एक ममान होते हैं और वह परायी संपदाकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता। द्वन्द्व के भयसे नहीं बल्कि वह स्वभाव से ही उसे नहीं चाहता। उसकी दृष्टि में केवल मत्य भाव ही दिखलाई पड़ता है। वह असत्य तो जानता ही नहीं और इसी प्रकार वह ज्ञान, अज्ञान, जड़ और चैतन्य को भी वह नहीं देखता और केवल अद्वैत तत्त्व को ही देखा करता है। उसका चित्त सदैव ही उस महाशान्त पद में स्थित रहता है। उसके लिये उठना, बैठना, उदय, अस्त कुछ भी नहीं है। वह चाहे बड़े-से-बड़े भोगोंमें क्यों न लगा रहे अथवा वन में ही क्यों न बैठा रहे, मद्यपान करके उन्मत्त भी रहे और नृत्य भी करे किन्तु सब बराबर है। वह चाहे गयादिक तीर्थों में निवास करे, शरीर में अगर चन्दन कालेप करे, कीचड़ में ही पड़ा रहे या उसका शरीर अभी ही कटकर गिर पड़े या चिरकाल पर्यन्त योही बना रहे पर उसको स्वप्न में भी कुछ कलङ्क नहीं लगता। वह सुवर्ण के समान ही सर्वदा दोषों से रहित रहता है और ऐसे ज्ञानी को कर्त्तापनका लेश नहीं लगता। हे रामजी ! इस सचित् चेतन में अहंता का होना ही दोष है। इसी के कारण जीव को दीन दशा प्राप्त होती है। अहन्ता वश ही जीव नाना प्रकार के दुख सुख को भोगता हुआ परम्परागत जन्मों को देखता है, भय पाता है। अहन्ता न होवे तो दुःख कोई भी न प्राप्त हो और शान्ति भी मिले।

सैंतीसवाँ सर्ग ।

भेद-नराश्य-वर्णन

हे रामजी ! यह जो चित्त आदिक जगत है, वह आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है । जैसे मित्र से तीक्ष्णता भिन्न नहीं है और इक्षु से मधुरता भिन्न नहीं है, वैसेही देश, काल और जगत आत्मासे भिन्न नहीं हैं । जैसे पापाण मे कठोरता और जडता स्वतः ही विद्यमान रहती है, वैसेही आत्मामें अहन्ता स्वतः ही विद्यमान है । जैसे फूल, फल और टास वृक्ष से भिन्न नहीं होते, वैसे ही आत्मासे अहन्ता भिन्न नहीं है । जैसे अग्नि में उष्णता, बरफ में शीतलता, सूर्य में प्रकाश और गुड मे मधुरता का होना स्वाभाविक है, वैसेही आत्मा मे जगत स्वभावतः सिद्ध और स्थित है । हे रामजी ! जैसे अमृत मे स्वाद शक्ति विद्यमान रहती है, वैसेही आत्मामें देश, काल-शक्ति विद्यमान रहती है । और जैसे मणि में प्रकाश होता है, वैसे ही आत्मा में अहन्ता आदिक विद्यमान रहती है । हे रामजी ! यह जो कुछ जगत दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सब आत्मतत्त्वका ही प्रकाश है । उससे भिन्न कुछ नहीं है । जैसे आकाश निज स्वभाव में ही स्थित है, वैसेही आत्मामें सत्य स्थित है । यद्यपि वह स्वयं निष्किंचन है तथापि किंचनता भी उससे भिन्न नहीं है । और उसी किंचनता वश अथवा उसी संवेदन वश वह निष्किंचन आत्मा संवेदनरूप होकर भामता है और जैसे जलमें द्रवता और वायु में गमनता प्रतीत होता है, वैसेही ज्ञानरूप आत्मामें अहन्तावश रूप, देश, काल और जगत भासता है । ज्ञानी जन सब कुछ जानते हैं । आत्मसत्ता ही सर्वत्र फैल रही है । उसमें और जगत में कुछ भेद नहीं है । वह अशब्द है, उसमें वाणी की गम नहीं । उसके प्रति जितने शब्द कहे गये हैं, वह जिज्ञासु को जताने के लिये हैं । पर, वस्तुतः उसमें द्रव्य वस्तु कोई नहीं है । अतः तुम, उस एक आत्मतत्त्व का ही अपने हृदय में धारण कर स्थिर हो जाओ ।

अड़तीसवाँ सर्ग ।

राजा सुरघको माण्डव्य मुनिका उपदेश ।

वशिष्ठ जी कहते हैं—हे राम जी । आगे एक प्राचीन इतिहास हो चुका है, सुनो । उत्तर दिशा में एक सुगन्धित पृथ्वी है जो देखने में ऐसी जान पड़ता है कि मानो कपूर से लिपी हुई है । उसका नाम है, कैलाश पर्वत । वह शिव जी का प्रधान स्थान है । वहाँ कल्पवृक्ष लगे हुये हैं और बड़े वेगसे गंगाका प्रवाह चलता है । उसी प्रवाह से यह सब बड़ी २ नदियाँ निकली हैं । उसी हिमालय के नीचे स्वर्णवत जटा वाखे क्रान्तों का वास है । इसी से उस देश का नाम क्रान्त देश पड़ा है । वहाँ का राजा सुरघ बड़ा ही प्रतापी और यशस्वी था । वह बुद्धि में बृहस्पति के समान और महात्मा शुक्रके समान तेजस्वी था । उसकी नीति परायणताके आगे इन्द्र भी कुशल न थे । उसका प्रजा पालन धर्मयुक्त और ययोचित था । पापियों को दण्ड और धर्मात्माओं की रक्षा करना ही उसके जीवन का मुख्य ध्येय था । न कभी हर्ष और न कभी शोक । जब जैसा कर्म आन प्राप्त होता तब वैसा ही आचरण करता था । एक समय वह अपने स्थान में बैठा था कि उसके मन में कुछ विचार उठा और संशय रूपी वायु से उसकी बुद्धिरूपी पक्षिणी चलायमान हो गई । उसने सोचा कि मैं जो राजा होकर लोगों को कष्ट देता हूँ—यह बड़ा अनर्थ है मुझे चाहिए कि मैं सबको धन दूँ और किसी को भी कष्ट न दूँ ! पापियों को मैं क्यों कष्ट देता हूँ । मुझसे वे बड़े दुखी हैं और कष्ट न दूँ तो उनके मारे राज्य शासन नहीं चलता । दोनों ही प्रकार से मुझे चिन्ता है । हे रामजी ! इस विचार में वह राजा पड़ा ही था कि जैसे इन्द्र के घर में नारद जी पहुँच जायँ वैसे ही एक दिन उसके राजा—सदन में माण्डव्य मुनि जा पहुँचे । मुनिको देखकर राजा ने भली प्रकार उनका पूजन सत्कार किया

और अपनी शका निवृत्त करने के लिये पूछा—हे मुनीश्वर । आप सर्व धर्मों के ज्ञाता और महान पुण्यात्मा हैं । हे प्रभो । आपके आगमन से मैं बड़ा प्रसन्न हुआ और आपका दर्शन करके आज मैं भी पुण्यात्मा हो गया । हे भगवन् ! मुझे एक शंका है, यदि कृपाकर आप उसे निवृत्त कर दें तो मैं आपका बड़ा ही कृतज्ञ होऊँगा । हे भगवन् ! मैंने विचार कर देखा तो मुझे ज्ञात हुआ कि मेरे इस संशय को निवृत्त करने के लिये आपही योग्य हैं । मुझे विश्वास है कि महापुरुषों का संग सर्व प्रकार के संशयों का नाश करने वाला है । हे प्रभो ! संशय ही परम दुःखों का कारण है । इससे आप मेरी शका को अवश्य निवृत्त करें । मुझे यह शंका है कि यदि कोई दुष्ट कर्म करता है तो मैं उसे दंड देता हूँ लेकिन जब वह उस दण्ड से दुःखी होता है तब मुझे भी उसपर दया आ जाती है और सोचता हूँ कि हाय-हाय मैंने इसे क्यों इतना कष्ट दिया । वस यह शका मुझे मर्माहत किये देती है । इससे आप मुझे वह युक्ति बतलाइये कि जिससे मुझको समता प्राप्त होवे । माण्डव्य ऋषि बोले—हे राजन् ! यह शका तो थोड़े ही में निवृत्त हो जाती है, अपने ही वश की बात है, जब चाहिए निवृत्त कर लिया कीजिए । देखिये समस्त उपाधियाँ मनमें ही उठती हैं । मन बड़ा तुच्छ है । विचार करने से निवृत्त होता है । जब यह निवृत्त हो जाता है तब समस्त ताप आपही आप नष्ट हो जाते हैं । किन्तु इस तुच्छ मन की मनन शक्ति बड़ी प्रबल है, कहाँ का कहाँ उठाकर फेंक देती है । कभी स्थिर नहीं होने देती । सो इसके लिये विचार शक्ति उत्पन्न करो । विचार—शक्ति से मन का वैसा मनन भाव नष्ट हो जायगा और तुम्हारे लिये सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है । विचार यह कि मैं कौन हूँ, इन्द्रियाँ क्या हैं, यह जगत क्या है, जन्म मरण किसको कहते हैं—ऐसा विचार करते हुये जब तुम अपने स्वभाव में स्थित होगे तब तुमको हर्ष, शोक क्रोध और राग-द्वेष चलायमान न कर

सकेंगे। तब मन का सर्वथा ही अभाव हो जायगा और तुम सन्ताप से रहित आत्मपद को प्राप्त होगे। यद्यपि तब भी मन धर्म रहेगा, परन्तु उसमें अज्ञान न होगा और तब वह आत्मा के आधीन हो जावेगा। जैसे जलका तरङ्गभाव नष्ट हो जाने पर जल स्वच्छ और निर्मल तथा स्थिर हो जाता है, वैसे ही मन भी निर्मल और स्थिर हो जावेगा। जैसे काल वही रहता है किन्तु ऋतु बदल जाती है, वैसेही मन भी वही रहेगा पर उसका स्वभाव बदल जायेगा। तब तुम्हारी प्रजा भी साधु और शान्त हो जावेगी और नौकर-चाकर सभी तुम्हारी आज्ञा में चलेंगे और सब तुमको देखकर प्रसन्न होंगे हे राजन् ! इस प्रकार जब तुमको आत्मदेवका दर्शन हो जायगा तब तुम्हारी प्रशंसा सुमेरु और आकाश से भी अधिक होगी और तब तुमका विवेक से वह आत्म महत्व प्राप्त हो जायगा कि तुम संसार की तुच्छ वृत्तियों में कदापि न डूबोगे। अन्यथा जिसको देहाभिमान है और जिसके चिरा में वासना है वह सर्वदा ही इम 'तुच्छ संसार में डूबता ही रहता है। इस कारण हे राजन् ! जो वस्तु सत्य है उसको हृदय में धारण करो और असत्य को त्याग दो। तब जो शेष रहेगा वही आत्मा है। परन्तु जबतक समस्त दृश्यों का त्याग न करोगे तबतक उस आत्मपद का दर्शन न होगा। सर्व दृश्याभाव हो जाने पर हा आत्मा का दर्शन होता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा-उपशम प्रकरण का अठतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३८ ॥

उनतालीसवाँ सर्ग

सुरध वृतांत

वशिष्ठ जी बोले—हे रामजी! ऐसा कहकर जब माण्डव्य ऋषि अपने स्थान का चले गये तब राजा सुरधने एकान्त में बैठ कर विचार किया कि 'मे क्या हूँ, यह जगत क्या है और इससे मेरा क्या सम्बन्ध है, तब उसको ज्ञात इस जगत से मेरा कोई सम्बन्ध

नहीं है, न मैं जगत हूँ, न यह मेरा जगत है। यह पृथ्वी भी मेरी नहीं है और न मैं पृथ्वी हूँ, न मैं क्रान्त हूँ और न यह मेरे भाई बन्धु हूँ। मेरा किसी से कुछ सम्बन्ध नहीं है। न मैं नगर हूँ और न यह मेरा नगर है। फिर यह जो हाथी, घोड़े, मन्दिर धन स्त्री, और पुत्र आदिक हैं वह भी मेरे नहीं हैं और न मैं उनका हूँ। तब मैं व्यर्थ ही मे इनका साथ क्यों करता हूँ, न मैं इनका हूँ और न यह मेरे हैं। न मैं इनका राजा हूँ और न यह राज्य मेरा है। मैं एक मात्र शरीर हूँ और इनसे ममत्व करना वृथा है। इनमें मुझे अह-भाव न करना चाहिये। क्योंकि इनमें मेरा शब्द कुछ नहीं है। यह सभी हाड़, मांस और रक्त युक्त एक समान हैं। पर मैं यह तो नहीं हूँ। यह जड़ है, मैं चेतन हूँ। फिर इससे मेरा क्या सम्बन्ध। जैसे कमलको जल स्पर्श नहीं करता वैसेही ये मुझको स्पर्श नहीं कर सकते। इन कर्मेन्द्रियों से मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यह तो स्वभावतः ही जड़ हैं। मैं चेतन हूँ। इनसे परे मन है। सो, मैं मन भी नहीं हूँ। क्योंकि मन, बुद्धि, चित्त और अहकार ये सभी जड़ हैं। अविद्या वश मेरा इनका साथ हो गया है। भ्रम वश मैं इन्हें अपना स्वरूप जानता था पर यह सब भूतों का कार्य है, मेरा नहीं। मैं चिन्मात्र हूँ। हा, अब तक व्यर्थ ही मैं इनके जाल में पड़ा था। भला, मेरा इनसे क्या सम्बन्ध ? कहाँ, मैं एक निर्विकल्प चेतन, अनन्त, आत्मा और सर्व में व्याप्त हूँ और कहाँ यह इन्द्रियादिक भूत गण। मैं तो इन सबका आत्मा हूँ। यह आत्म-भगवान् ही तो सबमे व्याप्त हैं। बडालाभ हुआ जो अब मैंने अपने आपको पाया है। निश्चयही अब मैं निज स्वरूप में जागृत हुआ। वह मेरे अस्त से रहित और सर्व विकारों से वचित हूँ।

लु से तृण पर्यन्त सब
 मोती पिरोया
 रूपी रथ

उसीसे चल रहा है। अन्यथा इसका चलना कठिन हो जाता है। वह निराकार होते हुये भी इतने विस्तृत जगत्को लीला मात्र चला रहा है। पर वास्तव में जगत् से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह जगत् तो चित्त में फुलता है और चित्तरूपी ही इसके साथ लीला किया करता है। अस्तु, यह जगत् वास्तव में कुछ नहीं है। फिर मैं इसमें समग्र असंग्रह को चिन्ता क्या करता हूँ। यह गुणों का एक प्रवाह मात्र है, इसमें मुझे शोक नहीं करना चाहिए। पर, बड़ा आश्चर्य है कि यह मिथ्या-भ्रम भी मुझको सत्य सा प्रतीत होता था। किन्तु अब मैं अपने निश्चय से प्रबुद्ध हुआ हूँ। अब मुझमें दृष्टिदोष नहीं रहा। अब मैंने अलख दृष्टि का देखा है। अब मैं अचेत्य चिन्मात्र तत्त्वको प्राप्त हुआ हूँ। अब मैंने पाने योग्य पदको पाया है। अब निश्चय ही दृश्यों से मैं मुक्त हुआ हूँ। इससे अब मैं अपने आप में स्थित हूँ। अब मुझे ग्रहण और त्याग कुछ नहीं है। न कुछ दुःख है, न कुछ सुख है। सब ब्रह्म है। फिर मुझे राग—द्वेष किसका होवे ? अब तक मैं अपनी मूर्खता वश व्यर्थ ही कष्ट भेलता था। किन्तु अब मेरा कल्याण हुआ है और अब मैं प्रबुद्ध होकर अपने स्वभाव में स्थित हुआ हूँ। अन्यथा इसी आत्माके साक्षात्कार बिना अब तक मैं मोह में पड़ा था पर अब मोह को क्यों प्राप्त होऊँगा। अब तो यह सारा जगत् मेरे लिये आत्मरूप ही है। फिर मैं इसमें अन्यको कैसे और कहाँ देखूँ। हे आत्मदेव तुम्हारी दृष्टि निष्कलङ्क है, मैं सम्यक् ज्ञानी हूँ। अस्तु मेरा। मुझको ही नमस्कार है।

श्री, योग वाशिष्ठ-भाषा, उपशम-प्रकरण का उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥३९॥

चात्नीसवाँ सर्ग ।

सुरघ वृत्तान्त समाप्ति

वशिष्ठ जी बोले—हे रामजी। ऐसा विचार कर राजा सुरघ

परमानन्द को प्राप्त हुआ। वह उस प्रकार के विचार अभ्याससे ऐसे ही दिव्य एवं ब्रह्मरूप हो गया जैसे गाधि पुत्र विश्वामित्र तपस्या करके क्षत्रिय रूपसे ब्राह्मण हो गया था। फिर तो वह राग द्वेष से रहित होकर अपना राज्य चलाने लगा। अब उसकी वृत्तियां शान्त हो गई थीं और वह जलवत भाव धारण करके समःश्रमके विचार से परे हो राज्य करने लगा। तब उसको ससार भावका फुरना न रह गया और जैसे वायु से रहित दीपक प्रकाशता है वैसेही उसने शुद्ध प्रकाश को धारण कर लिया। तब वह दया भी करे परन्तु उसकी दृष्टि में दया नहीं और निर्दयता भी करे तो उसे निर्दयता का भाव न प्रतीत होवे। तब उसके लिये सुख, दुःख, अर्थ-अनर्थ कुछ न जान पड़े। सब पदार्थों में एक भाव आत्मा ही को जाने और हृदय से वसाही शीतल रहे जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा शीतल होता है। वह जगत को आत्मा का किंचनरूप जानता था और उसको सुख, दुःखका कोई भाव न रह गया। जैसे सूर्योदयसे अन्धकार लोप हो जाता है वैसेही उसका सुख, दुःख नष्ट हो गया। सब कुछ करता पर कभी भी विषयों के राग-द्वेष में न पडता था। सर्वदा सबसे निःसङ्ग भाव रखता था। इस प्रकार से रहते हुये वह अन्त में जीवन्मुक्त हुआ और बहुत काल बीतने पर उसने शरीर का त्याग किया। फिर तो जैसे वरुण के टुकड़े सूर्य के तेज से देखते २ लुप्त हो जाते हैं वैसेही उसका शरीर अपने भाव को त्यागकर उज्ज्वल भावको प्राप्त हुआ और वह सकल्प-पिकल्प रूपी मलसे रहित हो निर्मल ब्रह्म हो गया।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उपशम-प्रकरण का चालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥४०॥

इकतालीसवाँ सर्ग ।

हे रामजी ! तुम भी इसी दृष्टिका आश्रय करो। इस क्रमसे तुम्हारा भय नष्ट हो जावेगा। जैसे घोर अन्धकार में बालक डरता

है और जब दीपक का प्रकाश पाता है तब भय नष्ट हो जाता है, वैसेही इस संसार रूपी घोर अन्धकार में पड़ा हुआ पुरुष दुःख पाता है और जब ज्ञान रूपी दीपक उसे मिलता है तब निर्भय हो जाता है। हे रामजी ! यह मार्ग ऐसा ही कंटकाकीर्ण है। विना आत्म-विचार के मनुष्यका चित्त शांत नहीं होता। इससे उसे चाहिए कि वह उस विचारका आश्रय कर संसार सागर से पार होवे। आत्म विचार रूपी बल्ली का सहारा पाकर वह अवश्य ही पार हो जावेगा। उपर जो मैंने पवित्र दृष्टि बतलाई है, उसको तुम अपने हृदय में विचार करो। तब जो निश्चय हावे, उसके साथ मिलकर अभ्यास करो अर्थात् विचार पूर्वक जब तुम्हें जो करना अभीष्ट है उसके साथ तन्मय हो जावो और ऐसे लगैरहो कि जैसे उसे छोड़कर तुम्हें और कुछ करना नहीं है। यह समाधि अवस्था है। जब तुम इस प्रकार प्रतिक्षण आत्म विचार में दृढ़ रहोगे तब उस प्रकार तुम समस्त पृथ्वीका आभरण बने रहोगे। फिर चाहे जहाँ विचरो, तुम्हें कोई चिन्ता न रहेगी।

यह सुनकर रामजी ने पूछा—हे महा मुनीश्वर ! क्या यह कोई समाधि की अवस्था है। यदि ऐसा प्रमंग है तो कृपाकर इस समाधि को भी बतलाइये, क्योंकि अब भी मेरे चित्त में कदाचितकाल स्फुरण हो जाता है। संभव है इससे मुझे दृढ़ स्थिति प्राप्त हो जावे।

वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी ! अच्छा तो सुनो, अब मैं तु हूँ महात्मा सुरघ और राजर्षि पर्णादिका सम्वाद सुनाता हूँ। इसको सुनने से तुम्हें अवश्यही उस समाधिकी अवस्था प्राप्त हो जायगी। राजर्षि पर्णाद का पहला नाम था—परघ। अपने राज्य-शासनमें इन्होंने बड़े-बड़े कार्य किये थे। एक समय इनके राज्यमें घोर दुर्भिक्ष पड़ा। प्रजा अन्न-जलसे मरने लगी। लोग परघ का राज्य छोड़ दूसरे राज्यों में चले गये। राजा परघने दुर्भिक्ष हटानेकी वड़ी चेष्टा की।

पुण्यका कुछ भी प्रभाव न

होने दिया। तब प्रजाको अत्यंत कष्ट होवे और राजाको कुछ भी दुःख न प्राप्त हो—यह महान् शोक का विषय है—ऐसा सोचकर परध पहाडकी एक कन्दरा मे जाकर तप करने लगा। उसका वह घोर तप वेसाही कठिन था, जैसे किसी समय में जितेन्द्रने किया था। तपकाल में परध ने सूखे पत्तों को खोकर ही अपने शरीर को जीवित रखा था—इस कारण उसका नाम पर्णाद हो गया। एक हजार वर्ष तक उसने अपने चित्त की वृत्तिको आत्मपद में लगा रखा था। तब उस अभ्यास के बलसे उसका चित्त स्थित हुआ और केवल ज्ञानरूप आत्मतत्त्व की प्रभासे हृदय निर्मल हुआ और उसकी सारी तप्तता मिट गई। वह रागद्वेषसे रहित हो निष्क्रिय, आत्मदर्शी और जीवनन्मुक्त होकर विचरने लगा। अब वह सिद्धों से जा मिला और सर्वदर्शी हो गया। एक समय वह विचरते २ अपने मित्र महात्मा सुरध के आश्रम पर पहुँचा। सुरध ने अपने प्राचीन मित्र को देखकर स्वागत किया। उसके उत्तर मे परध ने कहा—अहा, मित्र! आजतो आपका अपूर्व दर्शन मिला। आज मैं आपको अपने स्थानमे पाकर वैसाही आनन्दित हो रहा हूँ, जैसे कोई चन्द्रमा के मण्डल मे जाकर आनन्दित होता है। सत्यही है, बहुत काल का जो वियोग होता है तो बहुत प्रीति बढ़ती है। जैसे वृक्ष को ऊपर काटे से बढ़ता है, वैसाही प्रीति बढ़ती है हे साधो! अब मे भी ज्ञानवान हुआ हूँ और तुम भी माण्डव्य मुनिकी कृपा से ज्ञान को प्राप्त हुये हो। सुरध ने कहा—हे मित्र! सत्य ही है, अब तुम अवश्य सब दुःखो से मुक्त हो गये हो। देखो, आत्मज्ञान का कैसा प्रभाव है। अब जाओ, देखो कि तुम्हारा राज्य कैसा समृद्धिशाली हो गया है। मैंने अपनी ज्ञान दृष्टि से देखा है कि अब तुम्हारी प्रजा बहुत सुखी है, कहीं भी आधि-व्याधि नहीं है। तुम्हारा ही-यश-चारों ओर फैल रहा है। यहाँ तक कि ग्राम वासी कन्यायें अब तुम्हारा यशोगान करती हैं। तुम्हारी प्रजा, तुम्हारे नौकर, पुत्र और कलत्र सब

आवि ब्याधि रहित हुये हैं। सा आज प्रत्यक्ष देखना हूँ कि अब तुम्हें विषयोंकी कोई चिन्ता नहीं है और न अब वह तृष्णारूपी सर्पिणी तुम्हें डसती ही है। हे मित्र ! हमारी तुम्हारी मित्रता अवश्य थी किन्तु जो मैं ऐसे मार्ग में चला आया था कि फिर मुझसे तुमसे मिलनेकी आशा न थी। किन्तु इस महत्वशाली आत्मज्ञान ने ही हम दोनोंको फिर मिला दिया है। ईश्वरकी नीति जानी नहीं जाती। नहीं तो कहाँ तुम रहे और वहाँ हम रहे। सुखके बाद दुःख और दुःख के बाद सुख आही जाता है। संसारकी दशा आगमापायी है। सयोगके बाद वियोग और वियोगके बाद सयोगका आना स्वाभाविक है। वैसेही तुम्हारा हमाराभी संयोगका वियोग हा गया था और अब फिर वियोगके बाद संयोग हो गया है। ईश्वरकी नीति कितनी आश्चर्यमय है। हे साधो, परमात्माकी गति जानी नहीं जाती। वह महान्, गम्भीर, आश्चर्यमय और दुर्ज्ञात है। वियोगने एक दूमेको दूरसे दूर कर दिया और सयोगने फिर लाकर मिला दिया। ईश्वरकी नीति आश्चर्यमय है। हे मित्र ! मुझसे जो तुमने कुशल पूछा—सो, तुम्हारे शुभागमनसे मेरा आश्रमपवित्र हो गया, मेरे बड़े ही पुण्य उदय हुये जो आज तुम्हें यहाँ उपस्थित देख रहा हूँ। आज तुम्हारे दर्शनसे मुझे क्या नहीं मिला। सन्तोंका आगमन यश और सम्पदा की खानि है। सा आज मैं तुम्हें पाकर महान् सुखी हुआ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उपशम-प्रकरण का इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त॥ ४१॥

बयालीसवाँ सर्ग ।

हे रामजी ! इस प्रकार दोनों मित्र परस्पर वर्तालाप कर रहे थे कि परघने पूछा—हे साधो ! तुमतो मुझसे बहुत पहलेसे ही ज्ञान-साधनमें लगे हो सो बतलाओ कि समाहित चित्त किसे कहते हैं। सुरघने कहा—हे राजन ! तुम्हीं क्यों नहीं कहते ? और यदि मुझसे ही पूछना चाहते हो तो सुनो। उन ज्ञानियोंकी विचित्र दशा है।

होने दिया। तब प्रजाको अत्यन्त कष्ट होवे, और राजाको, कुछ भी दुःख न प्राप्त हो—यह महान् शोक का विषय, है—ऐसा, सोचकर परध पहाडकी एक कन्दरा मे जाकर तप करने लगा। उसका वह घोर तप वैसाही कठिन था, जैसे किसी समय में जितेन्द्रने किया था। तपकाल में परध ने सूखे पत्तों को खोकर ही अपने शरीर को जीवित रखा था—इस कारण उसका नाम पर्णाद हो गया। एक हजार वर्ष तक उसने अपने चित्त की वृत्तिको आत्मपद में लगा रखा था। तब उस अभ्यास के बलसे उसका चित्त स्थित हुआ और केवल ज्ञानरूप आत्मतत्व की प्रभासे हृदय निर्मल हुआ और उसकी सारी तप्तता मिट गई। वह रागद्वेषसे रहित हो निष्क्रिय, आत्मदर्शी और जीवनन्मुक्त होकर विचरने लगा। अब वह सिद्धों से जा मिला और सर्वदर्शी हो गया। एक समय वह, विचरते २ अपने मित्र महात्मा सुरध के आश्रम पर पहुँचा। सुरध ने अपने प्राचीन मित्र को देखकर स्वागत किया। उसके उत्तर में परध ने कहा—अहा, मित्र! आजतो आपका अपूर्व दर्शन मिला। आज मैं आपको अपने स्थानमे पाकर वैसाही आनन्दित हो रहा हूँ, जैसे कोई चन्द्रमा के मण्डल मे जाकर आनन्दित होता है। सत्यही है, बहुत काल का जो वियोग होता है तो बहुत प्रीति बढ़ती है। जैसे वृक्ष को ऊपर काटे से बढ़ता है, वैसेही प्रीति बढ़ती है हे साधो। अब मैं भी ज्ञानवान हुआ हूँ और तुम भी माण्डव्य मुनिकी कृपा से ज्ञान को प्राप्त हुये हो। सुरध ने कहा—हे मित्र! सत्य ही है, अब तुम अवश्य सब दुःखों से मुक्त हो गये हो। देखो, आत्मज्ञान का कैसा प्रभाव है। अब जाओ, देखो कि तुम्हारा-राज्य कैसा समृद्धिशाली हो गया है। मैंने अपनी ज्ञान दृष्टि से देखा है कि अब तुम्हारी प्रजा बहुत सुखी है, कहीं भी आधि-व्याधि नहीं है। तुम्हारा ही यश, चारों ओर फैल रहा है। यहाँ तक कि ग्राम वासी कन्यायें अब तुम्हारा यशोगान करती हैं। तुम्हारी प्रजा, तुम्हारे नौकर, पुत्र और कुलजः सब

आधि-व्याधि रहित हुये हैं। सा आज प्रत्यक्ष देखता हूँ कि अब तुम्हें विपयोंकी कोई चिन्ता नहीं है और न अब वह तृष्णारूपी सर्पिणी तुम्हें डसती हो है। हे मित्र ! हमारी तुम्हारी मित्रता अवश्य थी किन्तु जो मैं ऐसे मार्ग में चला आया था कि फिर मुझसे तुमसे मिलनेकी आशा न थी। किन्तु इस महत्वशाली आत्मज्ञान ने ही हम दोनोंको फिर मिला दिया है। ईश्वरकी नीति जानी नहीं जाती। नहीं तो कहाँ तुम रहे और कहाँ हम रहे। सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख आही जाता है। संसारकी दशा आगमापायी है। संयोगके बाद वियोग और वियोगके बाद संयोगका आना स्वाभाविक है। वैसेही तुम्हारा हमाराभी संयोगका वियोग हो गया था और अब फिर वियोगके बाद संयोग हो गया है। ईश्वरकी नीति कितनी आश्चर्यमय है। हे साधो, परमात्माकी गति जानी नहीं जाती। वह महान्, गम्भीर, आश्चर्यमय और दुर्ज्ञात है। वियोगने एक दूमेरेको दूरसे दूर कर दिया और संयोगने फिर लाकर मिला दिया। ईश्वरकी नीति आश्चर्यमय है। हे मित्र ! मुझसे जो तुमने कुशल पूछा—सो, तुम्हारे शुभागमनसे मेरा आश्रमपवित्र हो गया, मेरे बड़े ही पुत्र्य उदय हुये जो आज तुम्हें यहाँ उपस्थित देख रहा हूँ। आज तुम्हारे दर्शनसे मुझे क्या नहीं मिला। सन्तोंका आगमन यश और सम्पदा की खानि है। सा आज मैं तुम्हें पाकर महान् सुखी हुआ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उपशम-प्रकरण का इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त॥ ४१॥

बयालीसवाँ सर्ग ।

हे रामजी ! इस प्रकार दोनों मित्र परस्पर वर्तालाप कर रहे थे कि परधने पूछा—हे साधो ! तुमतो मुझसे बहुत पहलेसे ही ज्ञान-साधनमे लगे हो सो बतलाओ कि समाहित चित्त किसे कहते हैं। सुरधने कहा—हे राजन ! तुम्हीं क्यों नहीं कहते ? और यदि मुझसे ही पूछना चाहते हो तो सुनो । विचित्र दशा है ।

वे चाहे मौन रहे, चाहे जगतके सर्व कार्य करते रहें परन्तु उनका चित्त कदापि चंचल नहीं होता। क्योंकि वे सर्वदाही आत्मतत्त्वमें स्थित रहते हैं। उनको प्रति समय समाधि अवस्था ही प्राप्त रहती है, किन्तु जो आत्मपदमें स्थित नहीं रहते वे चाहे प्रति समय पद्मासन बाँधकर बैठे ही क्यों न रहे किन्तु उनको शान्ति नहीं मिलती और उन्हें समाधिका दर्शन नहीं होता। हे साधो ! यह परमार्थ मार्ग ऐसाही है कि समस्त आस्थारूपी तृणोंको जला देती है। आशा रहित रहनाही इस समाधिका मुख्य ध्येय है। मौन रहनेका नाम समाधि नहीं है। जिसके हृदयमें संसारकी सत्यता का चोभ नहीं है, जो अहंकार रहित हैं और अनउदय ही उदय हुये हैं वह पुरुष समाधिमें स्थित कहाता है। ऐसे बुद्धिमान पुरुष सुमेरु पर्वतके समान सर्वदाही स्थित बने रहते हैं। हे साधो ! जिस पुरुषको आत्मतत्त्वही भासता है, जिसको ग्रहण-त्याग कुछ नहीं है और जो निश्चिन्त है, वह समाधिस्त है। जिसका चित्त एक क्षणके लिये भी आत्मतत्त्व में स्थित हो जाता है, उसको अत्यन्त समाधि हो जाती है और वह क्षण क्षण बढ़ती जाती है, निवृत्त नहीं होती। जैसे अमृतके पान किये उसकी तृष्णा बढ़ती जाती है, वैसेही यह समाधि भी बढ़ती जाती है। जैसे सूर्योदयसे सबका दिन भासता है, वैसे ही ज्ञानीको सब आत्मतत्त्व ही भासता है, भिन्न नहीं। और जैसे नदीका प्रवाह किसीसे रोका नहीं जाता, वैसेही ज्ञानीकी दृष्टि बेरोक होती है। और जैसे कालको अपनी गति एक क्षणभी नहीं भूलती वैसेही ज्ञानीको आत्मदृष्टि एक क्षणके लियेभी नहीं विस्मृत होती। जैसे वायु उठरा भी हो किन्तु उसे अपना गमना भाव नहीं भूलता। वैसेही ज्ञानवानको चिन्मात्र सत्ताका विस्मरण नहीं हाता। वह जब जहाँ ही देखता है, उसे आत्मतत्त्व ही दिखलाई पड़ता है। जैसे दर्पण में देवनेसे अपना ही मुँह दिखलाई पड़ता है, वैसेही ज्ञानीको सर्व प्रतीत होता है। फिर आत्माके बिना जगत होता भी

तो नहीं जैसे उष्णताके विना अग्नि नहीं होती और शीतलताके विना बरफ नहीं होता और श्यामताके विना काजरा नही होता, वैसे ही आत्माके विना जगत नहीं हाता । तब भला ज्ञानीको जगतमें भिन्नता कैसे प्रतीत होगी । वह सर्वदा और सर्वप्रकार आत्मामें ही स्थित है । उसके कार्य-कारणका कोई विभाग नहीं । वह आत्म-तत्व मे ही स्थित है । तब भला उसको समाहित अममाहित-चित्त क्या कहा जाय ? समाधि और जाग्रतका कोई भेद नहीं होता । क्यों-कि आत्मतत्व सर्वदा हा अपने आपमे स्थित है । ज्ञानी जनोका ऐसा ही विचार है ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उपशम-प्रकरण का बग्यलीसवाँ सर्ग समाप्त ॥४२॥

तैत्तलीसवाँ सर्ग ।

इतना कहकर सुरघ फिर बोले हे राजन् ! इस सम्बन्धमें और कहाँ तक कहा जाय तुमतो स्वयही सर्व प्रकारसे विज्ञा हो चुके हो मैं देखता हूँ कि अब तुम्हे परमपदकी प्राप्ति हुई है । अब तुम्हारा अन्तःकरण वैसाही शोभायमान और शीतल हो गया है कि जैसे पूर्णिमाका चन्द्रशीतल होता है और शोभायमान होता है । अब तुम्हारी गम्भीरता मुझे भासित हुई है । नहीं तो कहाँ तब तुम थे और अब कहाँ पहुँच गये हो । अब तो तुमको सर्वत्र ही स्वस्थता ओर सन्तुष्टता ही ज्ञात होती होगी और किसीमें एकता होगी । देखो न, अब तुम कैसा वीतराग होकर विराज रहे हो । निश्चयही अब तुमने सार और असारको विचार लिया है । फिर क्या अब, तुम ससाररूपी समुद्रसे पार हो गये हो । अब तुम्हारे लिये जगतमे सम असम पदार्थ कुछ नहीं है । क्यों अब तो तुम्हारा वह आशय कि 'मुझे प्रसन्नता प्राप्त हो, शान्त हो गया होगा ! अब तुमको इष्ट अनिष्ट तो कुछ नही होगा ? हे राजन् । इस जगतमे ग्रहण करने योग्य वस्तु कुछ नहीं है । यह जो कुछ दिखलाई पड़ता है, सब अभ्वास

रूप और अदृश्य हैं। तब भला इसमें किसको ग्रहण किया जाय। और यदि यह कहिए कि नहीं यह ग्रहण करने योग्य नहीं है, इनका त्याग ही करना चाहिए तो यह भी नहीं हो सकता। क्योंकि जब ये अभावरूप ही हैं तब इनका ग्रहण और त्याग क्या? किसको ग्रहण किया जाय और किसको त्याग किया जाय। क्योंकि जब इनका कोई अस्तित्व ही नहीं है तब ये सभी तुच्छ अतुच्छ पदार्थ हैं। फिर इनका कौनसा अङ्ग त्याग किया जाय? यह जगत तो बिल्कुल ही निःसार है। और इसमें उत्पन्न होनेवाले सभी पदार्थ तुच्छ और अतुच्छ हैं। चाहे कोई बड़ा पदार्थ हो या छोटा। कोई अल्प समय रहनेवाला हो चाहे कोई चिरकाल पर्यन्त का हो—किन्तु वे सभी तुच्छ हैं। अल्पमें अल्प और अधिकमें अधिक गुणदोष भी हैं। इससे एकको तुच्छ और एकको अतुच्छ कहा जाता है। कोई छोटा और कोई बड़ा नहीं है, नष्ट तो सभी हो जायेंगे। तब जबकि दोनों ही नष्ट होने वाले हैं तब किसकी इच्छा करूँ। फिर मेरे इस लोकके पदार्थोंकी तो बातही क्या है, मुझे त्रैलोक्यके भी पदार्थ नहीं चाहिये। मुझे उसकी रमणीयता की आवश्यकता नहीं। सभी तुच्छ और नाशरूप हैं। अविचार से जीवोंको भासते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध जो इन्द्रियोंके विषय है वे सब निस्साररूप हैं। जगतमें स्त्रीको बड़ा पदार्थ मानते हैं किन्तु वह भी देखनेमें ही सुन्दर है और भीतर से रक्तमांस विष्टा और मूत्रका थैला ही है और उसमें भी कुछ सार नहीं है। फिर पर्वत, ईंट, पत्थर, समुद्र जल और वनस्पतितयों आदिक काष्ठ पत्र जो कुछ भी चर अचर पदार्थ हैं सब आपातरमणीय हैं और अविचारसे ही सुन्दर जान पड़ते हैं। इनको इच्छा करना मूर्खता और नष्टता है। अज्ञानीही इनकी इच्छा करते हैं। समदर्शी और ज्ञानवान जगतके किसी भी पदार्थकी इच्छा नहीं करते और सर्व भावसे इनको अरमणीय ही जानते हैं। इससे हे साधो! आत्मतत्त्व ही सर्वश्रेष्ठ है, तुम

सर्वदा उसीमें स्थित रहो । राग, द्वेष, इच्छा, गहण और त्याग आदिक सर्व विकारमात्र हैं । अधिक क्या कहूँ, जिसने वासनाओं को नष्टकर दिया है वह उपगमवान होकर कल्याणमूर्ति बन गया है । उसको ससार सागरका कोई भय नहीं है । वह सर्व प्रकारसे परम पदको प्राप्त हो चुका है ।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, उपगम- प्रकरणका तैत्तलिसवाँ सर्ग समाप्त ॥४३॥

चौवालीसवाँ सर्ग

कारणोपदेश

वशिष्ठ जी बोले—हे रामजी ! सुरघ के इस निश्चय से राजर्षि परघ को परम सन्तोष प्राप्त हुआ और वे कुछ समय के लिये अपने मित्र सुरघ के उस स्थान में ठहर गये । फिर दोनों मित्र इसी प्रकार से तत्त्वविवेचन करते रहे । अब उनमें मित्र भाव नहीं था । अब दोनों ही महात्मा एक दूसरेको अपना गुरु समझते थे । हे रामजी ! तुमभी इसी प्रकार से तत्त्व-विवेचन करते रहो और सर्वदा इन परविचार किया करो । इस क्रमसे तुम्हें परमबोध की प्राप्ति हो जावेगी और तुम्हारे हृदयमें यह जो सक्लप का अहंकाररूपी बादल उठा करता है वह सर्वथा ही नष्ट हो जावेगा । हे रामजी ! आत्माही सत्य और सर्व आनन्दों की सम्पदा है, तुम उसीमें स्थित होओ । जो पुरुष नित्य अतर्मुख होकर उस अध्यात्ममय चिदानन्दमें चित्तको लगाता है वह सर्वदा ही सुखी रहता है । उसको शोक कभी नहीं होता और कलङ्क कभी नहीं लगता । जैसे कमल जलमें रहकर भी उससे ऊँचा दिखलाई पड़ता है और उसको जल स्पर्श नहीं करता, वैसेही ज्ञानी को जगत-व्यवहार के राग द्वेष स्पर्श नहीं करते । क्योंकि जब एक वार जिसका मन पूर्णरूप से शान्त हो गया तब उसको जगत के दृष्ट अर्निष्ट पदार्थ चलोपमान नहीं कर सकते । जैसे सिंह को मृग दुःख नहीं दे सकते, वैसे ही ज्ञानीको

जगतके पदार्थ दुःखी नहीं बना सकते । उसे विषयों की तृष्णा नहीं रहती और न वह विषयों के लिये कभी दीन होता है । भला नन्दन वनमें स्थित रहने वाले पुरुषको कंटको के वृक्षकी क्या इच्छा होगी ? उसी प्रकार जब जिस पुरुष ने एक बार इस जगत को अविद्या रूप जान लिया तब उसे जगत के पदार्थ कष्ट नहीं दे सकते । उसके हृदयमें भोगों की दीनता वैसेही नहीं उपजती जैसे नन्दन वनमें कण्टकका वृक्ष नहीं उत्पन्न होता है । देखने में तो वह जगत का सारा कार्य करता है किन्तु कोई भी कार्य उसे स्पर्श नहीं करते । जैसे आकाशमें अन्धकार दिखलाई पड़ता है किन्तु आकाश को स्पर्श नहीं करता वैसेही ज्ञानी भी जगतमें रहता और उसके सर्व कार्योंको करता रहता है किन्तु कोई भी कार्य उसे स्पर्श नहीं कर पाते अर्थात् न तो वह किसीमें लिप्त होता और न कोई कार्य उसे अपने मोहपाश में बांध सकते हैं । हे रामजी । एक विद्या है, एक अविद्या । विचार को विद्या और अविचार को अविद्या कहते हैं । अविद्या से विषय भोग का स्वाद मिलता है और विद्या से आत्मानन्द की प्राप्ति होती है । विद्या एव ज्ञानमें ऐसी अद्भुत-शक्ति है कि उसके प्राप्त रहने से प्राणी इन्द्रियों के व्यवहार में अन्धा नहीं हो पाता । उसे रागद्वेष रूपी निशाचर नष्ट नहीं कर सकते । वह मोह को नहीं प्राप्त होता । उसका जन्म लेना सार्थक हो जाता है । वह अपने कुलको सफल कर देता है । जैसे पूर्णिमाका चन्द्रमा अमृत से पूर्ण रहकर अपने में शीतल होता है वैसेही ज्ञानी पुरुष आत्मचिन्तन में अभ्यासरत एवं शान्तिमान होता है । हे रामजी । जब जीवको आत्मपद प्राप्त होता है, तब उसके समस्त क्लेशोंका अन्त हो जाता है और वह सर्वभाव से सुखी हो जाता है । किन्तु जिसने आत्म चिन्तन नहीं किया वह अभागा है । ऐसे पुरुष को जीवन पर्यन्त कष्ट ही भोगना पड़ता है । हे रामजी । यह जीव रूपी बैल है जो अनेक आशा रूपी फाँसियों से

वँधा हुआ है। इसे जरावस्था रूपी पत्थर जर्जरीभूत कर देने हैं। और यह भोगरूपी गढेमे गिरकर कर्मरूपी भारको लिये हुये जन्मरूपी वनमें भटकता हुआ, कर्म के कीचड़ में फँसकर राग द्वेष रूपी मन्थरों से कष्ट पाता रहता है। जब स्नेहरूपी रथको पकड़ कर अपनी ओर खँचता है तब पुत्र, स्त्री आदिके मोहरूपी कीचड़में ऐसे गोते खाता है कि फिर निकलना कठिन हो जाता है। हे रामजी ! यह जीवरूपी ऐमाही बेल है। अब तुम उसे सत्सङ्ग और सत्शास्त्रों की सहायता से निकालनेका यत्न करो। जब उस क्रमसे तत्वों का अनुमन्धान करोगे, तब निश्चय ही ससार समुद्र से तर जाओगे। हे रामजी ! जो इस ससार सागर को पार कर देते हैं उन्हीं की युक्ति से इस ममार से पार हो जाओ अन्यथा दूसरी कोई युक्ति नहीं है। जहाँ सन्त नहीं रहते, वहाँ एक रात्रि भी वास नहीं करना चाहिए। वह भूमि मरुभूमिके समान ही त्याज्य है। क्योंकि इस असार ससार में सन्तजन ही एक ऐसे कल्पवृक्ष हैं कि जिनकी स्निग्धता और शीतलता से महामोहरूपी तप्तता नष्ट होती है अन्यथा दूसरा कोई भी उपाय नहीं है। जो पुरुष सन्तोंके निकट जाता है उसकी तप्तता अवश्य ही नष्ट हो जाती है और वह परम शान्ति को लाभ करता है। हे रामजी ! अपना आत्मा ही अपना मित्र है और अपना आप ही अपना शत्रु है। इससे विचार कर अपने आपको कीचड़ में न डालो आत्म अभ्याससे उद्धार होता है। वह अभ्यास भी कैसा है ? देखो, पहले यह विचार करना चाहिए कि जगत क्या है, कैसे उत्पन्न हुआ और कैसे निवृत्त होगा। मैं कौन हूँ, सार क्या है और असार भी क्या है ? तब जो सार हो उसको ग्रहण करो और जो असार हो उसको त्याग दो। हे रामजी ! न धन कल्याण करता है, न मित्र और न बान्धव। और शास्त्र भी कल्याण नहीं करते। अपने आप ही से उद्धार होता है। इससे अपने मनरूपी

मित्र के साथ मित्रता करो। वही मित्र है। वही शत्रु है। जब मनमें दृढ़ वैराग्य का अभ्यास होता है तब संसार बाण से छुटकारा मिल जाता है। अन्यथा यह जीवरूपी हस्ती जन्मरूपी गढ़े में गिरा हुआ तृष्णा रूपी जंजीर में बंधा हुआ कामना रूपी मद से सर्वदा ही उन्मत्त बना रहता है। जब यह छोड़े तब कहीं मुक्ति प्राप्त हो। हे रामजी ! इस हृदयरूपी नेत्र में अनात्म अभिमान रूपी ऐसा मल रक्त हो गया है कि वह विचार रूपी औषध के बिना कदापि नष्ट नहीं हो सकता। हे रामजी ! और, कुछ उपाय चाहे करो यो न करो किन्तु इस शरीरका अभिमान तो अवश्य ही त्याग दो। यदि यही कर लोगे तौ भी आत्मरूपी सूर्यका प्रकाश हो जावेगा और जब इस प्रकार अहंकाररूपी बादल नष्ट हो जायेंगे तब आत्मरूपी सूर्य का अवश्य ही प्रकाश होजावेगा।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उपशम-प्रकरण का चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४४ ॥

पैंतालीसवाँ सर्ग

अन्तर प्रसङ्ग वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! अपने मनसे ही मनको छेदकर अहंभावका नाश करो। जब तक मन नष्ट नहीं होगा तबतक संसार का दुःख दूर नहीं होगा। हे रामजी ! जैसे प्रलयकाल में अनन्त दुःख उत्पन्न हो जाते हैं, वैसेही मनके होने से अनन्त दुःख उत्पन्न होते रहते हैं। इस पर एक प्राचीन इतिहास है, सुनो। हे रामजी ॥ सब पर्वतोंमें बड़ा एक सहाचल नामका बहुत ही सुन्दर पर्वत है उस पर सर्वदा ही नाना प्रकारके फूल फूले रहते हैं हम कलोल करते चलते रहते हैं और उस पर मोतियोंकी बहुत सी खानें हैं। कहीं देवताओं के स्थान हैं और कहीं पत्नी शब्द करते हैं। उसके नीचे क्रान्त जाति का बास है और ऊपर सिद्ध, और विद्याधर बास करते हैं। उसके पृष्ठभाग में मनुष्य रहते हैं और नीचे भागमें नाग रहते हैं,

मानों सम्पूर्ण जगत का गृह वही है । उसके उत्तरी भाग में फलों से लदे हुये बहुत से सुन्दर वृक्ष और फूलों से भरे हुये कितने ही तालाब हैं । कहाँ तक कहें, उसकी रचना स्वर्ग के समान है । वहाँ अत्रि नामक एक बड़े ज्ञानी महर्षि रहते हैं । कुछ समय बाद उनके पास दो तपस्वी और आकर रहने लगे । पश्चात् उन दोनों की कुटी में दो अत्यन्त ही सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुये । एक का नाम भास और दूसरे का नाम विलास पड़ा । जब वे बड़े हुये तो उन दोनों में परस्पर बड़ी प्रीति हो गई, मानों वे एक ही थे । कुछ ही समय में उनका सूर्य चद्रमाके समान सुन्दर प्रकाश हो गया उनके ज्ञान की सीमा न रही । परन्तु काल बढ़ा बली है, उसके आगे किसीका बश नहीं । कुछ काल पश्चात् उनके माता पिता स्वर्ग-गामी हुये । उनके शोकमें भास और विलासका मुख कुम्हिला गया, शरीरकी शोभा नष्ट हो गई । हे रामजी ! जैसे ऊजड़ वनके वृक्ष जलके बिना सुख जाते और कुम्हिला जाते हैं, वैसे ही उन दोनों भाइयों का शरीर सूख गया । वे दोनों विगत्-ज्वर होकर विचरने लगे । परन्तु वे अर्द्ध प्रबुद्ध थे और उन्हें जैसा चाहिए था, वैसा निर्मल ज्ञान प्राप्त न हो सका था, इस कारण वे एक दूसरेसे पृथक होकर भी कुछ काल पश्चात् फिर आ मिले और पुनः साथ-साथ रहने लगे । नित्य ही विचार विमर्श होता, नित्य ही एक न एक नवीन प्रश्न उपस्थित ही रहते । एक दिन विलास ने कहा—हे भाई ! निश्चय ही यह जीवनरूपी समुद्र अमृत का एक वृक्ष है कि जिसमें सुखरूपी वृक्ष फले हुये हैं । तुम इतने दिनों तक उसीसे सुखी रहे हो । परन्तु यह तो कहो कि इतने दिनों तक जब कि तुम मुझसे पृथक रहे हो उस अवधिमें कैसी क्रिया करते रहे, मुझे तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि अब तुमने अपने चित्त को अवश्य ही कुछ निर्मल किया है और अब तुम आत्मपदको पाये हो । तुम शोकरहित जान पड़ते हो । ऐसा ज्ञात होता है कि अब का फल कुछ मिला है और अब

तुम निश्चय ही कुशल रूप हुये हो। भासने कहा—हाँ भाई। जैसा तुम कहते हो, सब कुशल ही है, और नहीं तो इस जगत में कुशल कहाँ ? सुख कहाँ ? हे साधो ! जब तक ज्ञेयने परमात्मतत्त्वको नहीं प्राप्त किया, जबतक चित्तने भूमिकाओं को नहीं पार किया और जब तक ससार समुद्रसे नहीं पार हुये तब तक हमको तो क्या; किसीको भी सुख कहाँ है ? सुख तो तब होता जब हमारे विचारों में आशारूपी वेलि न लगी होती। परन्तु अभी तो ऐसा नहीं है अभी तो हमको वह आत्मविचार रूपी हँसिया नहीं प्राप्त हुआ कि जिससे वह आशा रूपी कण्टकों की वेलि काटी जाती है। फिर कुशल कहाँ है ? कुशल तो तब होता, जब आत्मज्ञान हो गया होता। हे साधो ! यह संसार रूपी एक विश्वचिका रोग है कि जो आत्मरूपी औषधि से दूर होता है। समस्त जीव नित्य ही एक न एक ऐसी क्रिया करते रहते हैं कि जिससे उनको दुख ही प्राप्त होता है और सुखका दर्शन भी नहीं हो पाता। सुख प्राप्त भी तो कैसे होवे। यह अस्थि पञ्जर युक्त शरीर तो नित्यही दुःखों का घर है। इसकी तीनों अवस्थायें एक से एक बढ़कर दुःखदायी हैं। इसको अन्तमें कालका भक्षण होनाही पडता है। तब यह फिर उत्पन्न होता है और फिर नष्ट हो जाता है। अस्तु, इसमें सुखका लेश नहीं यह चित्तरूपी इस्तीको तृष्णारूपी हस्तिनी दूरसे भी दूर भगा ले जाती है। जैसे चीरह पच्ची मांस की ओर दौड़ जाता है, वैसे ही यह चित्त विषयोंकी ओर दौड़ जाता है और आत्मरूपी चिन्तामणि की ओर नहीं जाता। फिर इसको सुख कैसे प्राप्त होवे ? इसको प्राणरूपी कण्टक और तृष्णारूपी जल सर्वदा ही कष्ट दिया करते हैं। यह सर्वदा ही चैत्य दृश्यमें ही मग्न रहता है। यह चित्तरूपी ध्वजा कालरूपी वायु से सर्वदा ही हिलती रहती है। इस चित्तरूपी समुद्र में नित्य ही चिन्तारूपी लहरें उठ रही हैं, जिसमें जीव रूपी तृण कष्ट पा रहा है। और यह बुद्धि रूपी पक्षिणी-

वासनारूपी जालमे पडकर महा दुःख को प्राप्त हुई है । हे साधो । 'यह मैंने किया है, यह करता हूँ और यह करूँगा' यही वासनारूपी जाल है । इससे एकक्षण भी विश्राम नहीं मिलता । इस प्रकार चित्त रूपी कमलको रागद्वेष रूपी हस्ती सर्वदा ही चूर्ण किया करता है । यह मेरा मित्र है, यह मेरा शत्रु—इसी प्रकार 'अहंकार' हमको सर्वदा मारा करता है । शुद्ध आत्मरूपको त्याग देने से ही यह दीनताको प्राप्त हुआ है । देहादिक का मोह ही इसे मार रहा है, नहीं तो इसे क्या कष्ट होता ? किन्तु जैसे राज्य से रहित राजा कष्ट पाता है, वैसेही यह आत्मभावसे रहित होनेके कारण कष्ट पा रहा है । अन्यथा इसको जन्म मरण का दुःख क्यों भोगना पड़ता ? इसकी कुशल तो तब होवे, जब यह देहाभिमान का त्याग करे । अन्यथा इसको कुशल और सुख दुर्लभ है ।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, उपशम-प्रकरणका पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४५ ॥

छियालीसवाँ सर्ग ।

हृदय-सङ्ग-विचार वर्णन

वशिष्ठ जी बोले,—हे रामजी । भास के इस कथन से विलास को बड़ा लाभ हुआ और वह अपने उस भाईके साथ मिलकर अभ्यास मे तल्लीन हो गया । फिरतो उसके वह निर्मल ज्ञान बहुत ही शीघ्र प्राप्त हो गया कि जिसके प्राप्त हो जानेपर मोक्ष पद हाथ में आ जाता है । इससे हे रामजी ! कल्याण के हेतु ज्ञानके अति रिक्त और कोई नहीं है । परन्तु जो आशाओंमे बँधा रहता है और ज्ञानका आश्रय नहीं लेता, वह ससार सागरको नहीं पार कर सकता । जैसे पंख टूटा हुआ पक्षी समुद्रको नहीं पार कर सकता, और बीचहीमें गिरकर गोता खाने लगता है, वैसे ही जिनके वैराग्य और अभ्यासरूपी पंख टूट गये हैंवे, ससार सागरको नहीं पार कर सकते और बीच ही में गोते खाने लगते हैं । किन्तु जैसे गरुण समुद्र को पार कर जाता है, वैसेही वैराग्य और अभ्यास से ज्ञानीजन ससारको

पार कर जाते हैं। ऐसा देहातीत महात्मा चिन्मात्र में स्थित रहकर सर्वदा ही ऊँचे की ही ओर देखते हैं अर्थात् उनकी दृष्टि विशाल होती है और वे देहादिक की कुछ भी परवा नहीं रखते और उसे देखकर हँसते हैं। वे देहादिक दुःखसे कदापि खेदवान् नहीं होते। वे मनके क्षिप्त होनेसे कदापि क्षुब्ध नहीं होते और सर्वदा ही आत्मतत्त्वमें लीन रहते हैं। उनके आत्मतत्त्वमें कुछ भी क्षोभ नहीं होता। जैसे तरङ्गों पर धूलि पड़ती है परन्तु उससे समुद्रको कुछ भी क्षोभ नहीं होता, वैसे ही मनके शुद्ध होनेसे आत्माको कुछ भी क्षोभ नहीं होता। हे राम जी ! जैसे जल और हंस का और जल और नौकाका कोई सम्बन्ध नहीं होता। वैसे ही देह और आत्मा का कुछभी सम्बन्ध नहीं है। जैसे जल और पत्थर का सम्बन्ध नहीं किन्तु उनका साथ हो जानेसे उसपर वृक्ष एवं काष्ठ उत्पन्न हो जाते हैं वैसेही देह और आत्मा क संयोग से चित्तवृत्ति फुरती है। हे रामजी ! यह जीव सग के होनेसे ही दुःखी हो रहा है। निःसङ्ग रहे तो कोई दुःख न होवे। यह मेरा है, तह तेरा है—इसी अभिमानने समस्त दुःखों को उत्पन्न किया है। जहाँ अभिमान नहीं है, वहाँ दुःख भी कोई नहीं है। हे राम जी ! अभिमान में बड़ी शक्ति है, बड़ी प्रबलता है। इसके वेग में पड़ा हुआ जीव दुःखों से मुक्त नहीं होता। पर जब वही अहभाव देह में नहीं रहता अर्थात् उसका ससर्ग जाता रहता है, तब कोई भी कष्ट नहीं होता। तब यह जीव ऐसा निर्मल हो जाता है कि जैसे दर्पण निर्मल हो जाता है और जैसे निर्मल दर्पण में सारे दृश्य प्रतिबिम्बित होते हैं वैसेही अहके विकारों से रहित हुआ शुद्ध आत्मा निर्मल हो जाता है और उसमें सब कुछ भासने लगता है। किन्तु जैसे दर्पणमें सारे दृश्य प्रतिबिम्बित होते हैं किन्तु उसका उन सबसे कोई स्पर्श नहीं होता वैसे ही शुद्ध आत्मतत्त्वके निकट जगतकी कोई भी क्रिया समर्थित नहीं होती। क्योंकि वह सर्वथाही सवित मात्र और आत्मत्व मात्र स्थित है।

वह सर्वतो भावसे शुद्ध है और उसमें द्वैत शब्द कोई नहा है। ज्ञानी को द्वैत का स्फुरण नहीं होता पर, जो अज्ञानी है उसको द्वैत कलना उठती है। हे रामजी। इसी प्रकार समस्त जीव दुःखी है परन्तु वास्तवमें जीव अदुःख रूप है—अज्ञान वश अपने आपको दुःखी देख रहा है। जैसे अविचारवश, अपने घरमें भी चोरकी भावना होवे वैसे ही आत्मामें अविचारवश दुःखकी भावना होती है। इस जीवका नरूप है और न इसका कोई शब्द है परन्तु कलना के वश अपने आपको सम्बन्धी जानता है। जैसे स्वप्नेमें कोई वाराङ्गना आकर बन्धन करे और अपने गृह में भी वैताल का भय होवे, वैसे ही निज कल्पनावश जीव बन्धायमान होता है। हे रामजी देह और आत्माका सम्बन्ध वैसेही असत्य है कि जैसे जल और नौका का सम्बन्ध असत्य होता है। जब हृदय में ऐसा निश्चय हो जाता है और हृदय संग रहित हो जाता है तब देहको कुछ भी दुःख नहीं होता। जैसे जल और पत्थर इकट्ठे रहते हैं परन्तु भीतरसे संगका अभाव है इससे उन्हें कुछ दुःख नहीं होता, वैसेही जब हृदय संग से रहित हो जाता है तब इन्द्रियोंके होते हुए भी दुःखका कुछ भी स्पर्श नहीं होता और जीव दुःख रहित पद को प्राप्त हो जाता है। परन्तु जो देहाभिमानी है उसके हृदय रूपी वृक्षमें मोह रूपी अनेक शाखायें उत्पन्न होती रहती हैं और वह उसी प्रकार सर्वदा एक न एक दुःखसे आहत होता रहता है। वह जिधर ही देखता है उधर ही जगतका नानात्व प्रकार दिखलाई पड़ता है। इसके विपरीत जो देहादिकोंमें बन्धनवान नहीं है वह एक आत्मभावकोही देखता है और उसके शुद्ध चित्तमें एक आत्मा काही भान होता है। उसके निकट ससार की कोई सत्ता नहीं होती, वह संसारसे मुक्त हुआ रहता है। किन्तु जो सर्वव्यवहार को तो त्याग बैठते हैं और तप भी करते हैं। और जिनका चित्त आशक्त है वह बन्धनमें है। वम, यही बन्ध और मोक्ष है। जो हृदयसे संग रहित है वह कर्ता हुआ भी अकर्ता है

और जो हृदयसे संग रहित नहीं है चाहे वह सब कुछका त्यागी क्यों न होवे पर वह असंग नहीं कहा जाता। कर्ता अकर्ता का भेद चित्त से माना जाता है, शरीरसे नहीं।

धी योगवाशिष्ठ भाषा उपशम, प्रकरणका, द्वियालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४६ ॥

सैंतालीसवाँ सर्ग ।

संग-असंग-विवेचन

वशिष्ठ जी के इतना कहने पर रामजीने पूछा—हे भगवन् । संग किसको कहते हैं कि जिससे बन्धन होता है और उससे छूटने का क्या उपाय है, सो आप कृपा करके मुझे बतलाइये । वशिष्ठजीने उत्तर दिया हे रामजी । देह और देही का जो विभाग है उसको त्याग करो । देह के साथ मिलकर जो करता है और जो यह कहता है कि 'यह मेरा है, मैं इतना ही हूँ'—ऐसे विश्वास को ही संग और बन्ध कहते हैं । क्योंकि आत्मतत्त्व अनन्त है । उसमें अभिमान करके ग्रह भाव से देही को मान लेना अथवा शरीर से सुख की इच्छा करना—यही बन्ध है । इसीको संग कहते हैं और इसीसे सब प्रकार के दुःख प्राप्त होते हैं । किन्तु जिसको यह निश्चय होता है कि सब कुछ आत्मा ही है, मैं कामको ग्रहण करूँ और किसको त्यागूँ वह असंगी और जीवन्मुक्त कहलाता है । उसके लिये 'न मैं हूँ, न यह जगत है'—वह सर्व अभाव को त्यागकर अद्वैत सत्ता में स्थित रहता है और वही असंग कहलाता है । और इसी प्रकार जिसको आत्मतत्त्वका पूर्ण निश्चय हो जाता है, वह राग, द्वेष, हृष्य, शोक के बशीभूत नहीं होता, वह असंसर्ग कहलाता है । उसको कोई भी कर्म बाँध नहीं सकते । उसके आगे समस्त सम्पदायें करबद्ध विद्यमान रहती हैं । किन्तु जो संसक्त है, वे कष्ट पाते हैं, कारण कि उन्हें अपने भोक्तापन का अभिमान है और वे भोग रूपी खाई में गिरे हुये हैं । इससे उनको अनन्त दुःख प्राप्त होता है । हे रामजी । संग के कारण ही दुःखों की

परम्परा उदय होती है। जैसे गढ़े के वृक्ष से कण्टक होवे ऐसे ही सग से दुःख उत्पन्न होते हैं। जैसे नासिका में रस्सी डालकर ऊँट, बैल और गधे भार उठाते फिरते हैं और मार खाते हैं, वैसेही विषयों में संसक्त पुरुष आशारूपी फाँसी से बंधकर दुःख पाते हैं। बस, यही संसक्त और यही सग, यही बन्धन और यही एक-देशी दोष-पाप है कि जिसके वश होने से ही जड़ चेतन सभी शीत और उष्ण आदिका अनन्त कष्ट भोग रहे हैं। संसक्तता ही उन्हे योनियोंके गर्तमें गिरा रही है। यह संसक्तता भी दो प्रकार की है। एक बन्ध और दूसरी बन्धन करने योग्य। इन्ही दोनो के आश्रित होकर जीव कष्ट पा रहे हैं। आत्मतत्त्व से गिरकर क्या नहीं भोगता। देहाभिमानी मूर्ख है। वह संसार में बारंबार जन्मता और मारता है। किन्तु जिसको आत्मतत्त्वका ज्ञान हुआ है और जिसकी आत्मा में निष्ठा है, वह वन्दना करने योग्य है, वह आवागमन के चक्कर में नहीं पड़ता। वह सर्वथा ही मुक्त-स्वरूप और वन्दना करने योग्य है। परन्तु जो देहादिक भाव में संसक्त हैं वे बन्ध हैं। उनको जन्म, जरा और मृत्यु से कभी छुटकारा नहीं मिल सकता। वे सर्वदा ही कष्ट पाते रहते हैं। हे रामजी ! जिनको देहाभिमान है वे यदि देखने में उदार भी जान पड़ें तब भी उनको भोगों के गर्त में गिरा हुआ ही जानो। जब वे भोगों को देखते हैं तब उसकी ओर वैसेही दौड़ते हैं, जैसे चील्ह मांसके टुकड़ों की ओर झपटती है। हे रामजी ! संग की बड़ी विलक्षण लीला है। आकाश पाताल और स्वर्ग तथा मृत्युलोक में यह जितना कुछ प्रपंच तुम जान रहे हो, सब उस सङ्ग की ही महिमा है। यह सग इतना प्रबल है कि इसी के नीतिनियम में बंधे हुये जीव समस्त शृष्टियों एवं समस्त लोको में व्याप्त एवं विचर रहे हैं। जिसने जैसा संग किया है, उसे वैसा ही भोग है। संग एवं कर्म वश ही जीव उर्द्ध और अधो गत हैं। इससे जो कुछ जगत

है, सब आत्मरूप है। मनरूपी वितेरेने संगरूपी रङ्ग से शून्य आकाश में जो देहादिक जगत लखा है, वह सब असत्परूप है। जैसे समुद्र की लहरें उठती और मिट जाती हैं वैसे ही जीव सब ब्रह्माण्डों में उपजते और विनष्ट होते रहते हैं। क्योंकि वे संसक्त हैं, इससे उनके शरीर पाने की संख्या नहीं। मेरुके शिखर से लेकर उसके चरणों तक यदि गङ्गा का प्रवाह चले तो भी उसके कणको भले ही गिन लिया जाये किन्तु संसक्त जावों के शरीर की गणना नहीं हो सकती। जो कुछ आपदा है, सब उनको प्राप्त होती है। जैसे समुद्र में ही सारी नदियाँ जाती हैं, वैसे ही समस्त आपदायें उस एक संसक्त पुरुष को जा लगती हैं और वे उस प्रकार विषयों का सेवन करते हुये यहाँ तो कष्ट भोगते ही हैं अन्तमें भी रोरव और कालसूत्र आदिक नरको में जाकर जलते हैं। इस प्रकार जितने भी दुःख के स्थान हैं, सब उस एक संशक्त जीव को ही प्राप्त होते हैं। किन्तु जो असंग-संगति जीव हैं उनको तो समस्त विभृति ही प्राप्त होती है। जैसे वर्षाकालमें नदियाँ और मानसरोवर में सब हंस आन स्थित होते हैं, वैसेही अससक्त चित्त पुरुष को सारी सम्पदायें आन प्राप्त होती हैं। इस प्रकार जिसका देहाभिमान नष्ट हो जाता है उसको अमृत रूप जानो। विष ज्यों २ बढ़ता है, त्यों त्यों मारता है और उसी प्रकार अमृत ज्यों-ज्यों बढ़ता है त्यों-त्यों जीव को अमरत्व प्राप्त होता जाता है। अस्तु। हे रामजी ! जिस पुरुष ने देहाभिमान का त्याग कर स्वरूप से संग किया है, वह सर्वथा ही सुखी है पर जिसने अपने हृदयमें दृश्योंका साथ किया है उसको तो यह ससक्त रूपी अङ्गार जलावेगा ही। और इसी प्रकार जिसके हृदय में संग नहीं है अर्थात् जो निर्सङ्ग है वह असंग रूपी अमृत से तृप्त होकर चन्द्रमा के समान शीतल और मुक्तरूप होगा। फिर उसको अविद्यारूपी विशुत्रिका राग न लगेगा और वह सर्व प्रकारण शान्त रूप हो जावेगा।

श्री योगवागिष्ठ भाषा उपशम प्रकरण का सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त । ४७ ॥

अड़तालीसवाँ सर्ग ।

शान्त योगोपदेश

वशिष्ठ जी बोले—हे रामजी ! यह जो उपदेश मैंने तुमको दिया है, यदि इसको विचार कर ऐसा अभ्यास करोगे तो निश्चय ही तुम सर्वकाल और सर्व-स्थानों में सुखी रहोगें । देखो, समस्त कर्मोंका करने वाला यह चित्त है । तुम इसको देहादिक में मत संसक्त करना और इसे केवल आत्म-चित्तन में ही लगाये रहना । हे रामजी ! जगत की सारी वस्तुयें असत्य हैं । उनको सत्य जानकर उनमें चित्तको न लगाओ । जब ऐसा अभ्यास करोगे तब निश्चय ही आत्मतत्त्व में स्थित हो जाओगे । अस्तु ! आकाश, पाताल, अध, उर्ध्व, दिशा, बाहर, भीतर, प्राण, हृदय, मूर्धा, तालु, भ्रुकुटी, नासिका, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तम, प्रकाश, श्याम, रक्त, पीत, श्वेत, स्थिर, चल, आदि, अन्त, मध्य, दूर, निकट, चित्त और शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तथा कलना अकलना में कहीं भी चित्तको न लगावो । और चारों ओर से चित्तको रोककर चेतन-तत्त्व में ही विश्राम करो और द्वैतको लेकर चेतन तत्त्व को आश्रय न करो । हे रामजी ! इस प्रकार जब सबसे निराश होकर अत्मतत्त्व में स्थित होवोगे तब विगत मंग होनेसे जीव का जीवत्व भाव नष्ट हो जावेगा और तुम केवल चिदात्मा होकर स्थित होवोगे । तब सब कुछ करते हुये भी तुम अकर्ता ही बने रहोगे और तब तुम्हें स्वभावत ही सारे तत्त्व अद्वैतरूप जान पड़ेंगे । जैसे बादलों के दूर होने से सूर्य स्वभावतः ही स्पष्ट दिखलाई पड़ता है वैसेही विकल्पों का नाश होनेसे चेतन तत्त्व भास आता है और प्रकाश रूप चिन्तामणि स्वभावत ही भास आती है । फिर तुम्हारे कर्म बीजरूप न बनेंगे और जैसे कमल का जल स्पर्श नहीं करता, वैसेही तुमको क्रिया, भी स्पर्श न करेगी और चित्त भवेगा ।

उनचासवाँ सर्ग ।

हे रामजी ! निर्मज्ञ पुरुष बाहे ध्यान करे अथवा व्यवहार करे वह सर्वदा ध्यान में ही स्थित और शाक रहित जान पड़ता है । बाहर से वह भले ही दुःखी जान पड़े किन्तु उसका हृदय सर्व संकल्पों से रहित है और वह सम्पूर्ण लक्ष्मी से शोभता है । वह अपने चित्त अचेत्य के बल से सर्वथा ही अचल और विगतज्वर है । उसको दुःख कुछ स्पर्श नहीं होता । वह स्वयं निर्मल रहकर दूसरों को निर्मल करना है । इस प्रकार जो आत्मतत्व में लीन रहता है वह देखनेमें तो भले ही लुब्ध दृष्टि आवे, किन्तु उसे लोभ कदापि नहीं होता । जैसे सूर्यकी छाया देखनेमें भलेही लुब्धमान जान पड़ती है किन्तु सूर्य को कदाचित् भी लोभ नहीं होता, वैसेही ज्ञानी पुरुष बाहर से भले ही मोरपुच्छ के समान चञ्चल जान पड़े किन्तु भीतर से वे वैसेही अचल हैं कि जैसे सुमेरु पर्वत अचल होता है । कारण कि वह आत्मपद में स्थित हुआ है और उसको सुख दुःख अपने वश में नहीं कर सकते । जैसे स्फटिक मणिपर कोई दूसरा रत्न नहीं चढ़ता वैसेही ज्ञानीको सुख दुःखादिका राग-द्वेष रूपी मल स्पर्श नहीं करता । इसीसे वह उस अवस्था में रहकर भी जो कुछ कर्म करता है, उसके फलका भागी नहीं होता क्योंकि वह निरहंकार हो जाता है । हे रामजी ! ऐसे आत्मध्यानी पुरुष सर्वथाही मुक्त और अशक्त हैं । उनके लिये जाग्रत भी सुषुप्तिरूप होजाता है और वे सर्वप्रकार से निरहंकार रहते हैं । जैसे मन्त्र की पुतली अहंकार से रहित चेष्टा करती है और उसमें कोई संवेदन नहीं है और इसीसे उसको कोई दुःख नहीं होता वैसेही अहंकार और संवेदन रहित पुरुष निर्दुःख और निर्लेप कहलाते हैं । हे राम जी ! यह इष्टानिष्ट और भावाभाव रूपी जगत तो चित्त में ही होता है । जब चित्त आत्मभाव को प्राप्त हो जाता है तब बन्धन नहीं होता और तब वह सर्व भाव से

आत्मतत्त्व ही हो जाता है। जैसे नट सब जगों धरता है किन्तु किसीमें उसको अभिमान नहीं रहता, वैसेही सुषुप्ति बोध पुरुष देखने में तो जगत की सारी क्रियायें करने हैं किन्तु किसीमें बन्ध्या-यमान नहीं होते और जीवन्मुक्त होकर अचल भावसे स्थित रहते हैं। हे रामजी ! तुम भी उमी प्रकार सुषुप्ति बोधका आश्रय करके जगत के सारं कार्य करो, किन्तु उस क्रिया, कर्म और कर्तापन में त्रिपुटी का आश्रय न लो तो तुमको कुछ दुःख न होगा और न ग्रहण और त्याग कुछ प्रतीत होगा और तब तुम यथा प्राप्तमें स्थित रहोगे। वम, ऐसी जो सुषुप्ति बोध अवस्था है उसमें स्थित रहकर जो कुछ करता है वह उन सर्व कर्मांको करते हुए भी कुछ न नहीं करता और उसे कर्तापनका बोज नहीं लगता। हे रामजी ! ऐसा निश्चय धारण करके तुम्हारी जो इच्छा हो करो। जब कर्तापन का अभिमान ही न रहेगा तब फलों का स्पर्श कैसे होगा। हे रामजी ! जब चित्त अचित्त हो जाता है तब उसके लिये यह जाग्रत जगत सुषुप्तिरूप हो जाता है और यह चाहे जो कुछ करे उसे किसी कर्मका स्पर्श नहीं होता। जब ऐसी सुषुप्तावस्था प्राप्त हो जाती है तब हृदय शीतल होकर रागद्वेष से रहित हो जाता है और तब वह पुरुष आत्मानन्द से पूर्ण होकर ऐसाही शीतल और शोभायमान हो जाता है कि जैसे पूर्णमामोका चन्द्रमापूर्ण, शीतल और शोभायमान होता है। हे रामजी ! ऐसी अवस्थावालों को ससारका कोई भी चोभ चलायमान नहीं कर सकता। जैसे पर्वत कभी चोभवान नहीं होता वैसेही ज्ञानीजन कभी च्छुब्ध नहीं होते। पर यह दशा साधारण नहीं है, बिना अभ्यास-योगके इस अवस्थाका प्राप्त होना महान कठिन है। परतु अभ्यास योगसे यह अवस्था प्राप्त हो जाती है। और जब प्राप्त हो जाती है तब इस दशाकी योगिजन तुरीयावस्था कहते हैं। तुरीयापद में पहुँचने पर सारे दुःखों का नाश हो जाता है और जीव चोकर असशक्त हो जा

मनके संकल्प विकल्पो, अर्थात् मनके मननभाव का नाश हो जाता है तब ज्ञानीको परम सुख की प्राप्ति होती है और वह सर्वप्रकार से परमानन्द को प्राप्त होता है। तब वह इस ससार रचनाको लीला-रूप देखता हुआ सर्वशोक से रहित और निर्भय हो जाता है। फिर उसको ससारका कोई भ्रम नहीं रहता और वह ससार में फिर नहीं गिरता। ऐसे विचारवान पुरुष परमपावन पदमे स्थित होकर ससार की अवस्था को देखकर हँसते हैं। वह आत्मानन्द को पाकर ससार के काशों को केवल दुःख रूपही जानते हैं। हे रामजी ! यह तुरीयावस्था सर्व प्रकार से आनन्द रूप और सर्व कलनाओं से रहित है। जब अभ्यासी को यह अवस्था प्राप्त हो जाती है तब वह जन्म मरणके बन्धनसे मुक्त हो जाता है और तब वह अहं आदिक कलनाओंसे रहित हो परम ज्योति में लीन हो जाता है। जैसे समुद्र में नमक जलरूप हो जाता है, वैसे ही वह भी आत्मरूप हो जाता है।

श्रीयोगवाशिष्ठ नापा, उपशम-प्रकरणका, उन्वासवा सर्ग समाप्त ॥ ४९ ॥

पचासवाँ सर्ग ।

समाप्त योगोपदेश वर्णन ।

हे रामजी ! जब तक यह अवस्था रहती है तब तक अभ्यासी को जीवन्मुक्त पदमे स्थित हुआ कहा जाता है और जब वह इससे उपरान्त तुरीयातीत पद में जाता है तब उसे विदेहमुक्त कहा जाता है। वह पद वाणी का विषय नहीं। उस पद से विश्रान्त भी दूर है, विदेहमुक्त ही उसे पाता है। अभी तुम कुछ काल तक इसी सुषुप्ति अवस्थामे ही स्थित रहो, फिर तुरीयातीत पदमें जाना। तुरीयातीत, बड़ा ही निद्रान्द्र पद है, इससे उममे अभी मत जाओ। क्योंकि उसमें पहुँचकर तुम फिर कुछ न कर सकोगे और इधर अभी तुम्हें बहुत कुछ करना है। इसमें अभी तुम इसी सुषुप्ति अवस्था में ही पड़े रहो। क्योंकि जब इसमें स्थित रहोगे तब तुम जगतके सब कार्यों को करते हुये भी सर्वदा पूर्ण रहोगे और तुमको उदय अस्तका भाव कदाचित्त भी

न होवेगा । हे रामजी ! तुम इस शरीरको अपना जानकर इसके राग द्वेष में मत जलना क्योंकि यह अवश्यही नष्ट हो जावेगा । इस कारण तुम इस भ्रमको न स्वीकार करो । तुम्हारा इसमें कुछ भी सन्निवेश नहीं है । तुम सर्वदा ही ज्योंके न्यो स्थित हो । ज्ञानी जन ऐसा ही जानते हैं । वे देहके नाश हुये, देहके स्थित हुये शोक और हर्ष नहीं करते । उनको देहसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता । वे तत्वदर्शी हैं और सर्वकी प्राप्ति समझकर निर्दोष और अभिमान रहित होकर विचरते हैं । उस दशा में मनकी वृत्तियाँ सर्व विकारों से रहित हाकर आत्मपदमें ऐसेही स्थित हो जाती है कि जैसे शरत्काल की रात्रिमें चंद्रमासे प्राकाश निर्मल होजाता है । उस दशामें वृत्तियाँ ससार की ओर बसेही नहीं गिरतीं जैसे योग, मन्त्र, तप और सिद्धियों में सम्पन्न पुरुष आकाशमें उड़ जाता है और पृथ्वी पर नहीं गिरता । उसी प्रकार हे रामजी ! तुम भी अपने प्रकृत आचार में स्थित होकर यथा प्राप्त कर्मों को करते हुए निर्द्वन्द्व हो विचरण करो अधिक क्या कहे, अब तुम भी स्वरूपके ज्ञाता हो गये हो । अब तुम्हें शोक नहीं है । अब तुम निश्चय ही शरत्कालके निर्मल आकाशके समान ही शोभित होवेगे । हे रामजी ! इस जगतका आदि अन्त कोई नहीं है, यह केवल चिदानन्द स्वरूप मात्र है । इससे तुम अह, त्व आदिके भ्रमोंसे रहित होकर उसमें स्थित होवो । आत्मा का शरीर के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है । वह चिन्तनाओरो रहित और केवल अव्यक्त रूप है । उसमें आत्मा आदिक नाम भी उपदेशके लिये ही कल्पित किये गये हैं किन्तु वह नाम, रूप, भेद और भयसे रहित अशब्दपद है । वही अशब्दपद जगत रूप होकर स्थित हुआ है । उससे जगत कुछ भिन्न नहीं है । जैसे जल तरङ्गरूप भासता है और वह जलसे भिन्न नहीं है वैसेही आत्मा से जगत कुछ भिन्न नहीं है । जैसे पट और तन्तु में भेद नहीं होता वैसेही जगत और ब्रह्ममें कुछ भेद नहीं होता है । रामजी ! इस प्रकार यद्यपि उस आत्मामें द्वैत कुछ नहीं है

तथापि मैं, तुम्हारे उपदेशके लिए कहता हूँ कि द्रौत भी कुछ है। देखो, इस शरीर के साथ तुम्हारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। जैसे धूप और छाया का कुछ सम्बन्ध नहीं होता, प्रकाश और अन्धकार का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही इम-देह से आत्मा का कुछ सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि यह शरीर जड़ और मलिन है और आत्मा निर्मल, चेतन और सत्य है। फिर इमका शरीर से सम्बन्ध कैसे हो सकता है। जैसे शीत और उष्ण का सम्बन्ध नहीं है, वैसेही आत्मा और देह का सम्बन्ध नहीं है। जैसे अग्निके लगने से वनवासी जीव दुःखी होने हैं वैसेही अहभाव के लगने से यह शरीर दुःखी होता है। हे रामजी! जैसे मरुस्थल में जलका आभास देखकर मूर्ख मृग दौड़ते हैं वैसेही मूर्ख मनुष्य इस शरीर को ही आत्मा मान लेते हैं। किन्तु आत्मा निर्मल, नित्य और स्वयं प्रकाश रूप है। उसमें देहका सर्वथा ही अभाव है। फिर आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध कैसे? आत्मा में तो देहका सर्वथा ही अभाव है। आत्मा तो केवल एक अद्रौत तत्व अपने आपमें ही स्थित है। उसमें द्रौत का रंचमात्र भी समावेश नहीं है। उसके भीतर बाहर वही एक तत्वरूपमें स्थित है। हे रामजी! यह जानना कि—“मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं मूर्ख हूँ”—इम मिथ्या दृष्टि को दूर से ही त्याग दो। तुम केवल आत्मरूप हो। दृश्यों से महान दुःख प्राप्त होता है। हे रामजी! यह शरीर जो चलना है, जा बोलना है, सो वायुके बलसे चलता-बोलता है। देखो,—‘हृदय, कंठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु’—ये आठ ऐसे स्थान हैं कि जिनके सहायता से ही शब्दों का उच्चारण होता है। क, ख, ग, घ का उच्चारण कण्ठ से और च, छ, ज, झ-का उच्चारण तालु से और ट, ठ, ड, ढ-का मूर्द्धा से और त, थ, द, ध का दन्त से और प, फ, ब, भ, म-का होठों से उच्चारण होता है किन्तु ङ, म, न और ण-का उच्चारण नासिका से होता है। इसी प्रकार जिह्वाका उच्चारण जिह्वामूल से और जिस

पदके आदिमे हकार होता है उमका उच्चारण हृदय से होता है । इस प्रकार उपरोक्त आठो स्थानों से ही वर्गों का उच्चारण होता है । तब भला तुम्ही सोचो कि आत्मा से इन सबका क्या सम्बन्ध है ? आत्मा तो सर्वसे निर्लेप है । जैसे बाँसुरी वायु से ही शब्द करती है, वैसेही इन पञ्च तत्वों से शब्द हाता है । फिर इनमें आत्माभिमान करना मूर्खता नहीं तो क्या है । सभी इन्द्रियाँ वायु से ही चेष्टा करती हैं । तुम इनके भूम मे न पडो । आत्मा इन सब से पृथक और आकाशवत् सबमे पूर्णरूपसे विद्यमान है । जैसे आकाश सर्वत्र ही पूर्ण है किन्तु जहाँ चित्त होता है वही प्रतिविम्बित होता है । इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा का प्रतिविम्बित चित्त में है । चित्त के अहंभाव से ही भासता है । इसी प्रकार यह सारा जगत आत्मा से ही प्रतिविम्बित है और आत्मा ने ही समस्त जगत की रचना की है, परन्तु भूतो का कारण उनका अन्तःकरण ही है और आत्मतत्व सबसे परे है । इस कारण यही कहा जायगा कि संसार का कारण चित्त है । उसीको, चित्त, जीव, अन्तःकरण और मन चाहे जो कुछ भी कह लो, सब एकही है ।

रामजीने प्रश्न किया—हे मुनिवर ! चित्त की इतनी सज्ञा कैसे हुई ? वाशिष्ठ जी ने उत्तर दिया—हे रामजी ! सर्व भाव पदार्थों मे एक परमात्मतत्व की ही प्रधानता है । सवेदन वश अनेक रूप भासमान होता है । जैसे जल वही है परन्तु उसी को कहीं तरङ्ग, कहीं बुदबुदे और कही भुँवर आदि संज्ञा कही जाती है, वैसेही एक आत्मा ही चित्त आदिक सज्ञाको धारण करता है । परन्तु वह सब जलरूप ही है । स्पन्दता वश एक से अनेक भासित होता है । निस्पन्द होने से वही शुद्धरूप भासता है । और जहाँ अज्ञान संसरता है वहीं वह अनन्त आत्मा जीव कहलाता है । इस प्रकार अहंता के वश होने से वही जीव रूप होता है और जहाँ निश्चय वृत्ति से फुरता है वहाँ उसको बुद्धि कहते हैं । इसी प्रकार

वह स कल्प निकल्प से मन और चिन्ता करने से चित्त कहलाता है। फिर प्रकृति भाव से वही प्रकृति रूप भी हो जाता है। प्रकृति 'जड़' है और जीव चेतन है। वेद, शास्त्र और उपनिषदों में जीव के अनेक रूप बतलाये गये हैं और अन्य शास्त्रों ने तो बहुत 'व्यर्थ' की कल्पना की है। तुमको उतने प्रपंच में जाने की क्या आवश्यकता है, सत्त्व में यही जान लो कि जब तक चित्त में अहंभाव लगा हुआ है तभी तक जगत भ्रम होता है, अन्यथा नहीं। इस शरीर में अहंभाव ने ही चित्त को उत्पन्न किया है और उस कारण यह जगत का सारा प्रपंच प्रतीत हो रहा है। किन्तु चित्त का अभाव होते ही जगत—भ्रम जाता रहता है। शरीर में आत्मबुद्धि करनी मूर्खता है। शरीर नाशवान है, आत्मा अमर है। शरीर के नाश होने से आत्माका नाश नहीं होता। जैसे वृक्षके पत्तोंका नाश होने से वृक्षका नाश नहीं होता, वैसेही शरीर के नाश होने से आत्माका नाश नहीं होता। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर नवीन वस्त्र धारण कर लेता है वैसेही यहाँ आत्मा जीर्ण शरीरको त्यागकर नवीन शरीर धारण कर लेता है। मूर्ख इसीको तो मृत्यु कहते हैं किन्तु शरीर के नाश होने से आत्माका तो नाश कुछ नहीं होता। हे रामजी ! वह मूर्ख है जो शरीर के नाश हुये आत्माको भी नाश हुआ समझता है। अज्ञान से ही आत्मा में मृत्यु भासता है। जैसे एक स्थान में अज्ञान से ही वैताल भासता है और जैसे माता के स्तनों में मूर्ख बालकको वैताल भासता है, वैसेही अज्ञान वश आत्मा में मृत्यु भासती है। किन्तु जैसे कोई एक देश से दूसरे देश को जाता है और उसका अभाव नहीं होता, वैसेही आत्मा एक शरीर को त्यागकर दूसरे शरीरको प्राप्त करता है किन्तु उसका अभाव नहीं होता। जेमे जल में तरङ्ग फुरकर फिर लीन हो जाता है और फिर कहीं अन्य स्थान में नहीं प्रकट होता है, जैसे पत्नी उड़ता उड़ता दूर चला जाता है और दिखलाई नहीं पड़ता परन्तु उसका नाश

नही होता जैसे ही एक शरीर के नाश हुये आत्मा अन्य दूसरे शरीर में जाकर प्रकट हो जाता है और उसका नाश नहीं होता । हे रामजी ! वासना के वश होने से ही यह जीव एक शरीर को त्यागकर दूसरे शरीर को प्राप्त होता है और इस प्रकार वासना के वश होने से ही जीव इधर-उधर फिरता है । कभी उर्ध्व लोक को जाता है और कभी मनुष्य लोक में घटी यन्त्र की नाईं भटकता है । और उसी कारण जरा मरण और जन्म आदिका दुःख पाता हुआ कभी स्वर्ग और कभी पाताल और कभी मध्य स्थान में जाता है; कभी शान्ति नहीं पाता । इस कारण हे रामजी ! जो वासना ऐसी दुष्ट है उसे तुम शीघ्र ही त्याग दो । तभी अपने स्वरूप में स्थित हो सकोगे ।

वाल्मीकि जी कहने हैं कि जब वशिष्ठ जी ने ऐसा कहा तब सूर्य देव अस्त हो गये और सारी सभा स्नान के लिये उठी और परस्पर एक दूसरे को नमस्कार कर सब लोग अपने २ स्थान को चले गये । फिर दूसरे दिन सूर्य के उदय होते ही यथा स्थान आ विराजे ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उपशम-प्रकरणका पचासवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५० ॥

इक्यावनवाँ सर्ग ।

मोक्ष विवचन

वशिष्ठ जी बोले—हे रामजी ! आत्मा अविनाशी है । शरीर के नाश हुये से तुम्हारा नाश नहीं होता क्योंकि तुम निष्फलक आत्मा हो और शरीरके साथ तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है । जो शरीरके नाश होने में अपना नाश मानता है, वह मूर्ख है । ऐसे अर्द्धचेती पुरुषों को धिक्कार है । शरीर का सम्बन्ध इन्द्रियों से है न कि आत्मा से । इन्द्रियों के नाश होने से आत्मा का नाश नहीं होता । शरीर के प्रति मनुष्य जो इतना शक्ति, भयभीत और दुखी रहता है उसका यही कारण है कि वह शरीर में अहभाव रखता है और अहभाव से ही उसे . कष्ट देते हैं । क्योंकि शरीर पच-

भौतिक है इससे उसकी अन्तिम गति भी पंचभौतिक ही होती है। और इस प्रकार जब पंचभौतिक शरीर पञ्चभूतों में लीन हो जाता है तब उसीको मृतक हुआ कहते हैं। इससे यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इस पञ्चभौतिक शरीर में लोग आत्मभावना करते हुए अपनी मुखतावश हर्ष और शोक को प्राप्त करते हैं। हे रामजी ! न कोई पुरुष है न कोई स्त्री। इनके मिमित्त मूर्ख रुदन करते हैं। स्त्री, पुरुष और पुत्र पौत्र आदि का जो कुछ भी सम्बन्ध है, सब व्यर्थ है। जैसे मिट्टी के खिलाने आपस में मिलते हैं किन्तु वे निःस्सार ही हैं वैसे ही जगत का यह सारा सम्बन्ध भी निःस्सार और व्यर्थ है। इममे तुष्टवान और खेदवान होना बड़ी मूर्खता है। ज्ञानी जन इनका खेद नहीं करते। क्योंकि वे यह भली भाँति जानते हैं कि जैसे मिट्टी के खिलाने और जैसे काठ की पुतलियाँ होती हैं वैसे ही जगत के ये सारे सम्बन्ध निःस्सार हैं। फिर इनसे स्नेह करना कैसा ? इन्द्रियों से आत्मा का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। फिर इनके लिये शोक क्यों करूँ। जैसे तृण और जल का संयोग होता है और फिर जल का प्रवाह ही तृण को इधर, उधर कर देता है और जलको उसका कुछ भी हर्ष शोक नहीं होता वैसेही इस देहभूत आत्मा का योग है, इससे इनके योग और विच्छेद का दुःख नहीं होता। इससे हे रामजी ! तुम अपने स्थित भावको ही प्राप्त होवो। क्योंकि आत्मा और है और देह, मन, पाण, इन्द्रिय में और बुद्धि, आदि यह कोई एक और ही विलक्षण भाव है। इनके उदय और क्षय होने, मे दोनों के परस्पर में कुछ भेद नहीं आता। चित्तके उदय होने से ही आत्मा अनात्मा बन जाता है। इससे तुम चित्त को त्याग कर अपने स्वरूप में स्थित होवो। जब तुम अपने ऐसे व्योम रहित भावको प्राप्त होवोगे तब तुम्हें अपने आपका ज्ञान होकर यह प्रत्यक्ष हो जायगा कि शरीर कुछ और है और मैं कुछ और हूँ। जैसे आकाश मडल को प्राप्त हुआ जीव पृथ्वी मडलके समस्त जीवों को देखता है।

वैसे ही तुम आत्मपद में स्थित होकर देहादिक भूतों को प्रत्यक्षरूप में देखोगे । जैसे सूर्यकान्त मणि सूर्य के प्रकाश करते ही अपने परम प्रकाश को प्राप्त हो जाता है वैसे ही जब तुम इन देहादिक भूतोंको देखकर इनका त्याग करोगे तब आप ही आप परम प्रकाश को पा जाओगे और तब तुम्हे स्वयं ही ऐसा ज्ञान हो जावेगा कि जिससे तुम्हारा द्रष्टा, दर्शन, दृश्य सब कुछ जाता रहेगा और तुम सारी वस्तुओं को यथातथ्य जानने लगोगे । जैसे मद्य से मत्त हुआ मनुष्य कुछ नहीं जानता और ज्यों ही उसका मद उतर जाता है कि उसे सब यथातथ्य ज्ञान होने लगता है वैसे ही फुरना रहित होने से तुम्हे यथातथ्य ज्ञान हो जावेगा । आत्मतत्त्व में स्फुग्णका होना ही चित्त है । इससे चित्त भी अवस्तरूप हुआ । जैसे समुद्रमे लहरों का प्रकट होना कुछ वस्तु नहीं है, वैसे ही चित्तादिक भी कुछ वस्तु नहीं भ्रान्तरूप हैं । ज्ञानीजनोंको यही भाव दृढ़ रहता है और इसी से वे महा बुद्धिमान वीतराग हो निष्प्राणरूपी जीवनमुक्त हो शान्त पद में विचरते हैं । उनको कोई स्पन्द नहीं होता, उनको कोई कलना नहीं उठती, वे सर्वदा ही व्यवहार कलना से रहित रहते हैं । उन्हें कर्तापन का कुछ अभिमान नहीं होता वे भोगों की प्राप्ति और नष्टता में कुछ भी हर्ष और शोक नहीं करते । हे रामजी । जिस मन में जगत के किसी पदार्थ की मननवासना नहीं फुरती और उस चित्त में यदि कुछ स्फुरण होवे भी तो वह वास्तविक नहीं होता बल्कि वह विलास मात्रहोता है । और वह ज्ञाना के बन्धन का कारण नहीं होता । पर जिस चित्त में अहं, त्व, की भावना है परन्तु हृदय से उसकी सत्यता बुद्धि है तो वह निश्चय ही जगत के सर्व जालोको फैलाता है । किन्तु यह जितने कुछ दृश्य हैं सब असत्यरूप हैं । सत्य है तो एक अव्यक्त रूप ही सत्य है । जब उसका आश्रय करे तब हर्ष शोक नहीं प्राप्त होता । और जो कुछ दृश्य जगत भासता है सब असत् रूप ही है । सत्य है तो केवल वही ज्यों का

त्यों अपने आपमें स्थित है। फिर इन अमत्य रूप दृश्यों के पीछे तुम क्यों कष्ट उठाते हो, क्यों मोह की प्राप्ति होते हो। असम्यक दृश्यों को त्याग कर सम्यकदर्शी बनो। हे कमल नेत्र रामजी ! सम्यकदर्शीको मोह नहीं प्राप्त होता, वह साक्षात् शरीर ही मोह रूप है। दर्शन और दृश्यों के साथ मिल कर रहनेवाले मूर्ख हैं, उनको सर्वदा ही भ्रम दिखलाई पड़ेगा। हाँ, दृश्य, दर्शन के मध्य में जो अनुभव सत्ता है वह अवश्य ही सुख रूप है। किन्तु जो दृश्य के साथ लगा है वह बन्धन में है और जो दृश्यों से परे रहकर सवित में स्थित है वह मुक्तरूप है। वह संसार सागर को अवश्य ही पार करेगा। क्योंकि वह अवस्था सुषुप्तिरूप है और उमको प्राप्त हुआ परम प्रकाश को पाता है और इसी अवस्था को मुक्त अवस्था कहते हैं। किन्तु जो दृश्य और दर्शन के साथ बँधा है वह बन्ध है। आत्मा ही सबको अनुभव करनेवाला है। न वह स्थूल है, न अणु है। न प्रत्यक्ष है, न अप्रत्यक्ष है। न जड़ है न चेतन है। न सत्य है, न असत्य है। वह सर्वथा ही अहंत्व से परे एक और अनेक से रहित अस्ति नास्ति से परे रहने वाला है। वह न निकट है, न दूर। न पदार्थ है न अपदार्थ। न सर्व है, न असर्व। न पञ्चभौतिक है, न अपञ्चभौतिक। उसमें जो कुछ दृश्य जाति है सब मन सहित पटेन्द्रियों से भाव को प्राप्त होता है। इससे वह निष्किञ्चन रूप है। सम्यक ज्ञान होने पर ऐसा ही भासता है। हे रामजी ! यह जान कर ही तुम अपने स्वरूप में स्थित होवो।

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा, उपशम-प्रकरणका इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५१ ॥

वाचनवाँ सर्ग ।

आत्म विचार

वशिष्ठ जी बोले—हे रामजी ! अब एक और दृष्टि सुनो। इस दृष्टि को पाकर मनुष्य अबल हो आत्म स्वरूप को देखता है।

वह यह है कि मैं ही आकाश हूँ, मैं ही दिशा हूँ, मैं ही सूर्य हूँ, मैं ही अघ हूँ, मैं ही उद्ध हूँ और मैं ही देवता, दैत्य, प्रकाश, तम, मेघ, पर्वत, पृथ्वी, समुद्र, वायु, धूल और अग्नि आदिक जो कुछ स्थावर जंगम सारे जगत में है मैं ही विद्यमान हूँ । जिसके हृदय में ऐसा निश्चय होता है उसको सब जगत आत्म स्वरूप ही भासता है । उसे कभी हर्ष और शोक नहीं होता । वह सारे जगतको मनो-मात्र ही देखता है और उसमें उसे अपना और पराया कुछ नहीं प्रतीत होता । वह आत्मा से भिन्न कुछ नहीं जानता । वस, यह दृष्टि ज्ञानी को सर्वदा अचेत भाव में स्थित रखती है । हे रामजी ! एक और विचार है । देखो, अहंकार तीन प्रकार होता है । उसमें दो प्रकार का अहंकार तो सात्त्विक और निर्मल है और उससे ज्ञान की उपलब्धि होकर मोक्ष और परमार्थ की प्राप्ति होती है और तीसरे से ससार की प्रतीति होती है । एक अहंकार तो यह कि जैसा मैं कई बार कह चुका हूँ कि सारे जगत को अपना ही रूप देखे अथवा 'अहं अस्मि ब्रह्म' और दूसरा यह जिस जो परम अणु में साक्षीभूत अव्यक्त रूप है—वह मैं ही हूँ । यह दोनो अहंकार मोक्षके देनेवाले हैं । परन्तु तीसरा अहंकार यह कि नख से शिखा पर्यन्त अपने को शरीर रूप जानना । यह अहंकार दुःख रूप और संसार का कारण होता है, इससे शान्ति नहीं मिलती । किन्तु इसमें एक विचार और है कि इन तीनों से परे होकर रहे—यह सर्व सिद्धान्त का कारण रूप है । जैसी तुम्हारी इच्छा हो करो । परन्तु आत्मा सबसे अतीत और परे है । वही अपनी सत्ता से इस सारे जगत को पूर्ण कर रहा है और वही सबको प्रकाश देनेवाला है । उसके प्रति कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता और वह अनुमान आदिक सत्यवाद से रहित है । वही सर्वकाल सबसे अपने प्रकाश से प्रकाशता है और वही सर्वात्मा सबका ईश्वर है । उसमें न तो दृश्य है न दर्शन है । वह सूक्ष्म, स्थूल और सूक्ष्म सब से रहित है । वही सर्वरूप है और

वह किसी वाणी का विषय नहीं है। यह जो अनेकता भासती है, उससे पृथक नहीं है। उसके निकट आत्मा आदिक नामों से कल्पना किया है। पर वह सर्वत्र तीनों कालमें स्थित और प्रकाशरूप है। वही अपने स्फुरण से सूक्ष्म और स्थूल भाव को प्राप्त होकर सर्वत्र जीव रूप से प्रकाश दे रहा है वही जब चित्त सचित में स्फुरण होता है तब जीवरूप से भासता है। परन्तु वास्तव में वह आत्मा चेतन सर्वत्र व्यापक और व्याप्य भाव से कभी किसी भाव को नहीं प्राप्त होता। जैसे सर्व पदार्थ असने भाव में स्थित हैं वैसे ही वह ईश्वर परमात्मा अपने स्वभाव में स्थित है। परन्तु उसका भासना पुर्यष्टकामें ही होता है। जैसे विना वायु के धूलि नहीं उड़ती—और विना प्रकाशके पदार्थ नहीं भासता वैसे ही पुर्यष्टकाके विना आत्मा का भासना नहीं होता। देखो, जैसे सूर्य के उदय होने पर ही जीवों का व्यवहार होता है और सूर्य के अस्त होते ही सबके व्यवहार बन्द हो जाते हैं परन्तु सूर्य दोनों से निर्लेप है, वैसे ही आत्मा सबका प्रकाशक और निर्लेप है। शरीरों के व्यवहार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। और वह सर्वत्र सर्व प्रकारसे जैसा का तैसा ही व्यवहार कर रहता है। उसके अज्ञान से ही जीव को अमत्य भाव प्राप्त होता है अन्यथा वह आदि अन्त से रहित अज और अविनाशी है और वह अपने आप से भिन्न नहीं है। वह सर्वथा ही इच्छा, त्याग और देश काल वस्तु के भेद से रहित है। फिर उसमें बन्ध और मोक्ष कहाँ ? वह सबका अपना आपही है। मूर्खजन व्यर्थ हीमें रुदन करते हैं। हे रामजी ! तुम मूर्खों के समान न होवो और मेरी इन युक्तियों से शोकको त्याग करो। न बन्ध के त्याग की इच्छा करो, न मोक्षके प्राप्ति की। बन्ध और मोक्ष दोनों ही कल्पनायें मिथ्या हैं। क्योंकि 'मोक्ष' ऐसा शब्द अथवा पदार्थ आकाश में भी नहीं है और पाताल में भी नहीं है। चित्त का निर्मल होना ही मोक्ष है। अनात्मा के साथ अपने आपको मिला देना और उसमें आत्माभिमान करना ही मोक्ष

है और इसी को त्याग कर शुद्ध आत्मा में जो चित्त का लगाना है इसीका नाम मोक्ष है। जब हृदयसे गुणोंका त्याग कर दिया जाय तो सम्यक ज्ञान की उपलब्धि हो जावे। उसीको तत्त्ववेत्ता जन मोक्ष कहते हैं। हे रामजी ! यह जीव तभी तक दुखी रहता है कि जब तक इसे यथातत्त्वों का ज्ञान नहीं हो जाता। ज्ञान हो जावे तो दुःखों से मुक्त हो जाता है, इससे तुम अन्य सभी युक्तियोंको त्याग कर भक्ति पूर्वक मोक्षकी वाञ्छा करो। जब दीर्घ काल तक ऐसी साधना करोगे तब चित्त आप ही आप वश में हो जायगा और तब एक मोक्षको कौन कहे अनेकों मोक्ष की वाञ्छा न करेगा और तब वह विचारेगा भी नहीं कि मोक्ष किसे कहते हैं और मोक्ष किमका नाम है। हे रामजी ! इसके अतिरिक्त मोक्ष पाने की और कोई युक्ति नहीं है। आत्मज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है। क्योंकि जब चित्त अचित्त हो जाता है तब जगत के सारे भ्रम आप ही आप नष्ट हो जाते हैं। और आत्मतत्त्वका प्रकाश प्राप्त हो जाता है। इस कारण बन्ध और मोक्षकी कल्पना सर्वथा ही तुच्छ है, तुम उसका त्यागकर चक्रवर्ती सम्राट बन जावो। इस प्रकार से प्रजा पालन करते हुये तुम्हें कर्त्तापन का कुछ भी स्पर्श न होगा।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा उपशम प्रकरण का वाचनार्थ सर्ग समाप्त ॥ ४२ ॥

तिरपनवाँ सर्ग ।

नेराश्यपद मौन विचार वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! यह सारा जगत सकल्प सेही उत्पन्न हुआ है। अज्ञानसे ही मनुष्य अपने आपको शरीर जानता है। जैसे सूर्यकी किरणों में मरुस्थलका जलभासता है, वैसेही असम्यक-ज्ञानसे आत्मा में जगतका भान होता है। स्फुरणही सारे प्रपञ्चोंको फैलानेवाला है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार शरीर और इन्द्रियाँ आदिक जो कुछ ज्ञात होरही हैं सबके उत्पन्न होनेका एकमात्र कारण स्फुरण ही है। इस स्फुरणसे ही इतनी संज्ञायें उत्पन्न हो

जाती हैं। परन्तु जो चित्त है वही अहकार है, जो अहकार है वही मन है और जो मन है वही बुद्धि है। मन और बुद्धिमें कुछ भेद नहीं होता। एककी नष्टतामें दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। इससे मनमें जो कुछ स्फुरण होता है उसका त्यागकर तुम मोक्षकी इच्छाको भी त्यागदो और बन्ध वृत्तिकोभी त्याग करो। हे रामजी ! इस प्रकार वैराग्य और निवेकका अभ्यास करने से ही मन निर्मल होता है। बिना मनके निर्मल हुये मनका मनन भाव नष्ट नहीं होता। हे रामजी ! आत्मतत्त्व सबसे परे हैं। जब मनका मननभाव नष्ट हो जाता है, तब बन्ध क्या है और मोक्ष क्या है—यह कुछ भी नहीं ज्ञात होता। हे रामजी ! आत्मा सर्व क्रियाओं से परे है और यह जितने भी पदार्थ ज्ञात हो रहे हैं सब आत्मारूपी दर्पणमें प्रतिबिम्बित मानते हैं। जैसे दीपकके प्रकाशसे ही सर्व पदार्थ भासते हैं, वैसे ही आत्माके प्रकाशसे सर्व पदार्थ प्रकाशित होते हैं। परन्तु उसने अह त्वं आदिकी कलना कुछ नहीं है। फिर जहाँ कोई स्फुरण ही नहीं है वहाँ कोई दुःख और सुख कैसे हो सकता है ? आत्मा निरहकार और निराकार है, उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों ही नहीं हैं। यदि उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व भासता है तो वह अज्ञानसे ही भासता है। हे रामजी ! यह मनरूपी एक ऐसा मृग है कि जिसमें अज्ञानरूपी मदिरा पीकर अपने को उन्मत्तकर लिया है, इसीसे इसको सत् असत्का विचार नहीं है। जैसे मृगतृष्णाकी नदी असत्ही सत् भासती है और मृग उसको सत् जानकर पान करनेके लिये दौड़ता है वैसेही यह जीव इस अमार संसार को सार वस्तु जानकर इसको और दौड़ता है। किन्तु जब इसको आत्मसत्ताका सम्पक ज्ञान होता है तब यह अविद्या नष्ट हो जाती है और जब इस अविद्याको जीव पहचान लेता है तब यह वैसेही लुप्त हो जाती है कि जैसे ब्रह्मण्डलीमें जाकर चाण्डाली बैठ जाये और जब ब्राह्मणलोग उसे पहचान लें कि यह चाण्डालनी है, तब वह भाग जाती है—इसी प्रकार इसे वास्तवरूपमें जान लेने

पर यह अविद्या नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार जब जीव अविद्याको पहचान लेता है तब यह अविद्या मनको अपनी ओर नहीं खँच सकती। जैसे मृगतृष्णाकी नदी को जब जान लेता है तब प्यास होनेपर भी वह मनको नहीं खँच सकती, इसी प्रकार जब परमार्थ सत्ताका भान हो जाता है तब वासना का समूलतः विनाश हो जाता है। जैसे दीपक के प्रकाशसे अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसेही आत्मज्ञान से वासना नष्ट हो जाती है। अन्यथा यह अविद्या तो अविचार सेही सिद्ध है। शास्त्रोंके विचार प्राप्तिसे यह नष्ट हो जाती है। जैसे सूर्य की गर्मी पाकर बरफ गलकर जल हो जाता है वैसेही विचारसे अज्ञान नष्ट हो जाता है। हे रामजी ! देह जड़ है, आत्मा चेतन है, इसलिए देहके निमित्त भोगोंकी चिन्ता करनी मूर्खता है। ज्ञानी जन इनको जानकर बन्धनोंको तोड़ डालते हैं। जब यह आशा रूपी आवरण दूर होता है तब हृदय शीतल हो जाता है। जैसे दरिद्रको त्रिलोकी का राज्य मिलनेसे वह आनन्दवान हो जाता है, वैसेही ज्ञानवान को आत्मसाक्षात्कार होनेसे वह आनन्दित हो जाता है। इस प्रकार जब भोगों की वासना नष्ट हो जाती है तब प्राणी वसा ही निर्मल और शोभायमान हो जाता है कि जैसे शरत्कालका आकाश निर्मल और शोभायमान होता है। हे रामजी ! ज्ञानी पुरुष अपने आप में नहीं समाता, वह सारी आशाओं को त्यागकर आत्म-मौन हो जाता है। जैसे अग्नि लकड़ीको जलाकर धुँयेसे रहित हो अपने आपमें ही स्थित हो जाता है, वैसेही चित्तकी वृत्तिसे रहित हुआ आत्मपदमें लगकर निर्माण हो जाता है। जैसे अमृतको पाकर कोई आनन्दित होवे वैसे ही परमानन्द से पूर्ण होकर पुरुष अपने आप में प्रकाशता है एव आनन्दित होता है वैसे ही वायु से दीपक प्रकाशता है। शुद्ध शरीर अपने प्रकाशसे ही प्रकाशता है वैसेही ज्ञानीका मन अपने आप से ही प्रकाशता है। हे रामजी ! ज्ञानी जन अपने आपको ऐसा ही जानते हैं। और जानते हैं कि जो कुछ है मे ही है मैं ही सर्वान्मा

सर्वगत, ईश्वर, निराकार, सर्वाकार और केवल चिदात्मा भी मैं ही हूँ। मैं अनन्त आत्मा हूँ और पिछले दिनों माया के भ्रम से ही मैं अपने आपको कर्ता भोक्ता मानता था। परन्तु अब मेरे सब अहकार निवृत्त हो गये। इस प्रकार जान कर वह सर्वदा आत्मा मैंही प्रीति रखता है और उसका चित चारों ओर से पूर्ण रहता है। वह सर्वदा काम रूपी चक्र से मुक्त होकर जरामरण के बन्धनों को काट देता है और इस प्रकार वह सबको पवित्र करने वाला होता है। उसके निकट राग-द्वेष नहीं रहते। और वह अविद्या रूपी ससार समुद्र को तर जाता है। वह सब को आनन्द देता है और आप किसी से बन्धनवान नहीं होता। वह न किसीको कुछ देता है और न किसी से कुछ लेता है। वह न किसी की निन्दा करता है और न किसी की स्तुति करता है। उसे राग-द्वेष में कुछ भी हर्ष शोक नहीं होता। वह सर्व फलों का त्याग कर बाधा रहित और कर्तृत्व और भोक्तृत्व से सर्वथा ही परे होता है। ऐसे पुरुष जीवन्मुक्त कहलाते हैं। हे रामजी ! जैसे कामी पुरुष स्त्री को कण्ठ से लगा कर प्रसन्न होते हैं पर वास्तव में उनको प्रसन्नता नहीं मिलती वैसे ही निर्वासनिक पुरुषको होता है। हे रामजी ! बन्त ऋतु भी अपने फूल के गुच्छों को पाकर वैसे नहीं शोभती जैसा उदारआत्मा एव आत्ममौन पुरुष शोभायमान होते हैं। फिर वासना रहित पुरुष का मन वैसे ही शीतल होता है कि जैसे हिमालय पर्वत में वास करनेवाला भी वैसे सुखी नहीं होता। हे रामजी ! केले के बग का प्राप्त हुआ भी ऐसा सुख नहीं पाता कि जैसा वासना रहित मन सुखी होता है। हे रामजी ! वैसे सुख स्वर्ग में भी नहीं मिलता और न वैसे सुख सुन्दर स्त्रियों के स्पर्श से ही होता है कि जैसा सुख निर्वासनिक मनको प्राप्त होता है। वासना रहित पुरुष को वह सुख प्राप्त होता है कि जिस सुख के आगे त्रिलोकी का सुख भी तुच्छ होता है। ऐसे निर्वासनिक पुरुष के आगे सारा भूमण्डल गोपद के समान तुच्छ ही

प्रतीत होता है। ऐसे मुक्त पुरुष संसार को देख कर हँसते हैं और कदाचित् उन्हें जगत के पदार्थों की कल्पना नहीं फुरती। वे जगत को तृण के समान जान कर त्याग किये रहते हैं। हे रामजी! मैं उनकी क्या उपमा हूँ। उनको तो उदय, अस्त और अहंत्व की कोई कल्पना नहीं रहती वे आत्मस्वभाव को ही प्राप्त हुए रहते हैं। ऐसे पुरुषों के लिए मेरु पर्वत एक टूटे वृक्ष के समान भासता है। और दिशायें डिम्बी के समान भासती हैं। वह समग्र त्रिलोकी के ऐश्वर्य को भी तृण के समान तुच्छ जानता है। उसके लिए संकटों का समूह कुछ नहींके समान ही जान पड़ता है। उसके निकट उदय, अस्त और अहंत्व की कोई कल्पना नहीं होती। तब भला उस भगवान् आत्मा को कौन तौल सकता है। उसको तो वही तौल सकता है कि जो उसके समान होवे। हे रामजी! यह जगत मिथ्या ही भ्रमरूप है। जैसे आकाश में दूररा चन्द्रमा और मरुस्थल में नदी का भान होता है और वहाँ जल की आशा व्यर्थ है वैसे ही यह जगत मिथ्या भ्रम से ही भासता है। इसकी आशा व्यर्थ है। हे रामजी! तुम तो बुद्धिमान और परिणत हो। फिर मुखों के समान मोह क्यों करते हो? यह मैं हूँ, यह मेरा है, इन सब व्यर्थ की कल्पनाओं को चित्त से त्याग दो। क्योंकि यह वास्तव में कुछ है नहीं। सारा जगत आत्मरूप ही है और इसमें कुछ भी नानात्व नहीं है। ज्ञानीजन ऐसा ही जानते हैं और ऐसे दृढ़ निश्चयके कारण ही उनको स्वप्न में भी खेद नहीं उत्पन्न होता। उनके आगे माया नहीं ठहरती और और वह पूँछ दवाकर भाग जाती है। जैसे सिंहके निकट मृग नहीं आता, वैसे ही ज्ञानी के आगे माया नहीं आती। उसके आगे सुन्दर से सुन्दर आभूषण मणि, काञ्चन और अपार धन सब तुच्छ भासता है। न तो वह भोगों से सुखी होता है और न आपदा से दुःखी होता है। वह सर्वदा ही ज्यो का त्यो बना रहता है। उसे सुख दुख चलायमान नहीं कर सकते। वह कामदेव के चलाये बाणों को

भी टुकड़े टुकड़े कर देता है। उसको राग द्वेष अपनी ओर नहीं खींच सकते। सुन्दर वाला स्त्री उसके चित्त को नहीं खींच सकती। वह सर्वदा ही निर्गुण, निष्क्रिय, निराकार और अद्वैत रूप है। उस के निकट सुन्दर वगीचे, ताल, शैया, और इन्द्रियों के विषय भोग दुःख देनेवाले और व्यर्थ हैं। जैसे ऋतु के अनुसार पर्वत में मीठा और कटु फल होता है तो उसको किसी में राग द्वेष नहीं होता, वैसे ही अकस्मात् उसको जो भोग आनन्द प्राप्त हो जाते हैं उसको वह भोगता है और हर्ष शोकको नहीं प्राप्त होता। हे रामजी। यथार्थदर्शी इष्ट अनिष्ट में विचलित नहीं होता। वह कर्मेन्द्रियों से कर्म करता है परन्तु उसमें आशक्त नहीं होता और देखने में तो आसक्त जान पड़ता है परन्तु भीतर आसक्त नहीं होता। जैसे शुद्ध मणि कीचड़ में भले ही पड़ी हो परन्तु भीतर से उसमें कीचड़ नहीं लगा है वैसे ही वह ज्ञानी पुरुष होता है और उसको कुछ कलक नहीं लगता। हे रामजी। आत्मा सर्वदा प्रकाशरूप, नित्य, शुद्ध और परमानन्द रूप है। वह जब जिसको एकान्तमें प्रत्यक्ष हो जाता है, फिर विस्मरण नहीं होता। वह शुद्ध-ज्ञान स्वरूप है। हे रामजी। जिसके शरीर से अह भाव उठ गया है और इन्द्रियों के कर्म करता रहता है तो वह करता भी नहीं करता। जैसे किसी को चिरकाल के पश्चात्कामिला हुआ बान्धव विस्मरण नहीं होता, वैसे ही जिसने एक बार अपने स्वरूप को जान लिया है, उसको वह फिर विस्मरण नहीं होता। जैसे जब तक भ्रम बना रहता है तभी तक जेवरी में सर्प का भान है और भ्रम निवृत्त हो जाने पर वह रस्सी ही भासती है।

जब सम्यक ज्ञान होता है तब भ्रान्तिरूप

जल बुद्धि निवृत्त हो जाने

के जान लेने पर

आने पर फिर

टूट जाती है

तब पुरुष बन्धायमान नहीं होता । जैसे वृक्ष से टूटा हुआ फल वृक्षमे फिर नहीं लगता वैसेही जिसका देहाभिमान नष्ट हो गया है वह फिर नही उत्पन्न होता और फिर स्वरूप में अभिमान नहीं होता । जैसे लौहदण्ड से चूर्ण किया हुआ फिर नहीं उगता, वैसे ही आत्मविचारसे चूर्ण किया हुआ मन फिर नहीं फुरता । इस प्रकार जिस पुरुष ने इस जगत को अविद्यारूप जान लिया है उसे इसके पदार्थ आशक्त नहीं कर सकते । हे रामजी ! जिस पुरुष को आत्म-दशन हो जाता है उसको अवस्तु में वस्तुका भान नही होता । वह सांसारिक वस्तुओं को तुच्छ और द्वेष पूर्ण जानता है । उसके समक्ष चाहे कैसी भी सुन्दर स्त्री नाना प्रकार के वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर क्यों न आवे तौ भी वह उसे मांस रक्त की पुतली के सिवा और कुछ नहीं जानता । कारण कि उसने उसकी ही क्या वरन अपनी समस्त इच्छाओं का दमन कर दिया है । हे रामजी ! ज्ञानी को सर्वदा स्वरूप का ही स्मरण रहता है, इसी कारण उसे अवस्तु में वस्तुरूप बुद्धि नही होती । और एक बार आत्मबुद्धि हो जाने पर फिर उसे नही भूलती । जैसे किसीने किसी के पास गुड रखा हो और वह उस गुडको खा जावे तो रखने वाला उसे दण्डही दे सकता है उसका खाया हुआ रस दूर नहीं कर सकता, वैसेही जिसको आत्म साक्षात्कार हो गया है उसका कोई कुछ नहीं कर सकता । हे रामजी ! जैसे किसी कुलटा स्त्री का चित्त किसी पर पुरुष से लग जाता है तो वह घरका का काम काज करती भी है तौ भी उसका चित्त उसीमे लगा रहता है और समय पाते ही वह उसी ओर को दौड़ जाती है वैसेही ज्ञानवान समस्त क्रियाओं को करते हुये भी अपने चित्तको आत्मपद मे लगाये रहता है और समय पर वैसा ही आत्मोचित व्यवहार करता है । जैसे परव्यसनी स्त्री को उसका पति दण्ड भी देता है तौ भी—उसके हृदय में जो पराये पुरुष के स्पर्श का सुख है—उसे उसके हृदय से दूर नही कर

सकना वैसे ही जिसको आत्मसाक्षात्कार हुआ है उसको कोई दूर नहीं कर सकता। और जैसे व्यभिचारिणी स्त्री पराये पुरुषका साथ करके दुःख पाती है परन्तु उसको उसके स्पर्श सुख का अनुभव हुआ है इससे जो वह उसके सकल्प से अखड अनुभव करती है इसीसे उसको दुःख नहीं भासता। उसी प्रकार जिसको आत्म सुख प्राप्त हुआ है उसको दुःख सुख कुछ नहीं भासता। हे रामजी ! सम्यक् ज्ञान से जिसकी अविद्या नष्ट हो गई है वह दुःखों को नहीं देखता। यदि उसके अङ्गप्रत्यङ्ग भी काट डाले जावें तौ भी उसे दुःख नहीं होता और शरीर के नष्ट होने से नष्ट नहीं होता। क्योंकि उसके सुख दुःख तो पहले ही नष्ट हो चुके हैं। वह सर्वदा ही आत्मपद में निश्चयवान बना रहता है। वह देखने में सरुटवान भी आता है तौ भी उसको सकट कोई नहीं होता। वह वनमें रहे अथवा गृह में, व्यवहार करे अथवा समाधिस्थ रहे, पर वह सर्वदा ही ज्यो का त्यों बना रहता है, उसको खेद और कष्ट नाम मात्र को भी नहीं होता।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उपशम प्रकरण का तिरपनवाँ सर्ग समाप्त ॥५३॥

चौवनवाँ सर्ग ।

मुक्ति विचार वर्णन ।

हे रामजी ! राजा जनक तो राज्यके सर्व व्यवहारों को करता हुआ भी आत्मपद में स्थित रहता था। पर उसको कोई क्लृप्त न लगा और वह सर्वदा ही विगतज्वर बना रहा और तुम्हारा पिता राजा दिलीप भी सर्व आरम्भों को करता हुआ भी रागद्वेष से विमुक्त ही बना रहा। फिर राजा अज, राजा मान्धाता और राजा बलि आदि भी अपने विशाल राज्यों का संचालन करते हुये भी सर्वदा ही आत्मभाव में स्थित रहे, उनको कभी द्वैत का स्फुरण नहीं हुआ। इसी प्रकार नभचर देत्यों का राजा सर्वदा

ही नाना प्रकारकी युद्धादिक क्रियाओं में लगा रहता था और देव-
ताओं के साथ उसका सर्वदाही विरोध रहता था परन्तु हृदय मे
वह सर्वदा ही शीतल रहता था, उसे कभी कुछ चोभ न हुआ।
इसी प्रकार शम्बर दैत्य ने भी अपनी एक पृथक् ही सृष्टि रच ली थी
और उसे कुछ चोभ न हुआ। हे रामजी ! उसी प्रकार तुम भी
इस समस्त-जगत को शम्बरी माया के ही समान समझते हुये इसमें
कुछ राग-द्वेष न मानो और सर्वदाही अपने स्वरूप में स्थित रहो।
देखो, विष्णु भगवान सर्वदा दैत्यों को मारते ही रहते हैं परन्तु
हृदय मे अलेप बुद्धि हैं। फिर देखो कि दैत्यों के-गुरु शुक्रजी
सर्वदा ही दैत्यों के निमित्त युद्ध करते रहते हैं और लोभी के समान
ही उनके अर्थ को संचित करते रहते हैं परन्तु वे भी जीवन्मुक्त हैं।
सर्वदा ही हृदय से शीतल रहते हैं और कदाचित् खेदवान नहीं
होते। फिर वायु वनवासी प्राणियों के अङ्गों को फेरता और चेष्टा
करता है परन्तु खेदको नहीं प्राप्त होता। ब्रह्मा सर्व लोकों को
उत्पन्न करता है और प्रलय पर्यन्त उसी की क्रियामे लगा रहता है
परन्तु उसे सर्वदा ही स्वरूपका साक्षात्कार बना रहता है और
वह सर्वदा ही जीवन्मुक्त बना रहता है। विष्णु भगवान भी सर्वदा
ही युद्ध आदिक द्वादों मे लगे रहते हैं और जरा मृत्यु आदिक
द्वाद में नित्य ही पडे रहते हैं परन्तु वे भी सर्वदा ही मुक्त स्वरूप
हैं। इसी प्रकार सदाशिव त्रिनेत्र अर्द्धाङ्गारी हैं परन्तु हृदय से
किसी में आशक्त नहीं है। फिर देखो कि गौरा पार्वती भोतियों
की माला कण्ठमे धारण किये रहती हैं परन्तु हृदयसे शीतल ही रहती
हैं, इससे वे भी जीवन्मुक्त हैं। स्वामिकार्तिक दैत्यों के साथ युद्ध
करते थे परन्तु ज्ञान के समुद्र थे, हृदय से शीतल रहते थे। भृङ्गो-
गण सर्वदाही अपना रक्त मांस माता को देते थे परन्तु इतने धैर्य
मे थे कि उनको कभी खेद न प्राप्त हुआ, वे नाना प्रकार की क्रियाओं
को करते हुये भी जीवन्मुक्त और सुखी थे। नारदमुनि भी सर्वदा

ही मुक्तभावमें स्थित हैं। उनको भी कभी चोभ न हुआ। फिर यह जो विश्वामित्र हैं यह भी सर्वादा ही वेदोक्त कर्मों को करते रहते हैं और यत्र तत्र विवरण भी करते हैं परन्तु जीवन्मुक्त ही है। सूर्यदेव भी मुक्त हैं और यह यमदेव भी युक्त हैं। इसी प्रकार इन्द्र और कुबेर आदिक तथा त्रिलोकी में और भी ऐसे बहुत से जीव हैं कि जो व्यवहार में शीतल हैं। कोई शिलाके समान जड़ हो रहे हैं और कोई परम बोधवान पदमें स्थित हो गये हैं। हे रामजी ! वस्तुमें जो अवस्तु है और अवस्तु में जो वस्तु है वह अवस्तु में वस्तु तब निकलता है जब युक्ति हाती है और वस्तुसे अवस्तु भी युक्ति से ही दूर होता है। जैसे बालुका अवस्तु है परन्तु युक्तियों से उममें से भी तेल निकलना है वैसेही वस्तु अवस्तु और अवस्तु वस्तु हो जाती है। उसी प्रकार इस अवस्तु रूप शरीर में वस्तुरूप आत्मा शास्त्रों की युक्ति से पाया जाता है। और वस्तुरूप आत्मा से ही अवस्तु रूप दृश्यो का अन्त होता है। हे रामजी ! जिसको पापों से भय होता है, वह जब धर्ममें प्रवर्तता है तब निर्भय होता है। फिर जब दुःखोंके भयसे जीव आत्मपदकी ओर जाता है तब भावनाके बश से असत् से सत्को पाता है। हे रामजी ! ध्यान और योग आदिकी क्रियायें भी शून्य हैं परन्तु यत्न के बलसे सत्को पाया जाता है। जैसे इन्द्रजालकी रचना और बाजोगर के खेल में शशे की सींग दिखलाई पडते हैं, वैसेही आत्मा में असद्रूप जो जगत् है वह अज्ञान से दृढ़ हो जाता है परन्तु कल्प के अन्तमें वह भी नष्ट हो जाता है। यहाँ तक कि जो सूर्य और चन्द्रमा दिखलाई पडते हैं और इन्द्रादिक तथा सुमेरु आदिक पर्वत, समुद्र और जो उत्तम मध्यम और कनिष्ठ भावाभाव पदार्थ भासते हैं वे सभी माया मात्र और कल्प के अन्तमें नष्ट होने वाले हैं, कोई न रहेंगे ! इस कारण इनके भावाभाव में हर्ष शोक नहीं करना चाहिए। समता भावमें ही आनन्द है। हे

रामजी ! जो असत है वह संत के समान भासता है और जो सत है वह असत के समान भासता है—यही जगत के गुण हैं। तब भला ऐसे भयंकर जगत के हाथ क्या लगना है ? इसके हाथ में पड़ने वाला अविवेदी और मूर्ख है, वह मुक्त नहीं होता। पर, जिसका मन क्षय हुआ है वह मुक्त रूप है और जिसका मन क्षय नहीं हुआ है वह बन्धनरूप है। मुक्ति की इच्छा करने वालों को आत्मा का ही विचार करना चाहिए। जनक आदिक राजाओं ने इसी मार्ग का अनुसरण किया था। इसी मार्ग से चलकर वे राज्य करते हुये भी सर्वदा हृदय से शीतल बने रहे। हे रामजी ! तुम भी ज्ञान से चित्तको लीन करो। देखो, युक्ति दो प्रकार की है। एक जीवन्मुक्ति दूसरी विदेहमुक्ति। जो सर्व पदार्थों में असंशक्त बुद्धि रखते हैं और जिनका मन शान्त हो गया है वे मुक्त हैं और जिन्होंने ज्ञानपूर्वक सर्व पदार्थों से अपना स्नेह हटा लिया है वह सर्व व्यवहारों को करता हुआ भी शीतल चित्त बना रहता है और वह जीवन्मुक्त कहलाता है। किन्तु जिसने सर्व भावाभाव पदार्थों से चित्त को हटा लिया है और अद्वैत तत्त्वको प्राप्त हुआ है और देखने में जिनकी शरीर आदिक कोई क्रिया होती नहीं जान पड़ती, वह विदेहमुक्त कहलाता है। किन्तु जो पदार्थों के स्नेह में पड़ा हुआ है वह मुक्ति के लिये यत्न करता हुआ भी बन्धन में पड़ा ही रहता है। परन्तु जो युक्ति पूर्वक यत्न करता है उसके लिये कठिन भी सुगम हो जाता है, इसी प्रकार जो युक्ति से रहित यत्न करता है, उसको गोपद भी समुद्र हो जाता है। वह अज्ञानी है, उसे अनिष्ट प्राप्त होते ही रहते हैं और वह उसमें डूब ही जाता है, निकल नहीं सकता। उसके लिए वह गोपद भी समुद्र के समान महान् दुस्तर हो जाता है। अतः तुम सारे उपायों को त्यागकर केवल आत्मपद की प्राप्ति का यत्न करो।

पचपनवाँ सर्ग

ससार सागर योगोपदेश वर्णन

हे राम जी ! यह जितना कुछ जगत का प्रपंच है सब उस आत्मा ब्रह्म का अभासरूप ही है । विचार करने से शान्त हो जाता है । असम्पक दर्शन से ही यह स्थित हो रहा है । सम्यक दृष्टि से देखा जाय तो यह शान्त हो जाता है । परन्तु बिना आत्म-अभ्यास के इससे तरना कठिन ही नहीं असभव है । यह ससार रूपी सागर मोहरूपी जल से परिपूर्ण है । इसमें मरण रूपी आवर्त है । तृष्णारूपी भंवर है । फिर इसमें इन्द्रियाँ और मनरूपी चीते और मच्छ हैं । यह क्रोध रूपी सर्पों का केन्द्र है और जीव रूपी नदियाँ आकर इसमें मिली हुई हैं । इससे जो तर जाता है, वही पुरुष है । इसमें स्त्रियों का जो सौन्दर्य है वही उनके महा बलवान नेत्र हैं कि जिनसे वे पहाड़ों को भी खींच सकती हैं और मोतियों के समान जो उनके सुन्दर २ दाँत और सुन्दर २ शरीर हैं वह महा दुःख को देने वाले हैं । बडवाग्नि के समान ही वे पुरुषों को भस्म कर देती हैं । जो इनसे तर जावे वही सच्चा पुरुष है । जो बुद्धिरूपी जहाज और सन्तरूपी मल्लाहों के द्वारा इस जगत रूपी सागर को नहीं पार कर सकता उसको बारबार विक्कार है । हे राम जी ! जो आत्म विचार करता है वह इस सागर को तर जाता है और जो आत्म साक्षात्कार नहीं करता वह नहीं तर सकता । हे राम जी ! तुम पहले ज्ञानवानों का साथ करके उनसे विचार विमर्श करते हुये बुद्धि से इस संसार समुद्र को देखो । जब तुम इसको ज्यों का त्यों जानोगे तब विलास और क्रीडा करने योग्य हो जाओगे । तुम तो भगवान् हो । फिर विचार पूर्वक इस ससार समुद्र को क्यों नहीं पार कर लेते ? यह बड़ा ही शुभ मार्ग है । जो इस सुन्दर और शुभ मार्ग को त्याग कर विषयों की ओर जाते हैं वे ससार समुद्रमें

डूब ही जाते हैं । जो विपयों का सेवन करता है वह निश्चय ही नष्ट हो जायगा । परन्तु जिसने सञ्ज्ञास्र और सन्त वाणी द्वारा ज्ञान प्राप्त कर लिया है उसको यह वैसेही दुःख नहीं दे सकता कि जैसे गारुडी मन्त्र जानने वाले को सर्प दुःख नहीं दे सकते । हे राम जी । जिसे ज्ञान रूपी धर्म लक्ष्मी प्राप्त हो गई है, वह अमृत के समान शीतल, शुद्ध और प्रकाश रूप है ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उपशम-प्रकरणका पचपनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५५ ॥

छप्पनवाँ सर्ग

आत्मविचार

हे राम जी । ऐसा विचार कर ही आत्मवेत्ता पुरुष इस जगत से उपशम होकर रहते हैं । तुम भी आत्म विचार का ही आश्रय करो । यह सारा जगत आत्मरूप ही है—ऐसा जानकर हृदय में जगत की सत्यता को उठा दो । जब ऐसा विचार कर लोगे तब देखो कि जगत कहाँ है ? हे रामजी । जैसे आकाश कुसुम कहने ही मात्र है वैसे ही यह चित्र कथन मात्र है और अविचार के कारण ही यह प्रतीत होता है । अन्यथा विचारवान को यह चित्त अचिन्ता भासता है । जैसे नौका पर बैठे बालक को तटके वृक्ष चलने हुये जान पड़ते हैं पर बुद्धिमान को नहीं वैसे ही यह चित्त मूर्खों को सत्य प्रतीत होता है विचारवानों को नहीं । विचारवान के पास चित्त होता ही नहीं । जैसे चक्र पर चढ़ा हुआ बालक फिरता है तो पर्वत आदिक पदार्थ उसको भ्रमते हुये भासते हैं और जब चक्र ठहर जाता है तब वे स्थिर जान पड़ते हैं वैसेही चित्तके स्थिर हो जाने से द्वैत कुछ नहीं भासता । चित्त के फुरने में ही नाना प्रकार की तृष्णा उठती है और चित्त के अफुर होने से समस्त संशय और शोक नष्ट हो जाते हैं । तब मनुष्य विगत ज्वर हो जाता है और तब उसे एषणा कोई नहीं रहती । क्योंकि जब चित्तका चैत्य भाव ही

न रहा तब इच्छा आदिक गुण कहाँ रहेंगे । जैसे प्रकाश के हुये से वर्ण ज्ञान नहीं रहता, वैसे ही चित्त के नष्ट हो जाने पर इच्छा आदि का विनाश हो जाता है ।

श्री योगनाशिष्ठ भाषा, उपशम प्रकरणका छप्पनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५६ ॥

सत्तावनवाँ सर्ग

वीतव उपाख्यान

हे राम जी ! इस पर एक आख्यान कहता हूँ सुनो । एक वीतव मुनीश्वर थे जो ससार की अ धिव्याधि से अपने को दूर कर महा वैराग्य रूप धारण कर सुमेरु पर्वत की कन्दराओं में विचरण किया करते थे । उस विचरण में वे यही अनुभव करते थे कि ससार की सारी क्रियायें दुःख रूप हैं, इनसे महान भ्रम प्राप्त होता है । तब इस प्रकार विचरण करते २ उन्हे यह विचार दृढ हुआ कि अब मैं निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करूँ । सो उन्होंने ऐसी इच्छा करके अपने सर्व व्यवहारों को त्याग दिया और केले के पत्तों का आसन बनाकर एकान्त में बैठ गया । तब जैसे कोई शुद्ध होकर मौन भाव से स्थित हो जावे वैसेही वह सर्व कलनाओंको त्यागकर पद्मासन से शान्ति उपासना के लिये बैठ गये । इन्द्रियों की सर्व चेष्टाओं को उन्होंने वन्द कर दिया और इस प्रकार भीतर बाहर सर्वत्र से उन्होंने अपनी सर्व वृत्तियों भी जहाँ का तहाँ ही ठहरा दिया और दोनों हाथ नीचे कर मुख को ऊपर उठा दिया । इस प्रकार उन्होंने योगासन लगाकर समाधि अवस्था प्राप्त करने का पूर्ण यत्न किया परन्तु रुक-रुक कर भी मन बाहर निकल जावे और एकाग्र भाव से कभी न ठहरे । तब वह बड़ा आश्चर्यित हुआ कि यह मन महा चञ्चल है, सर्वदा हो इन्द्रिय जन्य विषयों की ही ओर दौडता है । जैसे सूषा पत्ता तरंगों में पडकर नहीं ठहरता और जैसे गेंद को ज्यों ज्यों ठोकर लगावे वह वैसे-ही-वैसे उडलता

है और स्थिर नहीं होता, वैसेही यह मन महा चञ्चल है और कुछ क्षण के लिये भी नहीं ठहरता। जैसे बन्दर कभी इस डाल पर तो कभी उस डाल पर जोकर बैठता है वैसे ही यह मूर्ख मन भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की ओर जाता है, स्थिर नहीं होता। हे राम जी ! जब इस प्रकार मनने उसको बहुत दौड़ाया और अधिकार में न आया तब उसने मनसे कहा—क्यों रे मूर्ख मन ! तू किस लिये विषयों की ओर जाता है। वे विषय तो स्वयं ही जड़ और असत् रूप भ्रान्तिमात्र हैं। तू इनसे शान्ति की क्या आशा करता है। तू अपनी चपलता वश इनको इच्छा करता है तो यह बड़ा अनर्थ कर रहा है। इनको तू ज्यों ज्यों ग्रहण करेगा त्यों त्यों दुःख ही तेरे निःकट आवेंगे। क्योंकि ये विषय जड़ और असत् रूप हैं, तू भी असत् रूप ही है। तब भला इन अक्षररूप इन्द्रियो सहित तू जडरूप विषयों में कर्तापन का अभिमान क्यों करता है। क्या तुझे ज्ञान नहीं है कि सबका कर्ता सच्चिदानन्द आत्म भगवान ही सब के साक्षीभूत हैं ? तब तू बृथा ही तप्त क्यों होता है। यह सारा जगत भ्रान्तिमात्र ही है। जैसे अज्ञान वश जेवरी में सर्प भासता है वैसे ही अज्ञान वश आत्मा में जगत का भान हो रहा है। परन्तु जैसे सूर्य सबसे पृथक् है वैसे ही आत्मा सबसे पृथक् है। हे मन ! तू कितना मूर्ख है कि इन विषय रूपी चर्वण को चारों ओर से चबाता हुआ भी कभी तृप्त नहीं होता तब तू ही विचार कर कि तू कैसा नीच और कुत्तेके समान है कि जिधर ही देखो उधर ही दुम हिलाता रहता है। अस्तु ! तेरे साथ मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है। रे मूर्ख ! तू मिथ्या ही अहंकार क्यों करता है। जैसे तेरो वासनाये मिथ्या हैं, वैसे ही तू भी मिथ्या ही है। तब भला तेरे जैसे के साथ उस पवित्र भगवान आत्मा का सम्बन्ध कैसे हो सकता है। कहाँ वह आत्म चैतन्य है और कहाँ तू मूर्ख और जड़ एव मिथ्यारूप है। अब मैंने यह अज्ञान है कि तूने ही अज्ञानागमन के

चक्रर मे छोड रखा है । अन्यथा मे केवल, चेतन और परब्रह्म रूप ही हूँ । इस मिथ्या ग्रहकार ने ही मुझे जीवत्वभाव को प्राप्त कराया है । तेरे ही कारण मे अपने को देहमात्र जान रहा हूँ । किन्तु अब मे अपने स्वरूप से जागा हूँ और अब तेरी भावना मुझे कुछ भी कल्याणप्रद नहीं हो सकती । परन्तु, रे मूर्ख मन ! तू यह तो विचार कि भोगों को तू अमृत रूप कैसे जानता है । हाँ ये भोग तो विप के समान हैं । यद्यपि पहले ये अमृत के समान जान पड़ते हैं तथापि फिर विप के ही समान हो जाते हैं । यदि यह कहो कि कैसे तो—जब ये भोग मिलते हैं तो अमृत के समान सुख जान पड़ता है और जब यही विछुडते हैं तब विपके समान दुःख देते हैं । फिर तू अपने को कर्ता और भोक्ता भी कैसे जानता है ? क्योंकि तू न तो कर्ता है और न भोक्ता । इन्द्रियाँ कर्ता और भोक्ता नहीं हीती वरन् जड होती हैं । इस प्रकार जब तुम जड हो तब तुम्हारे साथ मित्रता कैसे ? तू अपने को कर्ता और भोक्ता भी मिथ्या ही जानता है । जब मैं तुम्हें निश्चय करता हूँ तब तू होता, हूँ अन्यथा तू है नहीं । तेरे मे जो कर्तापन की शक्ति है वह मेरो ही दी हुई है । जैसे शस्त्र हनन क्रिया करता है अथवा उसमें जो हनन शक्ति है वह उसको नहीं वरन किमी की दी हुई है और उसे लेकर किसी के प्रहार करने से ही वह हनन करता है वैसे ही तुम्हमें जो कर्तृत्व और भी तृत्व की शक्ति है वह मेरो दी हुई शक्ति है । मेरी ही सत्तापाकर तू अपनी चेष्टा कर रहा है ; जैसे सूर्यका प्रकाश पाकर ही लोग अपनी २चेष्टा कहते हैं वैसेही तू मेरी ही शक्तियाँ पाकर कर चेष्टा करता है । अज्ञान सेही तेरी उत्पत्ति है और ज्ञानसे ही तू लीन हो जाता है । इससे तू मृतक और मृदु है । ज्ञान से देखा जाय तो न तो कहीं इन्द्रियाँ हैं और न कहीं तू है । सब मिथ्याही भ्रमसे भासित हो रहा है । किन्तु मे विज्ञानस्वरूप केवली भाव से अपने आपमे ही स्थित हूँ । मे अजर, अमर, नित्य, शुद्ध बुद्ध और परमानन्दरूप हूँ । मे ही नाना

रूपसे भासता हूँ और मैं ही सर्वदा अपने आप में स्थित हूँ। जैसे जलमें तरङ्ग भी जलरूप ही है वैसेही सर्व पदार्थ मुझमें ही भासते हैं और मुझसे भिन्न भिन्न कुछ नहीं है। इस कारण तू भी मेरेही भाव का ग्रहण कर। जब तू मेरे ही समान चिन्मात्र पदको पा जायगा तब मुझे कुछ भी शोक न होगा और तेरा सर्व भिन्न भाव नष्ट हो जावेगा। क्योंकि आन्मतत्व सर्व भावमें स्थित और सर्वरूप ही है, उसको प्राप्त कर लेनेसे तुझे सब कुछ प्राप्त हो जावेगा। यह शरीर और यह जगत सब कुछ ब्रह्म ही है। इस ब्रह्ममें अहं, त्वं की कोई कल्पना नहीं है। तब जब आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है तब तू परिच्छिन्नताको क्यों प्राप्त होता है। तुझसे कर्ता और भोक्ताका कार्य कैसे होता है। फिर यदि तू यह कहता है कि 'मैं सत असत, जड़ और चेतन के मध्य में हूँ तो यह भी नहीं है। क्योंकि हँसुआ अपने आप कुछ भी नहीं काट सकता, जब मनुष्यकी शक्ति मिलती है तभी वह किसी वस्तुको काटता है, ऐसेही जब तुझसे आत्मसत्ता मिली हुई है तभी तू कुछ करता है। फिर तू किसपर अहकार करता है? फिर यदि तू यह कहे कि 'मेरे पर भगवानकी रूपा है' तो भगवानकी करने न करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती। वह कर्ता भी है और अकर्ता भी है। वह सभीको बाँधता है परन्तु उसे कोई नहीं बाँध सकता। वह सबसे निर्लेप है। फिर हे मन! तू भोगोंको इच्छा क्यों करता है? तू जड़ है और यह शरीर भी जड़ है। फिर तू लोगोंको भोगने वाला कैसे हो सकता है? और यदि तू यह कहे कि मैं परमात्माके लिये भोगता हूँ तो परमात्माको तो कोई इच्छा ही नहीं होती। वह तो सर्वथा ही परिपूर्ण सर्व प्रकाशरूपसे अपने ही ही आपमें स्थित है। फिर तू किसकी चिन्ता करता है? हे मन! तू इन सर्व प्रपञ्चोंको त्यागकर उस आत्मपदमें स्थित होगा कि जहाँ पहुँचने पर सर्व क्लेशोंका शमन हो जाता है। यदि तू यह कहे कि परमात्माके

और भोक्तापनका

सम्बन्ध है तो यह भी ठीक नहीं बैठता। भला कहीं पुष्प और पापाणका भी साथ होता है ? फिर परमात्माके साथ तेरा सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? हाँ, पिता और पुत्रका सम्बन्ध होता है, बीज और अकुरका सम्बन्ध होता है, द्रव्य और गुणका सम्बन्ध होता है किन्तु तेरा परमात्माका सम्बन्ध कैसे हो सकता है। क्योंकि तू आकार सहित एक वस्तु मात्र है और परमात्मा निर्गुण तथा निराकार है। तू जड़ है, परमात्मा चेतन है। तू तमरूप है, परमात्मा प्रकाशरूप है। तू अमतरूप है तो परमात्मा सत्वरूप है। फिर तेरा और परमात्माका साथ कैसे हो सकता है ? हे मन ! तेरा बनाव किसीके साथ नहीं है। तू कलङ्करूप है और परमात्मा निष्कलङ्क है। फिर तेरी और परमात्माकी एकता कैसे है ?

श्रीयोगशास्त्रि मापा, उपशम-प्रकरण का सत्चायनर्वाँ सर्ग समाप्त ॥ ५७ ॥

अष्टावनवाँ सर्ग ।

वीतव उपाख्यान, अनुशासनं योग वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! इस प्रकार बारंबार मनको समझाते हुये वीतव मुनि सुमेरु पर्वत की कन्दराओं में विचरण करने लगे। किन्तु मनकी अशान्तता ने उन्हें वहाँ न रहने दिया और वे विचित्र हो विन्ध्याचल पर्वत पर चले आये। तब कहाँ बैठे कहाँ रहे, कैसे शान्ति प्राप्त होवेगी और इस मनको कैसे समझावें इत्यादि विचारों की उधेड़ बुनमें वे एक लम्बी गुफा देखकर उसमें जा बैठे। किन्तु वहाँ भी उनका मन शान्त न होता था। तब म्या करें क्या नहीं, इस विचारमें व्यग्रहोवे फिर अपने मनको समझाने लगे—हे मन ! तू मेरे सकल्प से ही उत्पन्न हुआ है। मेरे उत्थान तुझे जन्म दिया है। अन्यथा तेरा और तेरेही साथ इन सर्व इन्द्रियों का भी पता न था। यह देहादिक सर्व इन्द्रियाँ संकल्प अथवा मेरे अपने आप आत्म प्रमाद के ही कारण उत्पन्न हुई हैं। तब तू जैसे अज्ञान से उत्पन्न हुआ है, वैसे ही ज्ञान होनेसे नष्ट भी हो

जावेगा । जैसे सूर्यके उदय होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसेही अपने आप अनुभव रूप परमात्मा के उदय होते ही तू नष्ट हो जायगा । वासनोत्रों ने ही उसको ढँक रखा है । वासनाओं का अन्त होते ही वह प्रकाशित हो जावेगा । हेमन । इस वासनाका ही नाम बन्ध है और वासना निवृत्ति को ही मोक्ष कहते हैं । वासनाओं के नष्ट होते ही आत्मा परमात्मा का दर्शन हो जावेगा । किन्तु जब तक वासना न नष्ट होगी तब तक तू और यह इन्द्रियों भी रहेगी । अब मैं जान गया हूँ कि आत्म विचार के बिना ते सहित इतन इन्द्रियों का क्षय न होवेगा । किन्तु आत्म विचार होतेही ये पटेन्द्रियों सर्वथा ही निर्वल हो जावेंगी । क्योंकि इनका आवरण तो तभी तक जब तक कि आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता । अस्तु । अब मैं आत्मपद पाने एवं अपने कल्याण के लिए वैसा अभ्यास अवश्य करूँगा । अन्यथा यह जीव जब तक तेरे सहित इस इन्द्रियोंके साथ लगा रहेगा तब तक इसे अपने स्वरूपकी महत्ता नहीं ज्ञात होगी किन्तु इसे ज्यों ही आत्म दर्शन हो जावेगा त्यों ही उस के समस्त राग द्वेष नष्ट हो जावेंगे और इस प्रकार इसके समस्त विकारोंका अभान हो जावेगा तब भला जिसके दर्शन मात्र से तेरे जैसे सर्व विकारों का अभाव हो जाता है उसका और तेरा सम्बन्ध कैसा ? मेरे विचार से तो जैसे अन्धकार और प्रकाश का सम्बन्ध नहीं होता, जीवित और मृतक का सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही मेरे जैसे आत्मा से तुम्ह अनात्मा का सम्बन्ध नहीं हो सकता । क्योंकि आत्मा सर्व कलनाओं से रहित है और तू सर्व कलनाओं का मूल है, उद्गम स्थान है अथवा तेरे ही में सारे संकल्प ओतप्रोत है । तब कहाँ तू मूक, जड और अनात्मा और कहाँ यह नित्य, चेतन, निराकार और प्रकाश-स्वरूप ? फिर तेरा आत्माके साथ सम्बन्ध कैसे होगा । तू तो निश्चय ही सब अनर्थों का मूल कारण है ।

जगत के सर्व दुःखोंको देख रहा है । अभिमानको त्याग दे ।

मात्मा दिखलाई पड़ेगे ।

जयके कारण ही तुम्हें इतना दुःख मिल रहा है । आत्म-ज्ञान हो जावे तो अपने साथ जगत का संयोग न भांमित होवे । परन्तु अब मुझे यह निश्चय हो गया है कि इन्द्रियाँ और मनके संयोग से ही जगत भासता है । जब इनका संयोग न रहे तब जगत भी न भासे । अब तक जो मैं आत्मा, मन और इन्द्रियों को इकठा करके जानता था सो प्रमाद रूपी मदिरा के नशे में मत्त होकर ही जानता था । किन्तु अब आत्म-विचार को पाकर सुखी हुआ हूँ । यदि विष को पान करके कोई मूर्छित हो तो वह भी ठीक है किन्तु यहाँ तो विना विष के ही लोग मूर्छित हो रहे हैं । इस कारण यदि अनात्मा के साथ इनका संयोग होता है तो सुख दुःख करके राग द्वेषमें पड़ना भी ठीक लगता है किन्तु आत्मा तो सुख और दुःख दोनों का ही साक्षी भूत होता है । जब जिसे सुखका संयोग ही न होवे और राग-द्वेष से भी जले तो वह मूर्ख ही है । क्योंकि आत्मा तो सुख दुःख का साक्षीभूत है, जैसा अभ्यास होता है वह वैसा ही भासता है और विपर्यय भाव को कदापि नहीं प्राप्त होता । किन्तु मूर्ख का मन तो सुख दुःख में राग द्वेष करता हुआ जलता है और आत्मा साक्षी भूत और निवृत्तियों से क्षीण रहता । उसको इन्द्रियों का संयोग नहीं रहता, उसमें कर्तापन और भोक्तापन नहीं रहता । कर्तापन और भोक्तापन तो वहाँ होता है कि जहाँ इन्द्रियोंका संयोग होता है और वहाँ चित्त कलना होती है । किन्तु जहाँ चित्त ही नहीं होता वहाँ कर्ता और भोक्ता कैसा ? वहाँ तो कलङ्क रहित मैं ही अपने आपमें विद्यमान हूँ और न मैं कर्ता हूँ, न भोक्ता । न मुझमें बन्ध है न मोक्ष, न मैं हन्ता हूँ न ग्रहन्ता । मैं सर्वात्मा और निर्लेप हूँ । इससे हे मन ! तू भी मैं ही हूँ और यह पृथ्वी, अग्नि, तेज, वायु आकाश और पंचतत्त्व सब कुत्र मैं ही हूँ । फिर तू किमलिप अह अह करता है । हे मन ! अब तक जो तू अपने में कर्तापन का भाव देखता था सो इन्द्रियों के संयोग से ही देखता था और वे इन्द्रियाँ पत्थर के समान

जड़ रूप हैं। जैसे आकाश में वायु नहीं स्पर्श करता वैसे ही तुम से कर्तापन नहीं स्पर्श करता। जब आत्म विचार से स्वरूपका साक्षात्कार होता है तब अज्ञान वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और मन आदि का वियोग हो जाता है। कलनायें नष्ट हो जाती हैं और कर्ता तथा भोक्तापन का अभाव हो जाता है। किन्तु अहं भाव से अपने को भिन्न जानता है वह दुःख ही पाता है। और जब वही अपने स्वभाव में स्थित होता है तब बड़ा ही सुखी हो जाता है। अस्तु। जिसको अपने कल्याणकी इच्छा हो उसे चाहिये कि वह केवल आत्म परायण ही हो जावे। क्योंकि यह सारा जगत आत्म-स्वरूप ही है। आत्मा से जगत भिन्न नहीं है। जैसे समुद्र से तरंग आदिक नाना प्रकार भासता है किन्तु वह सब जल रूप ही है, भिन्न नहीं, वैसे ही यह समस्त दृश्यों सहित जगत भी आत्म स्वरूप ही है और भिन्न नहीं। अस्तु। मे सच्चिदानन्द रूप अपने आप में ही स्थित हूँ। मुझ में द्वैत कलना कोई नहीं है। जैसे समुद्र उष्णता से रहित है वैसे ही परमात्मा सर्व कलनाओं से रहित है। जैसे आकाश में वन का सर्वथा ही अभाव है, वैसे ही परमात्मा में कलनाओं सर्वथा ही अभाव है। वह सर्व सवेदनों से रहित सर्वात्मा और सवितमात्र है। उसका दर्शन होते ही अहंत्व आदिक सर्व कलनायें ध्वंस हो जाती हैं। क्योंकि वह अनादि और अरूप है। सब में वही है और वही अपने आप में भी स्थित है। वह सब में पूर्ण निर्मल और नित्य आनन्दस्वरूप है। तब भला उसमें द्वैत कलनाका आरोपण करने की किमकी सामर्थ्य है और ऐसा कौन है कि जो आकाश में भी ऋग्वेद लिखे ? आत्मा नित्य, उद्योत सब का सार और अद्वैत रूप है। उसमें नाममात्र की भी द्वैत कलना नहीं है। सो, अब मैं ऐसे ही अपने आप आत्माको पा गया हूँ कि जिसको पाकर जगत का सुख दुःख नहीं रहता। अस्तु। अब मैं सम और स्थिर हूँ।

उनसठवाँ सर्ग ।

चित्तोपदेश वर्णन

वीतव मुनिने कहा—हे मन । अब तक तेरे साथ मिल कर मैंने बड़ा कष्ट पाया । हे अज्ञानी ! तेरी उत्पत्ति ने मुझे बहुत सताया । पर तू बतला कि विषयो की ओर इतना क्यों दौड़ता है । ये विषय तुझे शान्ति नहीं दे सकते । जैसे मृग तृष्णा के जलको देखकर मूर्ख मृग उधर ही दौड़ता है और वहाँ जल न पाकर मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है वैसे ही ये विषय तुझे बारम्बार अपनी ओर दौड़ाते और कष्ट देते हैं, परन्तु तू कैसा महा अज्ञानी है कि तुझे तनिक भी चेत नहीं आता । इसीसे मैं कहता हूँ कि तेरा सग करके मैंने महान दुःख उठाया । मैंने ही क्या जितने भी जीवों ने तेरा साथ किया वे सभी कालके मुखमें चले गये । हे मन, हे चित्त ! तू चिन्ताओं को ही उठाने वाला है इससे तू मर्कट के समान ही इस शरीररूप वृक्षको हिलाता ही रहता है और तनिक भी स्थिर नहीं रहता वैसे ही तू प्रति क्षण इस चित्त और देहको हिलाता ही रहता है और तनिक भी स्थिर नहीं होने देता । जैसे मेघ सूर्य को घेर लेता है वैसे ही तू मनरूपी मेघ ने इच्छारूपी कुहिरे से आत्मरूपी सूर्यको घेर लिया है और सर्वदा ही परम्परा रूपी दुःखों की वर्षा कर रहा है । हे मन रूपी मर्कट ! हे चित्तरूपी पक्षी ! लोभ और लज्जा ही तेरे दो पख हैं । तू इन्हीं दोनों पखोंसे उड़ कर शरीर रूपी वृक्ष पर बैठता है और यह जो रागद्वेष रूपी तेरी चोंच है इसीसे उस शरीररूपी वृक्षके शुभ गुणरूपी फलों को काटता है । हे चित्तरूपी महान नीच कुत्ते ! तू भोग वासना रूपी महान अपवित्र पदार्थोंको ही हृदयरूपी स्थानमें एकत्र करके व्यर्थ ही में भों भों करता है । हे चित्तरूपी उलूक ! तू अज्ञान रूपी रात्रिमें ही विचरण करता और चेष्टा करके प्रसन्न होता है । परन्तु जैसे स्मशालमें बैताल शब्द करता है तेरा इस अज्ञान में रात्रिमें शब्द करना वैसे ही रात्रिमें सूत्रक है । इससे जब अज्ञानरूपी रात्रि नष्ट होवे तभी तुम्ह

चिरारूपी उलूक का नाश होवेगा । और जब तेरा नाश होवेगा तभी आनन्द का प्राप्ति होवेगी । परन्तु जब तक तू नष्ट नहीं होवेगा तब तक शान्ति न प्राप्त होगी । क्योंकि जब तेरा उत्पन्न किया हुआ मोहरूपी कुहिरा और इच्छारूपी धूलि हृदय रूपी आकाश से निवृत्त होती है तभी निर्मल आकाश दिखलाई पडता है, अन्यथा नहीं । इसी प्रकार हे चित्त । जब तू नष्ट होवेगा तभी शीतलता प्राप्त होगी । तेरे ही संयोग से बैठे बैठाये स्वस्थ शरीर चिन्ताओं में जा डूबता है । और प्रकाश, प्रसन्नता, गम्भीरता और महत्त्वता सभी कुछ नष्ट हो जाती है । परन्तु तेरे नष्ट होते ही ये सब गुण आ जाते हैं और प्राणी अत्यन्त ही शोभायमान हो जाता है । हे चित्त ! तुझे ज्ञात होना चाहिए कि यह स्थावर जंगमरूपी जगत जो है मय संवितरूप आकाश में ही स्थित है । परन्तु तेरे ही कारण वह महत् ब्रह्म कुम्भी पाक नरकको प्राप्त हुआ है और तूही सबको भक्षण करने वाला है । परन्तु जैसे जला हुआ पत्र फिर हरा नहीं होता वैसे ही चित्त नष्ट हुआ फिर जन्म मरण को नहीं पाता । किन्तु यदि तू संसार को सत्य मानकर उसकी ओर दौड़ेगा तो तेरा कल्याण नहीं होगा और आत्माकी ओर जायगा तो तेरा कल्याण होवेगा । परन्तु यदि तू अपनी भावना करेगा तो दुःख को ही प्राप्त होगा । तेरा जीनाही मृत्यु है और तेरा मृत्यु ही जीवन है । अब इन दोनों में तुझे जो अच्छा लगे वह कर । यदि तू अभी से आत्मपद में लय होवेगा तो परमपद को पाकर सुखी होवेगा अन्यथा कष्ट तो भोगेगा ही । जो आत्मपद को त्याग करता है वह मुख है । और तू तो आदि अन्त सर्वत्र से ही मिथ्या है । विचार करते ही तेरा पता नहीं चलता । हा इतने समय तक मैं अज्ञान पूर्ण जीवन व्यतीत करता रहा और जैसे बल्कि को अपनी परछाईं में भी चैताल का भय रहता है और विचारवान होनेपर उसको वह भय जाता रहता है, वैसे अब तक मैं विचार के विना भय पा रहा था, किन्तु अब तेरे साथ

के छूटने से अपने पूर्व स्वरूप को प्राप्त हुआ और ज्ञान होने से तेरा अभाव हुआ है। हे चित्त ! अब तक तू अविवेक सेही मेरा मित्र था। किन्तु अब ज्ञान होने से तेरा चित्त भाव नष्ट हो गया। अब तू इश्वर परमेश्वर रूप हो गया और अब सारी वासनायें नष्ट हो गई हैं। पहले तो तुझमें नाना प्रकार की वासनायें थीं कि जिमसे तू महा मलिन और दुःख रूप हो रहा था किन्तु अब वासनाओं के नष्ट होने से तू परमेश्वर के समान हो गया है। हे चित्त ! तेरी मित्रताने मुझे बड़ा तुच्छ बना दिया था। किन्तु अब शास्त्रों की युक्ति से निर्णय किया है कि तू न कभी था और न अब है, न फिर होगा। अपने अज्ञान वशही मैंने तेरा सद्भाव कर लिया था। किन्तु अब मैंने अपने आपको जाना है और अब अपने आपमें ही स्थित निर्वाण और शान्त रूप हूँ। अब मेरे सब ताप नष्ट होगये हैं और मैं नित्य शुद्ध विदानन्द पर ब्रह्म-स्वरूप हूँ। अब मुझमें जगतकी सत्तासत्यकी कोई कल्पना न रही और हे चित्त ! अब तू निर्वाण हो गया है। किन्तु मैं तो केवल शुद्ध आत्मा हूँ और मेरी प्रतियोगिता में कोई नहीं है। एक चित्त ही फुरता था सो निर्वाण हो गया। इससे अब मैं स्वस्थ सवेदन रहित, सत्तामात्र अपने आपमें ही स्थित हूँ। अब मुझे कलना कोई नहीं और अब मैं वीराग हो गया हूँ।

श्री योगवशिष्ठ भाषा उपशम प्रकरण का उनसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५९ ॥

साठवाँ सर्ग ।

मनोयज्ञ वर्णन ।

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! इस प्रकार चारंबारमनमें समझा कर वीतवमुनीश्वर उस विन्ध्याचल पर्वत की कन्दरामें समाधि लगा बैठे। तब आकाश के समान निर्मल चित्त होकर इन्द्रियों को बाह्य दृश्यों से समेट कर अचल कर लिये और फिर ग्रीवा को सीधी और शम करके चित्त को अनन्त आत्मा में स्थित किये। फिर तो जैसे

अग्नि ज्वाला काष्ठ को भस्म कर शान्त हो जाती है वैसे ही उसके प्राण और मनकी वृत्तियोंका स्पन्द मिट गया और वे लिखित चित्र के समान ही स्थिर हो गये। उस अवस्था में कितने ही दिनों तक उनके शिर पर मेघों ने घोर वर्षा की, मण्डलेश्वरों ने शिकार खेले, बड़े २ शब्द हुये, रीछ और वन्दरों ने शब्द किया, व्याघ्र और हस्तियों के भी शब्द हुये, वन में अग्नि लगी, पत्थरों की वर्षा हुई, प्रचंड वायु चली, और कड़े धूप हुये किन्तु वह अपनी समाधिमेही स्थित रहे और तनिक भी टस से मस तक न हुए। फिर तो जैसे पहाड मे शिला दबी होती है वैसे ही उनका शरीर दब गया और जब इस प्रकार पूरे तीन सौ वर्ष व्यतीत हो गये तब चित्त में फिर स्फुरण हुआ कि यह मेरा शरीर है, मैं पर्वत के ऊपर कदम्ब वृक्ष के नीचे बैठा हूँ। ओह, सौ वर्ष तक तो मैं मौन होकर जीवन्मुक्त रहा और सौ वर्ष तक विध्याधरहो अप्परात्रों मे विचरण करता रहा। फिर पाँच युग व्यतीत कर इन्द्र हुआ और देवताओं से नमस्कार लिया।

वाशिष्ठजी यह कह ही रहे थे कि रामजीने पूजा हे मुनीश्वर ! पहले वीतव मुनिको यह देश काल को प्रतिभा अनियमित और अनियम कैसे भासित हुई कि जिससे उसने समाधि लेना ही निश्चय कर लिया ? वाशिष्ठजी ने उत्तर दिया—हे रामजी ! यह चित्त सर्वात्मा रूप है। इसमें जैसा स्फुरण होता है, वैसा ही भास आता है। अनुभव मना में जैसा तीव्र स्फुरण हुआ कि तत्क्षण वैसा ही भास कर वहाँ स्थित हो जाता है। अज्ञानी को जगत भासता है और ज्ञानी को सर्व आत्मा का ही भान होता है। वीतव मुनीश्वर ने जो कुछ देना, अनुभव किया सब वासनाओं के ही कारण से देता। अन्यथा जब वह स्वस्थ रूप था, तब उसको सब आत्मा ही दिखता पड़ता था और फुरना भी अफुरना था और वासना भी अवासना थी। तब उसे भ्रान्ति कुछ भी न थी। वन पूर्वदा ही स्वस्थ चित्त को स्फुर करके जीवन्मुक्त का ही अनु

था। हे रामजी !

पद में पहुँचने पर सब ब्रह्म ही भासता है। किन्तु अज्ञानी को मनसे नाना प्रकार का जगत ही भासता है। पर वास्तवमें न तो यह जगत है, न अजगत है, सब कुछ ब्रह्मसत्ता ही स्थित है। उसमें अज्ञान वश मन उत्पन्न हुआ है और वही समस्त जगत को देखता है। परन्तु उसका देखना कुछ है नहीं, जैसे समुद्रमें लहरें उठती हैं, वैसे ही त्रिदाकाश में आकार भासते हैं और चित नहीं रहता और तब किसा द्रैत वस्तु का मान नहीं होता।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम प्रकरण का साठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६० ॥

इकसठवाँ सर्ग ।

इन्द्रिय लय योग वर्णन

हे रामजी ! जब ऐसे कुछ समय व्यतीत हुआ तब मुनीश्वर को फिर समाधि लगाने की इच्छा हुई। वह फिर विध्याचल पर्वत की एक गुफा में जा बैठा। अगली चार उसे कुछ अधिक कष्ट न करना पडा क्योंकि वह पहले जो अभ्यास कर चुका था उससे उसे बहूत कुछ ज्ञात हो गया था और इन्द्रियां दमन हो चुकी थीं। किन्तु समाधि में बैठते ही उसने मन और इन्द्रियो से कहा—हे इन्द्रियो ! देखो, मैं तुम्हें पहले ही ध्वंस कर चुका हूँ जिससे अब तुममें अर्थ अनर्थ कुछ नहीं रहा और उसीसे अब मुझमें भी अस्ति नास्ति की कुछ भी कलना न रही, तब अब मैं अस्ति नास्तिके पश्चात् जो शेष रहता है उसीमें स्थित हूँ। मुझे अब कुछ करना नहीं है और मैं सर्वदाही ज्ञान स्वरूप प्रकाशित हूँ। अब मुझे कुछ भी हर्षशोक और इष्ट अनिष्ट नहीं है। अब मैं जगत की ओर से सुपुत्रि रूप समाधिमें ही स्थित हूँ। जैसे कोई स्तम्भ स्थित होना है वैसेही मैं स्थित रूप, नित्य, शुद्ध बुद्ध समान सत्ता में आत्मपद भावसे निरामय स्थित हूँ। हे मन ! अब मैं ऐसे भाव से पूर्ण होकर समाधिमें बैठ रहा हूँ, तुम्हें उठने की आवश्यकता नहीं। हे रामजी ! ऐसा कहकर वीतव मुनीश्वर छ दिनके लिये समाधि में बैठ गया।

अद्भुत आनन्द प्राप्त हुआ। जब जागा तो जीवन्मुक्त होकर चि-
 काल पर्यन्त उसी आनन्दमें विचरता रहा। तब उसे किसी प्रकारका
 हर्ष शोक नहीं होता था और वह इन्द्रियो की सर्व चेष्टाओं को
 करता हुआ भी इष्ट अनिष्ट की प्राप्तिमें सर्वदा ही समभाव धारण
 किये रहता था। कभी चलायमान न होता था। जब कहीं वह
 जावे, उठे या बैठे, तब यही कहे कि हे इन्द्रियो ! अब तुम मरो, मैं
 अपनी आत्मा को पा गया। परन्तु देख, विषयों का त्याग कर देने
 से अब तुम्हें कैसा सुख है। आत्म प्रमाद मे अब तक तुम्हें कितना
 दौड़ना पडा था। परन्तु अब विचार करके मैंने सारे भ्रमों को
 त्याग दिया है। हे तृष्णा ! तुम्हें नमस्कार है। अब मैं तुम्हें नहीं
 चाहता। यद्यपि तू इतने दिनों तक मेरे साथ रही और मेरे साथ
 को वैसेही नहीं छोड़ा कि जैसे माता बच्चे के साथ को नहीं
 छोड़ती। परन्तु अब तू जा। अब मुझे तेरो इच्छा नहीं है। तूने
 स्वयं ही अपनेको नाश किया है। मेरा तुम्हको नमस्कार है। फिर
 हे दुःख ! मैं तुम्हको इसलिए भी नमस्कार करता हूँ कि यदि तू मुझे
 इतना कष्ट न देता तो मैं इस प्रकार जागृत भी न होता। तुम्हको
 देखकर ही तो मेरे मनमें आत्मपदकी इच्छा उत्पन्न हुई। तेरे प्रमाद
 से ही तो मैं शीतल पदवीको प्राप्त हुआ। हे दुःख ! तू तो दुःख ही था
 परन्तु मुझे तो शीतलताको प्राप्त करा दिया। परन्तु अब जा तेरा
 कल्याण हो। हे मित्र ! क्या करोगे, यह संसार ही ऐसा असार है कि
 जब जिसका सयोग होता है तब उससे वियोग भी हो जाता है। हा,
 तूने मेरा बडा ही उपकार किया है। हे मित्र ! तूने अपना नाश
 करके मुम्हको सुख दिया। परन्तु जा, अब मैं तेरा साथ नहीं करता,
 हे दुष्कृतरुत सुकृतो ! तुम्हको मेरा नमस्कार है। जाओ, तुमने मेरा
 बडा उपकार किया है। तुम्हारे ही जैसा था कि मुझे घोरतर नरकसे
 निकालकर बाहर किया। हे दुष्कृतो ! तुम भी क्या करो। यह युवा-
 वस्था ही समस्त विकर्मोंकी जड है और वही समस्त दुःखरूपी फलों

को उत्पन्न करता है। इससे मैं हे युवावस्था ! तुम्हको भी नमस्कार है। अब तू भी जा। हे मोह ! अब तुम्हको भी मेरा नमस्कार है। अब तक जो मैं तेरे साथ बँधा था इसीसे नाना प्रकार का दुःख भोगता था और तू इतना भय दिखलाता था परन्तु अब तुम्हको नमस्कार है, अब तू जा। और हे पर्वत की गुफा ! हे बुद्धि ! हे विवेक ! हे दंड और तूम्ही हे देह ! अब तुम सभी मेरे पास से चले जाओ। मैं तुम सबको एक साथही नमस्कार करता हूँ। जाओ, तुम सबने मेरा बड़ा उपकार किया है। परन्तु अब मैं तुमको नहीं चाहता, हे ज्ञान ! अब मुझे तुम्हारी भी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि अब तुमने मुझे वह परमपद प्रदान कर दिया कि है जिसकी मुझे इच्छा थी। सो अब तुम भी जाओ। तुमको मेरा बारबार नमस्कार है। हे सत्सारके सर्व व्यवहारी ! अब तुम भी मेरा साथ छोड़ दो। तुमको भी नमस्कार है। हे इन्द्रियों ! हे प्राण ! हे मन ! तुमको भी नमस्कार है। क्योंकि अब हमारा तुम्हारा बहुत दिनों का साथ छूट रहा है। फिर क्या करोगे ? यह सत्सार ही ऐसा है कि जिसका सयोग होता है उसका वियोग भी हो जाता है। इसी नियमसे अब हमारा और तुम्हारा साथ छूटता है। और अब नेत्रोंकी ज्योति सूर्य मण्डलमें जाकर लीन हो जायगी और अब प्राण इन्द्रिय भी पृथ्वी में जाकर समा जायेगी और प्राण त्वचा भी यथा स्थान को चले जायँगे। इस प्रकार उमे इन्द्रियाँ जहाँ से आती हैं वह वहींको स्थिर हो जायँगी। तब जो काष्ठके जलने से अग्नि शांत हो जाती है वैसेही सब मन आदिक शान्त हो जावँगे।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उपशम-प्रकरण का एकसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६१ ॥

वासठवाँ सर्ग

वीतवविश्रान्ति वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! जब इस प्रकार उसने मन और इन्द्रियों को वश में करके समाधि लगाया तो ज्यों ही उसके प्राण

अपान स्थित हुये कि त्योंही उसने प्रणव का उच्चारण किया और पञ्च भूमिका को प्राप्त हो गया । फिर तो उसके सारे चोभ नष्ट हो गये और वह सकल्प रहित हो ऐसे ही प्रकाशमान स्थित हुआ कि जैसे चिन्तामणि अपने प्रकाश में स्थित होती है । जैसे पूर्णिमा का चन्द्रमा अपने आपमें स्थित होता है, जैसे मन्दराचल पर्वतके निकने से क्षीरसमुद्र स्थित होता है, जैसे कुम्हार का चक्र फिरता २ स्थिर हो जाता है और जैसे सूर्यास्त होनेसे सर्वजीवों की क्रिया जहाँ की तहाँ स्थित हो जाती है, वैसेही फुरना रहित होनेसे उसका मन शांत एवं स्थिर हो गया । फिर तो उसने प्रणवका ध्यान करके वृत्तियोंके अन्तकी गतिको प्राप्त किया और फिर मन्त्र को भी त्याग दिया । इस प्रकार सर्व विकारों को त्यागकर वह वैसाही हो गया कि जैसे कोई नवजात शिशु पदार्थोंके ज्ञानसे अनभिज्ञ और शोभायमान होवे । पश्चात् उसने उस सुषुप्ति पदका आश्रम लिया कि जो सत्तामात्र और आत्म तत्वरूप है । फिर तो वह वैसा ही अचल भाव से स्थित हो गया कि जैसे सुमेरु पर्वत अचल और स्थिर होता है । हे रामजी ! इस प्रकार वीतव मुनीश्वर ससार समुद्रको पार कर उस परमपदको प्राप्त हो गये कि जो पद पा जानेसे फिर आवागमन नहीं होता और जो सर्वथा ही परम शान्त उपशम और आनन्द पद कहा जाता है । फिर तो जैसे समुद्रमे पड़ी हुई बुन्द भी समुद्र ही हो जाती है वैसे ही ब्रह्मरूपी समुद्र मे पडकर वह भी ब्रह्म हो गया । हे राम जी ! यह जो वीतव आख्यान मैंने तुमको सुनाया है वह अनन्त विचारों से ओत-प्रोत है । तुम इसको विचार कर सिद्धताके उस सार को प्राप्त करो कि जिसके प्राप्त होते ही दृश्योंका चिन्तन जाता रहेगा और सर्वथा ही शान्तात्मा हो जाओगे । हे रामजी ! ज्ञानसे ही मुक्ति प्राप्त होती है, ज्ञान ही सर्व दुःखों का नाश करनेवाला है । ज्ञानहीसे मनुष्य को परम सिद्धता प्राप्त होती है । पाने योग्य वस्तु वही है और उसीसे सर्व दुःखोंका अभाव होता है । वीतव मुनीश्वर

ने ज्ञानसे ही इस मनको चूर्ण किया था । ज्ञानसेही वीतवके सरूप नष्ट हुये । हे रामजी ! यह जो दुःख है सब मनसे ही होता है । मन के उपशम हुये से जगत अनुभवरूप हो जाता है । क्योंकि मन ही जगतरूप है । मैं तुम और वह वीतव भी मन स्वरूप ही हूँ । इसीसे ज्ञानीजन मनकी आशाको न्योगकर केवल चिदानन्द आत्मतत्त्वमें स्थित हो जाते हैं और तब उनके रागद्वेष आदिक सर्व विकार आप ही आप नष्ट हो जाते हैं ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम प्रकरण का वामठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६२ ॥

तिरसठवाँ सर्ग

सिद्धि लाभ विचार वर्णन ।

हे रामजी ! तुम भी वैसा ही हो जाओ कि जैसे वीतव मुनीश्वर हो गया है । हे रामजी ! दुःख सुख और कर्म आत्मा को स्पर्श नहीं करते । आत्मा सर्वज्ञ अजर और अविनाशी है । फिर तुम किस लिए शोकान्वित होते हो । वीतव मुनिके समान ऐसे कितने ही विदित वेद्य होकर पृथ्वी पर विचरते हैं और कभी हर्ष शोक को नहीं प्राप्त होने । जैसे बन्दर और शृगाल सिंह के वशीभूत नहीं होते वैसे ही जीवन्मुक्त पुरुष विकारों से सर्वथा ही रहित होता है । रामजी ने पूछा—हे भगवन ! आपने कहा है कि जीवन्मुक्त पुरुष देखने मे तो शक्तिहीन होते हैं किन्तु वे आकाश गमन भी करते हैं और इस प्रकार जहाँ चाहते हैं उड़ फिर सकते हैं, सो यह क्या है ? उनमें उड़ने की शक्ति कैसे आ जाती है । वशिष्ठजीने उत्तर दिया—हे रामजी ! यह अनुद्योत शक्तियाँ योग बल से आती हैं और यह तपादिक कर्मों की शक्ति है । हे रामजी ! गुप्त हो जाना फिर प्रकट हो जाना यह वस्तु द्रव्य के स्वभाव हैं । जो द्रव्य, क्रिया और काल को यथाक्रम से साधन करता है उसको यह शक्ति प्राप्त होती है किन्तु आत्म ज्ञान से यह शक्ति नहीं मिलती । आत्मज्ञानी का आत्म ज्ञान ही प्राप्त होता है । वह आत्मज्ञान में ही तृप्त रहता है और सिद्धिों

को और नहीं जाता क्योंकि सिद्धियाँ भी अविद्यारूप है। इसी से वह इनमें नहीं फँसता। परन्तु जो अज्ञानी है वह सिद्धताके लिए ही पदार्थों की साधना करता है। हे रामजी ! साधना हो सब कुछ है। साधन करने से इन्द्रादिकों के भी ऐश्वर्य प्राप्त हो जाते हैं परन्तु वह शक्ति ज्ञान की नहीं, द्रव्य की शक्ति है और ही वह अविद्यारूप-अज्ञानी ही इनकी ओर जाते हैं, ज्ञानो नहीं। क्योंकि उनको तो आत्मा में ही सर्व सन्तोष प्राप्त हो जाता है। फिर वे सिद्धियों की ओर क्यों जावें। सिद्धियों की ओर जाने से तो मान, बड़ाई मिल जाती है, परन्तु सन्तोष नहीं मिलता और आत्मरत होने से संतोष मिलता है। सन्तोष के आगे सब मिथ्या है। सन्तोषी एव आत्मप्रेमी पुरुष सर्वथा ही तृप्त रहता है। उसे किसी विषय का राग नहीं होता और वह सर्वदा ही आकाश की भाँति आपमें अपने ही स्थित रहता है। वह सुख दुःखमें चलायमान नहीं होता और सर्वदा ही नित्य तृप्त और सबसे असंग रहता है। उसके जीवन मरणको वृत्ति नहीं फुरती और वह सब में मम भाव रखना है। उसे चोभ कभी नहीं होता। जैसे समुद्र में नदियाँ प्रवेश करती हैं और समुद्र अपनी मर्यादा में ही स्थित रहता है वैसे ही ज्ञानी भी अपनी मर्यादा में स्थित रहना है और कभी मुक्त नहीं होता। उसे जो कुछ प्राप्त होना है वह सब कुछको आत्मामें ही अर्पित करता है और उसमें कुछ अपना अर्थ नहीं रखता। उसको किसीका आशय नहीं होना और वह सर्वदा अपने स्वरूप में ही स्थित रहना है। परन्तु यह उड़ने आदि की शक्तियाँ तो योगक्रिया की एक अल्प युक्ति है। योगका एक गुटका होता है कि जिसे मुख में रख कर योगी जहाँ चाहे चला जावे और जो चाहे कर लेवे। वह मन्त्र की एक शक्ति मात्र है और वह द्रव्य का ही एक गुण है अथवा उसे द्रव्य मिद्धि ही कहते हैं। जैसे यह साल वार्ता है कि मारक द्रव्य में मारण की ओर मत्त द्रव्य में मत्त करने की तथा अमृतरूप औषधि आदि में जीवित करने की शक्ति

उसे वैसा ही स्पन्द हुआ और वह उसी रूप में कुछ समय तक जीवित रहा। फिर जब उसने सवितमे जीवित रहने का विचार किया तब फिर स्पन्द फुरा और वह विदेह मुक्त हुआ। ऐसेही ज्ञानियों की स्थिति स्याभाविक और स्वतंत्र होती है, जब वे जिसकी इच्छा करते हैं तब वैसाही होता है। उनका मन आत्मपद में लगा रहता है इससे उनको कुछ करना नहीं रहता और इच्छा करते ही वैसा हो जाता है।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, उपशम-प्रकरण का तिरसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६२ ॥

चौंसठवाँ सर्ग

चित्त नाश के दो प्रकार

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! चाहे कोई जीवन्मुक्त हो या विदेह मुक्त। दोनों ही अवस्थाओं में चित्तका नाश हो जाता है। चित्त न नाश होवे तो दुःख कैसे दूर होंगे। क्योंकि चित्तकी सत्यता ही समस्त दुःखोंका कारणरूप है। चित्त न रहे तो सुख ही सुख जानो। हे रामजी ! जब तक चित्त विद्यमान है तब तक अनन्त दुःख होता है। इससे दुःखरूपी वृत्तका बोज चित्त ही है। चित्त नष्ट हो जावे तो कल्याण हो जाता है। रामजीने पूछा—हे ब्रह्मन् ! मन किसे कहते हैं, यह कैसे साथ होता और कैसे नष्ट होता है, यह भी बतनाइये। वशिष्ठजीने उत्तर दिया है प्रश्नवेत्ताओं में श्रेष्ठ रामजी ! चित्तका लक्षण तो मैं तुम्हें पहले ही बतला चुका हूँ। परन्तु अब यह सुनो कि चित्त मृतकका क्या लक्षण है। देखो, जो सुख और दुःखकी दशामें धैर्यवान् रहता और अपने स्वरूपसे विचलित नहीं होता वह मृतकचित्त कहलाता है। मृतक चित्तपाले को दुःख सुख विचलित नहीं कर सकते। क्योंकि ऐसा चित्त सर्वथाही सत्पदको प्राप्त रहता है और चित्तमें चिन्तनायें नहीं उठतीं। जैसे भूने हुये बीजमें अंकुर नहीं उठता वैसे ही नष्ट चित्तमें चिन्तायें नहीं उठतीं। उसे आत्मासे भिन्न और कुछ

भी स्फुरण नहीं होता और वही चित्त मृतक हुआ कहलाता है । और इस प्रकार जिस चित्तमें रागद्वेष की भावना न उठे और वह ज्योंका त्यों सर्वदा ही एक रस बना रहे उसीको मृतक-चित्त कहा जाता है । जीवन्मुक्त भी वही है । किन्तु जो ससारके इष्टानिष्ट में रागद्वेष करता है, जो अभिमानी है और जो अपनेको सर्वदा ही दुःखी और सुखी माना करता है, उस चित्त को जीवित चित्त कहा जाता है । वस, इसीसे चित्तकी सत्यता है और जब संसारसे विरक्त हो जावे, सत्संग करे, शास्त्रोंको श्रवण और मनन करे, निज स्वरूपका अभ्यास करे तब चित्त अचित्त होता है और तभी परमानन्दकी प्राप्ति होती है । जीवन्मुक्त पुरुषमें ही मयत्री, करुणा और मुदिता आदिक गुण मिलते हैं । हे रामजी ! चित्तमें जो संसारकी सत्यतारूपी मेल बैठी हुई है यही चित्त भाव है । जब आत्मज्ञान से नष्ट हो जाता है तब मयत्री आदिक गुण आकर प्राप्त हो जाते हैं । जैसे सूर्यदेव के उदय होनेसे अन्धकार नष्ट हो जाता है और प्रकाशका उदय होता है, और जैसे चुने हुये बीजका अकुर जल जाता है और मयत्री करुणा आदिक गुण उदय होते हैं । तब देखने में तो चित्त दिखलाई पड़ता है और वैसीही चेष्टा करता है कि जैसे कोई अज्ञानी चेष्टा करे । किन्तु अज्ञानीका चित्त आवागमन का कारण होता है और ज्ञानीका नहीं । अज्ञानी जन्म लेता है और ज्ञानी नहीं जन्म लेता । हे रामजी ! इसी प्रकार विदेहमुक्त वालोंको भी चित्त नहीं रहता और सभी अवस्थाओं से परे रहता है । उसमें द्वैतकी कोई भी कल्पना नहीं फुरती और वह पद परम पावन और निर्मल कहा जाता है । उसमें न कोई गुण है, न अवगुण, न सार है न असार, न लक्ष्मी है न अलक्ष्मी, न उदय है न अस्त, न हर्ष है न शोक, न तेज है न तम, न दिन है न रात्रि, न दिशा है न आकाश, न अर्थ है न अनर्थ, न वासना है न अवासना । न सत्य है, न असत्य । न सूर्य है, न चन्द्रमा वह सर्व कलनाओं से रहित शरत्काल के समान निमल और

उसे वैसा ही स्पन्द हुआ और वह उसी रूप में कुछ समय तक जीवित रहा। फिर जब उसने सवितमें जीवित रहने का विचार किया तब फिर स्पन्द फुरा और वह विदेह मुक्त हुआ। ऐसेही ज्ञानियों की स्थिति स्वाभाविक और स्वतंत्र होती है, जब वे जिसकी इच्छा करते हैं तब वैसाही होता है। उनका मन आत्मपद में लगा रहता है इससे उनको कुछ करना नहीं रहता और इच्छा करते ही वैसा हो जाता है।

श्रयोगशास्त्र भाषा, उपशम-प्रकरण का त्रिसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६३ ॥

चौंसठवाँ सर्ग

चित्त नाश के दो प्रकार

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी। चाहे कोई जीवन्मुक्त हो या विदेह मुक्त। दोनों ही अवस्थाओं में चित्तका नाश हो जाता है। चित्त न नाश होवे तो दुःख कैसे दूर होंगे। क्योंकि चित्तकी सत्यता ही समस्त दुःखोंका कारणरूप है। चित्त न रहे तो सुख ही सुख जानो। हे रामजी। जब तक चित्त विद्यमान है तब तक अनन्त दुःख होता है। इससे दुःखरूपी वृत्तका बोज चित्त ही है। चित्त नष्ट हो जावे तो कल्याण हो जाता है। रामजीने पूछा—हे ब्रह्मन्! मन किसे कहते हैं, यह कैसे साध होता और कैसे नष्ट होता है, यह भी बतलाइये। वशिष्ठजीने उत्तर दिया हैं प्रश्नवेत्ताओं में श्रेष्ठ रामजी। चित्तका लक्षण तो मैं तुम्हें पहले ही बतला चुका हूँ। परन्तु अब यह सुनो कि चित्त मृतकका क्या लक्षण है। देखो, जो सुख और दुःखकी दशामें धैर्यवान् रहता और अपने स्वरूपसे विचलित नहीं होता वह मृतक चित्त कहलाता है। मृतक चित्तवाले को दुःख सुख विचलित नहीं कर सकते। क्योंकि ऐसा चित्त सर्वथाही सत्पदको प्राप्त रहता है और चित्तमें चिन्तनायें नहीं उठतीं। जैसे भूने हुये बोजमे अकुर नहीं उठता वैसा ही नष्ट चित्तमें चिन्तायें नहीं उठतीं। उसे आत्मासे भिन्न और कुछ

भी स्फुरण नहीं होता और वही चित्त मृतक हुआ कहलाता है। और इस प्रकार जिस चित्तमें रागद्वेष की भावना न उठे और वह ज्योंका त्यों सर्वदा हा एक रस बना रहे उसीको मृतक-चित्त कहा जाता है। जीवन्मुक्त भी वही है। किन्तु जो संसारके इष्टानिष्ट में रागद्वेष करता है, जो अभिमानी है और जो अपनेको सर्वदा ही दुःखी और सुखी माना करता है, उम चित्त को जीवित चित्त कहा जाता है। वस, इसीसे चित्तकी सत्यता है और जब ससारसे विरक्त हो जावे, सत्संग करे, शास्त्रोंको श्रवण और मनन करे, निज स्वरूपका अभ्यास करे तब चित्त अचित्त होता है और तभी परमानन्दकी प्राप्ति होती है। जीवन्मुक्त पुरुषमें ही मयत्री, करुणा और मुदिता आदिक गुण मिलते हैं। हे रामजी ! चित्तमें जो ससारकी सत्यतारूपी मूल बैठी हुई है यही चित्त भाव है। जब आत्मज्ञान से नष्ट हो जाता है तब मयत्री आदिक गुण आकर प्राप्त हो जाते हैं। जैसे सूर्यदेव के उदय होनेसे अन्धकार नष्ट हो जाता है और प्रकाशका उदय होता है, और जैसे चुने हुये बीजका अकुर जल जाता है और मयत्री करुणा आदिक गुण उदय होते हैं। तब देखने में तो चित्त दिखलाई पड़ता है और वैसीही चेष्टा करता है कि जैसे कोई अज्ञानी चेष्टा करे। किन्तु अज्ञानीका चित्त आवागमन का कारण होता है और ज्ञानीका नहीं। अज्ञानी जन्म लेता है और ज्ञानी नहीं जन्म लेता। हे रामजी ! इसी प्रकार विदेहमुक्त वालोंको भी चित्त नहीं रहता और सभी अवस्थाओं से परे रहता है। उसमें द्वैतकी कोई भी कल्पना नहीं फुरती और वह पद परम पावन और निर्मल कहा जाता है। उसमें न कोई गुण है, न अवगुण, न सार है न असार, न लक्ष्मी है न अलक्ष्मी, न उदय है न अस्त, न हर्ष है न शोक, न तेज है न तम, न दिन है न रात्रि, न दिशा है न आकाश, न अर्थ है न अनर्थ, न वासना है न अवासना। न सत्य है, न असत्य। न सूर्य है, न चन्द्रमा वह सर्व कलनाओं से रहित शरत्काल के समान निर्मल और

बुद्धिसे परे हैं। उसमें और किसीकी गम नहीं। वह अपने ही आप ब्रह्मानन्द पदमें सर्वदा ही लीन रहता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, उपशम-प्रकरणका चौंसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६४ ॥

पैंसठवाँ सर्ग

स्मृति-बीज वर्णन।

वाशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! इस जगत का सब से बड़ा बीज यह शरीर ही है। इसके भीतर सभी आरम्भ स्थित हैं। जब इनका अकुर होता है तब शुभ और जब अशुभ का अकुर उत्पन्न होता है तब अशुभ करने लगता है। इस से यह शरीर ही सर्व ससार का बीज है। तब जैसे ससार का बीज शरीर है वैसे ही शरीर का बीज चित्त है। और उस चित्त में सात्त्विक रजोगुण तमोगुण रूपी शाखायें लगी हुई हैं। वही जन्म मरण का भंडार है और वही सुख दुःख रूपी रत्नों का डिब्बा है। किन्तु यह शरीरादिक सहित जगत के जितने भी प्रपच हैं सब असत्य रूप ही हैं। चित्त के स्फुरण में ही यह नाना प्रकार का प्रपच भासित होता है। जैसे गन्धर्व नगर और जैसे स्वप्नपुर असत्य ही भासित होता है वैसे ही यह जगत असत्य है। जैसे मृतिका में ही घटभाव होता है वैसे ही चित्त से जगत की सद्भावना होती है। उस चित्तरूपी अकुर में वृत्तिरूपी दो टहनियाँ होती हैं। एक स्वांस, दूसरी भावना। हे रामजी ! हृदय में कुल एक सौ एक नाडियाँ होती हैं, जब उनकी ओर प्राण स्पन्द होता है तब सवेदन रूप चित्त उदय होता है और फिर उसकी ओर प्राण का स्पन्द नहीं होता। जब प्राण में स्फुरण होता है तब शुद्ध सात्त्विक चित्त उत्पन्न होता है और उसमें जगत भासता है। इस प्रकार जब प्राण स्पन्द में सवित की उपलब्धि होती है तब वहाँ चित्त प्रति-विम्बिरूप होकर सात्त्विक भाग में स्थित होता है और तब नाना प्रकार से जगत भासने लगता है। इससे संवित को ही अन्तर्मुख

करना चाहिये तभी कल्याण होता है। जब सवित अर्थात् संकल्प नहीं होता तब सारे चोभ मिट जाते हैं और अहं का स्फुरण होकर संवेदन रूप चित्त उदय हो जाता है। फिर तो उस चित्त से नाना प्रकार के दुःख उत्पन्न होते हैं कि जे महा अनर्थ के कारण हो जाते हैं। हे रामजी ! जब चित्त न उत्पन्न होवे तब शान्ति मिलती है। परन्तु यह इस चित्तका वेग तब रुक सकता है कि जब प्राणस्पन्द सकता है। हे रामजी ! प्राणस्पन्द करने के लिए ही योगीजन ध्यान और प्राणायाम की क्रिया करते हैं। और जब दीर्घ काल तक वे ऐसा अभ्यास करते हैं तब चित्त की गति स्थित होती है। हे रामजी ! इस प्रकार तो योग क्रियाओं से चित्त शान्त होता है और अब जो ध्यान से चित्त स्थित होता है उसे भी सुनो। देखो चित्त की उत्पत्ति वासनाओं से होती है और वासनाओं का स्फुरण अविचार से होता है। जैसी भावना होती है, वैसी वासना फुर आती है। जिस वस्तु की तीव्र भावना कीजिए वह वैसा ही फुर आता है। हे रामजी ! जगत की वासना से ही जगत फुरता है। और जब जगत फुरता है तब मोह उत्पन्न हो जाता है और मोहके उत्पन्न होते ही वह आत्मा से विमुख हो जाता है। फिर तो उसे यह भ्रान्ति रूप जगत ही दिखलाई पडता है और वह उसे ही सत्य जानता है। जैसे मदिरा के पीने से पदार्थ और के और भासते हैं वैसा ही मूर्खों को वासना के अनुसार ही जगत के पदार्थ सत्य भासते हैं। हे रामजी ! अपनी अज्ञानता वश ही जीव दुःखी हो रहा है। मन की चिन्तायें ही उसे जला रही हैं। मन उपशम हो जावे तो कल्याण ही कल्याण है। हे रामजी ! तुम जगत के पदार्थों की भावना न करो। सारा जगत अवस्तु रूप है। जब चित्त अचित्त हो जाता है, आशायें निवृत्त हो जाती हैं तब परम शान्ति और शीतलता हृदय में आ बसती है। अस्तु ! चित्त में प्राणों का स्फुरण और वासना ही इसके दो बीज हैं। यदि इन दोनों में से किसी एक का भी अभाव हो जावे तो जानो

कि दोनों ही नष्ट हो गये । क्योंकि ये दोनों परस्पर से कारण रूप हैं । जैसे बीज से अकुर होते है वैसे ही प्राण स्पन्द से वासना और वामना से प्राणस्पन्द होता है और ये दोनों ही चित्त के कारण हैं । जैसे फूल के बिना सुगन्धि नहीं होती और सुगन्धि के बिना फूल नहीं होता वैसे ही वासना बिना प्राण और प्राण के बिना वासना नहीं होती । जब वासना फुर कर प्राण को जगाती है तब उसमें जगत् उत्पन्न होता है । इस प्रकार वासना और प्राण दोनों ही चित्त के कारणरूप हैं । जब दोनों में एक का नाश हो जावे तो दोनों को ही नष्ट जानो । हे रामजी ! जब आत्मविचार से वामनायें नष्ट हो जाती हैं । तब यह शरीर रूपी धु वाँ शान्त होता है । अस्तु । प्राणस्पन्द और वासना का बीज सवेदन ही है । जब सवेदन न उठे तब जानो कि वासना और प्राण दोनों ही फुरना रहित हो गये । जैसे वृक्ष का बीज और जड़ काट डाला जाय तो वह फिर नहीं उगता वैसे ही इनका मूल सवेदन है । जब सवेदन का अभाव हो जावे तब दोनों ही नहीं बनते । आत्मसत्ता ही सवेदन का बीज स्वरूप है । सारी सत्तायें सवेदन को ही देखती है । जब उस चिन्मात्र में सवेदन का उत्थान होता है तब 'अह अस्मि' होने से जगज्जाल दिखलाई पड़ता है । किन्तु ऐसा असम्यक ज्ञान के कारण ही होता है सम्यक ज्ञान होते ही उमका पता नहीं चलता अर्थात् लीन हो जाता है । जैसे अज्ञानता वश जेवरी में भी सर्प भान होता है वैसे ही अज्ञानतावश आत्मा में सवेदन का भाव होता है । हे रामजी ! सवेदन से महान दुःख प्राप्त होता है । परन्तु जैसे सवेदनवश दुःख होता है वैसे ही सवेदन रहित होने से परम सुख सम्पदा की प्राप्ति ही जाती है ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा उपशम प्रकरण का पसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६१ ॥

छाछठवाँ सर्ग

परमपावन सत्ता विवेचन ।

हे रामजी । यह जगत् एक जाग्रत रूपी समुद्र है कि जिसमें

सवितरूपी जल भरा हुआ है और जिसने सब स्थानों को पूर्ण कर रखा है। अन्तरिक्ष, पृथ्वी, पर्वत, आकाश और नदियाँ ही इस सवित रूपी जल की तरंगें हैं और उसी में यह सारा जगत उत्पन्न हुआ है किन्तु उसमें द्वैत कुछ नहीं है। उसमें द्वैत फलनाका सर्वथा ही अभाव है। वही एक रूप है और उसको महासत्ता परम सत्ता भी कहते हैं। वह एक रूप परम सत्ता निर्मल और अविनाशी है, उसका कभी नाश नहीं होता और वह सर्वथा ही अनुभवरूप है। वही सब का बीज है और उसी से सबकी प्रकृति उत्पन्न होता है। उसी पदमें पहुँचने को जीवन्मुक्त कहा जाता है। जीवन्मुक्त को कोई भी फुरना नहीं होनी। जैसे बालक मूक और अभिमान रहित होता है जब यह जीव ज्ञानसे निर्वासनिक हो जाता है और जब उसे जडना आ जाता है कि जिससे वह सर्व आत्मिक भावका प्राप्त रहता है। किन्तु जिसे उस सवित में दृश्य आते हैं वह मूर्ख है, जड है। क्योंकि उसे उस शुद्ध स्वरूप में भी निकृष्ट का दर्शन होता है। वह सवित द्वैत के स्फुरण से रहित है। वह शुद्ध और अजड है। किन्तु जो स्वरूप की ओर स्थित हो रहा है उसे दृश्यों का स्पर्श नहीं होता और वह अपनी सर्व वासनाओं को त्याग कर निर्विकल्प समाधिमें स्थित होता है। फिर तो ऐसा योगी आनन्द मेही वर्तता है और सवेदन सवित में प्रवेश कर वही रूप हो जाता है। उससे मन की वृत्तियाँ वहाँ स्थिर हो जाती हैं और वह बैठते चलते, देखते सुनते स्पर्श लेते और सब कुछ करते हुए भी उसी में अपने मन को स्थिर रखता है। उसे दृश्यों का अभिमान नहीं फुरता और वह अजड कहाता है। उसे सम्बेदन कोई नहीं होता। हे रामजी। यद्यपि इस दृष्टि को प्राप्त करने में तो महान कष्ट होता है किन्तु पीछे वही दुःखों का नाश करनेवाली होती है और वह उसीके सहारे संसार समुद्र को तर जाता है। हे रामजी। तुम भी उसी दृष्टि को प्राप्त करो। जैसे देखने में बट का बीज कितना सूक्ष्म होता है, वस्तुविस्तारको पाकर वही आकाशको

स्पर्श करने लगता है। वैसेही सूक्ष्म सवेदन से जब सकल्प विस्तरता है तब वही विशाल जगत को धारण कर जन्म के जालको प्राप्त होता है। वह बीज रूप से अपने आप ही आवागमन के चक्र में पड़ता है और इस प्रकार वह स्वयं ही वारम्बार मोह के गर्त में गोते खाता है। किन्तु जब सवित सत्ता में उसकी स्थित होती है तब वही मोक्ष को प्राप्त करता है। स्वरूप में जो भी भावना दृढ़ होती है वही ही सिद्ध मिलती है। हे रामजी ! यह सारे पदार्थ आत्मसत्ता से ही सिद्ध हो रहे हैं। सबका अधिष्ठान आत्मसत्ता ही है। गुरुता, लघुता, स्थूलता, सूक्ष्मता, द्रव्य, कष्ट, भ्रम बडाई, प्रकाश, अन्धकार, द्रष्टा, दर्शन, किंचन, निष्किंचन, सत्य, असत्य, आश्रम, अनाथाश्रम जो कुछ है सब उस परम पावन सत्तामें ही सन्निहित है। तुम प्रमन्नता पूर्वक उसी में स्थित होओ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा, उपशम-प्रकरण का द्वािद्धावाँ सर्ग समाप्त ॥ ६६ ॥

सरसठवाँ सर्ग

इतनी कथा सुनकर रामजी ने वशिष्ठजी से पूछा—हे भगवन ! यह जो परम पावन सत्ता का विवेचन आपने किया है। उस पद में कैसे स्थित होवे कृपाकर मुझे वह युक्ति बतलाइये कि जिससे मैं शीघ्र उस पद को पा सकूँ। वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! उस समान सत्तामें स्थित होने के लिए यत्न ही कर्तव्य है। सा सुनो—जब ससार की जितनी भी वासनायें हैं सबको त्याग कर उस शुद्ध आत्मा में अभ्यास किया जाता है, तब शीघ्र ही आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। उस पद में यदि एक क्षण भी स्थित हो जावे तो वह अक्षयभाव प्राप्त हो जाता है कि जो फिर नष्ट नहीं होता। उस समान सत्ता में स्थित होने पर चाहे जो इच्छा हो करो तुम्हें उसके सिवा और कुछ भी भासित न होगा, जब कुछ भासित होगा तब एक उसी का भान होगा। हे रामजी ! तुम्हारा जो अनुभव तत्त्व है वही तुम्हारा

स्वरूप है। जब तुम उसके ध्यान में स्थित हो जाओगे तभी खेद रहित हो सकोगे। इसका नाम पुरुष प्रयत्न है। हे रामजी ! आत्मतत्त्व तो प्रत्यक्ष ही है किन्तु अविद्या आवरण के कारण ही भासित नहीं होता। यद्यपि वही सबकी सहायक है, जो इच्छा करे जिसे देखना चाहे सब उसीसे प्रत्यक्ष होता है तथा इस पिशाचिनी अविद्या ने उसे ऐसा ढँक रखा है कि कदापि भी दिखलाई नहीं पड़ता और वासनाओं की दृढ़ता के कारण ही अन्तःकरण दुःखको प्राप्त किया करता है। वासनाओं का अन्त होवे तो मन और शरीर सभी निर्दुःख हो जावे। किन्तु यह चिरकाल से इतना दृढ़ हो रहा है कि इसका समूलतः नाश करना अत्यन्त ही कठिन है। बिना मन के क्षय हुये उसका क्षय होता नहीं। हाँ वासनायें नष्ट होवें तो समझो कि मन का भी लय हो गया। ये दोनों परस्पर में कारण रूप हैं। इससे अभ्यास और विचार करके इन भोगों की वासना को ही दूर करो तभी शान्ति प्राप्त होती है। जब तत्त्व ज्ञान, मनोनाश और वासना क्षय का बारबार अभ्यास किया जाता है तभी शान्ति प्राप्त होती है। यदि यत्न हो कि इसमें से किसी एक को ही नष्ट करके दूसरा प्राप्त कर लेवे तो यह नहीं हो सकता। जब तीनों को समान भाव से नष्ट करे तभी आनन्द प्राप्त होता है। साथ ही दीर्घ काल तक इसके अभ्यास में लगे रहना चाहिये और तीनों को एक साथ ही नष्ट करने की चेष्टा करनी चाहिए तभी सिद्धता प्राप्त होगी। अन्यथा जन्मों की सत्यता तो इतना दृढ़ हो रही है कि वह किसी प्रकार भी टूटना नहीं चाहती। जब अभ्यासयोग करे तब टूटती हैं। इससे खाते, पीते, सोते, उठते, बैठते प्रतिक्षण इस तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय का अभ्यास करते रहना चाहिये। इस अभ्यास में प्राण स्पन्द होने की क्रिया के लिए प्राणायाम करना पड़ता है और गुरु की दी हुई युक्तियों। असन और आहार के नियम पालन किये जाते हैं। तब उस अक

दुःख को रोक सम्यक ज्ञान

जगत का विचार किया जाता है। तब वासनायें नहीं प्रवर्तती और जब कोई वासना नही उठती तब चित्त भी नष्ट हो जाता है और जब चित्त नष्ट हुआ तब जगत् भी नष्ट हो जाता है। इससे वासनाओं को क्षय करने का उपाय करना चाहिये। और वह युक्ति सत्संग और सन्यामियों द्वारा ही प्राप्त होती हैं। हे रामजी ! यदि कोई कितना भी तीर्थाटन दान और देवी देवताओंकी पूजा क्यों न करे यदि उसका मन उसके वश में नहीं है तो जानो वह कुछ नहीं करता और उस मूर्खको शान्ति कदापि नहीं प्राप्त हो सकती। वह मन को वश किये बिना कष्ट ही भोगता है कभी दुःख से जलता है तो कभी कर्मों के वश स्वर्ग और नरक को जाता है और कभी सुखी नहीं होता। सुखी तो वही है कि जिसने ज्ञानोपार्जन कर लिया है। वही ज्ञानी है, वही बली है और उमीने मोह रूपी शत्रु को मार कर संसार सागर को पार कर लिया है। इससे हे रामजी ! तुम भी ज्ञानी बनो।

श्री योगवशिष्ठ भाषा उपशम प्रकरण का सरसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६७ ॥



अड़सठवां सर्ग ।

परम उपदेश वर्णन

हे रामजी ! वही पुरुष धन्य है कि जिसने आत्म विचार करके अपने चित्त को थोड़ा भी वशमे कर लिया हो । समय पाकर वह थोड़ा भी किया हुआ कर्म विशेष फल दायक होता है । जैसे सूक्ष्म बीज समय पर बहुत फल देता है और अद्भुत विकास करता है । वैसे ही समय का किया हुआ थोड़ा कार्य भी महान फलका देने वाला हो जाता है । उसी बीज से वह अभ्यास करके महान फलको प्राप्त कर लेता है हे रामजी ! जिसको सम्यक ज्ञान हो जाता है वह निर्मल बोध से यथार्थदर्शी बन जाता है, उसे इन्द्रियां चलायमान नहीं कर सकतीं और वह अविद्या रूपी वृक्षकी ओर नहीं जाता । तब वह इतना शुभ प्रद हो जाता है कि संसार के जितने भी शुभ गुण हैं उसी एक आलयमें आ बसते हैं । किन्तु जब तक स्वरूप में प्रमाद रहता है तब तक वह आधिव्याधि रोगों से दुःखी ही बना रहता है । इसके विपरीत जो ज्ञानी है उसे कोई भी कार्य दुःखी नहीं कर सकते । जैसे कोई विजली की चमक को नहीं पकड़ सकता और मूर्ख स्त्री चन्द्रमा को मोहित नहीं कर सकती वैसे ही ज्ञानीको कोई दुःख मोहित नहीं कर सकते । जैसे किसी मतवाले हस्ती को भवरों की भनभनाहट कुछ बाधक नहीं हो सकती, मच्छरों का काटना कुछ प्रभावित नहीं होता वैसेही ज्ञानियों पर राग द्वेषका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता । भला कहीं हस्तीको भी मारने वाले सिंह पर मृग भी आक्रमण कर सकते हैं ? जैसे किसी भयानक सर्प को दादुर नहीं भक्षण कर सकते वैसेही ज्ञानवानको राग द्वेष विलित नहीं कर सकते । अस्तु ! हे रामजी ! ज्ञानियों पर विषय वासनाओं का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता और इन्द्रियों के विषय उनको कुछ भी कष्ट नहीं देख सकते । हाँ जो विचार से हीन हैं, शरोरा-

भिमानी है और जिसको आत्मतत्व नहीं प्राप्त हुआ है उसको भले ही विषय उडाले जावे—परन्तु ज्ञानवान को नहीं उडा सकता वैसे ही ज्ञानी को सुख दुःख उसके स्वरूप से चलायमान नहीं कर सकते। क्योंकि वह शास्त्र विचार से अथवा आत्मतत्त्वके बोधसे ज्ञानी हो चुका है और उसने अध्यात्म विद्या के विचार से आत्म ज्ञानको प्राप्त कर लिया है जसे दूधको मथने पर ही मक्खन निकलता है वैसेही वारंवार विचार करने से ही आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है। फिर तो प्राणी तृप्त होकर जीवन्मुक्त हो जाता है और तब अपने ही आप में प्रकाशने लगता है। तब वह इन्द्रियों की इच्छा से रहित होकर वैसेही आनन्दित हो जाता है कि जैसे चक्रवर्ती सम्राट को अपने राजा से आनन्द और तृप्ति होती है। तब उसे इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँचों ही विषय आसक्त नहीं कर सकते। न वह कभी किसी स्वार्थ में पडता। उसे पदार्थोंको बिल्कुल ही इच्छा नहीं होती। वह न तो कभी किसीसे भयभीत होता और न कभी किसी पर मोहित होता वरन् सर्वथा ही रागद्वेष और मोहजाल से परे हृदय से शीतल और शान्त बना रहता है। उसके लिये विष और अमृत दोनों ही समान हैं। सम्पदा असम्पदा में वह समान दृष्टि से वर्तता है और कभी हृदय से हर्ष शोक नहीं करता। सर्वदा समभावमें ही स्थिर बना रहता है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा उपशम प्रकरण का अद्वैतवा सर्ग समाप्त ॥ ६८ ॥

* पाँचवाँ उपशम-प्रकरण समाप्त हुआ *



भिमानी है और जिसको आत्मतत्व नहीं प्राप्त हुआ है उसको भले ही विषय उडाले जावे-परन्तु ज्ञानवान को नहीं उडा सकता वैसे ही ज्ञानी को सुख दुःख उसके स्वरूप से चलायमान नहीं कर सकते। क्योंकि वह शास्त्र विचार से अथवा आत्मतत्वके बोधसे ज्ञानी हो चुका है और उसने अध्यात्म विद्या के विचार से आत्म ज्ञानको प्राप्त कर लिया है जसे दूधको मथने पर ही मक्खन निकलता है वैसेही चारंवार विचार करने से ही आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है। फिर तो प्राणी तृप्त होकर जीवनमुक्त हो जाता है और तब अपने ही आप में प्रकाशने लगता है। तब वह इन्द्रियों की इच्छा से रहित होकर वैसेही आनन्दित हो जाता है कि जैसे चक्रवर्ती सम्राट को अपने राजा से आनन्द और तृप्ति होती है। तब उसे इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँचों ही विषय आसक्त नहीं कर सकते। न वह कभी किसी स्वार्थ में पडता। उसे पदार्थोंको बिल्कुल ही इच्छा नहीं होती। वह न तो कभी किसीसे भयभीत होता और न कभी किसी पर मोहित होता वरन् सर्वथा ही रागद्वेष और मोहजाल से परे हृदय से शीतल और शान्त बना रहता है। उसके लिये विष और अमृत दोनों ही समान हैं। सम्पदा असम्पदा में वह समान दृष्टि से वर्तता है और कभी हृदय से हर्ष शोक नहीं करता। सर्वदा समभावमें ही स्थिर बना रहता है।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा उपशम प्रकरण का अइसठवा सर्ग समाप्त ॥ ६ = ॥ -

* पाँचवाँ उपशम प्रकरण समाप्त हुआ *



